@yahoo.co.in

प्राचीन भारतीय धर्म एवं दर्शन

डॉ॰ शिवस्वरूप सहाय

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

प्राचीन भारतीय धर्म एवं दर्शन

डॉ० शिवस्वरूप सहाय

सुभाष नगर, बलिया (उ.प्र.)

(अवकाश प्राप्त रीडर, प्राचीन इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व
श्री मुरली मनोहर टाउन स्नातकोत्तर महाविद्यालय, बलिया)

मोतीलाल बनारसीदास

दिल्ली, मुम्बई, चेन्नई, कोलकाता, बंगलौर,
वाराणसी, पुणे, पटना

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

समर्पण

भारतीय संस्कृति के विद्वान
श्रद्धेय गुरुवर
आचार्य पं. सीताराम चतुर्वेदी
को
जिनकी छाप मेरे जीवन को यह दिशा दे सकी

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चाप्यवधार्यताम्।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।।
यद्यदात्मनि चेच्छेत तत्परस्यापि चिन्तयेत्।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।।

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

लेखकी

मानव जंगलीपन से आगे बढ़ता है तो धर्म से जुटता है। धर्म चेतना की पराकाष्ठा है। भारत में धर्म की परिभाषा है- चिरन्तन सत्य। जहां दूसरे धर्मों का मूल्य केवल शान्ति है वहीं भारतीय धर्म में सत्, चित् और आनन्द-सच्चिदानन्द की कल्पना है। यहां धर्म का मूल है भाईचारा (धारयतीति धर्मः), बिना भेद सबके अभ्युदय और कल्याण की कामना (यतोऽभ्युदयनिः श्रेयससिद्धिः) इसकी आत्मा आचार है (आचारो धर्मः)। जहां दूसरे धर्म सीमित भौतिकता से जुटे हैं वहीं यह सार्वभौमिकता एवं आध्यात्मिकता से जुड़ा है। यहां किसी भी सम्प्रदाय का मानने वाला या न मानने वाला सभी इसका अंग है। यही है मोक्ष का सही मार्ग, सोच और गन्तव्य सनातन धर्म सबका जो था और आगे भी रहेगा। युग बदले, पूजा पद्धतियाँ, पंथ चले और समाप्त हुए पर सोच, आधार और मानक अपरिवर्तित रहे। इसीसे सनातन कालजयी है। पर यहां धर्म के नाम पर कभी किसी पर कुछ भी थोपा नहीं गया। सबके लिये सारे द्वार खुले हैं। इसीसे बिना दबाव के सभी धर्म विकसित होकर अंत में स्वतः इसकी मूल धारा में जुटते गए। इन्हीं पंथों, सम्प्रदायों के सिद्धान्त और उनके ऐतिहासिक विकास को प्रस्तुत करना इस प्रयास का उद्देश्य है। यदि यह लक्ष्य पूरा हो सका तो यही हमारी सफलता है।

-लेखक

द्वितीय संशोधित संस्करण

पूर्व संस्करण लगभग दो वर्षों में ही समाप्त हो गया। यह इसकी उपयोगिता का परिचायक है। पर मांग बढ़ने पर भी इधर लगभग एक वर्ष से पुस्तक अनुपलब्द्ध रही क्योंकि मैं अन्य पुस्तकों के लेखन में व्यस्तता के कारण इसमें जो जोड़ना था वह जोड़ नहीं सका था। दूसरे षडदर्शन के जोड़ने की मांग सदा बनी रही। उसको तैयार करने में भी समय लगा। अतः अब यह नया संस्करण 'प्राचीन भारतीय धर्म एवं दर्शन' नाम से आपके सम्मुख है। इसमें सुदर्शन के साथ जैन धर्मों का ह्रास तथा बौद्ध संगीतिया अलग से जोड़ी गई हैं। आशा है अब यह अधिक उपयोगी सिद्ध होगी।

चैत्र, पूर्णिमा -लेखक

१८.४.२०००

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

विषय-सूची

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

अध्याय - १

सिंधु सभ्यता में धर्म

ई. पू. २५०० के लगभग भारत के उत्तरी पश्चिमी भाग से एक ऐसी विकसित सभ्यता का ज्ञान १९२१ ई. में लोगों के समक्ष हड़प्पा और मोहनजोदड़ो नामक दो केन्द्रों की खुदाई से आना प्रारम्भ हुआ जिसकी तुलना में तत्कालीन विश्व की प्राचीनतम अन्य सभ्यताएं अपने विकास के क्रम में बहुत पीछे छूट जाती है।

इस सभ्यता के ज्ञान से भारतीय इतिहास का आद्यैतिहासिक काल बहुत पहले चला जाता है। यह इस देश का गौरव रहा है कि पश्चिमी विश्व जब जंगली सभ्यता की आंचल में ढ़ँका था तो एशिया महाद्वीप के इस भारत देश में एक अत्यन्त विकासमान सभ्य लोग रहते थे। इनका ज्ञान पुस्तकों से नहीं, उनकी लिखित सामग्रियों से नहीं और न उनके पठनीय लेखों से अपितु वहां की उत्खनित सामग्रियों से प्राप्त होता है। उनकी सभ्यता में धर्म का पक्ष अत्यन्त समुन्नत था। एशिया की समकालिक अन्य पुरातन सभ्यताओं मिश्र, बाबुलोनियाँ आदि में धर्म का वह बहुविधीय स्वरूप हमें नहीं मिलता न इतना वैज्ञानिक पैंट ही मिलता है जितना हड़प्पा की सभ्यता में।

इस सभ्यता का उदय सिंधु नदी की घाटी में होने के कारण इसे सिंधु सभ्यता तथा इसके प्रथम उत्खनित एवं विकसित केन्द्र हड़प्पा के नाम पर हड़प्पा सभ्यता एवं आद्यैतिहासिक कालीन होने के कारण आद्यैतिहासिक भारतीय सभ्यता आदि नामों से जानते हैं। इनका विस्तार बलुचिस्तान, सिन्ध, हरियाणा, गुजरात, पंजाब, राजस्थान, पश्चिमी उत्तर प्रदेश आदि विस्तृत क्षेत्र में था। ऐसा उत्खनन से ज्ञात होता है। इन सभी क्षेत्रों में स्थित केन्द्रों की खुदाई से समान सभ्यता के अवशेष मिलते हैं। अतः इस व्यापक भाग में उस समय हड़प्पा धर्म अवश्य ही पल्लवित रहा होगा।

हड़प्पा धर्म के स्वरूपों के विषय में प्राप्त जानारी के अनुसार उसकी प्रमुख विशेषताएं निम्न ज्ञात होती हैं–

(१) इस सभ्यता में प्रकृति से चलकर देवत्व तक की यात्रा धर्म ने तै की थी। एक ओर हम वृक्ष पूजा देखते हैं तो दूसरी ओर पशुपति शिव की मूर्ति तथा व्यापक देवी पूजा।

(२) यहाँ देवता और दानव दोनों ही उपास्य थे। देव मूर्तियों के अतिरिक्त अनेक दानवीयस्वरूपों का यहां के ठिकड़ों पर आरेखन इस बात का परिचायक है। वृक्ष से लड़ता शेर दानवीय भावना का उदगार ही तो कहा जा सकता है।

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

(३) धर्म में आध्यात्म और कर्मकाण्ड दोनों ही यहां साथ उभरे हैं। यहाँ से प्राप्त धड़ विहीन ध्यानावस्थित सन्यासी की आकृति एक ओर आध्यात्मिक चेतना को उजागर करती है तो दूसरी ओर देवी के सम्मुख पशुबलि के लिए बँधे बकरे की आकृति जो ठिकड़े पर अंकित है कर्मकाण्ड की गहनतम भावना का द्योतक है।

(४) उपासना इसका एक व्यापक अंग रहा है। नृत्य, संगीत आदि के बीच देवी की पूजा को प्रदर्शित करने वाला ठिकड़ा भी यही व्यक्त करता है।

(५) कुछ ऐसे धर्मों की जानकारी यहां के ठिकड़ों से मिलती हैं जिसकी सूचना इस सभ्यता के पतन के लगभग एक हजार वर्ष बाद हमें लिखित साहित्य प्रदान करते हैं जैसे मातृ देवियों की उपासना।

(६) प्रतीकों को धर्म में स्थान प्राप्त हो चुका था। सूर्य की तरह गोल रेखा वाली उभरती आकृति, स्वस्तिक आदि इस तथ्य के पोषक हैं कि भले ही विष्णु की मूर्ति यहां नहीं मली पर वैष्णव धर्म के प्रतीक यहाँ विद्यमान थे।

(७) धार्मिक मान्यता और विश्वासों का यह युग था। यहाँ एक शिवलिङ्ग के नीचे गड़े ताबीजों की तरह के पत्थर के टुकड़े मिले हैं जिनके एक किनारों पर छिद्र बने हैं। सम्भवतः शिव के द्वारा अभिमंत्रित करने के लिए ही ये लिङ्ग के नीचे गाड़े गए होंगे। अन्य कुछ ठिकड़ों में मानव देवताओं के साथ नृत्य, संगीत तथा धार्मिक उत्सवों को मना रहे हैं।

(८) मंत्र-तंत्र में भी इनका विश्वास रहा होगा। ठिकड़ों पर बने चिन्हों के ऊपर कुछ अपठनीय (?) लिपि में लिखा है। इसे कोई चित्रांकित लिपि कहता है, कोई मात्र रेखा समूह मानता है। पर ये मंत्र रहे होंगे। कुछ ठिकड़ों पर तो विचित्र रेखाएं बनाई गई हैं मानो आज के जंत्र-तंत्र हो।

(९) लोक-धर्म का भी यहां चलन था। कुछ ठिकड़ों पर घेरों के भीतर वृक्ष, कुछ में फण निकाले नाग की आकृति आदि लोकजीवन की धार्मिक भावना को व्यक्त करते हैं।

प्रमुख धार्मिक स्वरूप

(१) शैव धर्म

(i) पशुपति मूर्ति

यहाँ एक ठिकड़ा मिला है। इस पर एक तिपाई पर एक व्यक्ति विराजमान है। इसका एक पैर मुड़ा है और एक नीचे की ओर लटका है। इसके तीन सिर हैं तथा सिर पर तिन सींग हें। इसके हाथ दोनों घुटनों पर हैं तथा इसकी आकृति ध्यानावस्थित है। इसके दोनों ओर पशु हैं। उसकी छाती पर त्रिशुल की आकृति अंकित हैं। मार्शल के अनुसार सिंधुघाटी से मिली यह मूर्ति आज के शंकर भगवान की है। मैके ने भी इसे शिव की मूर्ति माना है। कुछ लोग इसे पशुपति की मूर्ति मानते हैं। जो भी हो यह शिव के पशुपति रूप की मूर्ति निर्विवाद लगती है। इसके तीन सिर शिव के त्रिनेत्र के द्योतक हैं तथा तीन सींघ शिव के त्रिशूल के प्रतीक स्वरूप है।

(ii) नर्तक शिव

यहाँ से प्राप्त दो कबन्ध प्रस्तर मूर्तियाँ जो पैरों की भावभंगिमा के कारण नृत्य की स्थिति का बोध कराती हैं नर्तक शिव की मानी जाती हैं। कुछ इतिहासकारों ने इन्हें नृत्यमुद्रा में उर्ध्वलिंगी होने का भी अनुमान लगाया है।

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

(iii) योगी शिव

यहाँ के एक ठिकड़े पर योग मुद्रा में ध्यान की स्थिति बैठे शिव की आकृति का अंकन है। इसके सामने दो तथा दोनों वगल में बैठी एक-एक सर्प की आकृति बनी हैं।

(iv) बनचारी शिव

शिव का एक रूप वनवासी का भी होता है। यहाँ एक ठिकड़े पर तीर-धनुष चलाते हुए एक आकृति मिली है। इसे शिव का बनचारी स्वरूप माना जाता है।

(अ) लिंग पूजा

वड़े तथा छोटे शिव लिंग यहाँ बहुत से मिले हैं। कुछ के ऊपर छेद हैं जैसे ये धागा में पिरोकर गले में पहनने के काम आते होंगे। बड़े लिंग चूना पत्थर और छोटे घोंघे के बने हैं। इनकी पूजा विभिन्न समुदायों द्वारा भिन्न-भिन्न प्रकार से करने का अनुमान लगाया जाता है।

इन विविध प्रकार की शिव मूर्तियों की प्राप्ति के आधार पर अनुमान किया जा सकता है कि–

(अ) शिव आर्यों के पूर्व भारत के मूल निवासियों, जंगली कबीलों तथा आर्येतर जातियों के देवता प्रारम्भ से रहे हैं। इसी से इनका रंग काला था जबकि आर्य गौर वर्ण के थे। अगर यह आर्यों के देवता रहे होते तो इनका भी रंग गोरा ही वर्णित होता। इसकी पुष्टि इस वात से भी होती है कि जंगली पशु उनके साथ जुड़े हैं जैसे सर्प, सांढ़ आदि। जंगली कबीलों के लोग शक्तिशाली होते हैं तभी शिव शक्ति के देवता के रूप में भी भारतीय जीवन में घुले-मिले हैं। इनके साथ लगा होता है वाहन नन्दी, वैल जो शक्ति का प्रतीक है। सांप भी इसी प्रकार का एक जुझारू जीव इनके साथ जुड़ा है। ये वलशाली और वन्य पशु हैं जो शिव के साथ जुड़े होते हैं।

(ब) शिव को उत्पादन के देवता के रूप में भी पूजा जाता था। शिव के साथ सांढ़ का साहचर्य उनके उस काल के उत्पादक देवता होने का बोधक है। आज भी कृषि में उत्पादन के लिए सांढ़ों तथा बैलों का प्रयोग किया जाता है। शिवलिंग का यहाँ मिलना डॉ. डी. डी. कौशम्बी के अनुसार, उत्पादन का द्योतक है।

(स) प्राचीन भारत में शिवपूजा का श्रीगणेश हड़प्पा निवासियों के समय से ही माना जाता सकता है। शिव के विविध रूप मानवाकृति, लिंगायत, पशुपति आदि इसी समय से प्रचलन में आ चुके थे। यही पीछे चलकर हिन्दू शैव परिवार में अलग-अलग धार्मिक सम्प्रदायों के रूप में प्रमुख स्थान ग्रहण कर लिए।

(द) योग मुद्रा की शिव मूर्तियों से स्पष्ट होता है कि योग क्रिया का विकास भी शिव के साथ जुड़ा है। यह मान्यता है कि उनकी योगसाधना अनादिकाल से चली आ रही है। योग की विधि का भी बहुत कुछ ज्ञान यहां से उनकी प्राप्त विभिन्न योग मुद्राओं की मूर्तियों से परिलक्षित होता है। यहीं से आगे चलकर पशुपति योग का विकास हुआ। यहाँ से प्राप्त संन्यासी की धड़ मूर्ति जिसकी आंखें अर्ध निमीलित हैं, ध्यान केन्द्रित है तथा उसकी आंखे नासिकाग्र पर टिकी हैं आदि विशेषताएं ही योग साधना का पहला आधार बना होगा। यही योग का पहला चरण है। अतः योग का प्रारम्भ भी शैव धर्म का देन रहा होगा।

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

(य) शंकर का नाम पौराणिक काल में भूतनाथ प्रसिद्ध हुआ। पर भूत-प्रेतों के प्रति लोगों का विश्वास सिंधु सभ्यता के समय से ही उभर चुका था और सम्भव है उस समय भी शंकर ही उनके स्वामी रहे हों। तब भी शुभ-अशुभ प्रभावों की मान्यताएं थीं। इनसे वचने के लिए योनिपूजा भी सिन्धु सभ्यता में प्रचलित थी। कुछ विशिष्ट बीमारियों का संकेत यहां से उपचारात्मक सामग्रियों की प्राप्ति से होती है जैसे बारहसिंगे की सींग का भस्म आदि। इनसे छुटकारा पाने के लिए ही छोटे-छोटे लिंगों को योनि के साथ ताबीज की तरह गले में धारण करते होंगे। इसीसे सिंधु घाटी में बहुत से ऐसे योनि युक्त शिवलिंग के तरह की कोणाकार पत्थर की आकृतियां मिली हैं जिनके ऊपरी भाग में सम्भवत: धागा पिरोने के लिए छिद्र बने हैं। इससे यह भी अनुमान लगाया जा सकता है कि बीमारीयों का सम्बन्ध भी तब शिव से माना जाता होगा तथा उनके उपचार के लिए शिवलिंग का धारण करना टोटका के रूप में मानते होंगे।

(२) वैष्णव धर्म

स्पष्ट रूप से तो नहीं कहा जा सकता है कि हड़प्पावासी वैष्णव धर्म को मानते थे क्योंकि विष्णु या उनके अवतारों की मूर्तियां यहाँ नहीं मिली हैं। पर वहाँ से प्राप्त कुछ ठिकड़ों पर बनी स्वस्तिक की आकृति तथा सूर्य का चिन्ह इस बात का द्योतक है कि पीछे वैष्णव सम्प्रदाय के विकास के साथ जुटने वाले ये विष्णु के प्रतीक बीज रूप में जुड़े थे। अत: वैष्णव सम्प्रदाय वहां अस्तित्व में भले ही विकसित रूप में न आया हो पर इसका बीजारोपण इस समय हो चुका था इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता।

(३) शाक्त सम्प्रदाय

शक्ति पूजा प्राची विश्व की प्राय: सभी सभ्यताओं में होती रही है तभी शक्ति को आदिशक्ति माना जाता है। सिंधुघाटी से भी देवी उपासना के चिन्ह प्राप्त होते हैं। सिन्धु सभ्यता में एक ठिकड़े पर अंकित एक स्त्री की नाभी से निकला हुआ कमलनाल दिखाया गया है। यह उत्पादन एवं उर्वरता का बोधक है। शक्ति की उपासना पृथ्वी पूजा से जुड़ी है। वहीं से मातृदेवी की उपासना का प्रारम्भ माना जाता है। यहाँ इन सभी का सम्बन्ध पृथ्वी देवी से और पौधे का सम्बन्ध उर्वरता तथा सृजनशीलता से जोड़ा जा सकता है। इसी प्रकार की एक मूर्ति प्राप्त हुई है जिसमें देवी पालथी मारे वैठी है और उसके दोनों ओर पुजारी भी बैठे हैं तथा इसके सिर पर एक पीपल का वृक्ष उगा है। इसको भी उत्पादकता का ही प्रतीक माना जा सकता है। इसके अतिरिक्त बड़ी संख्या में मातृदेवियों की मूर्तियों का यहाँ मिलना द्योतक है कि ये लोग देवी के उपासक थे। इनकी देवियाँ अविवाहिता कन्याएँ होती थीं क्योंकि उनके स्तन सामान्य उभार के तथा गोल और अविकसित दीखते हैं। अनेक प्रकार के आभूषणों और केशविन्यास से सज्जित देवियों को देखकर यह अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है कि विविध देवियों की मान्यता यहाँ रही होगी अन्यथा सर्वत्र एक ही प्रकार की देवी मूर्तियां प्राप्त होतीं। एक बात और ज्ञात होती है कि ये प्रकृति को मातृदेवी के रूप में मानते थे तभी देवियों के साथ प्रकृति अवयव यहाँ जुड़ा मिला है। प्रकृति ही के सहारे जीव का पोषण होता है सम्भवत: ऐसा इनका विश्वास था।

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

एक ठिकड़े पर सात औरतों की खड़ी आकृतियाँ बनी हैं और उनके सामने एक बकरा बंधा है जिसके पीछे लोग ढोल बजाते हुए नाच रहे हैं। देवी उपासना की पौराणिक परम्परा में सप्तमातृका एवं नवमातृका के उपासना का वर्णन मिलता है। यहाँ भी सप्तमातृका के उपासना का बोध होता है। इस ठिकड़े पर सात औरतों का अंकन इसका बोधक है। दूसरी ओर पौराणिक शाक्तधर्म में देवी के लिए पशुबलि की मान्यता समाज में प्रचलित है। यहां एक ठिकड़े पर बंधा बकरा बलि के हेतु उपस्थित प्रतीत होता है। पौराणिक देवी पूजन का प्रारम्भ इसे मान सकते हैं। यहाँ से प्राप्त नारी मूर्तियों में एक विशेषता मुख्य रूप से दीखती है कि वे निर्वस्त्र हैं। निर्वस्त्रता प्रकृति के खुलेपन तथा उत्पादन का बोधक है। इससे हम कह सकते हैं कि ये प्रकृति को मातृदेवी मानकर उपासना करते थे। इसकी पुष्टि यहां के एक ठिकड़े पर प्राप्त एक देवी की मूर्ति से होती है जिसके सिर पर चील की तरह का एक पक्षी पंख फैलाए बैठा है। लगता है कि वह मातृदेवी की रक्षा कर रहा हो।

(४) वृक्ष-पूजा

पौराणिक काल से पीपल, नीम, आंवला आदि वृक्षों की पूजा समाज में की जाती है तथा इनसे सम्बन्धित अनेक त्योहारों की मान्यता भी दी गई है। सिंधु घाटी की सभ्यता में भी वृक्ष पूजा का चलन था तभी वहाँ से प्राप्त ठीकड़ों पर अनेक वृक्षों की आकृतियाँ अंकित हैं। इनके पत्तों के आधार पर पीपल के वृक्ष की पहचान तो हो जाती है पर यह असम्भव नहीं कि इसी प्रकार अन्य वृक्षों की भी महत्ता इस समय रही हो। एक ठिकड़े पर बनी आकृति में एक सींगवाले पशु के दो सिर बने हैं जिनके ऊपर पीपल की कोमल पत्तियाँ फूटती हुई दीखती हैं। पीपल दीर्घायु, स्वास्थ के लिए लाभकारी, छायादार होने के कारण आज की तरह उस समय भी संभवतः पूज्य मान लिया गया होगा। सम्भवतः तबसे अब तक उसकी धार्मिक महत्ता बनी रही। ऋग्वेद में अश्वत्थ की महत्ता का उल्लेख भी पीपल का ही बोधक है। दूसरी मुहर पर देवता की नग्न मूर्ति बनी है। उसके दोनों ओर पीपल की दो शाखाएं अंकित हैं। यहां की एक मुहर पर बन्दना की मुद्रा में झुकी एक मूर्ती है जिसके बाल लम्बे हैं। उसके पीछे मानव के चेहरे वाले वृष तथा बकरे की मिली जुली आकृति अंकित है। सामने पीपल का पेड़ है। लगता है कि ये पशु वृक्ष देवता के वाहन के रूप में वहां अंकित किए गए हैं। शुंगकला में सांची तथा भरहुत में ऐसे वृक्ष देवियों की अनेक आकृतियां अंकित हैं जिन्हें दोहद की अवस्था में अंकित यक्षिणी कहा जाता है। इन भिन्नताओं के आधार पर डॉ. मुखर्जी के अनुसार वहां पर दो प्रकार की वृक्ष-पूजा प्रचलित थी-एक वृक्ष की पूजा तथा दूसरे वृक्ष अधिदेवता की पूजा।

(५) पशु-पूजा

वहां की मुहरों पर अनेक प्रकार के पशुओं का अंकन मिला है। विविधता और संख्या में पशु अंकन की अधिकता को देखकर ऐसा लगता है कि ये पशुओं को देवता का अंश मानते थे। यह विश्वास है कि पहले पशुओं के रूप में देवताओं को स्वीकार किया जाता था। पीछे इनका मानवीय रूप अंगीकार किया गया। इसीसे प्रत्येक पुरातन सभ्यता में पशु-पूजा का चलन मिलता है। इसका प्रमाण है कि प्रायः प्रत्येक देवता के साथ एक वाहन का जुड़ा होना आज भी स्वीकार किया जाता है। दूसरे इस सभ्यता में हम देखते हैं मनुष्यों के रूप में निर्मित देवताओं के सिर पर

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

सींग धारण करने की कल्पना यहां किया गया था। सींग को शक्ति का प्रतीक माना जाता था। इसीसे इसको मानव रूप धारी देव भी कहते थे। इसीलिए आज जिन्हें हम देववाहन मानते हैं जैसे- गैंडा, बैल, हाथी, भैंस, कुत्ता आदि इनके भी चित्रण यहां की मुहरों पर मिलते हैं।

बैल की पूजा विशेष रूप से यहां होती होगी क्योंकि इसके विविध प्रकारों का अंकन यहां के मुहरों पर बहुतायद से दीखता है जैसे एक श्रृंगी, कूबड़दार, लम्बी लटकी लोरदार आदि। लगता है कि शिव के साथ बैल का सम्वन्ध इसी सभ्यता से शुरू हुआ था क्योंकि यहां इन दोनों की साथ आकृतियाँ मुहरों पर बहुलता से अंकित मिलती हैं। कुछ पशु ऐसे भी बने हैं जो काल्पनिक प्रतीत होते हैं। आज भी उनका वास्तविक स्वरूप प्राप्त नहीं होता। इनमें हम ऐसे पशुओं को ले सकते हैं जिनकी रचना विभिन्न पशुओं के अंगो के योग से की गई हैं। अन्यथा ये मानव और पशु की मिली जुली मूर्ति हों। एक ठिकड़े पर मानव सिर से युक्त बकरे की आकृति है। एक पर ऐसा पशु बना है जिसका सिर गैंडे का, पीठ किसी दूसरी पशु का, पूंछ किसी अन्य पशु की है। कुछ पशुओं की ऐसी आकृतिया यहां बनी हैं जिनके सामने नाद बना है और वे उसमें से कुछ खाते हुए दीखते हैं। कितने पशुओं की खोपड़ी धूपदानी की तरह कटोरानुमा बनी है। इनमें सम्भवत: पूजा के समय धूप जलाया जाता होगा क्योंकि उनके किनारों पर धुंए के चिन्ह पड़े हैं। लगता है कि पशु-पूजन में धूप जलाने का भी प्रचलन था।

(६) जैन धर्म

सिंधु घाटी की मूर्तियों में बैल की आकृतियाँ विशेष रूप से मिलती है। 'वृषभ' शब्द का अर्थ है बैल। आदिनाथ या वृषभनाथ जो जैन धर्म के प्रवर्तक थे उनका चिन्ह बैल है। सिंधु घाटी से प्राप्त बैल की आकृति सूचक है कि उस समय जैनधर्म का बीजारोपण हो चुका होगा। यहां से प्राप्त एक नंगी कबन्ध मूर्ति जो ग्रेनाइट पत्थर की बनी है उसे कुछ विद्वान जैन धर्म से सम्बन्धित मूर्ति मानते हैं क्योंकि जैनियों की नग्न मूर्ति की तरह यह है। दिगम्बर समुदाय वाले जैन भिक्षु नग्न ही रहते हैं। तीसरे यहां की एक मूर्ति को मार्शल ने कार्योत्सर्ग नामक योगासन में खड़ा बतलाया है। इससे लगता है कि योग की क्रिया जो जैनियों में व्यापक थी यहीं से प्रारम्भ हुई। इसलिए भी यह माना जा सकता है कि उक्त मूर्ति का सम्बन्ध जैन धर्म से रहा होगा।

मान्यता और विश्वास

(अ) स्वच्छता- इसके ये पुजारी थे। इसी से यहाँ विशाल स्नानागार तथा गर्म स्नानागार बने हैं। ये सामूहिक स्नान के लिए बनाए गए। व्यक्तिगत स्नान के लिए प्रत्येक घर के आंगन में स्नानगृह होता था। लगता है उत्सवों तथा पर्वों पर आज के पौराणिक धर्म की मान्यता की तरह लोग सामूहिक स्नान करते होंगे। तभी विशाल स्नानागार की आवश्यकता पड़ी होगी।

(ब) मृतक संस्कार- मृतक क्रिया में इनका विश्वास था। मरने के बाद ये शरीर की क्रिया करते थे। उसे गाड़ते या जलाते थे। जलाने के बाद बची हुई हड्डियों को एकत्रित करके किसी बर्तन में रखकर उसे प्रवाहित कर देते थे। कभी-कभी इसे गाड़ भी देते थे। जिन मृतकों को गाड़ते थे उनके साथ उनकी प्रिय वस्तुएं भी गाड़ दी जाती थीं। यही प्रथा

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

प्राचीन मिश्र के पिरामिडों में भी दीखती है। इसका प्रमाण है कि हड़प्पा और बलुचिस्तान से सर्वांगीण शव-निखात प्राप्त हुए हैं।

(स) जादू-टोना- यहाँ से प्राप्त ठिकरों पर कुछ लिखा हुआ है। लगता है ये जादुई मंत्र होंगे। इनके द्वारा लोग अपने कार्यों की सिद्ध करते होंगे। इसी प्रकार लिंगों के नीचे गड़े तावीज जिन पर कुछ अंकित है जादू की क्रिया का होना सिद्ध करते हैं। सम्भव है ये इन तावीजों को इसलिए पहनते होंगे कि भूतबाधा इन्हे न सतावे। इसी प्रकार कुछ ऐसे ठिकड़े भी मिले हैं जिन पर विचित्र प्रकार के चिन्ह बने हैं। ये तांत्रिक चिन्हों की तरह हैं जिस प्रकार का प्रयोग आज तंत्र में होता है। लगता है कि इनको विश्वास था कि इनके द्वारा बाधाओं के निराकरण में सहायता मिलती है।

(द) बलि प्रथा- देवताओं को प्रसन्न करने के लिए बलि का प्रयोग किया जाता था। इसके संदर्भ में जैसा हमने ऊपर देखा है कि सप्तमातृकाओं के सामने एक बकरा बंधा है, यह बलि पशु ही रहा होगा।

(य) धार्मिक पर्व और उत्सव- यहां के कुछ ठिकड़ों पर नृत्य, संगीत के सामूहिक अवस्था का अंकन हुआ है। लगता है किसी विशेष उत्सव या पर्व पर इस प्रकार के सामूहिक आमोद-प्रमोद की व्यवस्था का चलन था। सामूहिक स्नान के लिए जलकुण्डों का होना सिद्ध करता है कि उस समय पर्व मनाए जाते थे जहां लोग एक साथ एकत्रित होकर आज की पौराणिक मान्यता की तरह सामूहिक रूप से स्नान आदि धार्मिक क्रियाएं करते होंगे।

●

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

अध्याय - २

सनातन धर्म

(हिन्दू धर्म के मूलतत्व)

ॐकार मूलमंत्राध्यः परलोक दृढ़ाशयी गोभक्ति भारतगुरोः हिन्दूहीनत्व दूशितः।

–स्वामी करपात्री जी महाराज

"ॐकार जिसका मूलमंत्र है, परलोक में जिसका विश्वास है, जो गोभक्त है, भारत को अपना गुरु स्वीकार करता है तथा हिन्दुत्व का अपमान जो नहीं सहन करता वही हिन्दू है।"

महत्व– विश्व के जितने भी धर्म हैं उनका कोई न कोई संस्थापक रहा है। उसके उद्भव के पीछे कोई न कोई कारण रहा है तथा उसका उदय काल निश्चित है। उसके स्वीकार करने वालों के बीच अनेक भ्रांतियाँ आती रही हैं और उनके निवारण के बाद ही प्रचार के माध्यम से उसको लोगों तक पहुचाया गया है। पर जिसे हम हिन्दू धर्म कहते है, जो भारत का आदि धर्म है और वही सनातन धर्म है उसका कभी कोई संस्थापक नहीं रहा है। यह अपौरुषेय, अनादिकाल से, अविच्छिन्न परम्परा में, सनातन भगवान को केन्द्रित कर उसके सनातन जीवों के उद्धार के लिए चला आ रहा है। न इसका कोई संस्थापक हुआ, न इसके चलन का कोई काल रहा है और न इसके मानने वालों की संख्या में वृद्धि के लिए द्राविड़ प्रयास करना पड़ा है। बल्कि यह अजस्र धारा की तरह सृष्टि के समय से ही बिना किसी ननुनच के सनातन परम्परा के आधार पर सम्भवतः चलता चला जा रहा है और सृष्टि तक चलता रहेगा। इसकी मूल धारा भी यथावत प्रवाहित है। इसीसे स्वामी करपात्री जी ने अपने भाषण में हिन्दू धर्म की व्याख्या करते हुए एक बार कहा था-सनातन काल से, सनातन भगवान के, सनातन जीवों के उद्धार के लिए यह सनातन धर्म है। इसे सनातन धर्म इसलिए कहा जाता रहा है कि इसके प्रारम्भ की कोई सीमा नहीं बांधी जा सकती है। जबसे भारतभूमि पर आर्य (सभ्य लोग) रहने लगे तभी से यहाँ पूर्व से विद्यमान यह धार्मिक आदर्श स्वतः उनके साथ पनपने लगा। यह न कहीं से आया, न कहीं पैदा हुआ और न किसी ने इसे चलाया। यह स्वतः ही हमारे रक्त में, हमारे क्रिया-व्यापार में, जीवन- पद्धति और सांस के हर स्वर में रचा-बसा है।

यह धर्म मूलतः भारत भूमि में व्याप्त हुआ और आज भी यहां के बहुजातीय आबादी के लगभग तो तिहाई लोग इसका अनुसरण करते हैं। इसकी मान्यता केवल धार्मिक वृत्ति पर ही नहीं

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

है पर हमारे समाज, कला, साहित्य, दर्शन, संस्कृति, स्थापत्य आदि विविध क्षेत्रों में आज भी विद्यमान है। इसका भविष्य भी ऐसा ही दीखता है। हम किसी भी देश में जाकर हिन्दू होने का गौरव प्राप्त करते हैं। आज बड़ी संख्या में विदेशी हिन्दू धर्म को स्वीकार करते जा रहे हैं। कुछ तो इसमें इतने घुलमिल गए हैं कि अपना देश छोड़कर भारत में ही बस गए हैं और यहीं की परम्पराओं को स्वीकार कर लिए हैं। इसमें वे अपना गौरव मानते हैं। मनु ने कहा है- "स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन पृथिव्याः सर्वमानवाः।" आज पृथ्वी का सभ्य मनुष्य भौतिकवादिता की चकाचौंध से ऊब कर, वासनामूलक आकर्षण से पछाड़ खाकर, भारत के आध्यात्मवादिता की ओर मुड़ने लगा है। अमेरिका में रामकृष्ण सोसाइटी की स्थापना, विश्व में रामनाम गाते हुए हिप्पियों का संतरण, भारतीय देवी-देवताओं की उपासना आदि इसका ज्वलन्त प्रमाण है। यह धर्म अन्य धर्मों की तरह एक सम्प्रदाय नहीं है बल्कि एक नैतिक आत्मा है जो सम्पूर्ण वाह्य क्रियाओं को भी अपने में आत्मसात किए रहता है। इसी से हिन्दू धर्म को भारत की आत्मा कहा जाता है जिसके अभाव में हम भारत को नहीं समझ सकते, जिससे विहीन भारत कुछ रह ही नही जाता। इसके विषय में Dr. Annie Besant ने सेन्ट्रल हिन्दू कालेज वाराणसी में कहा था 'Make no mistake. Without Hinduism India has no future, Hinduism is the Soil into which Indian roots are struck and torn out of that she would inevitably wither as at tree torn out from its place.' -भूल मत करो। बिना हिन्दुत्व के भारत का कोई भविष्य नहीं है। हिन्दुत्व वह धरातल है जिसमें भारत की जड़ें गड़ी हैं। इससे उनको निकाल देने पर यह मूल स्थान से निकाले वृक्ष की तरह सूख जायेगा।

यहां से यदि हिन्दुत्व हटा दिया जाय तो अतीत का भारत मात्र एक भौगोलिक इकाई बनकर रह जायेगा। इसका विनष्ट गौरव अतीत की स्मृति का कारण बना रहेगा। (Without Hinduism India will be a geographical expression of the past, a dim memory of a perished glory.-Dr. A. Besant).

स्वामी विवेकानन्द ने भी इसी बात को दुहराया है। उनके विचार में भी भारत का गौरव तभी तक जीवित है जब तक हिन्दू धर्म की मान्यता यहां है। हिन्दू धर्म की समाप्ति के साथ भारत का अस्तित्व भी समाप्त हो जायगा। (India lives so long as Hinduism lives.) इस विवेचन से स्पष्ट है कि हिन्दूधर्म के कारण ही हिन्दुस्तान का वर्चस्व है। इसकी पहचान है। हिन्दूधर्म का स्वरूप अनादि है। इसकी स्थिति सनातन है। इसकी उत्पत्ति भी सनातन ब्रह्म से जुड़ी है। इसी से मूक हिन्दू धर्म का स्वरूप सनातन है। अतः इसको सनातन धर्म कहा जाता है। उसकी व्याख्या अपौरुषेय ग्रंथ वेद से ही प्राप्त होती है- **'वेदअखिलो धर्ममूलम्'**। उसी के आधार पर वर्णित अन्य ग्रंथों में तथा जानकारों से भी इसकी जानकारी मिलती है- **'तदविदांश्चस्मृतिशीले'**।

नामकरण- 'हिन्दूधर्म' ऐसा कोई धर्म नहीं है। यह तो आज्ञानतावश विदेशियों द्वारा प्रदत्त एक नाम है। उन्होंने 'सिन्धु' को 'हिन्दू' कहा क्योंकि फारसी भाषा में 'स' का 'ह' उच्चारण होता है। अतः सिंधु नदी के पड़ोसी भाग 'सिन्धुस्थान' को इरानियों ने अपनी विजय के बाद 'हिन्दुस्थान' कहा तथा यहां के निवासियों को 'हिन्दू' और उनमें प्रचलित धर्म को 'हिन्दू धर्म' की संज्ञा दी। जबकि ऊपर के विवरण से स्पष्ट है कि यह मूलतः 'सनातन धर्म' है।

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

'सनातन धर्म' में दो शब्दों का योग है

सनातन और धर्म। सनातन का अर्थ है अनादि जिसका कोई प्रारम्भ ही ज्ञात न हो, ऐसी वस्तु या धारणा जिसके आरम्भ का कोई पता नहीं होता और उसका अन्त भी नहीं होता। आदि और अन्त से विहीन ही सनातन होता है। 'धर्म' का कोई दूसरा पर्यायवाची शब्द किसी भी साहित्य में नहीं है। अंग्रेजी का 'रैलिजन' शब्द वह भाव कभी भी नहीं व्यक्त करता जो संस्कृत का 'धर्म'। रेलिजन सम्प्रदायवादी आधार को इंगित करता है जैसे ईसाई धर्म, यहूदी धर्म, इस्लाम धर्म आदि। पर 'धर्म' का स्वरूप सम्प्रदायों के उद्भव से बहुत पहले स्थापित हो चुका है। फिर भला 'रैलिजन' को 'धर्म' शब्द से कैसे अभिहित किया जा सकता है। यहां 'सनातन' से अभिप्राय है स्थायी मूल्यों, आदर्शों आदि से जिसका कोई भी लेना देना सम्प्रदायों से नहीं है। मूल्य और वह भी जो शाश्वत मूल्य हैं वे एक देशीय, एक जातीय या एक कालीय नहीं होते। भले ही लोग उनको माने न माने कुछ काल के लिए, पर वे मूल्य यथावत बने रहते हैं। वे ही सनातन हैं। उन पर आधारित धर्म भी सनातन धर्म है। सनातन धर्म की जड़ें वेद में निहित हैं। वेद स्वयं अपौरूषेय हैं, सनातन हैं। ईश्वर की वाणी उसमें संकलित है जो श्रुति पर आधारित होने के कारण 'श्रुति' कहे जाते हैं। इसी से इनका कोई लिखित रूप शुरू में नहीं था ऐसी मान्यता है, क्योंकि मानव ने इसकी रचना ही नहीं की थी। अतः सनातन भगवान के सनातन उपदेश हैं। ये समय और सीमा के बाहर हैं। वैदिक ऋषियों ने मंत्रों का दर्शन मात्र किया था। इसी से उन्हें रचयिता नहीं मंत्र दृष्टा कहते हैं। अतः ये मंत्र अपनी प्रमाणिकता के लिए किसी व्यक्ति या स्रोत को आधार नहीं मानते। ये आप्तवचन हैं। अतः ये स्वयं प्रमाण सिद्ध हैं। अतएव वैदिक ऋषियों ने भी जिन्हें इनका ज्ञान प्राप्त हुआ था, कहीं भी अपना नाम नहीं दिया है क्योंकि वे उस गूढ़ तत्व की ही खोज में व्यस्त थे। इसी से डॉ. राजगोपालाचारी ने हिन्दू धर्म का एक नाम 'वेदान्त' भी दिया है।

जो कुछ भी वेद में वर्णित है वह किसी सीमित वर्ग या एक मानव समुदाय के लिए नहीं है। वह सम्पूर्ण मानवमात्र के लिए है। इसीसे उस पर समय या स्थान का कोई प्रभाव नहीं रहा है। इसमें वर्णित तथ्य दो प्रकार के हैं-एक जीवात्माओं के बीच पारस्परिक सम्बन्ध परक तथा दूसरे जीवात्मा और परमात्मा के बीच का सम्बन्ध। जे.पी. सूद के अनुसार वेद में आध्यात्मिक तत्व की निम्न बातें प्राप्त होती हैं–

(१) सृष्टि में एक अनन्त है जो सर्वव्यापक, सर्वप्रेरक, अनन्त चेतन और सृष्टि का एकमात्र कारण है। (२) यह सत्य, शाश्वत और स्वयंभू है। (३) धर्म इसी सत्य के चिन्तन में लगा रहता है तथा इसकी प्राप्ति के लिए कर्मकाण्डों और ज्ञान साधना का सहारा लेता है। (४) जीवात्मा परमात्मा का अंश है तथा सृष्टि भी परमात्मा की व्यापकता है। इस प्रकार तीनों ही जीवात्मा, परमात्मा और सृष्टि एक हैं।

दूसरा शब्द धर्म है। धर्म शब्द का कोई भी पर्यायवाची शब्द दूसरी भाषा में है ही नहीं। अंग्रेजी का शब्द 'रैलिजन' जो प्रायः इसके लिए प्रयोग किया जाता है वह अत्यन्त संकुचित अर्थवाला है। वह सम्प्रदाय जनित है। इसके द्वारा एक सम्प्रदाय के सिद्धान्तों, उसके कर्मकाण्डों, संस्कारों आदि का ही बोध होता है। पर 'धर्म' का भाव अत्यन्त व्यापक और गम्भीर है। इसके

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

द्वारा अभिहित वह तत्व है जिससे कोई भी वस्तु अपना अस्तित्व बनाए रख सके। उदाहरण के लिए बर्फ का धर्म है ठंडक देना। यदि वह ठंडा नहीं कर सके तो वह बर्फ नहीं रह जाता। अग्नि का धर्म है ताप देना। यदि वह ताप देना बन्द कर दे तो वह अग्नि नहीं रह जाती। ऐसे ही सभी सामग्रियाँ जो संसार में जीवन्त या निर्जीव हैं उनका अपना विशिष्ट गुण होता है। उसे उनका धर्म कहते हैं जैसे साँप का धर्म है काटना, गाय का दूध देना आदि। मनुष्य का भी अपना एक धर्म है, मूल्य है, मान्यता है, आदर्श है, सिद्धान्त है। ये सभी मिलकर उसके धर्म हैं। इसे मानव धर्म कहते हैं। मानव धर्म किसी भौगोलिक इकाई, साम्प्रदायिक सीमा, समय की चहारदीवारी से बंधा नहीं है। यह शाश्वत, चिरन्तन तथा विश्वसनीय है। यह स्थायी है और सर्वव्यापी है। इस प्रकार संस्कृत शब्द 'धर्म' का अभिप्राय 'सनातन धर्म' के संदर्भ में मानव धर्म से ही लिया जा सकता है। मानव धर्म की ही व्याख्या सभी वैदिक ग्रन्थों तथा धर्म ग्रन्थों में, जो किसी विशेष साम्प्रदाय के ग्रन्थ नहीं हैं, की गई है। मानव एक शरीरी नहीं है। वह एक तत्व है जिसका सम्बन्ध परम पुरुष से है। यह तत्व दैवीय है। वह देवत्व की अनुभूति करता है। इसी कारण वह अन्य जीवधारियों से भिन्न है। जब तक काम, लोभ, तृष्णा से जीव बंधा रहता है वह देवत्व की अनुभूति और सामीप्य से वंचित रहता है। यही बन्धन है इस बंधन के टूटते ही उसे परमतत्व का साक्षात्कार होने लगता है। यह परमतत्व अपने भीतर होते हुए भी इन बाधाओं के कारण अदृश्य रहता है। इनके तोड़ने के लिए कुछ नैतिक मूल्य और नियम निर्धारित किये गये हैं। इनसे मन और आत्मा पवित्र होती है। जैसे-जैसे हम इस ओर अग्रसर होते हैं अगला चरण स्वतः इसकी प्राप्ति की ओर बढ़ने लगता है। ये चरण हैं-पुनर्जन्म। कई जन्मों की साधना का फल परमतत्व के साथ साक्षात्कार होता है। यही मानव धर्म का लक्ष्य है। यही मानव की चरम उपलब्धि है। यही उसका उद्देश्य है। यह आवश्यक नहीं कि इस तक पहुँचने के रास्ते एक हों। पर इनमें समरूपता होती है। उदाहरण के लिए नानक, कबीर, तुलसी आदि को हम ले सकते हैं जो भिन्न-भिन्न रास्तों से चलकर यहाँ तक पहुँच सके हैं। यही मार्ग-विभेद हिन्दू धर्म में दर्शन की विविधता एवं भिन्नता का कारण है। इस प्रकार हिन्दू धर्म लचर और प्रगतिशील है। समय की आवश्यकतानुसार यहाँ भगवान स्वयं अवतरित होने की बात करते हैं-**तदात्मानं सृजाम्यहम्** (गीता)। ऐसा अन्य किसी धर्म में नहीं है। इन अवतारों और धर्माचार्यों ने सनातन की परम्परा को बनाये रखने की दिशा में सर्वाधिक योगदान दिया है। नये परिवेश के अनुसार इन्होंने मानव धर्म के स्वरूप को मोड़ दिया है जिससे सनातन परम्परा युगपुरातन से चली आ रही है।

हिन्दू धर्म की मूल विशेषताएँ

'हिन्दू धर्म' मूलतः एक जीवन प्रक्रिया है न कि एक धार्मिक विश्वास है। यह सत्य की खोज है।

'It is more a way of life than a dogma. It is search after truth'

-Dr. Radhakrishnan

भिन्नता में एकता-हिन्दू धर्म न केवल पुनर्जन्म में विश्वास करता है बल्कि दूसरे लोकों में विश्वास करता है। इसलिए इसमें दूसरे लोक में सुखी जीवन-निर्वाह का प्रयास दीखता है। इसका न कोई संस्थापक है न निश्चित सिद्धान्त है जिसको प्रत्येक हिन्दू कहलाने वाले को पालन

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

करने की बाध्यता है। यह मूलतः आचारजनित है। इसी से इसके माध्यम से ईश्वर की प्राप्ति सदाचार और नैतिक मूल्यों के द्वारा ही सम्भव है। अतः कोई भी भारतीय या विदेशी जो भारत में आकर बस जाय और इन नैतिक मूल्यों का अनुसरण करने लगे उसे हिन्दू कहा जाता है। यह बात अन्यथा है कि वह चाहे बाह्यरूप से किसी भी सम्प्रदाय को स्वीकार करता हो तथा उसके अनुसार उसकी जीवन पद्धति में कितनी भी भिन्नता विद्यमान हो। वह किसी भी देवता की मूर्ति की पूजा करता हो, चाहे विष्णु, शिव या गणेश की। वह नास्तिक हो या आस्तिक। उसके कर्मकाण्डों में कितना भी वैशम्य हो। पर सब विषमताएँ हिन्दू धर्म की अनवरत धारा में समाहित होकर एकाकार हो जाती हैं। यह एक अथाह सागर है जिसमें सब कुछ मिलकर एक हो जाता है। यही कारण है कि हिन्दू धर्म में अनेक देवताओं का स्थान समान है। उनकी मान्यता 'इष्ट देवता' के रूप में है। एक इष्ट देवता का उपासक बिना किसी दूसरे इष्ट देवता के उपासकों से विरोध किये सामान्य रूप से इस धर्म में साथ-साथ रहता है। वे दूसरे के प्रति श्रद्धा बनाये रखते हैं। शैव और वैष्णव लोग कभी भी आपस में ऐसे विरोधाभासी स्तर पर नहीं सुने गये जैसे शिया और सुन्नी। यह है हिन्दू धर्म की सहृदयता और धर्मानुशासन। इसी से कहा गया है-

The numerous forms of supreme being conceived by heart of man in the past and recorded in the scriptures, the worshipper should be taught to choose that which satisfies his spritual longing and to make it the object of his love and adoration. -D.S. sharma.

जिस प्रकार हिन्दुस्तान अपने स्वरूप में विभिन्नताओं के बीच एकता संजोये है उसी प्रकार हिन्दू धर्म अपनी विविधता के बीच एकता को बनाये है। इसमें अनेक सम्प्रदाय, पंथ, देवी-देवता, पूजन विधियाँ, विश्वास और आदर्श एक ही साथ दिखाई पड़ता है। पर कहीं भी कोई पारस्परिक विरोध इनमें नहीं है। सभी का एक दूसरे के साथ परस्पर सामंजस्य है। दीपावली हो या होली, दुर्गापूजा हो या रामनवमी सभी हिन्दुओं के त्योहार हैं। सभी हिन्दू किसी न किसी इष्टदेव की पूजा अपनी-अपनी विधि से करते और धार्मिक उत्सव मनाते हैं। इस प्रकार यहाँ सर्वत्र एकता व्याप्त है।

आत्मा में विश्वास- अन्य सभी धर्म यह विश्वास करते हैं कि मनुष्य एक शरीरी है और उसके भीतर आत्मा है। पर हिन्दू धर्म इसको स्वीकार नहीं करता है। यह इसकी सर्वाधिक महत्वपूर्ण पहुँच है। वह आत्मा की ही प्रधानता मानता है। इसके अनुसार एक मनुष्य का नाम एक आत्मा का बोधक है। शरीर उसका आवरण है। यह आत्मा का घर है। यह उसका पिंजड़ा है जहाँ आत्मा बसती है। शरीरी ही आत्मा है। मनुष्य आत्मा है, नामी आत्मा है। आत्मा के ही लिए ये सभी हैं। आत्मा अपनी शुद्धता के लिए, कर्मबंधन से छुटकारा के लिए शरीर को धारण करती है। मनुष्य अगणित हैं। आत्माएँ भी बाह्य रूप से अगणित हैं। पर उनका आन्तरिक रूप एक है। **'सियाराममय सब जग जानी, करउँ प्रणाम जोरि जुगपानीं'**-वे उसी एक के विविध रूप हैं। कबीर के शब्दों में-

'एक अण्ड ॐकार मह, ता जग भया पसार'।

कृष्ण ने कहा है-

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

एकोऽहं बहुस्यामि

वेद में वर्णित है –

'एकोसदविप्राबहुधावदन्ति।'

तुलसीदास ने कहा है –

'ईश्वर अंश जीव अविनाशी।'

यही कारण है कि हमारे ऋषियों ने अपने स्वरूप को सदा छिपाये रखा। उसको कभी उन्होंने उजागर नहीं होने दिया। किसी भी कार्य के पहले उस अनन्त की वंदना की गई है। भले ही उसको अपने इष्ट का नाम दिया गया।

परमात्मा में विश्वास-आज का संसार पाश्चात्य विश्व में व्याप्त भौतिकवादिता की दृष्टि से एक प्राकृतिक अवयव है। यहाँ शक्तिशाली ही जीता है। इसकी उत्पत्ति एक घटना मात्र माना जाता है। इसे निर्जीव, निष्क्रिय तथा मशीनी नियमन में चलने वाला कहा जाता है। पर एक हिन्दू के लिए सृष्टि प्रभु की देन है। उसी के स्वरूप, एक अंश से इसकी उत्पत्ति है। इसे वह परमात्मा की लीला भूमि मानता है। यहीं कृष्णकी रासलीला, राम द्वारा रावण का वध आदि हुआ। यहीं 'आत्मानंसृजाम्यहम्' के अनुसार प्रभु ने अपने अंश से अवतार लेकर अपनी लीलाएँ कीं। यह उन्हीं की कृपा और निर्देशन पर चलता है। वही इसकी क्रियाओं का नियत्रंक है। इसीलिए प्रकृति के सामीप्य से देवत्व की ओर अग्रसर होने की बात की गई है। तभी हमारे ऋषियों ने वनों में ही साधना की और वहाँ परमतत्व की प्राप्ति की। इस प्रकार प्रकृति, मानव और परमात्मा सभी हिन्दू धर्म में एक माने जाते हैं-'हममें तुममें खड्गखम्भ में सबमें सीताराम'। तुलसीदास ने ठीक ही कहा है-सियाराम मय सब जगजानी। करउँ प्रणाम जोरि जुगपानी।।' इसी नींव पर हिन्दू धर्म खड़ा है। यह अपने सभी व्यवस्था के लिए ईश्वर को ही आधार मानकर चलता है जैसे वर्ण व्यवस्था की उत्पत्ति बताई गई है-**'ब्राह्मणोस्यमुखमासीद......'**। लेखन की उत्पत्ति ब्रह्मा से जोड़ी गई है आदि। यही कारण है कि हिन्दू धर्म, समाज, व्यवस्था, विश्वास, सिद्धान्त आज भी अनादि काल से यथावत चला आ रहा है जबकि विश्व का कोई धर्म ऐसा प्रभाव और अपने मूल रूप को आज तक नहीं बनाये रख सका।

मोक्ष की मान्यता- हिन्दू धर्म मोक्ष प्राप्ति पर बल देता है। मोक्ष का अर्थ साधारणतया लिया जाता है संसार के आवागमन से मुक्ति। पर जब मनुष्य यह मान बैठे तो सृष्टि की क्रिया ही रुक जायगी। संसार का चक्र ही बन्द हो जायगा। एक के अन्त से ही उसकी समाप्ति हो जायगी। वह फिर नहीं होगा। पुनर्जन्म की अवधारणा जो हिन्दू समाज की एक विशिष्ट खोज है इस प्रकार एक न एक दिन समाप्त हो जायगी। मोक्ष का यह अर्थ हिन्दू धर्म में कदापि नहीं है। मनुष्य को पशुता से ऊपर उठाना, उसको आध्यात्मिक नियमों के पालन करने के लिए सन्नद्ध करना कि संसार की कलुशता उसकी क्रियाओं को न छू सके, ही मोक्ष है। इसमें ऐन्द्रिक आनन्द के लिए ही क्रियाएँ की जाय ऐसा नहीं है। ऐन्द्रिक सुख अत्यन्त हेय होता है। इसके स्थान पर आध्यात्मिक सुख की ओर उसकी प्रवृत्ति को मोड़ना ही मोक्ष है। क्रिया कोई भी रोकना नहीं चाहिए। रोकना चाहिए उसका गलत उद्देश्य की ओर बढ़ना। काम-वासना भी बुरी नहीं है। शरीर का धर्म है-काम। इसकी तृप्ति भी आवश्यक है। पर इसकी तृप्ति ऐन्द्रिय सुख के लिए न होकर

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

संतानोत्पादन के लिए करना चाहिए। इससे पितृ ऋण से उऋण होना सम्भव होता है। ऐसी दृष्टि रखने वाला व्यवस्थाबद्ध होकर अपनी सभी आवश्यकताओं की तृप्ति करता है। इसमें वह प्रवृत्तियों से दूर होकर परमात्मतत्व के निकट पहुँचता है। यही प्रवृत्ति में निवृत्ति है। उसमें दिव्य चेतना विद्यमान होती है। इसी दिव्य चेतना को जाग्रत करना ही हिन्दू धर्म का मूल ध्येय है।

स्वधर्म की प्रधानता- धर्मपालन के लिए जहाँ विभिन्न सिद्धान्तों के पालन पर बल देते हैं वहाँ हिन्दू धर्म में स्वधर्म पालन को प्रधानता दिया गया है। वर्ण, आश्रम, जीव आदि का धर्म हमारे शास्त्रों में निर्धारित है। इसी को स्वधर्म कहते हैं। स्वधर्म के पालन में हम दूसरे के धर्म का विरोध नहीं करते। उसके कार्यों में बाधक नहीं बनते। हमारा उससे विरोध नहीं होता बल्कि हम व्यवस्था में रहते हैं। उसके द्वारा आत्मा की पवित्रता भी बनी रहती है। उससे त्याग की वृत्ति आती है। त्याग और आत्मशुद्धि ही हिन्दू धर्म के दो स्तम्भ हैं। कृष्ण, राम आदि आदर्श जननायकों ने सदा इसी का पाठ पढ़ाया है। इस प्रकार धर्म एक नियंत्रक के रूप में हिन्दू धर्म में माना जाता है न कि एक पंथ के रूप में-**'धर्मोधारयेत प्रजा'**। इसी नियंत्रक के निर्देश पर चल कर हम प्रत्येक क्षेत्र में सफल रहे हैं। धर्म की परिभाषा महाभारत में दी गई है-जो अपने को प्रतिकूल लगे उसको दूसरों के लिए न किया जाय **आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत**। दूसरी परिभाषा यह भी दी गई है कि वह कर्म जिसके द्वारा इस लोक और परलोक में उन्नति और मोक्ष की प्राप्ति हो वही धर्म है **यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धि स धर्मः**।

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

अध्याय-३

वैदिक धर्म

प्रत्यक्षेणानुमित्या वा वस्तुपायो न बुध्यते।
एव विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वदेता।।

-तैत्तिरीय संहिता

'वेद की वेदता यही है कि जो तत्व अबोध हैं उनको प्रत्यक्ष या अनुमान द्वारा बोध कराता है।'

वेद अगम्य का बोध कराता है। इसी से मनु ने इसे चक्षु (**वेदचक्षुः**) कहा है। उनके अनुसार वेद में विश्वास रखना आस्तिकता है तथा इसकी निन्दा करना नास्तिकता है (**नास्तिको वेदनिन्दकः**)। वेदों का कोई रचयिता नहीं है। मंत्र द्रष्टा ऋषियों ने इसमें प्रतिपादित सत्य का दर्शन किया और संकलन किया था। इसीसे इसे देववाणी कहते हैं। परम्परा से यह वाणी ऋषि अपने श्रेष्ठों से सुनते आ रहे थे इसी से इसको 'श्रुति' भी कहते हैं। यही वाणी धर्म का मूल माना जाता है (**वेदो अखिलो धर्ममूलम्**)। इसी से 'वेद आदिकालीन मानवमन का प्रमाणित संकलन है जो हमारी निधि है'। (The vedas are one of the earliest documents of human mind that we possess -Dr. Radhakrishnan). यही बात दूसरे शब्दों में विदेशियों ने भी कही है कि 'अतीत के विषय में चिन्तन करने पर जो बहुविधीय सम्मानित एवं रुचिकर ज्ञान हैं उनकी जानकारी वेदों से प्राप्त होती है। (Vedas give us abundant information respecting that is most intersting in the contemplation of antiquity-Wilson).

देवता-वेद मंत्रों का संकलन हैं। मन्त्रों के संकलन भाग को संहिता कहते हैं। कुल चार संहिताएँ हैं। इन मंत्रों में देवताओं के स्वरूप और कार्यों का विवरण है। देवता का ज्ञान प्राप्त करने वाला प्राणी ही वेद को समझ सकता है-ऐसा विश्वास था। इसी से मंत्र जप करने के साथ देवता के स्वरूप को न जानने वाला व्यक्ति यहाँ पापी माना गया है। देवता वह है जो द्युतिमान है तथा कुछ देता है। तभी सूर्य, अग्नि आदि द्युतिमान है तथा उनसे कुछ प्राप्ति की अपेक्षा रखी जाती है। वे देवता माने जाते हैं। इससे इनकी स्तुति की गई है।

ये देवता प्रकृति के एक वर्ग के प्रधान या स्वामी हैं। इनमें कुछ विशिष्ट देवता हैं जिनका दूसरा कोई स्वामी नहीं है और कुछ मानव रूपधारी देवता हैं। यह मानव स्वरूप तब विकसित हुआ जब इन देवताओं का विकास होने लगा। प्राकृतिक पदार्थों में देवभाव के आरोपण से देवताओं की संख्या अनेक होती गई। यहाँ ऐसे ३३ देवताओं की चर्चा की गई हैं। यास्क ने इन्हें तीन श्रेणियों में विभक्त किया है : पृथ्वीस्थानीय देवता, अंतरिक्षस्थानीय देवता तथा भू-स्थानीय

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

देवता। इनमें क्रमशः प्रधान थे अग्नि, वायु और सूर्य। ऋग्वेद में कहा गया है कि एक ही देवता को लोग भिन्न-भिन्न नामों से जानते हैं– **एको सद् विप्रा बहुधा वदन्ति**। इस प्रकार वैदिक देवताओं में दो सिद्धान्तों का आरोपण मिलता है : अनेकेश्वरवाद तथा एकेश्वरवाद। एकेश्वरवाद की भावना के पीछे कारण था कि ऋग्वेद में देवताओं को 'असुर' कहा गया है। असुर का अर्थ है-बल। चूँकि सभी देवताओं में एक ही शक्ति या सामर्थ्य होता है। यही देवताओं में महत् सामर्थ्य की एकरूपता है–

'महद्देवानामसुरत्वमेकम्'।

यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि पीछे जिस क्रम से एकेश्वरवाद तक पहुँचा गया उसमें कई सोपान थे। पहले अनेकेश्वरवाद था। अनेकेश्वरवाद (Ploythism) में एक समस्या थी कि किस को विशिष्ट देवता मानकर नमस्कार तथा पूजा किया जाय। वेद में आया है– **कस्मै देवाय हविषा विधेय**। यह स्पष्ट करता है कि धार्मिक भावना अनेकेश्वरवाद को स्वीकार नहीं कर सकती क्योंकि धार्मिक चेतना इसके विरुद्ध थी। इसलिए देवताओं का परस्पर युग्मीकरण प्रारम्भ हुआ कि इनकी संख्या घटे। उदाहरण के लिए मित्रावरुण (मित्र और वरुण देव), अग्निसोम (अग्नि और सोम) आदि। पर धर्म एक ही आराध्य देव की प्रधानता को स्वीकार करने की प्रेरणा देता है क्योंकि ईश्वर के अनेक रूप मानने से उसकी अखण्डता खण्डित होती है। इसलिए इस समय अनेक देवों में से समय-समय पर एक को ही आराध्य बनाया गया और अन्य उसीं में ही अपने को समाहित कर लेते हैं जैसे अग्नि की प्रधानता के समय अन्य देवताओं का अलग महत्व नहीं रहा। इसी प्रकार इन्द्र, वरुण आदि के सम्बन्ध में भी देखा जाता हैं। मैकडानेल के अनुसार यहाँ बारी-बारी से देवताओं की सर्वोच्चता दीखती है। इसको हीनोथीज्म (Henostheism) कहते हैं। बाद में बारी-बारी से उन्हें प्रधान न मानकर एक ही की सत्ता को सर्वोपरि स्वीकार किया गया। इसीको एकेश्वरवाद (Montheism) कहा जाता है। पर एक कदम आगे जाने पर उस एक को सर्वव्यापक तथा सर्वश्रेष्ठ स्वीकार किया गया। इस स्थिति को सर्वेश्वरवाद (Pantheisom) कहा जाता है। यही ब्रह्म का स्वरूप है। सभी देवता उसी के प्रत्यंग है। वही सर्वत्र एवं सर्वव्यापक है।

प्रमुख वैदिक देवता निम्न हैं

१. वरुण २. मित्र ३. इन्द्र ४. सविता ५. विष्णु ६. अदिति ७. अग्नि ८. सोम ९. पर्जन्य १०. सूर्य ११. उषा १२. द्यौस तथा १३. पृथ्वी।

१. वरुण :– वरुण वेद में आकाश देवता के रूप में स्वीकार किये गये हैं तथा इनकी कल्पना एक नियन्ता के रूप में की गयी है जिसके आदेशानुसार ही समस्त प्रकृति अपने नियम का पालन करती है। वरुण की उत्पत्ति "वृ" धातु से मानी गयी है जिसका अर्थ "आच्छन्न कर लेना" अथवा "ढक लेना" होता है। आकाश महाविस्तारमय है तथा वह सबको ढके हुए है। अतएव उसे "वरुण" देवता की संज्ञा दी गयी। ऋग्वेद में उसके सर्वव्यापी विस्तार की ओर संकेत करते हुए कहा गया है कि वह अपने आवरण से समस्त जीवों और उनके आवासों को ढके हुए है।[१] वे सब इसीके नीचे हैं।

---

१. ऋग्वेद-८.४.१.

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

वैदिक देवमण्डल का वरुण ईरान के 'अहुर मज्दा' और यूनान के 'ओरनोज' के साथ तुलनीय है। इस देवता का वर्णन करते हुए ऋग्वेद में कहा गया है कि द्यावा पृथ्वी के मध्य में जितनी भी वस्तुयें विद्यमान हैं उन सबमें वरुण का वास है। यह आकाश, पृथ्वी एवं सूर्य का निर्माता कहा गया है।[१] नदियाँ उसी के आदेश पर प्रवाहित होती हैं।[२] सूर्य उसके नेत्र, आकाश वस्त्र और प्रभंजन उसकी श्वास है।[३] उसकी असुरमाया से सम्पूर्ण संसार व्याप्त है। डॉ. पाण्डेय, 'असुर माया' का अर्थ यह स्वीकार करते हैं कि 'उसमें निर्माण के अतिरिक्त विनाश, प्रसाद, दान के साथ अभिशाप देने की भी शक्ति है।' इस प्रकार असुर नामकरण से भी वरुण का समीकरण ईरानी देवता 'अहुर' से स्पष्ट हो जाता है।

सर्वशक्ति सम्पन्न होते हुए भी वरुण को वेद में अनियंत्रित अथवा स्वेच्छाचारी रूप में स्वीकार नहीं किया गया है। उसे भी ऋतवान् और धृतव्रत का पालन करने वाला कहा गया है। उसकी व्यवस्था एवं व्रत को मनुष्य, अग्नि, सूर्य, आदित्य और नदियाँ सभी पालन करती हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि आर्यों की नितान्त नैतिक कल्पना ने अपने सर्वशक्तिमान देवी-देवताओं के ऊपर ऋत् व्रत लादकर उन्हें भी अनैतिक होने से बचाया है।

असुर शक्ति से समन्वित होने के परिणामस्वरूप वरुण के क्रुद्ध होने की भी सम्भावना व्यक्त की गयी है। इस अवस्था में वह मनुष्य का विनाश भी कर सकता है।[४] परन्तु ऋतवान एवं धृतव्रत होने के कारण वह पापियों के प्रति सहृदय होकर उन्हें क्षमा भी कर देता है। यज्ञ कर्म और व्रत पालन से वह प्रसन्न रहता है। प्रसन्न होकर वरुण सुख एवं समृद्धि प्रदान करता है। वरुण की उपासना के अन्तर्गत भक्ति मार्ग एवं कर्मवाद के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है। ऋग्वेद के सातवें मण्डल से वरुण के स्तोत्रों का ज्ञान प्राप्त होता है। इन वरुण स्तोत्रों में उपासक की भक्ति भावना उन्मुक्त होकर प्रवाहित हुई है जिसमें कालान्तर के भक्तिमार्ग का बीज दबा पड़ा है। भक्तिमूलक वैष्णव धर्म अथवा भागवत धर्म का प्राचीनतम आधार ऋग्वेद के वरुण स्तोत्रों में ही पाया जाता है।

२. आप- ऋग्वेद में वरुण के साथ 'आप' का उल्लेख हुआ है। यहाँ आप का अर्थ जल लिया गया है। इसी के आधार पर ही कालान्तर में वरुण एकमात्र जल का देवता मान लिया गया। आप का अर्थ सामान्य जल-ही नहीं स्वीकार किया जा सकता बल्कि इसका अर्थ जलवाष्प है जो ईश्वर की भाँति पृथ्वी मण्डल को घेरे हुए था।[५] ऋग्वैदिक ऋषि आप से सृष्टि की रचना स्वीकार करते हैं।[६] इसमें वरुण को सृष्टि कर्त्ता कहा गया है। अतएव यहाँ दोनों का साथ-साथ वर्णन हुआ है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि वैदिक देव मण्डल में वरुण को सृष्टिकर्त्ता के रूप में मानकर उसे अत्यन्त ही महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। उसमें सृजन तथा विनाश, दैवी तथा आसुरी माया को समन्वित कर उसे सर्वशक्तिमान देव के रूप में अधिष्ठित किया गया है। इसका स्वरूप

---

१. ऋग्वेद-७.८६.१.
२ ऋग्वेद-१.२४०.८.
३. ऋग्वेद-७.८७.२.
४. ऋग्वेद-२.२८.७
५. ऋग्वेद-१.१६४.५१
६. ऋग्वेद-१० .१२१.१ और ३

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

प्रकृति जनित शक्तियों के मानवीय करण के परिणामस्वरूप हुआ है। अतएव इसका स्थान आर्यों ने वैदिक देवताओं में महत्वपूर्ण माना है।

३. मित्र- ऋग्वेद में प्रकाश देव के रूप में मित्र को स्वीकार किया गया है तथा यह आर्यों के प्रकाश के मानवीयकरण के कारण देवत्व पद पर प्रतिष्ठित है। यह ईरान और रोम साम्राज्य के "मिश्र" देव से तुलनीय है। वेद में इसका वर्णन वरुण के साथ हुआ है। यहाँ मित्र और वरुण देवताओं का उल्लेख बहुधा संयुक्त रूप में किया गया है– मित्रावरुण। सम्पूर्ण ऋग्वेद में अकेले देवता के रूप में मित्र का वर्णन करने वाला केवल एक ही मन्त्र (३.५९) मिलता है। मित्र-वरुण को देवासुर भी कहा गया है। वेद में वरुण को असुरत्व एवं देवत्व दोनों से सम्मानित किया गया है। किन्तु वरुण के क्रोध को छोड़कर मित्र के साथ विशुद्ध देवत्व का ही समन्वय है। डॉ. विमलचन्द्र पाण्डेय का मत है कि "इस दृष्टि से वरुण जहाँ प्रकाश के साथ अंधकार लिए हैं वहीं मित्र एकमात्र प्रकाश है।" वेद के वर्णन के अनुसार मित्रावरुण के युग्म में मित्र ज्योतिर्मय पुरुष है तथा वरुण कृष्ण प्रकृति का। कालान्तर में अधिक विकसित भारतीय दर्शन में मित्रावरुण के सहज गुणों के आधार पर यह अनुमान किया गया है कि पुरुष तो ज्योतिर्मय है, परन्तु आसुरी माया अंधकार उसे ढँके रहती है। तबसे मित्र का सम्बन्ध दिन के साथ और वरुण का सम्बन्ध रात्रि के साथ स्थापित किया गया।

४. इन्द्र- इन्द्र वेद में "मेघ, आंधी, तूफान, बिजली एवं वर्षा" के देवता हैं। इनकी उत्पत्ति "जल" एवं "मेघ" से बताई गयी है तथा "विद्युत" उनका वज्र स्वीकार किया गया है। यद्यपि इन्द्र की कल्पना के पीछे उनका प्राकृतिक रूप छिपा है परन्तु शनैः-शनैः वैदिक मंत्रों में इन्द्र के इस स्वरूप की विस्मृति एवं उनके विश्वात्मतत्व का आविर्भाव प्रत्यक्ष दिखाई पड़ता है। ऋग्वेद में यही सर्वमान्य एवं सर्वाधिक शक्तिशाली राजा तथा देवता के रूप में स्वीकार किया गया है। वह आकाश, अंतरिक्ष एवं पृथ्वी से बड़ा माना गया है[१] तथा पृथ्वी, जल और पर्वत, सभी का राजा कहा गया है।[२] वह पृथ्वी से दस गुना बड़ा है तथा द्यावा पृथ्वी सम्मिलित रूप में उसकी आधी भी नहीं हैं।[३] वेद में ऐसा वर्णन है कि दोनों लोक उसकी मुट्ठी में आ सकते हैं।[४] उसका मुख सूर्य का है।[५] वह सूर्य, मनु और सोम का रूप धारण किये हुए वर्णित है। यही नहीं वह अपनी इच्छा से कोई भी रूप धारण कर सकता है।[६] ऋग्वेद से स्पष्टतः ज्ञात होता है कि वह "वृत्त" का वध करके 'आप' को मुक्त करता है तथा आकाश, सूर्य तथा उषा को जन्म देता है।[७]

ऋग्वेद में इन्द्र का महत्त्व सब देवताओं से अधिक है। अनार्यों के साथ अनवरत युद्ध में संलग्न आर्यों को शूरकर्मा देवता की आवश्यकता थी जो उन्हें अपने अदम्य शौर्य से पग-पग पर प्रोत्साहित कर सके। ऋग्वैदिक इन्द्र ऐसा ही देवता था। वह वृत्रासुर का हन्ता तथा बादलों के पुर (गढ़) को तोड़कर (जल) को मुक्त करने वाला देव माना गया है। इसी से उसने पर्वतों को विदीर्ण कर उन्हें जल-मुक्त किया था। वह दस्युओं का दमन कंर्त्ता और आर्यवर्ण का त्राता कहा

---

१. ऋग्वेद-३.४६.३.
२. ऋग्वेद-१०.४८.३.
३. ऋग्वेद-११.८९.१०
४. ऋग्वेद-१०.४८.३ तथा ५३. ५८.८.६.
५. ऋग्वेद-४.३०.१ १
६. ऋग्वेद-१.३१.४, ६.३०.३०, १.३२:
७. ऋग्वेद-३.३०.५

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

गया है। उसे विश्व का राजा माना गया है। उसके विषय में कहा गया है-"उसका स्वर्णमय रथ (उषा) गगन (आकाश) में घोर शब्द (गर्जन) करता हुआ दौड़ता है और अपने प्रयाण मार्ग में अरुणिमा उत्पन्न करता है। उसके पीछे-पीछे वायु दौड़ता है।

इन्द्र का महत्त्व इससे भी अधिक ज्ञात था क्योंकि ऋग्वेद में लगभग २५० ऋचायें केवल इन्द्र की स्तुति के लिए रची गयी हैं।

५. सविता- ऋग्वेद में सविता प्रकाश का देवता बताया गया है। "सविता" की कल्पना न केवल दिन में उदीयमान "सूर्य" को दृष्टिगत रखते हुए की गयी है, वरन उसका देवत्व उस आदित्य में भी वर्तमान है जो रात्रि में पृथ्वी के दूसरे भाग में अपनी ज्योति प्रसारित करता है। अर्थात् "सविता" में सूर्य का दिन में व्यक्त होने वाला रूप और रात्रि में अव्यक्त होने वाला रूप दोनों ही समाहित है। कहीं-कहीं पर सूर्य और सविता का यह अन्तर प्रकट होता है। ऋग्वेद में कहा गया है कि सविता सूर्य को किरणों से प्रकाशित करे और सूर्य से मनुष्य की निष्कलंकता बनाये।[1]

ऋग्वेद में सविता को देवताओं की चक्षु माना गया है और उपासकों ने संसार के यथार्थ दर्शन के लिए उससे स्वयं अपने लिए चक्षु की याचना की है।[2] यही अर्थ एक गायत्री मंत्र[3] से भी प्रकट होता है। ऋग्वेद का यह प्रसिद्ध मन्त्र सविता के लिए रचित है। इसमें उससे बुद्धि-दान की याचना की गयी है। ऋग्वेद में सविता को पापमोचन देवता के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। एक स्थान पर उसमें कहा गया है कि "सविते! अपनी दुर्बुद्धि, दुर्बलता, अहंमन्यता अथवा मानवी प्रकृति के कारण हमने देवों के प्रति जो भी अपराध किये हों, उन महान् पापों से तू हमारा उद्धार करे।[4]

इस प्रकार पाप और पापोद्धार के निमित दैवी वरुण के अवलम्ब का प्रतिपादन सविता की उपासना में मिलता है।

६. विष्णु- वैदिक विष्णु संसार के संरक्षक देव के रूप में वेद में वर्णित है।[5] उपासकों की अर्चना पर शीघ्र द्रवित हो सहायतार्थ उपस्थित हो जाने वाले देव के रूप में यह चित्रित हैं।[6] ऋग्वेद में उनके तीन पादों का उल्लेख किया गया है जिनसे वह समस्त ब्रह्माण्ड में विचरण करता है। यहाँ विष्णु की इस व्यापकता के कारण ही विष्णु को वृहद् शरीर, उरु-गाय और उरु-क्रम कहा गया है। ऋग्वेद में कभी-कभी विष्णु को सूर्य के रूप में भी प्रतिष्ठित किया गया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि विष्णु को आकाशगामी सतत क्रियाशील सूर्य के प्रतीक के रूप में ऋग्वेद में बताया गया है।

७. अदिति- अदिति "अनन्त" एवं "अदृश्य" का एक प्रतीकात्मक दैवीकरण है। आर्यों की सर्व व्यापिनी प्रकृति के दैवीकरण के परिणामस्वरूप अदिति देवता रूप में प्रतिष्ठित हुआ। अदिति संसार से परे है तथा समस्त वस्तुओं का एक सर्वव्यापी एवं आधारभूत तत्त्व है। अदिति

---

१. ऋग्वेद-७.६३.
२. ऋग्वेद-१.१५५.४.
३. ऋग्वेद-६.४९.१३
४. ऋग्वेद-४.५४.३
५. ऋग्वेद-१०.१५८.५
६. ऋग्वेद-३.६२.१०

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

आकाश है, अंतरिक्ष है, माता-पिता तथा पुत्र है। वही समस्त देवता है। वही पांचजन्य है। जो कुछ उत्पन्न होता है तथा होने वाला है सब वही अदिति है-

अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्ष
अदितिर्माता स पिता स पुत्रः।
विश्वे देवा अदितिः पंचजना
अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम्।।

ऋग्वेद का अदिति यूनान के एडस (Ades) अथवा हडेस (Hades), नार्वे के ईड (Ida) और यूरोप के अनेक देशों के अडोनिस (Adonis) देवता या देवी के साथ तुलनीय है।

८. अग्नि- अग्नि के स्थूल तथा सूक्ष्म रूपों की मनोरम कल्पना के दैवी करण के परिणामस्वरूप अग्नि को देवत्व पद प्राप्त है। ऋग्वेद में इन्द्र के बाद अग्नि का ही महत्त्व है। ऋग्वेद का आरम्भ ही "अग्नि" की उपासना से होता है। इसकी प्रार्थना में ऋग्वेद में कम से कम २०० मन्त्र हैं। ऋग्वेद में अग्नि सूर्य के समान प्रकाशवान स्वीकार किया गया है तथा सूर्य को भी अग्नि का ही एक स्वरूप कहा गया है।[१] अग्नि के दैवी उत्पत्ति (मातरिश्वन का आकाश से धरातल पर लाना) तथा भौतिक उत्पत्ति (लकड़ियों एवं पत्थर को रगड़ कर आग पैदा करने) का सिद्धान्त भी ऋग्वेद में प्रतिपादित है।[२] कर्मविभाजन के आधार पर अग्नि के दो रूप ऋग्वेद में प्रतिष्ठित हैं- (i) हव्य वाहक (ii) शव दाहक। ऐतरेय आरण्यक में भी अग्नि के दो रूपों का वर्णन किया गया है- (i) तिरोहित अग्नि (ii) पुरोहित अग्नि। "तिरोहित" शब्द अग्नि के अव्यक्त, गूढ़ तथा सूक्ष्म रूप का परिचायक है। अतः "पुरोहित अग्नि" व्यक्त, पार्थिव अग्नि का प्रतिपादक है। इस कथन की पुष्टि निम्न मन्त्र से होती है-

"अग्नि मीळे पुरोहितम्"

ऋग्वेद में अग्नि-देवता चर-अचर का ज्ञाता, ऋत, गोपा, अंधकार, शीत, रोग, हिंसक पशु आदि के रक्षक के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। अग्नि के परोपकारी कर्मों के कारण ही प्राचीन भारत, ईरान, रोम एवं यूनान में इसकी पूजा प्रचलित थी।

९. सोम- वेद में आर्यो के "उल्लास-अहलाद" का देवता सोम माना गया है। यह आर्यो का सर्वोत्तम पेय था जिसके उत्तेजक और आहलादकारी प्रभाव ने आर्यो के मन में देवत्व की भावना उत्पन्न कर दिया।

इस देवता की उपासना भारत, ईरान और यूनान मे की जाती थी। यह भारत में सोम, ईरान में होम तथा यूनान में डिआनिसस नाम से जाना जाता था।

ऋग्वेद में सोम को सूर्य और विद्युत से उत्पन्न बताया गया है।[३] इसे सूर्य के साथ चमकते[४] हुए तथा अपने प्रकाश से अंधकार को भगाने वाला बताया गया है।[५] ऋग्वेद में सोमपायी का

---

१. ऋग्वेद-२.१२.३
२. ऋग्वेद-१.१.१.
३. ऋग्वेद-९.९३.१.
४. ऋग्वेद-९.१.६.
५. ऋग्वेद-९.९.९.

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

एक स्थान पर वर्णन है कि "हमने सोमपान किया है, हम अमर हो गए, हम ज्योतिर्मान हो गए, हमने देवताओं को पहचान लिया है।"[१] ऋग्वेद में कहीं-कहीं पर सोम को चन्द्रमा भी बताया गया है।[२] सोम की प्रतिष्ठा की विवेचना करते हुए हिबट महोदय का कथन है कि "सरल स्वभाव आर्यों ने जिनका सम्पूर्ण धर्म प्रकृति की आश्चर्यजनक शक्तियों एवं उसके रूपों को पूजना था, जैसे ही यह अनुभव किया कि इस रस (सोमरस) में ऐसी स्फूर्ति, एवं ऐसा स्थायी आह्लाद उत्पन्न कर देने की शक्ति है कि जिसके प्रभाव से व्यक्ति को अपनी सहज क्षमता से परे कार्यों को करने की प्रेरणा और योग्यता मिलती है वैसे ही उन्होंने उसमें किसी दैवीयरूप का आभास पाया।"

१०. पर्जन्य- "पर्जन्य" वेद का "जल देवता" हैं। अथर्ववेद में पृथ्वी की कल्पना पर्जन्य की एक स्त्री के रूप में मिलती है। इसका तात्पर्य यह है कि पर्जन्य समस्त पृथ्वी पर अपना आधिपत्य रखते हैं तथा उनकी कृपा से ही प्राणिमात्र एवं स्थावर पदार्थों में जीवन का संचार होता है।

११. सूर्य- वैदिक देव-मण्डल का एक देवता सूर्य है। आर्यों के सहज सरल हृदय ने इस विपुल प्रकाशवर्ती शक्ति को भी देवत्व प्रदान कर दिया। ऋग्वेद में सूर्य देवों के अनीक (मुख), चर-अचर की आत्मा तथा मित्र और वरुण के रूप में वर्णित है।[१] ऋग्वेद में सूर्य का वरुण के नेत्र के रूप में और अवेस्ता में अहुर मज्दा के नेत्र के रूप में उल्लेख होना इसका एक इण्डो ईरानी धार्मिक भावना की ओर संकेत देता हैं।

ऋग्वेद में सूर्य को चर-अचर के रक्षक एवं मनुष्यों के समस्त सत्-असत् कर्मों के द्रष्टा के रूप में लिया गया है।[२] वह समस्त ज्योतियों में सर्वोत्तम है।[७] ऋग्वेद में वह विश्वकर्मा कहा गया है।[४]

ऋग्वेद में सूर्य के विविध रूपों के केवल स्वरूप का वर्णन उपलब्ध होता है। ऋषि अन्धकार को दूर करने वाले सूर्य के तीन रूपों का वर्णन करते हैं-उत; (उत्‌तर) उत्तर; (उत्‌उत्=तम=)उत्तम, जो क्रमश: एक के बाद एक महात्म्य में बढ़कर हैं। सूर्य की उस ज्योतिका नाम "उत्" है जो इस भुवन के अन्धकार के दूर करने में समर्थ होती है। देवों के मध्य जो ज्योति देवरूप से निवास करती है वह "उत्तर" है, परन्तु इन दोनों से बढ़कर एक विशिष्ट ज्योति है, उसकी संज्ञा इस मंत्र में "उत्तम" है। अत: ये तीनों शब्द सूर्य के कार्यात्मक, कारणात्मक तथा कार्य-कारण से अतीत अवस्था के द्योतक हैं। ऋग्वेद में सूर्य के आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक स्वरूपों का वर्णन बड़े सुन्दर ढंग से किया गया है-

उद्वयं तमसस्परि ज्योति: पश्यन्त उत्तरम।
देवं देवत्रा सूर्य मगन्म ज्योतिरुत्तमम्।।[५]

"सूर्यआत्माजगतस्तस्थुषश्च" मंत्र से यह स्पष्ट होता है कि "आत्मा" शब्द स्पष्टत: सूर्य के परमात्मतत्व को लक्ष्य कर प्रयुक्त किया गया है।

---

१. ऋग्वेद-८.४८.३. २. ऋग्वेद-१०.५.४ ३. ऋग्वेद-११५.१
४. ऋग्वेद-१०.१३३.६ ५. ऋग्वेद-१०.१००.३० ६. ऋग्वेद-१०.१७०.४
७. ऋग्वेद-१.२०.१०

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

११. उषा- ऋग्वेद में अरुणोदय के पूर्व की रमणीय बेला के दैवीकरण के कारण उषा देवी को देव पद प्राप्त किया गया है। ऋग्वैदिक आर्यों का सरल, सहज हृदय अरुणोदय के पूर्व की रमणीय बेला के प्रति आकर्षित हुआ। इन्होंने प्रात:काल की इस बेला को उषा देवी के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया। यह एक अन्य प्राकृतिक शक्ति के दैवीकरण का परिणाम है। उषा की स्मृति एवं स्तुति में आर्यों के हृदय से जो उन्मुक्त ऋचायें निकली हैं वे सरल एवं सम्भ्रान्त हृदय के अतिरिक्त उनकी काव्यात्मक मनोवृत्ति की भी सूचना देती हैं। ऋग्वेद में सबसे सुन्दर देवी उषा हैं जो द्यौ: (आकाश) की पुत्री बताई गई हैं। वह तमोमयी रजनी की रमणीय रूप धारिणी भगिनी हैं। वह पुरानी युवती है-पुरानी होने पर सतत युवती है। वैदिक मंत्रों में उषा की स्तुति में सबसे सुन्दर कमनीय कल्पना वाले मंत्र प्रयुक्त किये गये हैं।[१]

१२. द्यौस- ऋग्वेद में अनन्त अपार आकाश दैवीकरण के परिणामस्वरूप देवत्व पद पर प्रतिष्ठित है। अपने विशाल वक्ष:स्थल में सूर्य-चन्द्र धारण करने वाला तथां अपने आवरण में असंख्य तारागण छिपाने वाला अनन्त अपार आकाश, जो समय-समय पर उन्मुक्त जल राशि उड़ेल देता है तथा भीषण गर्जना करता है और उद्दाम झंझावात प्रवाहित करता है-की ओर आर्यों का आश्चर्य और भयमिश्रित सरल सहज हृदय आकर्षित हुआ तथा ऋग्वैदिक आर्यों ने इसका दैवीकरण कर दिया। उसका अभिशाप कराल और प्रसाद विशाल था जो आर्यों के हृदय को प्रभावित किया। वैदिक भारत का द्यौस यूनान के जिअस और रोम के जुपिटर के साथ तुलनीय है।

१३. पृथ्वी- वैदिक आर्यों ने आकाश के साथ-साथ अनन्त दिखायी पड़ने वाली पृथ्वी का भी दैवीकरण किया। यह अपनी उर्वराशक्ति, प्राणिमात्र के पोषण करने की शक्ति एवं अपने गर्भ में छिपे हुए अपार वस्तु के कारण देवत्व पद पर प्रतिष्ठित हो श्रद्धा का केन्द्र बिन्दु बनी हुई है। ऋग्वेदिक आर्यों की कल्पना यह थी कि अभिन्न द्यौस और पृथ्वी की अभिन्न अनुकम्पा से ही, दोनों के सम्मिलित प्रसाद के परिणामस्वरूप से मानव का जीवन-यापन सम्भव हो सका है। अत: ऋग्वेद में अनेक स्थानों पर दोनों की सम्मिलित रूप से प्रार्थना की गयी है। "द्यावापृथ्वी" संयुक्त देवता के रूप में प्रतिष्ठित हो चुके थे। "द्यावापृथ्वी" ऋग्वेद में 'रोदसी' के नाम से भी वर्णित हैं। यहाँ दोनों को सभी देवताओं का जन्मदाता माना गया है।[२] इन्हें दोनों का "भुवन" के नाभि के रूप में भी वर्णन किया गया है।[३] ऋग्वेद में इन्हें समस्त मानव और देव समुदाय का माता-पिता बताया गया है।[४] यूनान में पृथ्वी को देव माता और आकाश को भार्या के रूप में प्रतिष्ठित किया गया था।[५]

वैदिक देवी-देवताओं की तीन कोटियाँ- वैदिक देवताओं के स्वरूप की विवेचना करने से स्पष्ट ज्ञात होता है कि प्रकृति की विचित्र लीलायें, कौतुक का वह प्राकृतिक दृश्य, प्रात:कालीन पूर्व दिशा में कामनीय किरणों को छिटकाकर भूतल को कांचन रंजित बनाने वाला अग्निपुंजमय सूर्य बिम्बं तथा सायंकाल रजत रश्मियों को बिखेर कर जगत मण्डल को शीतलता के समुद्र में डूबा देने वाली सुधाकर की किरणें, वर्षाकालीन नील गगन मण्डल में काले-काले

---

१. ऋग्वेद-३.६१.
२. ऋग्वेद-१.१६०.१.३.
३. ऋग्वेद-१.१८५.१.
४. ऋग्वेद-१३५.१.२.३
५. ऋग्वेद ; Max muller : India what can it teach us? p. १३

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

विचित्र बादलों की दौड़, उनके पारस्परिक संघर्ष से उत्पन्न कौंधने वाली बिजली की लपक तथा कर्णकुहरों को बधिर बना देने वाली गर्जन की गड़गड़ाहट आदि प्राकृतिक दृश्य ने मनुष्यमात्र एवं ऋग्वैदिक आर्यों के हृदय पर एक विचित्र प्रभाव जमाया। वैदिक आर्यों ने इन प्राकृतिक लीलाओं को सुगमता से समझाने के लिए भिन्न-भिन्न देवताओं की कल्पना की है। यह विश्व भिन्न-भिन्न देवताओं का क्रीड़ा निकेतन भी स्वीकार किया गया है। वैदिक आर्यों का विश्वास है कि इन्हीं देवताओं के अनुग्रह से जगत् का समस्त कार्य संचालित होता है। विभिन्न प्राकृतिक घटनायें उनके कारण ही सम्पन्न होती हैं।

पाश्चात्य विद्वानों की भी वैदिक देवताओं के विषय में यही धारणा व्यक्त की है कि भौतिक जगत् के प्राकृतिक दृश्यों के अधिष्ठाता हैं। भौतिक घटनाओं की उत्पत्ति के लिए इन्हें देवता मान लिया गया है। ऋग्वेद के प्रारम्भिक काल में बहुत से देवताओं की सत्ता स्वीकार की गयी थी जिसे वे पॉलीथीइज्म-बहुदेववाद, की संज्ञा से अभिहित करते हैं। कालान्तर में जब वैदिक आर्यों का मानसिक विकास हुआ तब इन देवताओं के अधिपति या प्रधान के रूप में एक देवता विशेष की कल्पना को मान्यता दी गई। इसको इन्होंने एकेश्वरवाद (Monotheism) की संज्ञा से सम्बोधित किया। अत: हम देखते हैं कि बहुदेववाद के बहुत काल पीछे एकदेववाद को स्वीकार किया गया। उसके भी बाद के काल में सर्वेश्वरवाद की कल्पना की गयी। सर्वेश्वरवाद का सूचक पुरुषसूक्त के दशम मण्डल का ९० वाँ सूक्त है जो पाश्चात्य विचारकों के अनुसार सभी मण्डलों में सबसे अधिक अर्वाचीन है। पश्चिमी विद्वानों की सम्मति में वैदिक देवतावाद की उत्पत्ति तथा विकास का यही संक्षिप्त क्रम है।

परन्तु हम भारतीय मनीषियों की यह दृढ़ धारणा है कि वैदिक धर्म का यह विकासक्रम नितान्त निराधार है। यह कल्पना देवत्व को न जानने के परिणामस्वरूप ही की गई है। वैदिक ग्रन्थों के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि उस समय "देव" की कल्पना इतनी भौतिक न थी जितना पाश्चात्य विद्वान बताते हैं।

यास्क ने निरुक्त के दैवत-काण्ड में देव या देवता के स्वरूप का विवेचन बड़े ही स्पष्ट शब्दों में किया है। उनके अनुसार इस जगत के मूल में एक ही महत्त्वशाली शक्ति विद्यमान है जो निरतिशय ऐश्वर्यशाली होने से ईश्वर कहलाता है। वह एक अद्वितीय है। उसी एक देवता की बहुत रूपों से स्तुति की जाती है–

महाभाग्यात् देवताया एक एव आत्मा बहुधा स्तूयते।
एकस्यात्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति।।[१]

अत: यास्क के विचार में देवतागण या विभिन्न देव एक ही देव या देवता की भिन्न-भिन्न शक्तियों के प्रतीक हैं।

अतएवं यह मत मान्य प्रतीत होता है कि देवों के भौतिक दृश्यों के अधिष्ठाता या प्रतीक रूप के विषय में पश्चिमी विद्वानों की जो कल्पना है वह निर्मूल है तथा उसी के साथ वैदिक देववाद के विकास का कल्पित क्रम भी उतना ही नि:सार है। वास्तविकता तो यह है कि ऋग्वेद

१. निरूक्त-७.४.८.९.

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

विश्व मे केवल एक अनुपम शक्तिशाली नियन्ता की सत्ता को स्वीकार करता है तथा वह विभिन्न देवताओं को उसी की नानाशक्तियों का प्रतिरूप बताता है। यह विविधता के बीच एकता की भावना तथा भिन्नता के बीच अभिन्नता की कल्पना दार्शनिक जगत का मौलिक तत्त्व है। उसके अनुसन्धान का समस्त श्रेय वैदिक ऋषियों को प्राप्त है।

कर्मकाण्ड

वेद में वर्णित धार्मिक विषयों को दो कोटियों में विभक्त किया जा सकता है : १. ज्ञानकाण्ड और २. कर्मकाण्ड। आध्यात्मिक चिन्तन ही ज्ञानकाण्ड है जबकि व्यवहारिक कर्मजनित पूजा कर्मकाण्ड है। कर्मकाण्ड के लिए सभी को प्रत्येक प्रकार के कर्मों के करने का अधिकार नहीं है। इसके लिए कुछ निश्चित लोग ही अधिकार प्रदत्त होते हैं। अगर अधिकार के बिना कर्मकाण्ड किया जाय या किया गया हो तो कर्म विफल होता है। कर्मकाण्ड की आवश्यकता इसलिए थी कि ये लोग निवृत्तिमार्गी नहीं थे। ये जीवन के प्रति आस्थावान अर्थात् प्रवृत्तिमार्गी थे। इसी से 'जीवेम शरद: शतम्' की बात यहाँ की गई है। इसके पीछे कारण यह था कि वे उपासना करते हुए मंगलमय जीवन-व्यतीत करना चाहते थे। वैदिक कर्मकाण्ड की दो मुख्य विधाएँ थीं– पूजन और यज्ञ।

(अ) पूजन– वैदिक काल में मूर्तिपूजा तथा देवायतनों का नितान्त अभाव था। इस समय अन्तर दर्शन और अनुभव के आधार पर ही प्राकृतिक और अदृश्य शक्तियों की पूजा-स्तुति होती थी। इसके लिए पवित्र विचार, अन्त:करण की शुद्धि, तपस्या, मंत्रों से स्तुतियाँ आदि की जाती थीं। कारण यह था कि ऋत (प्राकृतिक नियम) की प्रधानता थी। ऋत से अभिप्राय है नित्य और सर्वव्यापी नियम। जो इसके विपरीत आचरण करता था वह अनृतकर्म करता हुआ ऋत के निर्धारित नियमों का विरोधी माना जाता था। इस प्रकार कर्म का सिद्धान्त पीछे ऋत के ही आधार पर विकसित हुआ। देवताओं की पूजा के लिए ही ऋचाएँ बनी थीं। इनका स्तवन मन में ही करते थे। वे ईश्वर से सीधा सम्बन्ध स्थापित कराती थीं।

(ब) यज्ञ– वैदिक कर्मकाण्ड का सबसे महत्वपूर्ण पक्ष है– वैदिक यज्ञ। इनकी संख्या अधिक थी तथा इन यज्ञों का भी निश्चित विधान था। पाणिनि के अनुसार यज्ञ से अभिप्राय है पूजा तथा दान। पूजा में भी हवन का विधान था। यही यज्ञ है। इसमें देवों की स्तुति करते हुए यज्ञ किया जाता था। यज्ञ में कुछ निश्चित द्रव्यों की आहुति दी जाती थी। आहुति ही त्याग है। इस प्रकार यज्ञ के तीन चरण हैं : देवता, द्रव्य और त्याग। यज्ञ को ही सर्वश्रेष्ठ कर्म माना गया है– **'यज्ञो वै श्रेष्ठतम कर्म'**। यज्ञ को ही प्रजापति माना गया है क्योंकि वह प्रजापति की तरह रक्षा करता है– **'एष वै प्रत्यक्षयज्ञो यत्प्रजापति'**। यज्ञ के कई लाभ बताये गये हैं। यह पाप विनाशक है। इससे प्रजापति को उनके कार्यों में सहायता पहुँचती है। इससे सूर्य दुर्गंध को दूर कर जल को पवित्र करता है। यह मोक्ष दाता तथा शतायुसाधन है। यह रोग के कीटाणुओं का नाशक भी है। इससे इच्छित फल की प्राप्ति भी होती है। इसीसे सृष्टि का उदय माना जाता है। इससे देवता यज्ञकर्ता के वश में होते हैं। इस प्रकार यज्ञ वैदिक धर्म का एक महत्वपूर्ण अंग है। इससे देवता तक शक्ति ग्रहण करते हैं। साथ ही आर्थिक और भौतिक उन्नति तथा जन-कल्याण की भावना भी इसमें निहित रहती है। कुछ यज्ञ वैश्य भी कराते थे जिनसे देश सम्पन्न तथा सुखी

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

होता था। राजनीतिक अभ्युत्थान के लिए भी यज्ञ किया जाता था। अश्वमेध यज्ञ का उद्देश्य ही विस्तृत साम्राज्य की स्थापना था। राजसूय यज्ञ के बाद ही राजपद विधिवत् प्राप्त होता था। इन्हीं के द्वारा चक्रवर्ती, एकराट आदि उपाधियाँ राजा प्राप्त करते थे। इन्हीं कारणों से शतयथ ब्राह्मण में कहा गया है-**'यज्ञौ वै श्रेष्ठतम कर्म'**।

आर्य अग्नि के उपासक थे। यज्ञ की क्रिया अग्नि में सम्पन्न होती है। इसके दो प्रकार थे- १. श्रौताग्नि, जिसमें श्रौतयज्ञ की व्यवस्था की जाती थी तथा २. स्मार्ताग्नि, जिसको घर में प्रज्ज्वलित कर इस (गृह अग्नि) से विवाहित व्यक्ति यज्ञ को सम्पन्न करता था। इस प्रकार यज्ञों के दो भेद दीखते हैं-श्रौतयज्ञ तथा स्मार्तयज्ञ। श्रौतयज्ञ तीन प्रकार के बताये गये हैं-पाकयज्ञ, हविर्यज्ञ और सोमयज्ञ। पर स्मार्तयज्ञों की संख्या निश्चित करना कठिन है। इन दोनों में मूलभूत अन्तर है कि श्रौतयज्ञ में पशुबलि चढ़ाई जाती थी और वह सकाम होता था। पर स्मार्तयज्ञ पशुबलिरहित तथा निष्काम अर्थात् सामूहिक जनकल्याण के लिए किया जाता था।

प्रमुख यज्ञ

१. दर्श और पूर्णमास यज्ञ

ये यज्ञ प्रत्येक मास में क्रमश: अमावस्या और पूर्णिमा को किये जाते थे। दर्शयज्ञ एक तथा पूर्णमास दो दिनों का होता था। पूर्णमास यज्ञ में अग्नि और सोम प्रधान देवता होते थे जिनके लिए एक-एक पूआ दिया जाता था तथा दर्श यज्ञ में अग्नि और इन्द्र प्रधान होते थे जिनको भी एक-एक पूआ दिया जाता था।

२. सोमयज्ञ

देवताओं को सोमरस प्रदान करने के निमित्त यह यज्ञ किया जाता था। इसी से अग्नि में इसका हवन करते थे। इसमें यज्ञ के पहले तथा अन्तिम दिन बकरे की बलि भी दी जाती थी।

३. पितृयज्ञ

पितरों को प्रसन्न करने के लिए यह बलि दी जाती थी।

४. चातुर्मास्य यज्ञ

प्रत्येक चार-चार माह पर जब ऋतु बदलती थी तो इस का विधान किया जाता था। वसन्त में वैश्वेदेव, वर्षाकाल में वरुण-प्रवास और हेमन्त में साकमेघ होता था। प्रत्येक में अलग-अलग पशुओं के बलि का चलन था। इनमें अग्नि, सोम, पूषन, सविता आदि देवताओं को आहुति देने का विधान था।

५. पुरुषमेध यज्ञ

इस यज्ञ के नामकरण का कारण है कि इसमें पुरुष की बलि दी जाती थी। यह पाँच दिनों तक चलता रहता था। इसके करने का अधिकार ब्राह्मण तथा क्षत्रिय को होता था। इसमें बलिपुरुष बनाने के लिए ब्राह्मण या क्षत्रिय खरीदते थे। खरीदने के लिए सहस्त्र गौएँ तथा घोड़े दिये जाते थे। यदि खरीदने से बलि पुरुष नहीं मिलता था तो शत्रुओं को जीतकर उनकी बलि दी जाती थी।

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

बलि पुरुष की संख्या ग्यारह होती थी। इनको बांधने के लिए यूप (खम्भे) बने होते थे। उनमें बंधे हुए की ही बलि दी जाती थी। शेष छोड़ दिये जाते थे। कुछ शास्त्रकारों ने स्वर्ण या मिट्टी के सिरों को बनवा कर उनके बलि दिये जाने का उल्लेख किया है। कुछ ने युद्ध या अकाल मृत्यु से मरे व्यक्तियों का सिर वेदी पर रखने की विधि बताई है। इससे लगता है कि धीरे-धीरे जीवित व्यक्ति के बलि के लिए विकल्प ढूंढा जाने लगा था। सम्भवतः जीवित व्यक्ति की बलि उन्हें भी अच्छा नहीं लगता होगा।

६. पंचमहायज्ञ

प्रत्येक गृहस्थ इसे प्रतिदिन नियमित रूप से करता था। इसके बाद ही वह भोजन करता था। यह घर में ही होता था। ये पाँच यज्ञ हैं-भूतयज्ञ, मनुष्ययज्ञ, पितृयज्ञ, देवयज्ञ और ब्रह्मयज्ञ। इन यज्ञों के द्वारा क्रमशः विभित्र प्राणियों, ब्राह्मणों, अथितियों, भिक्षुओं, पितरों, देवताओं तथा ज्ञान दाताओं को यज्ञ भाग दिया जाता था। इसमें अदृश्य के लिये आहुत तथा दृश्य के लिए भोजन अर्पण की व्यवस्था रहती थी।

७. राजसूय यज्ञ

राजा बनने पर राजपद प्राप्त करने वाले व्यक्ति के द्वारा यह यज्ञ किया जाता था। इसमें आगन्तुक राजा का जय-जयकार करते थे। इसके लिए निजी व्यक्तियों को बुलाया जाता था तथा पहले वरुण और इन्द्र का अभिषेक किया जाता था।

८. अश्वमेध यज्ञ

राजा अपनी साम्राज्य सीमा की वृद्धि के लिए इसे करता था। सभी यज्ञों में यह विशेष महत्वपूर्ण होता था। इसमें चयनित अश्व को बलि पशु के लिए प्रयोग में लाते थे। इस घोड़े का अगला भाग काला, पिछला श्वेत तथा माथे पर त्रिपुण्ड होता था। इसे ४०० और १०० दूसरे अश्वों के साथ छोड़ा जाता था। इसके पीछे राजा अपनी सेना भेजता था जो इसके पकड़ने वाले के साथ युद्ध करती थी। विजयी सेना के साथ विभिन्न दिशाओं से घूम कर लौट आता था तो फाल्गुन मास की अष्टमी या नवमी तिथि से इस यज्ञ की क्रिया प्रारम्भ होती थी। पहले घोड़े को पानी में नहलाकर उसे वस्त्राभूषण से सज्जित कर पूजते थे और फिर उसे बलि हेतु काट देते थे। साथ में अन्य बलि पशु भी काटे जाते थे। उनके रक्त को पकाकर वसा तैयार की जाती थी। इसी का हवन किया जाता था।

यज्ञों का विरोध

पर पीछे यज्ञों का विरोध होने लगा था। इसमें कर्मकाण्डों की जटिलता, पुरोहित की बढ़ती शक्ति, बलि व्यवस्था की नृशंसता आदि को देखकर लोगों की भावनाएँ इससे जुटी नहीं रह सकीं। समाज का एक वर्ग जो आध्यात्मिक उत्कर्ष को प्रधान मानता था तथा ज्ञान की गरिमा को स्वीकार करता था उसने इसके विरोध में स्वर उठाया। ज्ञान के पक्षधरों ने तर्क दिया कि बिना ज्ञान के यज्ञ और तप से ही परलोक की प्राप्ति संभव नहीं है। आरण्यकों में यज्ञ के दार्शनिक पक्ष को स्वीकार किया गया है पर कर्मकाण्डों की विभीषिका का वहाँ कोई स्थान नहीं है अब

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

बलि व्यवस्था बन्द कर दी गई। इस प्रकार अब ब्रह्म और ज्ञान की ओर लोग प्रवृत्त हुए। कर्मकाण्डों की दुरूह आवृत्ति को उन्होंने छोड़ दिया।

वेद में नीति तथा धर्म-कर्म

जिस जगत में हम नैतिकता और धर्म-कर्म की बात वेद के आधार पर कर रहे हैं उस जगत के सम्बन्ध में यहाँ बताया गया है कि ईश्वर ने उसका निर्माण पूर्वस्थित जड़ के द्वारा किया। प्रारम्भ में यहाँ कुछ भी नहीं था। केवल अन्धकार था। सर्वत्र जल ही जल था। केवल एक चेतन 'तपस' था। पर वह एक ऐसा चेतन था जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता। इससे उस एक की उत्पत्ति हुई जिससे सृष्टि या जगत की उत्पत्ति हुई। दूसरी जगह अग्नि से सृष्टि की उत्पत्ति बताई गयी है। कहीं 'सोम' से पृथ्वी, आकाश, दिन रात आदि की उत्पत्ति के विषय में कहा गया है। इस प्रकार जगत की उत्पत्ति के विषय में वेद कोई एक बात नहीं बताता।

इस जगत का संचालन नीति के द्वारा होने की बात वह करता है जिसे ऋत की संज्ञा दी गई है। ऋत का अर्थ भी है जगत की व्यवस्था। इसीलिए यहाँ देवता की कल्पना हुई। वे नियम का स्वयं पालन करते तथा दूसरों से भी कराते हैं। ये नियम प्राकृतिक नियम हैं जिसके अनुसार सभी प्राकृतिक तत्व अपने निश्चित मार्ग पर बने रहते हैं। इसी से जगत की सारी क्रियाएँ चलती हैं। इसका सिद्धान्त सर्वव्यापी तथा अपरिवर्तनीय है। अत: ऋत प्राकृतिक नियम (Natural law) है। इसी के आधार पर पीछे कर्म का सिद्धान्त (Law of karma) विकसित हुआ।

वेद में पाप-पुण्य का भी विचार है। यहाँ पाप के लिए क्षमा मांगी गई है तथा पुण्य की प्राप्ति के लिए प्रार्थना की गई है। यह भावना तभी उठी होगी जब लोगों के मन में यह विचार आया होगा कि कर्म का फल हमें अवश्य भोगना पड़ेगा। यज्ञों के विषय में वेद कहता है कि इनका फल अगले जन्म में मिलता है। इस प्रकार पाप-पुण्य की भावना जन्म पर्व के कर्म पर आधारित मानी गई है। यही स्थिति पुनर्जन्म की भी है। अत: पुनर्जन्म की अवधारणा उनके मन में थी। पर मृत्योपरान्त के बाद के जीवन का उनको ज्ञान नहीं था। इसी से वे इस जन्म को ही सुखी मानकर-'जीवेम शरद: शतम्' की याचना देवताओं से करते थे। इससे लगता है कि पुनर्जन्म का सिद्धान्त वैदिक काल में अभी स्थापित नहीं हुआ था। वह इससे बहुत दूर था।

स्वर्ग और नरक की स्थिति में भी इनका विश्वास था। वरुण के विषय में बताया गया है कि वह पापियों को नरक में भेजते हैं। वह स्थान अन्धकारमय है। स्वर्ग के सुख की प्राप्ति से अमरत्व की प्राप्ति होती है। यह कर्मों के अनुसार ही प्राप्त होता है। इसी से सद्कर्म तथा पुण्य की प्राप्ति के लिए वे सतत् प्रयत्नशील रहते थे।

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

अध्याय-४

उपनिषद् का धर्म-दर्शन

उपनिषदों में समस्त भारतीय दर्शन का स्रोत निहित है। दार्शनिक विकास के दृष्टिकोण से उपनिषद् इस युग के प्रतिनिधि और परिपक्व रचनाओं के रूप में माने जाते हैं। उपनिषद् ब्राह्मण साहित्य के अन्तिम भाग हैं जिनमें भारतीय तत्त्वचिन्तन की अनुपम सामग्री भरी पड़ी है। न केवल आस्तिक सम्प्रदाय वरन् सभी नास्तिक सम्प्रदाय भी उपनिषदों से ही निकले प्रतीत होते हैं। वेदान्त एवं ब्रह्मसूत्र के साथ-साथ वेदान्त के सभी सम्प्रदायों का एकमात्र केन्द्र उपनिषदों की समन्वंयात्मक विवेचना है। यही कारण है कि रामानुज, शंकर आदि विद्वानों ने ब्रह्मसूत्र एवं उपनिषदों पर भाष्यों की रचना की। तैत्तिरीय उपनिषद् का यह मंत्र–

"स वा एषः पुरुषो अन्नरसमयः"[१]

चार्वाक ऐसे सुप्रसिद्ध जड़वाद के समर्थकों को प्रमाण के रूप में उद्धृत करना पड़ा। ठीक इसी तरह तैत्तिरीय उपनिषद् के मंत्र–

"असद्धा इदमग्र आसीत। ततो वैसदजायत।"[२]

से शून्यवादी बौद्ध-दार्शनिक प्रमाण प्राप्त करते हैं। तन्त्रवार्तिक के कथन–

"विज्ञानमात्र क्षणभंग नैरात्म्यवादानामापि उपनित्पभवत्वम् विषयेषु आत्यन्तिकं रागं विनिवर्तयितुमिति उपपन्नम् सर्वेषां प्रम्माण्यम्"

से स्पष्ट ज्ञात होता है कि बौद्ध दर्शन के विज्ञानवाद, क्षणभंगवाद, आत्मवाद तथा वैराग्यवाद उपनिषद् से ही निकले हैं। कुमारिल भट्ट ने भी इस मत को प्रमाणित किया है।

इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि उपनिषद् एक ऐसा उद्गम स्थल है जहाँ से विभिन्न दार्शनिक विचारधाराएँ, विचार रत्न और तत्त्वज्ञान निरन्तर प्रवाहित होकर भारतीय परम्पराओं को अक्षुण रखते हैं। यहीं से विविध दर्शनिक सम्प्रदायों को अपने चिन्तन का आधार मिलता है।

उपनिषद शब्द का शाब्दिक अर्थ है उप=गुरु के पास + नि=शिष्य का + षद= बैठना। पीछे इसका अभिप्राय 'रहस्यमय ज्ञान' लिया गया। शंकर ने इसका अर्थ 'ब्रह्मज्ञान' बताया है। इस प्रकार उपनिषद से अभिप्राय एक ऐसे ज्ञान से है जो मनुष्य को ईश्वर के पास पहुँचावे अथवा जो शिष्य को गुरु के समीप पहुँचावें। शायद दूसरे अर्थ का प्रयोग इसलिए हुआ कि उपनिषदों

१. तैन्तरीय उपनिषद्-२.१.१.
CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri
२. वही-२.७.१.

के सिद्धान्त गूढ़, रहस्यमय रखे जाते थे तथा इसे कुछ चयनित शिष्यों को हीं बताया जाता था जो गुरु के समीप बैठकर ज्ञानार्जन करते थे। इसी से उपनिषद का अर्थ यह भी बताया गया है कि 'गुरु के पास बैठकर प्राप्त किया गया रहस्यमय ज्ञान' या 'आत्मविद्या'। इसके अध्ययन तथा मनन से मानव भ्रम से उबर कर सत्य की ओर बढ़ता है।

यह वेद का अन्तिम भाग है जिसकी गणना आरण्यकों के साथ की जाती है। तभी सायण ने इसे आरण्यक कहा है। इसी से इसे वेदान्त (वेद का अन्तिम भाग) भी कहते हैं। यही वेदों का मूल है तथा उनकी शिक्षाओं का सार है। यही कारण है कि डाउसन (Dowsen) ने इसका अर्थ 'रहस्यमय उपदेश' बताया है।

उपनिषद-वाक्य-महाकोष में इनकी संख्या २३२ दी गई है। पर आज सभी प्राप्य नहीं हैं। अत: साधारणतया १०८ उपनिषदों की ही चर्चा इस समय की जाती है। इनमें से ईश, केन, कठ, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, मुण्डक, छान्दोग्य, वृहदारण्यक आदि दस उपनिषदों को मुख्य माना जाता है। ये किसी एक व्यक्ति की कृति नहीं हैं क्योंकि एक ही उपनिषद में कई शिक्षकों का नाम आया है। आध्यात्मिक विषयों के होने के कारण इनके रचयिता भी आध्यात्मवादी ही थे। भौतिकवादिता से दूर रहने के कारण इनके रचयिता ने अपने नाम को महत्वहीन समझ इनमें कहीं अपना नाम नहीं दिया है। इनका स्वरूप काव्यात्मक है और शैली भावात्मक। इनकी रचना गद्य और पद्य मिश्रित है। इनके विषय धार्मिक और अधिक दार्शनिक हैं पर इनके दर्शन में क्रमबद्धता नहीं है। इसी से इनके दार्शनिक विचारों को संकलित करने में कठिनाई होती है। साथ ही इनके प्रतिपाद्य विषयों में ज्ञान की धारा में भिन्नता मिलती है। पर इनका मूलतत्व है दर्शन। इस प्रकार उपनिषद् का अर्थ एक ऐसे ज्ञान से है "जो ईश्वर के समीप पहुँचावे" अथवा "जो गुरु के समीप पहुँचावे।" शायद दूसरे अर्थ का प्रचलन इसलिए हुआ कि उपनिषदों के सिद्धान्त गूढ़ रखे जाते थे तथा वह ज्ञान कुछ चुने हुए शिष्यों को ही दिया जाता था जो गुरु के समीप बैठकर उस रहस्य का ज्ञानार्जन करते थे। यही कारण है कि उपनिषद् का अर्थ-गुरु के पास बैठकर प्राप्त किया गया रहस्यमय ज्ञान या आध्यात्मविद्या बताया गया है। वैदिक दर्शन का सार होने के कारण उपनिषदों को वेदान्त कहा गया है। इनमें कर्मकाण्ड के विरोध में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से आवाज उठाई गई है और ब्रह्म तत्त्व को ही आधारभूत ज्ञान स्वीकार किया गया है।

औपनिषदिक तत्त्वचिन्तन की आधारशिला के रूप में "चरमसत्ता" की कल्पना की गयी है जिसे "ब्रह्म" कहा गया है। किन्तु उसके स्वरूप का ज्ञान और कथन सामान्य विषय नहीं है। मुण्डक उपनिषद में प्रश्न है कि "वह क्या है जिसे जानने से विश्व का समस्त ज्ञान प्राप्त हो जाता है?" इस प्रश्न का उत्तर-"ब्रह्म"। श्वेताश्वर उपनिषद में तत्संबन्धी प्रश्न निम्नवत हैं-

किं कारणं, ब्रह्म, कुत: स्मजाता, जीवाम-केन, क्व च संप्रतिष्ठा।
अधिष्ठिता केन सुखेतरेषु, वरतामहे ब्रह्मविदो व्यवस्थाम्।।[1]

सृष्टि का कारण क्या है? लोग कहाँ से पैदा हुए? वे कैसे जीते हैं? क्या उनका आधार है? दु:खों में उन्हें कौन डालता है? इन सब प्रश्नों का उत्तर ब्रह्म ज्ञानी ही दे सकता है।

---

१. तैत्ति., बृहदा. में शंकर की भूमिका

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

इनके उत्तर में निम्न बाते कही गई हैं–

यह सब कुछ ब्रह्म ही है–

"सर्वं खल्विदं ब्रह्म"[१]

यहाँ कोई विविधता नहीं–

"नेह नानास्ति किञ्चन"[२]

इस सत्य के लिए उपनिषद में दो शब्दों को प्रयुक्त किया गया है-ब्रह्म और आत्मा। इन्हीं दो शब्दों का ज्ञान ही उपनिषद का रहस्यमय ज्ञान है जिसके ज्ञात होने से समस्त समस्याओं का हल प्राप्त हो जाता है। ब्रह्म एवं आत्मा भारतीय दर्शन के दो आधार स्तम्भ हैं।

वस्तुतः उपनिषदों में केवल एक ही प्रश्न का समाधान है और वह यह कि "ब्रह्म एवं आत्मा का वास्तविक स्वरूप क्या है?" वास्तव में "ब्रह्म" और "आत्मा" दो ऐसे केन्द्र बिन्दु हैं जिन पर उपनिषदों की सम्पूर्ण दार्शनिक विचारधारा आधारित है। **"ब्रह्म" एवं "आत्मा" के स्वरूप का विवेचन ही उपनिषदों का केन्द्रीय दर्शन है।** अतएव उपनिषदों के केन्द्रीय दर्शन "ब्रह्म" एवं "आत्मा" के स्वरूप की विवेचना निम्नवत की जा सकती है।

ब्रह्म

'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा' प्रारम्भिक अवस्था में "ब्रह्म" शब्द "स्तुति" "मंत्र" या "मननात्मक" प्रार्थना के रूप में प्रयुक्त हुआ है। "बृह" धातु से ब्रह्म शब्द की उत्पत्ति वताई गई है जिसका अर्थ है "वृद्धि" या "स्तुति करना"। यज्ञ में मंत्र-प्रयोग से क्रमशः इस शब्द के अर्थ और प्रभाव का इतना विकास हो गया कि उसे वृद्धि का मूल तत्त्व स्वीकार किया गया।

पर यह विचित्र है कि उपनिषदों का दृष्टिकोण ब्रह्म के विषय में एक नहीं हैं। इसी से भाष्यकारों ने उसमें वर्णित ब्रह्म को विभिन्न रूपों यथा-अद्वैत, द्वैत, शुद्धा-द्वैत, द्वैताद्वैत, विशिष्टाद्वैत आदि को अपने-अपने मतों से आंक कर उसकी पुष्टि के लिए तर्क दिया है। पर इस पचड़े से ऊपर उठकर हमें यहाँ यह जानना है कि इनमें ब्रह्म का वास्तविक स्वरूप क्या बताया गया है?

उपनिषदों में "ब्रह्म" की दी गयी व्याख्या से स्पष्ट होता है कि "ब्रह्म" सत् (सब सत्ताओं का मूल) और चित् (चैतन्य का आधार) तथा आनन्द (सभी सुखों का मूल स्रोत) है। समस्त सांसारिक आनन्द उसी के आनन्द के अन्तर्गत स्वीकार किये गये हैं।[३]

"वृहन्तो हि अस्मिन् गुणाः इति ब्रह्म"

के आधार पर "ब्रह्म" शब्द का आशय एक ऐसे "परमदेव" से लिया जा सकता है जिसकी सत्ता एवं अनन्त शक्ति पर विश्व के सभी पदार्थों का अस्तित्व एपं परिचालन आश्रित है। ऋग्वैदिक ऋचाओं से ऋषियों के हृदय में देवताओं की शक्तियों के प्रति उत्पन्न हुए संदेह का आभास एवं एक ऐसी शक्ति के अन्वेषण का प्रयत्न दिखलाई पड़ता है जिसकी प्रेरणा से समस्त देवता एवं प्रकृति कार्यरत रहते है। ऋग्वैदिक मंत्र–

---

१. छान्दोग्योपनिषद्

२. कठोपनिषद्

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

३. बृहदारण्यक उपनिषद-४.३.३२.

"कस्मै दैवाय हविषा विधेम्"

से स्पष्ट विदित होता है कि भक्तों के हृदय में इस बात का संदेह उत्पन्न हो गया था कि किस सर्वोच्च देव के लिए "हविष" अर्पित किया जाय। यजुर्वेद संहिता में विष्णु की सर्वव्यापी स्थिति का वर्णन किया गया है। इसका आशाय यह है कि संहिताओं में एक सर्वव्यापी एवं अक्षर शक्ति की कल्पना आरम्भ हो गयी थी। केनोपनिषद के देवता एवं यज्ञ सम्बन्धी आख्यायिका से स्पष्ट विदित होता है कि सभी देवताओं की शक्तियाँ अन्ततः इसी "ब्रह्म" पर निर्भर हैं।

वैदिक साहित्य के अध्ययन से ज्ञात होता है कि "ब्रह्म" की जिज्ञासा– **'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा',** न केवल उपनिषदों की ही बात है वरन् इस प्रश्न के उत्तर की खोज ब्राह्मणों एवं आरण्यों को में भी की गई है। ब्राह्मण ग्रन्थों से ही "ब्रह्म" के सर्वव्याप्तत्व की कल्पना आरम्भ हो गयी थी। इस तरह यह ज्ञात होता है कि सर्वप्रथम "ब्रह्म" का मित्र, बृहस्पति, वायु आदि देवताओं के साथ एकाकार होने की कल्पना की गयी और उसके बाद यह स्वीकार किया गया कि इसी ब्रह्म ने सभी देवताओं को सृष्टि के आरम्भ में उत्पन्न करके पृथ्वी (भू), अन्तरिक्ष एवं आकाश आदि तीनों लोकों को अग्नि, वायु और सूर्य इन तीनों प्रमुख देवताओं की अधीनता में बाँट दिया।

आरण्यकों में हमें "ब्रह्म" के तीन रूप दृष्टिगत होते हैं। स्थूल रूप, जो पृथ्वी (पृथिवी) से अविच्छिन्न है, सूक्ष्मरूप, जो मन से अविच्छिन्न है और ब्रह्म का वह शुद्धरूप जिसका प्रतिपादन बाद के वेदान्त ग्रन्थों में हुआ है। तैत्तिरीय आरण्यक में ब्रह्म को सत् एवं असत् दोनों रूपों में वर्णित किया गया हैं। इसमें उसे सत्य, ज्ञान एवं अनन्त आदि विशेषणों से विभूषित किया गया है। भृगु ऋषि एवं वरुण देवता के प्रश्नोत्तर को तैत्तिरीय उपनिषद में निम्नवत वर्णित किया गया है– भृगु ऋषि द्वारा ब्रह्म की जिज्ञासा करने पर वरुण देवता उत्तर देते हैं कि जिससे यह सभी भूत उत्पन्न हुए हैं, जिसमें सभी भूत रहते हैं तथा जिसमें ये सभी भूत अन्त में विलीन हो जाते हैं, वही ब्रह्म है। उसी की जिज्ञासा करो। इस जिज्ञासा के परिणामस्वरूप भृगु ऋषि क्रमशः विचार करते हैं कि जीव के लिए अन्न ब्रह्म है, प्राण ब्रह्म है, मन ब्रह्म है, विज्ञान ब्रह्म है और आनन्द ब्रह्म है। ऐसा प्रतीत होता है कि ब्रह्म विषयक ये पाँचों विचार ब्रह्मरूपी प्याज की परतों की भाँति हैं। जैसे-जैसे प्याज की ऊपरी परतें क्रमशः निकलती जाती हैं वैसे-वैसे प्याज के अन्दर का भाग साफ दिखायी पड़ने लगता है। किन्तु जैसे इन परतों के अतिरिक्त, प्याज कुछ नहीं है वैसे ही ब्रह्म भी इन कोशों के अतिरिक्त कुछ नहीं है। ब्रह्म का सबसे ऊपरी कोश अन्नमय कोश है। उसके बाद क्रमशः प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय कोश है। अन्तिम कोश आनन्दमय कोश है जिसके भीतर आनन्द स्वरूप ब्रह्म विराजमान है। यह वही ब्रह्म है जिसको जान लेने पर सब कुछ विदित हो जाता है, जिसका ज्ञाता अभय हो जाता है और वह भी स्वतः ब्रह्म हो जाता है। ब्रह्म का यह रूप अवर्णनीय है। अतएव ब्रह्म को मन वाणी तथा इन्द्रियों से अगोचर कहा गया है। उसे ही रस कहा गया है– **'रसो वै सः।'** वही परमात्मा है। इस प्रकार हम देखते हैं कि उपनिषद् में ब्रह्म के दो रूप मिलते हैं–

द्वेवाव ब्रह्मणा रूपे मूर्त चैवामूर्त चमर्त्यं।
चामृतं च स्थितं च यच्च सच्च त्यच्च।।[१]

---

१. बृहदारण्यक उपनिषद्-२.३.१.

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

अर्थात् मूर्त और अमूर्त, अमर्त्य और अमृत, स्थित और चर तथा सत् और त्यत्। मूर्त, मर्त्य, स्थित तथा सत् ब्रह्म को अपर ब्रह्म या अवर ब्रह्म के रूप में स्वीकार किया गया है तथा अमूर्त, अमृत, चर आदि त्यत् ब्रह्म को परब्रह्म के रूप में स्वीकार किया गया है। ब्रह्मज्ञानी को ब्रह्म के दोनों रूपों का ज्ञान होता है। ब्रह्म का दोनों रूप सत् एवं त्यत् मिलकर सत्य होता है।

उपनिषद् का कथन है कि जो आत्मा का साक्षात्कार कर सकता है वह ब्रह्म के साथ अपना तादात्म्य स्थापित कर मुक्ति प्राप्त करता है। याज्ञवल्क्य अपनी पत्नी मैत्रेयी को समझाते हैं– आत्मा सभी आनन्दों का मूल स्त्रोत है। इसका प्रमाण यह है कि आत्मा से वढ़कर किसी को और कुछ प्रिय नहीं होता। उपनिषद् का कथन है कि ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान आत्मा के पारमार्थिक रूप का साक्षात्कार होने पर ही हो सकता है–

"अयमात्मा ब्रह्म"

अर्थात् आत्मा ही ब्रह्म है। उपनिषदों का यही मुख्य सिद्धान्त है। जिसमें आत्मा एवं ब्रह्म की कल्पना पूर्णरूप से विकसित दिखाई पड़ती है। इस प्रकार उपनिषदों में ब्रह्म की अवधारणा परमतत्व के रूप में की गई है। परमतत्व ही सभी वस्तुओं की उत्पत्ति का कारण है। वही सभी का आधार है और लय होने पर फिर सभी उसी में समाहित हो जाते हैं। तैत्तिरीय उपनिषद– **यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्तामिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्मनेति।** इसी परमतत्व को बाह्य रूप से ब्रह्म तथा आन्तरिक रूप से आत्मा कहते हैं। अतः आत्मा और परमात्मा एक ही हैं। ये एक के ही दो नाम हैं। दोनों अभेद है। इस प्रकार यह अद्वैत है। इसीलिए इसको 'ब्रह्मात्मतत्व' कहा जाता है। जो भी इस ब्रह्मात्मतत्व या परमतत्व को जान लेता है वह मोक्ष प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार आत्मा जन्म मरण से रहित है। वह शारीरिक दुःखों से ऊपर है। उसका स्वरूप परब्रह्म का है-सत्, चित्त और आनन्द। पर जो उसके सत्य रूप को नहीं पहचानते वे शरीर में उत्पन्न होने वाले रोग, दुःख, जीवन-मरण के चक्र में घूमते रहते हैं। यही शरीर का बंधन है। पर ज्ञान के द्वारा सत्य के भास होने से जब 'अहं ब्रह्मस्मि' का साक्षात्कार हो जाता है तो मनुष्य बंधनमुक्त होकर मोक्ष प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार सम्पूर्ण प्रकृति ईश्वर या ब्रह्म का स्वरूप है। उसी से वह उद्भासित होती है और उसी में लय होती है।

ब्रह्म ही एकमात्र सत्य है। जो इस सत्य को नहीं पहचानता और संसार में दूसरे तत्वों को भी देखता है वही जीवन-मरण के चक्र में पड़ा रहता है। इसी से ब्रह्म को भी ही सर्वशक्तिमान माना गया है। उसी की आंशिक शक्ति से संसार है। सभी सांसारिक वस्तुओं का उदय, स्थिति और लय उसी की शक्ति से होता है-**तज्जलानिति शान्त उपासीत।** वह परमज्योति है। उसी के प्रकाश से संसार प्रकाशित है। इसके दो रूप है-ब्रह्म का एक रूप अलक्षण, अचिन्त्य और अव्यक्त आदि है। यही रूप निर्गुण है। इसे ही ब्रह्म का रूप कहते हैं। इसका कोई भी लक्षण नहीं बताया जा सकता क्योंकि यह लक्षणों से परे है। उसका कोई रूप नहीं है कि वर्णन किया जाय। उसकी कोई सीमा नहीं है कि उसमें उसे बांधकर देखा जाय। उसका कोई एक गुण नही है कि उसका विश्लेषण किया जाय। अतः वह सभी विशेषणों से ऊपर है अर्थात् वे विशेषण उसके लिए निषेधात्मक हैं जैसे न वह वायु है, न छाया है, न बाहर है, न अन्दर है, न तेज है, न प्राण है आदि। पर इसका अभिप्राय ये नहीं कि ये उसमें हैं ही नहीं। वरन् वह इनसे बहुत

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

आगे है। इसकी अनुभूति की जा सकती है। परब्रह्म का दूसरा रूप है सगुण जो मन तथा बुद्धि से गोचर है। इसे अपर ब्रह्म कहते हैं। वह सलक्षण है। पर दोनों एक हैं। ये एक ही के दो रूप हैं। सृष्टि की उत्पत्ति करके ब्रह्म ने इसकी सम्पूर्ण रचना में प्रवेश किया। इस प्रकार वह सृष्टि का अन्तर्यामी व्यवस्थापक है। चूँकि वह सब में व्याप्त है पर उसका स्वरूप अलग से उनमें उद्भासित नहीं होता। अत: उसे हम सर्वव्यापक कहते हैं। पर वह अपनी सत्ता अलग बनाये है। इसलिए वह अतीन्द्रिय भी है। चूँकि सभी सृष्टि के उपादान उसी को केन्द्रित कर वनते हैं इसलिए वह प्रकृति की आत्मा है। इस प्रकार ब्रह्म की ही सत्ता जीव और जगत या जड़ और चेतन में विद्यमान होती है। इसीलिए परमात्मा या ब्रह्म परम-सत्य हैं। वह सांसारिक सत्य से परे हैं।

ब्रह्म काल के अधीन नहीं है। वह भूत और भविष्य का स्वामी होते हुए भी कालातीत है। वह दिशाओं में व्याप्त होकर भी उनसे परे है। वह एकवादी है। उसमें ज्ञाता और ज्ञेय का भेद नहीं है। वह अकेला सत्य है। वह स्वयं परिवर्तन विहीन है। स्वयं वह अचल होकर भी सृष्टि को चलायमान रखता है।

ब्रह्म को लोग अज्ञेय बताते हैं क्योंकि उपनिषदों में उसका विशेषण निषेधात्मक है जैसे वह न जल है, न अग्नि है आदि। पर वहीं आत्म चेतन है। सभी इन्द्रियों को उसी से शक्ति मिलती है। इसलिए वह अनन्त है। वही ज्ञान का स्रोत है। उसके बिना कोई ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। इसीलिए उपनिषदों में ब्रह्मज्ञान की महत्ता बताई गयी है। इस प्रकार निर्गुण होकर भी वह सलक्षण है। वही सच्चिदानन्द है। उसके तीन लक्षण हैं-विशुद्ध सत, विशुद्ध चित्त और विशुद्ध आनन्द। इनके साथ विशेषण विशुद्ध इसलिए जोड़ा गया है कि सांसारिक सत्, चित् और आनन्द से वह अलग है। इसी से उसे **'नेति', 'नेति'** अर्थात् वर्णननातीत कहते हैं।

२. आत्मा

आत्मा शब्द का अर्थ साँस या प्राण स्वीकार लिया गया है जो कालान्तर में विकसित होकर मनुष्य की आत्मा या जीवतत्त्व का द्योतक बन गया। आत्मा को मनुष्य के प्राण तत्त्व के रूप में मानने की बात अथर्ववेद में स्पष्ट व्यक्त की गई है। उपनिषद् काल में आत्मा को शाश्वत सत्य स्वीकार किया जाने लगा था जो देह, मन, साँस, इन्द्रिय आदि से भिन्न और परे कहा गया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि उपनिषद्-काल में विचारों का केन्द्र वैदिक देवताओं से हटकर मनुष्य की आत्मा पर केन्द्रित हो गया। उपनिषदों में आत्मा का ऐसा सूक्ष्म विश्लेषण किया गया है कि उससे बाहरी विशेषताएँ छँट जाएँ और केवल असली तत्त्व यहीं रह जाए। शरीर, प्राण, मन, बुद्धि और उनसे उत्पन्न होने वाले आनन्द की समीक्षा कर यह स्वीकार किया गया है कि ये सब आत्मा के क्षणभंगुर परिवर्तनशील रूप हैं, आत्मा के मूल तत्त्व नहीं हैं। ये सभी कोष बाहरी आवरण मात्र हैं जिनके भीतर असली तत्त्व छिपा रहता है। अतएव हम देखते हैं कि उपनिषदों में आत्मा को अन्नमय, प्राणमय, विज्ञानमय एवं आनन्दमय कोषों से परे एक "स्वप्रकाश चैतन्य" के रूप में स्वीकार किया गया है। अर्थात् आत्मा शुद्ध चैतन्य स्वरूप है। किसी विषय का जो बोध होता है वह इसी चैतन्य का एक सीमित प्रकाश है। शुद्ध चैतन्य किसी विषय की सीमा से आबद्ध नहीं होने के कारण अनंत या सर्वव्यापी है। इस सर्वव्यापी आत्मा के
CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri
विषय में यह कथन उपनिषदों में प्राप्त होता है कि विश्व के सभी पदार्थ इसी के गर्भ में विलीन

हो जाते हैं। इससे बहिर्भूत कुछ भी नहीं है। यही कारण है कि कहा गया है-

**स वा अयमात्मा ब्रह्म विज्ञानमयो मनोमयः प्राण-
मयश्चक्षुर्मय श्रोत्रमयः पृथिवीमय आपोमयो वायुमय
आकाशमयस्तेजोऽमयोतेजोमयः काममयोऽकाममयः
क्रोधमयोऽक्रोधमयो धर्ममयोऽधर्ममयः सर्वमयः इत्यादि।**[१]

इस तरह हम देखते हैं कि सत्य, अनन्त, और ज्ञान स्वरूप होने के कारण जो आत्मा मनुष्य में है वही सभी भूतों में भी है। अतएव आत्मा और परमात्मा एक ही हैं। आत्मा के विषय में कटोपनिषद का कथन है कि-

**एषु सर्वेषु भूतेषु गूढोऽऽत्मा न प्रकाशते।
दृश्यते त्वग्रयया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः।।**[२]

अर्थात् आत्मा सभी वस्तुओं में निहित है और प्रकट रूप से दिखायी नहीं देती परन्तु जो सूक्ष्मदर्शी हैं वे अपनी सूक्ष्मबुद्धि से उसे देख सकते हैं।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि संसार के जितने स्थूल तथा सूक्ष्म पदार्थ हैं, सभी आत्मा ही के रूप हैं। अतएव सभी वस्तुओं का सार "आत्मा" ही है। उपनिषदों में सबसे विशेष महत्व "आत्मा" ही को दिया गया है क्योंकि इसके समान प्रिय वस्तु दूसरी नहीं स्वीकार की गयी हैं। उपनिषद् का कथन है कि "आत्मा" प्राण, अपान, व्यान, उदान इन वायुओं के रूप में हमारे शरीर की रक्षा का कार्य करती है। यही वह आत्मा है जो भूख, प्यास, शोक, मोह, जन्म तथा मरण से हमारा उद्धार करती है। इसी के ज्ञान से पुत्र, धन, तथा स्वर्ग आदि की प्राप्ति की इच्छा से विरक्त होकर मनुष्य परिव्राजक या सन्यासी का जीवन व्यतीत करता है। अतः आत्मा पूर्ण और अखण्ड है। यही कारण है कि सत्-असत्, छोटा-बड़ा, समीप-दूर, अन्तः-बाहर आदि सभी विरुद्ध धर्मों का यह आधार है।

"बृहदारण्यक उपनिषद" से ज्ञात होता है कि सबसे पहले ब्रह्म ज्ञान क्षत्रियों को प्राप्त था और बाद में ब्राह्मणों ने इसे प्राप्त किया। इससे यह स्पष्ट है कि कोई भी ब्रह्म को जान सकता है, यदि वह सर्वथा अपनी तपस्या के अनुसार इसको पाने का अधिकारी है। वस्तुतः आत्मा का ज्ञान वेदों के अध्ययन से नहीं हो सकता है और न ही अच्छी धारणा शक्ति द्वारा प्राप्त हो सकता है। साधक जिस "आत्मा" का वरण करता है उस "आत्मा" से ही यह प्राप्त किया जा सकता है। उसके प्रति यह "आत्मा" अपने स्वरूप की अभिव्यक्ति करती है। उपनिषदों में भी यही कहा गया है-

**नायमात्या प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुधा श्रुतेन।
यमेवैष वृणुति तेन जम्भयरतस्यैष आत्मा विवृणुते तानूं स्वाम।।**

यह परमात्मा का अनुग्रह है। परन्तु "आत्मा" का ज्ञान अन्तःकरण की परिशुद्धि इसके द्वारा प्राप्त होती है।

---

१. बृहदारण्यक उपनिषद्-४.४.५.

२. कठोपनिषद्-३.१२.

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

माण्डूक्य उपनिषद में आत्मा के पारमार्थिक स्वरूप को जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति से परे तुरीय नामक एक चतुर्थ अवस्था को स्वीकार किया गया है। इस तरह स्पष्ट होता है कि उपनिषदों में आत्मा को स्वप्रकाश चेतना के रूप में माना गया है। इसके साथ ही साथ आत्मा और "ब्रह्म" के एकात्मकता के कारण "ब्रह्म" के गुणों का आत्मा में समावेश औपनिषदिक दर्शन का विषय है।

उपनिषदों में आत्मा को पुरुष कहा गया है। बृहदारण्यक उपनिषद् का कथन है कि पुरुष असंग है। इसका अर्थ कि पुरुष अनियंत्रित है। वह कारण कार्य के सम्बन्ध से मुक्त है। उपनिषदों में पुरुष को सर्वव्यापी भी बताया गया है। इसको 'महतो महीयान', अर्थात् बड़े से बड़ा कहा गया है। वह अनन्त एवं अणिमा दोनों ही स्वीकार किया गया है। इसमें भी पुरुष को व्याप्त माना गया है। इस तरह पुरुष का स्वभाव अन्तर्यामी बताया गया है। वह सर्वान्तर है। इस रूप में वह सूक्ष्मातिसूक्ष्म है। इसलिए इसे 'अणोंरणीयान' स्वीकार किया गया है।

आत्मा के विवेचन को औपनिषदिक शैली में-"नेति-नेति एष आत्मा" कहा गया है। आत्मा अविषय है। कोई विषय आत्मा नहीं स्वीकार किया जा सकता। अत: जिस विषय को आत्मा स्वीकार किया जाता है उसी को बाद में नेति आत्मा अर्थात् आत्मा नहीं है, ऐसा माना जाता है। विवेचन की यह शैली व्यातिरेक शैली है। यही अंपवाद की शैली का जनक है।

कठोपनिषद के अनुसार-

अन्यदेव तद् विदितादथो अविदितादधि।
इति शुश्रुम पूर्वेषां ये नस्तद् व्याचचक्षिरे।।[१]

इससे स्पष्ट हो जाता है कि आत्मा को एक ओर अज्ञेय वाद के दोष से बचाया गया है तो दूसरी ओर उसे विषय से परे रखने का प्रयास किया गया है।

उपनिषद् के ऋषि का कथन है कि मैंने अपने पूर्वजों से सुना है कि जो विदित है उससे आत्मा भिन्न है और जो अविदित है उससे भी आत्मा भिन्न है। वास्तव में आत्मा ज्ञाता है।" याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी से कहा है–

"विज्ञातारमरे मरे केन विजानीयात्"

अर्थात् 'मैत्रेयी! ज्ञाता को कौन जान सकता है?' इसका तात्पर्य है कि कोई उसे नहीं जान सकता। किन्तु क्या ज्ञाता अज्ञात हैं? नहीं वह ज्ञाता है और ज्ञातृ रूप से ज्ञात है।

इस प्रकार उपनिषद में आत्मा का स्वरूप आनन्दमय है– 'अन्योन्यतर आत्मा आनन्दमय'। इसे अजन्मा, शाश्वत और नित्य कहा गया है। यह चैतन्य है। पर सभी प्रकार के कर्मों से मुक्त है। इसका स्वरूप दो प्रकार का है-स्थूल और सूक्ष्म। वह स्वयं सूक्ष्म होकर भी इन्द्रियों को उसकी क्रिया के सम्पादन में शक्ति प्रदान करता है। इस प्रकार वह शरीर में नख-सिख तक व्याप्त है पर स्वयं स्वतंत्र है।

आत्मा शरीर में कहाँ स्थित है? यह विवादास्पद है। बृहदारण्यक उपनिषद में उसे चावल या यव के समान सूक्ष्म होकर हृदय में स्थित बताया गया है। दूसरे उपनिषद उसे हृदय में

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

१. केनोपनिषद्- १.४.

अंगुष्ठमात्र का स्थित वताते हैं। कोई उसे मस्तिष्क में भी स्थित वताते हैं। यह सूक्ष्म भी है और महान भी है। जीवात्मा की चार अवस्थाएँ बताई गई है : १. जाग्रत (वह वाह्य संसार का ज्ञान प्राप्त करती है), २. स्वप्न (वह सूक्ष्म विषयों का ज्ञान आन्तरिक रूप से प्राप्त करती है), ३. सुशुप्ति (वह न बाहरी और न भीतरी विषय का ज्ञान प्राप्त करती है वल्कि आनन्द का भोग करती है) और ४. तुरीय (यह किसी भी बाह्य या आन्तरिक उपभोग से अलग होती है।) उपनिषद ने जीव के पाँच कोश माने है। पर जो आनन्दमय कोश है वही ब्रह्म है। इसी से आनन्द ही परम सत्य है। यहीं आत्मा के ज्ञान से जीवात्मा बंधन से मुक्त होता है।

पर आत्मा के विषय में उपनिषदों में परस्पर विरोधी विवरण प्राप्त होते हैं। एक उपनिषद कहता है कि आत्मा न स्त्री है, न पुरुष है और न नपुंसक है। वह दूसरों के अनुसार चल भी है अचल भी है। वह सभी के भीतर है और बाहर भी है, निकट भी है और दूर भी है, महान भी है और सूक्ष्म भी है। परन्तु इन परस्पर विरोधी विवरणों का समाधान भी वही है जहाँ यह कह देते है कि आत्मा से अलग कोई ज्ञाता या श्रोता नहीं है, प्रकाश नहीं है। चूँकि इसका विवरण प्रस्तुत नहीं किया जा सकता इसलिए इसके सम्बन्ध का विवरण विरोधी लगता है।

यहाँ आत्मा और विश्वात्मा को अभेद माना गया है। इसी से धर्म के कर्मकाण्ड पक्ष का विरोध उपनिषदों में है। यहाँ आत्मदर्शन एवं आत्मज्ञान की बात की गई है। देवोपासना को इसीलिए सत्य नहीं माना गया है– **'नेदं यद् यदमुपासते'**। इस प्रकार देवता का प्रकाश नहीं आत्मा का प्रकाश देखना ही धर्म की चरमता, उपनिषदों में स्वीकार की गई है।

जीवात्मा और आत्मा का भी विचार उपनिषदों में किया गया है। जीवात्मा के मुक्तावस्था की कल्पना यहाँ है। यही स्थिति मोक्ष या बंधन से मुक्ति की होती है। जब तक मनुष्य की आत्मा सांसारिक क्रियाओं में लिपटी रहती है तब तक वह बंधन की स्थिति में होती है। बंधन मुक्त स्थिति ही मोक्ष है। यह ज्ञान से ही सम्भव है। यही स्थिति है जहाँ जीवात्मा और ब्रह्म का तादत्म्य देखा जा सकता है। इसी से 'अहं ब्रह्मस्मि' (मैं ब्रह्म हूँ) तथा 'तत्त्वमसि' (वही तू है) की बात उपनिषदों में की गई है। यही चेतना का आधार है। इसलिए जीव और आत्मा में अन्तर है। जीव 'वैयक्तिक आत्मा' है और आत्मा 'परम आत्मा' है। आत्मा भोग से परे है जवकि जीव का धर्म भोग है। जीव अज्ञानी है पर आत्मा ज्ञानी है। जीव बंधनमय है पर आत्मा निर्मुक्त है। आत्मा के ज्ञान के कारण ही जीव बंधनमुक्त हो जाता है। जीवात्मा का ही पुनर्जन्म होता है आत्मा का नहीं। जीवात्मा अनन्त ज्ञान से रहित है पर आत्मा परमात्मा का ही रूप है। इसलिए वही ज्ञान स्तोत्र है। इस प्रकार आत्मा जीवात्मा से भिन्न है पर परमात्मा से अभिन्न है। इसीलिए जीव की चार अवस्थाओं में से तुरियावस्था ही ब्रह्म की है तथा पाँच कोषों में से आनन्दमय कोष ही ब्रह्म है जहाँ जीवात्मा बंधनमुक्त होकर आत्मा से अभिन्न होती है और इस प्रकार वह ब्रह्ममय हो जाती है।

आत्मा और ब्रह्म की भिन्नता ही उपनिषद की शिक्षा का सार है। **'आत्मा वै ब्रह्म'**-अर्थात् आत्मा ही ब्रह्म है। **'तत्वमसि'**-तू वही है जो यह है। **'अहं ब्रह्मास्ति'**-मैं ही ब्रह्म हूँ। **'अयंमात्मा ब्रह्म'**-यह आत्मा ही ब्रह्म हैं। ऐसे अनेक वाक्य उपनिषदों में मिलते है जो आत्मा और ब्रह्म की एकरूपता का विवेचन करते हैं। इसी से दोनों को सच्चिदानन्द सत्, चित्त और आनन्द तथा सत्य, शिव और सुन्दर माना गया है। यही आत्मा तुरियावस्था में पहुँचकर ब्रह्म होता है। इसी ब्रह्म का

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

स्वरूप जाग्रत अवस्था में आत्मा होती है। वही शरीर के लिए आत्मदृष्टि में आत्मा है जो व्यापक दृष्टि से ब्रह्म है। विषयी आत्मा है और विषय ब्रह्म है। दोनों के बीच तादात्म्य है। इसी से डॉ. राधाकृष्णन् (Dr. Radhakrishanan) ने कहा है- 'ब्रह्म ही आत्मा है'। (Brahma is atama.) वही ब्रह्म अन्तर्रात्मा में विद्यमान होने पर आत्मा का रूप धारण करता है। पर जैसे ही वह ब्रह्म के रूप में मिलता है वैसे ही उससे हृदय की सभी ग्रंथियाँ टूट जाती हैं, सारे संशय समाप्त हो जाते हैं तथा समस्त कर्म क्षीण हो जाते हैं-**भिद्यते हृदय ग्रंथश्छिद्यन्ते सर्वसंश्याः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे।।**

ब्रह्म और आत्मा का सम्बन्ध

औपनिषदिक दर्शन में "ब्रह्म" और "आत्मा" एक सिक्के के ऐसे दो पहलू के रूप में स्वीकार किये गये हैं जिसमें एक के अभाव में दूसरे की कल्पना निराधार हो जाती है। वास्तव में उपनिषदों में एक ऐसे सर्वव्यापी अनन्त एवं सर्वशक्ति सम्पन्न सत्ता की कल्पना की गयी है जिससे सभी वस्तुओं की उत्पत्ति, स्थिति एवं अनन्त विलीनता होती है।

इस परम तत्त्व को ही उपनिषदों में कभी "ब्रह्म", कभी "आत्मा", तो कभी केवल "सत्" की संज्ञा से संबोधित किया गया है। ऐतरेय उपनिषद् का कथन है-

"ॐ आत्मा वा इदम् एक एव आग्र आसीत।"[१]

वृहदारण्यक उपनिषद के अनुसार-

"आत्मा एवं इदम् अग्रे आसीत"[२]

इन कथनों से स्पष्ट होता है कि "पहले आदि में केवल वह आत्मा मात्र था।"

छान्दोग्योपनिषद् से ज्ञात होता है कि-

"आत्मा एवं इदं सर्वम"[३]

पुनः बृहदारण्यक उपनिषद के अनुसार-

"आत्मानि खलु अरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञाते इदं सर्व विदितम्"[४]

अर्थात् आत्मा को जान लेने से सब कुछ विदित हो जाता है।" छान्दोग्योपनिषद् में कहा गया है कि-

"स्त्रदेव सौम्य इदम अग्रे आसीत्, एकम् एव अद्वितीयम्"।[५]

अर्थात् "आदि में केवल एक सत् था दूसरा कुछ नहीं था।"

पुनः यहीं वर्णित है-

"सर्वं खलु इदं ब्रह्म।"[६]

---

१. ऐतरेय-१.१.
२. बृहदारण्यक-१.४.१.
३. छान्दोग्योपनिषद्-७.२५.२.
४. बृहदारण्यक उपनिषद्-४.५.६.
५. छान्दोग्योपनिषद्-६.२.१.
६. वही-३.१४.१.

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

अर्थात् "यह सब कुछ ब्रह्म है।" इसी तरह की उक्ति मुण्डक उपनिषद् से भी प्राप्त होती है–

"ब्रह्म एव इदं विश्वम्"[१]

इस प्रकार हम देखते हैं कि इन सब वाक्यों में ब्रह्म आत्मा के ही अर्थ में प्रयुक्त हैं। उपनिषदों में कहीं-कहीं पर कहा गया है कि–

"अयं आत्मा ब्रह्म"[२]

अर्थात् "यह आत्मा ही ब्रह्म है।"

एवं

"अहं ब्रह्म अस्मि।"[३]

अर्थात् "मैं ब्रह्म हूँ।"

तथा

"प्रज्ञानं ब्रह्म"[४]

अर्थात् प्रज्ञान ही ब्रह्म है।

एवं

"तत्वमसि"[५]

अर्थात् वह तू ही है।

इन कथनों से ज्ञात होता है उपनिषदों में ब्रह्म एवं आत्मा के एकाकार का सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया है।

बंधन और मोक्ष

संसार में आने पर जीव को कर्म करना पड़ता है। कर्म के दो रूप हैं। एक प्रकार का कर्म प्रवृत्ति मार्गी होता है। इससे संसार में वह बंधता है। दूसरा कर्म निवृत्तमार्गी होता है। इससे संसार के बंधनों से वह छूटता है। पर दोनों ही अनित्य हैं। इसीलिए कर्म के चार फल बताये गये हैं-उत्पत्ति, संस्कार, विकार और अति या समाप्ति। ये सभी सांसारिक हैं इसलिए कर्म अविद्या है। कोई भी कर्म सकाम होता है। इसमें इच्छाएँ प्रेरक होती हैं जैसे स्वर्ग की प्राप्ति की इच्छा के लिए यज्ञ करते हैं। इस प्रकार मोक्ष के लिए कर्म साध्य नहीं है। यह संसारी के लिए बंधन है। इसी के कारण मनुष्य संसार में बंधा रहता है। यज्ञादि कर्मों द्वारा ही वह पुण्य अर्जित करता है। इससे यद्यपि वह स्वर्ग में पहुँच तो जाता है पर पुण्य के क्षीण होने पर वह फिर संसार में चला आता है। इस प्रकार जीवन मुक्त के लिए स्वर्ग की प्राप्ति का कोई रास्ता नहीं है। स्वर्ग का सुख नित्य (स्थायी) नहीं हैं। यही अज्ञान और अविद्या है जो बंधन का कारण है। इसी के

---

१. मुडंक उपनिषद्-२.२.११.
२. बृहदारण्यक उपनिषद्-२.५.१९
३. वही-१.४.१०.
४. ऐतैरेयोपनिषद्
५. छान्दोग्योपनिषद्

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

कारण अहंकार होता है। इसके परिणामस्वरूप हम जीवन-मरण के चक्कर में बंधे रहते हैं। यही बंधन है। इसी को उपनिषदों में 'ग्रंथि' भी कहते है। ग्रंथि का अर्थ है-बंधन या गांठ। इस अवस्था में जीव ब्रह्म, आत्मा तथा जगत का सही ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकता।

इस बंधन से मुक्त होना ही मोक्ष है। जहाँ बंधन टूट जाता है, दुःखों का अन्त हो जाता है तथा आवागमन का चक्कर समाप्त हो जाता है, वहीं सच्चिदानन्द परमात्मा का तादात्म्य होता है। तभी अविद्या का विनाश होता है। तदन्तर विद्या के द्वारा वह विशुद्ध ज्ञान को जान लेता है। इस स्थिति में जीव और परमात्मा का भेद नहीं रहता। भेद रहना ही बंधन का कारण बनता है। तभी सारे कर्म-बंधन टूट जाते हैं। वहाँ भेद दृष्टि समाप्त हो जाती है। संशय का अन्त हो जाता है। कर्म क्षीण हो जाते हैं। तब हृदय की ग्रंथि खुल जाती है तथा जीव और परमात्मा का एकाकार हो जाता है- **भिद्यते हृदय ग्रंथिश्छन्त सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तास्मिन्दृष्टे परावरे।।** यही स्थिति मोक्ष की है। इस अवस्था में नामी का नाम समाप्त हो जाता है। वह ईश्वरमय हो जाता है तथा उसके दिव्य रूप में समाहित हो जाता है। यह ठीक उसी प्रकार है जैसे नदियाँ बहती हुई जब समुद्र में मिलती हैं तो उनका नाम नहीं रह जाता- **यथा नद्यः स्यान्दमाना समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरुपे विहाय। तथा विद्वान्नामरुपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यां।।** तब वहाँ न मोह होता है न शोक होता है- **'तत्र मोहः कः शोक....।'** यही स्थिति ज्ञान का अमृतत्व, मोक्ष है- **विद्ययाऽमृतमश्नुते।**

ऊपर हमने देखा कि जीवात्मा को-**परात्परं पुरुषमुपैति**, कह कर जताया गया है कि वहाँ जीव परमात्म तत्व में विलीन हो जाता है। यह मोक्ष का एक रूप है जिसे शंकराचार्य ने अद्वैत की स्थिति माना है। यही ब्रह्मतादात्म्य है। पर दूसरी ओर कुछ उपनिषदों में कहा गया है कि भक्त भगवान के साथ सुख भोगता है-**'सायुज्य गच्छति या साम्यमुपैति'**। यहाँ एकात्मकता नहीं है वरन सानिध्य है। अतः यह द्वैत की स्थिति का बोधक है। रामानुजाचार्य ने इसी के आधार पर विशिष्टाद्वैतवाद की मान्यता स्थापित किया है। इस प्रकार यहाँ मोक्ष के दो रूपों-तादात्म्य और सामीप्य का ज्ञान मिलता है।

जीव का जन्म संस्कार जनित होता है। अपने पूर्व संस्कारों के अनुसार यहाँ जीव को भोगना ही पड़ता है। पर जब इस शरीर के रहते जीव को ज्ञान हो जाता है तो वह मुक्त हो जाता है। किन्तु इस शरीर के छूटने के बाद ही वह ब्रह्म में लीन होता है। जीवित अवस्था में मुक्त होना-जीवन्मुक्ति है। इसी को सदेह मोक्ष की प्राप्ति भी कहते हैं। इस समय वह कर्मों के बंधन को उसी प्रकार उतार देता है जैसे साँप केंचुल उतार देता है। पर एक स्थिति वह है जिसमें नदियाँ अपना अस्तित्व समाप्त कर समुद्र में मिल जाती हैं। तब उनका न नाम रहता है न गुण रहता है। यह दूसरी अवस्था है। इसमें जीव देह रूप में नहीं रह जाता और तब वह परमात्ममय होता है। इसे विदेहमुक्ति कहते हैं। इस प्रकार मोक्ष दो अवस्थाओं में प्राप्त होती है।-सदेह मुक्ति और विदेह मुक्ति।

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

अध्याय-५

गीता का धर्म और दर्शन

"सर्व वेदमयी गीता...।"

श्रीकृष्ण ने गीता को सब धर्मों का सार कहा है- **'गीता में हृदयं पार्थ'**। गीता को अमृत कहा गया है- **'गीतामृतम'**। जिस प्रकार अमृत समुद्र मंथन से निकला है, उसी प्रकार शास्त्रों के मंथन से गीता निकला है। यह महाभारत का अंश है जो सात सौ श्लोकों का संग्रह है। इसी से इसे सप्तशती कहते हैं। इसे पहले सूर्य ने मनु को और फिर मनु ने इक्ष्वाकु को दिया था।

गीता को सर्वशास्त्रमयी कहा गया है-

"भारते सर्व वेदार्था भारतार्थश्च कृत्स्त्रशः।
गीतायामस्ति तेनेयं सर्वशास्त्रमयी मता।।"[१]

इसमें सर्वशास्त्रों की भाँति ईश्वर को प्राप्त करने के उपाय बताये गये हैं। गीता में ईश्वर प्राप्ति के उपाय को योग कहा गया है। यह वही योग है जिसके आदि वक्ता हिरण्यगर्भ है और जिसका वर्णन महाभरत में अन्यत्र हुआ है। यह वही योग है जिसकी शास्त्रीय विवेचना पातंजलि के योगसूत्र या योगदर्शन में किया गया है। भगवद्‌गीता में श्रीकृष्ण ने कहा है-

"इमं विविस्वतेयोगं प्रोक्तवान इमव्ययम्।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्वाकवेऽब्रवीता।।"[२]

किन्तु गीता में केवल यही एक योग नहीं है। वहाँ अन्यत्र कहा गया है-

"ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति के चिदात्मानमात्मना।
अन्येसांख्येन योगेन कर्मयोगेन चा परे।।"[३]
अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते।
तेऽपि चाति तरन्त्येव मृत्युं श्रुति परायणाः।।"[४]

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि गीता में ध्यान योग, कर्म योग, राज योग, श्रवण योग तथा ज्ञान योग का वर्णन है।

परन्तु गीता में परस्पर विरोधी विचार पद्धतियों के बीच सामंजस्य स्थापित करने के आधार

---

१. गीता की नीलकण्ठ टीका का मंगलाचरण
२. गीता-४.१.
३. गीता-१३.२४
४. गीता-१३.२५

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

पर अनेक विद्वानों का मत है कि इसके ऐसे अंश विभिन्न लेखकों द्वारा विभिन्न कालों में जोड़े गये होंगे। गार्बे (Garve) का मत है कि भगवद्गीता मूलतः सांख्य योग की एक रचना है जिसमें कृष्ण-वासुदेव सम्प्रदाय पीछे मिल गया। ईसापूर्व तीसरी शताब्दी में कृष्ण और विष्णु में तादात्म्य स्थापित करके इसे वैदिक परम्परा के अनुकूल बना दिया गया। मूलग्रन्थ २०० ई.पू. में बना होगा। दूसरी शताब्दी ईश्वी में वेदान्त के किसी अनुयायी ने इसको वर्तमान रूप दिया होगा।

हॉपकिन्स (Hopkins) का विचार है कि गीता एक असाम्प्रदायिक रचना एवं एक उत्तर कालीन उपनिषद् था जो विष्णु सम्बन्धी कविता के रूप में विकसित हुआ। वर्तमान गीता इसी का कृष्णावतार से सम्बन्धित संस्करण है।

हुल्शमन (Hultzmann) इसे बहु-ईश्वरवादी कविता का वैष्णव प्रभाव से परिवर्तित रूप स्वीकार करते हैं। प्रसिद्ध इतिहासकार कीथ (Keith) का कथन है कि प्रारम्भ में यह श्वेताश्वतर उपनिषद् की भाँति एक उपनिषद् था लेकिन बाद में कृष्ण के सम्प्रदाय के अनुरूप इसमें परिवर्तन कर दिया गया। बार्नेट (Barnett) यह स्वीकार करते हैं कि विभिन्न प्रकार की प्रवृत्तियाँ इसके लेखक के मस्तिष्क में अव्यवस्थित रूप से गुंथ गई हैं। ओटो (Otto) का मत है कि मूलगीता ऐतिहासिक महाकाव्य का एक सुन्दर टुकड़ा है जिसमें दार्शनिक या सिद्धान्त सम्बन्धी कोई साहित्य सम्मिलित नहीं था। इस मत का समर्थन जैकोबी (Jaycobi) ने भी किया है। जैकोबी का विचार है कि गीता के मूल अर्थ को दार्शनिकों ने विकसित करके इसे इसका वर्तमान रूप दिया है।

लेकिन पश्चिमी विद्वानों के ऐसे तर्क एवं धारणायें भारतीय परम्पराओं के विपरीत हैं क्योंकि भारतीय परम्परा ने तो सदैव यह माना है कि ऊपर से परस्पर विरोधी लगने वाले तत्त्व रचयिता के मस्तिष्क में एक सूत्र में पिरोये से लगते हैं जो समन्वय का सुन्दर आदर्श प्रस्तुत करते हैं। डॉ. राधाकृष्णन् (Dr. Radhakrishnan) ने कहा कि कालान्तर में इस ग्रंथ में कई परिवर्तन हुए होंगे लेकिन उनका कथन है कि गीता का रचना काल ई.पू. पाँचवी शताब्दी रखा जा सकता है। गीता प्रारम्भिक उपनिषदों के बाद की और दार्शनिक सिद्धान्तों के विकास और उनके सूत्ररूप में प्रतिपादन से पहले की रचना है। इसकी प्राचीन रचना शैली और अन्तरंग साक्ष्य के आधार पर डॉ. राधाकृष्णन् इसे ईसा पूर्व के युग की रचना स्वीकार करते हैं।

गीता की केन्द्रीय अवधारणा या योग समन्वय

वस्तुतः गीता एक योगशास्त्र है। इसमें वर्णित विभिन्न योगों में भक्तियोग, कर्मयोग, ध्यानयोग एवं ज्ञान योग महत्वपूर्ण हैं। गीता में भी कहा या है कि जिसयोग से भगवान की प्राप्ति होती है वह भक्तियोग है। भगवान श्रीकृष्ण ने स्वयं कहा है-

"मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे।।"

वस्तुतः सच्ची भक्ति शरणागति है। अनन्यभाव से भगवान की ही एकमात्र शरण में जाने से भगवान् प्राप्त हो जाते हैं। भगवान ने कहा भी है- 'सब धर्मों को छोड़कर केवल मेरी शरण में आओ। मैं तुम्हें सभी पापों से मुक्त करूँगा। शोक मत करो।' शोक न करने की बात एक गारंटी है कि मुक्ति भगवान देंगे ही। ऐसा किसी भी दूसरे धर्म के किसी देवता ने गारंटी नहीं ली है-

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

"सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणंव्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।।"

लेकिन गीता का योग केवल ज्ञानयोग या भक्तियोग या कर्मयोग या राजयोग ही नहीं है। यहाँ दो स्थानों पर योग की परिभाषा दी गयी है। प्रथम परिभाषा में कहा गया है कि–

"योगः कर्मसु कौशलम्"

अर्थात् योग कर्म कौशल है। द्वितीय परिभाषा में कहा गया है कि–

"समत्वं योग उच्यते"

अर्थात् समता योग है या योग समत्व है। किन्तु योग की ये दोनों परिभाषायें योग के विशेष स्वरूप को निर्धारित करने में असमर्थ लगती है क्योंकि ये प्रायः भक्तियोग, कर्मयोग, राजयोग तथा ज्ञानयोग में से प्रत्येक पर लागू होती हैं। ऐसी अवस्था में गीता के भाष्यकारों में शंकराचार्य ने केवल ज्ञानयोग को रामानुजाचार्य ने भक्तियोग को और लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक ने कर्मयोग को महत्व दिया है। आचार्य मधुसूदन सरस्वती ने कर्मयोग, भक्तियोग तथा ज्ञानयोग के कर्म समन्वय को महत्व दिया है। आचार्य मधुसूदन सरस्वती के मत की समीक्षा करने पर जान पड़ता है इनका मत स्पष्ट अन्य सभी मतों का समन्वय है। आचार्य सरस्वती के मतानुसार गीता के प्रथम छः अध्यायों में कर्मनिष्ठा (कर्मयोग) मध्य के छः अध्यायों में भक्तिनिष्ठा (भक्तियोग) और अन्तिम छः अध्यायों में ज्ञाननिष्ठा (ज्ञानयोग) का स्थान है। इस प्रकार गीता में तीन काण्ड हैं। प्रथम काण्ड में कर्म और कर्म त्याग के द्वारा तत्व पदार्थ (जीवात्मा) का सप्रमाण निरूपण है, द्वितीय काण्ड में भक्ति के वर्णन द्वारा तत्पदार्थ (परमात्मा) का सप्रमाण निरूपण है तथा अन्य में तृतीय काण्ड में जीवात्मा और परमात्मा के ऐक्य का विवेचन है। संक्षेप में यही तीनों काण्डों का सम्बन्ध है।

"कर्मोपास्तिस्तथा ज्ञानमिति काण्डत्रयं क्रमात।
तद्रूपाषटदशाध्यायेगीता काण्डत्रयात्मिका।।

एवमेकेन षट्केन काण्डमत्रोपलक्षयेत्।
कर्मनिष्ठाज्ञाननिष्ठे कथिते प्रथमान्त्ययोः।।

यतः समुच्चयोनास्ति तयोरतिविरोधतः।
भगवद्भक्ति निष्ठा तु मध्यमें परिकीर्तिता।।"

नीलकण्ठ ने भी अपनी टीका में आचार्य सरस्वती के मत को ही स्वीकार्य किया है।

गीता को योगशास्त्र कहा गया है। अतः यह जानना आवश्यक है कि योग क्या है? योग दर्शन में 'चित्तवृत्तियों का निरोध' योग बताया गया है- **चित्तवृत्तिनिरोधः योगः।** पर शाब्दिक रूप से यह युग धातु से बना है। उसका अर्थ है-मिलना। गीता में आत्मा और परमात्मा के मिलन के अर्थ में इसका प्रयोग हुआ है। इस मिलन का कारण यह है कि जब जीवात्मा बन्धन की स्थिति को प्राप्त होती है तब वह सांसारिक बनती है। उसकी अलग पहचान के लिए उसे एक नाम दिया गया है। वह अपने विवेकानुसार शरीर के माध्यम से सद् असद कर्म करने लगती है।

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

उसका फल भी उसी को भोगना पड़ता है। इसके कारण वह बंधन में फंसती है। यही बंधन कर्म बंधन कहलाता है। उससे प्राप्त फल कर्मफल होता है। उसको इस बन्धन से मुक्त करने का माध्यम योग है वही जीवात्मा को परमात्मा में मिला देती है। अत: यहाँ योग सोपान है जो ईश्वर तक उसे पहुँचा देता है। यह अवस्था योगदर्शन के समाधि की स्थिति नही है। यह मोक्ष मार्ग है। इस मार्ग के द्वारा बंधन का नाश होता है। मुख्यत: यह मार्ग तीन प्रकार का है-एक ज्ञान का जिसे ज्ञान मार्ग कहते है, दूसरा कर्म का जिसे कर्म मार्ग कहते है और तीसरा है भक्ति का जिसे भक्ति मार्ग कहते हैं। अत: मोक्ष के तीन साधन या तीन योग गीता में बताये गये है-कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग। विभिन्न दार्शनिकों ने इन विभिन्न मार्गों को अपनी दृष्टि से विवेचित किया है। मीमांसाकारों ने तथा लोकमान्य आदि दार्शनिकों ने कर्मयोग को महत्वपूर्ण माना है जबकि शंकराचार्य ने ज्ञानयोग को और रामानुजाचार्य ने भक्तियोग को जैसा ऊपर कहा गया है।

मूल योग मार्गों को अपनाने के पीछे भी कारण है। मन के तीन अंग होते है : क्रियात्मक, ज्ञानात्मक और भावात्मक। इन्हीं अंगों के अनुरूप तीन योगों की मान्यता स्थापित है। जो जिस अंग को विशेष महत्व देता है वह उस योग को स्वीकार करता है। पर ये तीनों मार्ग एक ही केन्द्र की ओर ले जाते हैं-मोक्ष। साथ ही ये तीनों अलग-अलग होते हुए भी एक ही में समन्वित हैं क्योंकि शास्त्रोक्त साधन हैं। तीनों ही समान हैं। तीनों के प्रतिपादक कृष्ण ही हैं। तीनों अपनी-अपनी रुचि के अनुकूल हैं। किसी को ईश्वर के लिए निवृत्तमार्ग पसंद है, किसी को प्रवृत्तमार्ग। पर संसार में ही रहकर इन मार्गों को अपनाना पड़ता है। सभी मार्ग समान फलदायक हैं। गीता के १२वें अध्याय में अर्जुन ने कृष्ण से प्रश्न किया है कि कौन श्रेष्ट योगी है? कृष्ण ने भक्त को ही श्रेष्ठ योगी बताया है। पर आगे यह भी कहा कि जो ज्ञानकर्मयुक्त भक्ति करता है। वह भक्त शत्रु तथा मित्र को समान मानता हैं, जिसकी बुद्धि स्थिर हो गई है और वह विषयों में आनन्द नहीं प्राप्त करता। अनासक्त कर्म करना कर्मयोग है। ज्ञान निष्ठा को प्राप्त करना ज्ञानयोग है और भक्ति का उत्कर्ष भक्तियोग है। हम देखते हैं कि बिना ज्ञान के निष्काम कर्म नहीं हो सकता और बिना कर्म के भक्ति नहीं हो सकती। जिस प्रकार ज्ञान के साथ कर्म और भक्ति दोनों जुड़े होते है उसी प्रकार प्रत्येक योग के लिए शेष दो योगों के जुटे होने की आवश्यकता होती है। इन तीनों का समन्वित रूप ही योग-समन्वय है।

कर्म के सम्बन्ध में गीता में बताया गया है कि वह ज्ञान से सम्बद्ध होना चाहिए। ज्ञान से युक्त कर्म करने पर कर्म फल की अभिलाषा प्राणी नहीं करता। तभी उसे ईश्वर की भक्ति प्राप्त हो जाती है। भक्ति के लिए भी भक्त को कर्मों के फल से अलग रहना होता है। तभी उसे ज्ञान की प्राप्ति होती है। जब स्वत: ज्ञान की प्राप्ति तीव्र हो जाती है तब ईश्वर भक्त को ज्ञान का प्रकाश देता है। इस प्रकार यहाँ प्रत्येक योग के लिए शेष दो योगों का होना आवश्यक बताया गया है। यही योग समन्वय है।

इसीलिए दीखता भले है कि मोक्ष के तीन मार्ग हैं पर अन्ततोगत्वा सब एक ही हैं। कहीं भी किसी में विरोध नहीं है। जिसे जो पसन्द हो वह उसका अनुगमन कर लक्ष्य तक पहुँच सकता है। ज्ञानात्मक विचारधारा के अनुसरण के लिए गीता का ज्ञानमार्ग है। क्रियात्मक पक्ष के अनुरूप चलने वालों के लिए गीता का कर्ममार्ग है। भावनात्मक पहलू को स्वीकारने वालों के लिए गीता

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

का भक्तिमार्ग है। यही गीता का योगसमन्वय है। इसी को गीता का केन्द्रीय दर्शन कहा जाता है। गीता शब्द को अगर उलट दिया जाय तो 'तागी' बनता है। तागी बंगला का शब्द है और इसका हिन्दी में अर्थ है-त्याग। यही त्याग का उपदेश तथा गीता का मूलमंत्र है।

भक्तियोग

भगवद्गीता में प्रतिपादित भक्तियोग का अर्थ है-भगवान के प्रति अनन्य भाव से एकाग्र होकर समर्पित हो जाना। भगवान श्री कृष्ण ने भक्ति के विषय में स्वयं कहा है

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।
यस्यान्तः स्थानि भूतानि येन सर्वमिदम् ततम्।।[१]

अर्थात जिस परमात्मा के अन्तर्गत सर्वभूत निवास करते हैं और जिस सच्चिदानन्दधन परमात्मा से यह समस्त जगत परिपूर्ण है, वह सनातन अव्यक्त परमपुरुष तो अनन्य भक्ति से ही प्राप्त होने योग्य है।

भक्तियोग को अन्य योगों की अपेक्षा गीता में अत्यन्त ऊँचा स्थान प्राप्त है। यह योग अन्य योगों से सरल एवं उत्तम बतलाया गया है। इस योग का महत्व श्री कृष्ण ने अर्जुन को बतलाते हुए कहा है कि जो मेरे परायण करने वाले भक्तजन सम्पूर्ण कर्मों को मुझमें अर्पण करके मुझ सगुण रूप परमेश्वर को ही अनन्य भक्तियोग से निरन्तर चिन्तन करते हुए भजते हैं उन चिन्तन करने वाले प्रेमी भक्तों को मैं शीघ्र ही मृत्यु रूपी संसार समुद्र से उद्धार कर देता हूँ-

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते।।

तेषामहं समुद्धर्त्ता मृत्यु संसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम।।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भगवान की कृपा जिस पर हो जाये और जो भक्त अपने को पूर्णतः भगवान के प्रति अनन्य भाव से एकाग्र होकर समर्पित कर दे, वह एकान्तिक भक्ति से भगवान को प्राप्त कर सकता है। यह भक्ति योग है जिसको वैष्णव आचार्यों ने बहुत अधिक महत्व दिया है। यही भक्तियोग पाँचरात्र शास्त्र के अनुसार है। इस योग से भक्त इसी जीवन में भगवान् को प्राप्त कर सकता है। रामानुज ने इस प्रवृत्तिमार्ग कहा है।

बालगंगाधर तिलक (B. G. Tilak) ने अपनी पुस्तक 'श्रीमद् भगवद्गीता रहस्य' में भक्तिमार्ग पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि 'ब्रह्म और आत्मा में एकता स्थापित करने के लिए के प्रेम पूर्वक परमेश्वर के चिन्तन के मार्ग को उपासना या भक्तिमार्ग है।' शाण्डिल्यसूत्र के अनुसार-ईश्वर के प्रति निरतिशय प्रेम ही भक्ति है। किन्तु भागवत पुराण में कहा गया है कि प्रेम निर्हेतु, निष्काम और निरन्तर होना चाहिए।

गीता में सकाम भक्ति-भावना को निम्न कोटि का बताया गया है तो दूसरी तरफ जो परमेश्वर का ज्ञान होने के कारण अपने लिए कुछ प्राप्त करने की इच्छा नहीं रखता और केवल

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

१. आरम्भिक श्लोक, मधुसूदनी टीका, ४-६

परमेश्वर की भक्ति करता है वही सब भक्तों में श्रेष्ठ कहा गया है। यही निष्काम भक्ति है। इसी निष्काम भक्ति को सर्वश्रेष्ठ बताया गया है। स्थान-स्थान पर श्रीकृष्ण ने अपने लिए उपदेशों में प्रथम पुरुष का प्रयोग करके गीता में व्यक्तोपासना अथवा भक्तिमार्ग को बल प्रदान किया है। गीता में एक स्थल पर श्रीकृष्ण ने भी कहा है जिसकी जैसी श्रद्धा होती है वह वैसा ही हो जाता है। दूसरे स्थल पर भी श्रीकृष्ण ने कहा है कि जो जिस प्रकार मुझे मानते हैं उसी प्रकार मैं उन्हें फल देता हूँ।

राष्ट्रवादी बालगंगाधर तिलक ने गीता के भक्तिमार्ग पर प्रकाश डालते हुए लिखा है-गीता में प्रतिपादित भक्तिमार्ग कर्म प्रधान है और उसका मुख्य तत्त्व यह है कि परमेश्वर की पूजा न केवल पुष्पों-फलों और मंत्रों से होती है अपितु वह स्वधर्मोक्त निष्काम कर्मों से होती है। इसे कामना रहित की जाती है। ऐसी पूजा प्रत्येक व्यक्ति को अवश्य करनी चाहिए जबकि कर्मयुक्त भक्ति का यह तत्त्व गीता के अतिरिक्त अन्य किसी भी ग्रंथ में प्रतिपादित नहीं किया गया है। तब इसी कर्म प्रधान भक्तिमार्ग नामक तत्त्व को गीता प्रतिपादित भक्तिमार्ग का विशेष लक्षण कहना चाहिए। भक्तिमार्ग के श्रद्धामूलक प्रमगम्य तथा प्रत्यक्ष होने के कारण इसका आचरण करना सर्वसाधारण के लिए सुगम है। इसी से कृष्ण ने कहा है–

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।।

'सभी धर्मों को छोड़कर एक मेरे ही शरण में आओ। मैं तुम्हें सभी पापों से मुक्त कर दूँगा, तुम कृतकर्मों के विषय में सोच मत करो।'

भगवान की भक्ति ही मोक्ष का द्वार खोल सकती है। श्री रामानुज आदि के अनुसार गीता में इसी पक्ष को उजागर किया गया है। यही शरणागति का उपदेश कृष्ण ने अर्जुन को दिया था। गीता के उपदेश का प्रारम्भ युद्ध क्षेत्र में कृष्ण ने तब किया जब अर्जुन ने कृष्ण से कहा-**'शिष्यस्तेहं'** अर्थात् मैं आपका शिष्य हूँ, मुझे उचित मार्ग का ज्ञान करायें। गीता के अन्त में कृष्ण 'मामेकं शरणं व्रज' (एक मेरे ही शरण में आओ) का संदेश देकर अपना उपदेश समाप्त करते हैं। यहीं वह यह भी प्रतिज्ञा दुहराते हैं– **'माशुचः'** जो अच्छा-बुरा कर्म तुम्हारे द्वारा हो चुका है उसका सोच मत करो उसका मुझे समर्पित करके भूल जाओ। फिर भी मैं तुमको पवित्र बना दूँगा। इस प्रकार गीता का आदि और अन्त भक्तियोग है।

भक्ति शब्द का अर्थ है सेवा करना। भक्ति में भगवान के प्रति भक्त अपने को समर्पित करता है। उनमें अनन्य श्रद्धा रखता है। वह मोक्ष की इच्छा न रखकर भगवान के शरणागति की कामना करता है। इसके लिए वह विभिन्न रीतियों से भगवान को प्रसन्न करता है। इसके माध्यम हैं-भगवान के गुणों का श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, पूजा, वन्दन, दासता और मित्रता। (**श्रवणं कर्त्तनं विष्णोः.....।।**) ये सभी साधन भगवान से प्रेम करने के हैं। इसलिए भक्ति-योग को प्रेमयोग भी कहते हैं। भक्ति में दो पक्ष होते हैं भगवान और भक्त। यहाँ पूर्ण परमेश्वर की उपासना अपूर्ण जीव करता है। अतः इसमें द्वैत भाव होता है। यहाँ भक्त भगवान के स्वरूप की उपासना करता है चाहे मूर्त रूप में या कल्पना करके। अतः भगवान के सगुण रूप में वह अनुरक्त होता है।

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

भक्ति की पूर्णता के लिए भक्त को सभी कुछ बिना किसी आसक्ति के अपने उपास्यदेव के लिए ही समर्पित करना होता है। उनके अतिरिक्त उसका संसार में दूसरा कोई सहारा नहीं होता। यही स्थिति अनन्य भक्ति की है। इसी को गीता में अनन्यचित भी कहा गया है। पर अनन्यचित तभी होगा जब भक्त भगवान को ही अपना सब कुछ मान ले। जो भी करे उसी को समर्पित करके करे। यही स्थिति शरणागति की है। तभी भगवान भक्त का सारा कुछ अपने ऊपर ले लेते हैं और वह सभी विकारों से मुक्त हो जाता है। (**अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः**)। उसी के उद्धारार्थ भगवान तब अनेक रूपों में अवतरित होते हैं। इसी को हम भगवान का अवतार लेना कहते हैं।

भक्त को ही भगवान सर्वश्रेष्ठ योगी मानते हैं। योगी जब अपनी सारी चित्तवृत्तियों को एकाग्र कर लेता है तब वह आसक्ति एवं ममता रहित होता है। भक्त की सारी चित्तवृत्तियाँ अब भगवान के चरणों में एकाग्र हो जाती हैं तब संसार से उसकी कोई आसक्ति नहीं रहती। यही सर्वश्रेष्ठ भक्ति शरणागति भक्ति है।

भक्ति-योग की निम्न विशेषताएँ हैं–

१. इसमें सगुण भक्ति होती है।
२. यहाँ मन की शुद्धता और आत्मसमर्पण की भावना आवश्यक है।
३. नम्रता इसका विशिष्ट गुण है कि भगवान के सम्मुख भक्त अपने को कुछ न माने।
४. तव भगवान भक्त का सभी पाप-पुण्य अपने ऊपर उठा लेते हैं।
५. उनका द्वार सभी के लिए खुला है-मूर्ख, विद्वान, निर्धन-धनी, अन्त्यजगण आदि।
६. इसमें द्वैत भाव होता है-भक्त और भगवान। अन्त में अपूर्ण भक्त पूर्ण ब्रह्म में एकाकार होने के लिए बढ़ता है।
७. ईश्वर की भक्ति का कभी अन्त नहीं होता।
८. भक्ति के गुण अवर्णनीय है 'ज्यों गूंगे मीठे फल को अन्तरतम ही भावे।'

कर्म-योग

भगवद्गीता में भक्ति-योग के बाद कर्म-योग को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। यहाँ कर्मयोग की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि कर्मफल और कर्म के प्रति आसक्ति को त्यागकर भगवदाज्ञानुसार केवल भगवदर्थ समत्व बुद्धि से कर्म करने का नाम निष्काम कर्मयोग हैं। इसी को 'समत्वयोग', 'बुद्धियोग', 'कर्मयोग', 'तदर्थकर्म', 'मत्कर्म' आदि नामों से बताया गया है।

मनुष्य न तो कर्मों का आरम्भ किये बिना निष्कर्मता अर्थात् योगनिष्ठा को प्राप्त करता है और न कर्मों के त्याग मात्र से ही सिद्धि अर्थात् सांख्यनिष्ठा को ही प्राप्त होता है। कोई भी मनुष्य किसी भी काल में क्षणमात्र भी बिना कर्म किये नहीं रहता, क्योंकि सम्पूर्ण मनुष्य समुदाय प्रकृति जनित गुणों द्वारा परवश होकर कर्म करने के लिए बाध्य किया जाता है। भगवद्गीता में उस व्यक्ति को श्रेष्ठता प्रदान की गयी है जो व्यक्ति मन से इन्द्रियों को वश में करके अनासक्त हुआ समस्त इन्द्रियों द्वारा कर्मयोग का आचरण करता है–

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते।।

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

यहाँ भगवान श्रीकृष्ण शास्त्रविहित कर्तव्य करने का उपदेश देते हैं क्योंकि कर्म न करने की अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ है तथा कर्म न करने से किसी का शरीर निर्वाह भी नहीं होगा-

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायोह्य कर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्धयेदकर्मणः।।

कर्मयोगी की विशेषता को बतलाते हुए कहा गया है कि ऐसा साधक जिसका मन अपने वश में है, जो जितेन्द्रिय एवं विशुद्ध अन्तःकरण वाला है और सम्पूर्ण प्राणियों का आत्मरूप परमात्मा ही जिसकी आत्मा है ऐसा कर्मयोगी कर्म करता हुआ भी कर्म में लिप्त नहीं होता। कर्मयोगी को अपने कर्मों को परमात्मा में अर्पित कर एवं आसक्ति को त्यागकर कर्म करने का उपदेश गीता में दिया गया है। ऐसा ही व्यक्ति कर्मयोगी है।

कर्मयोगी ममत्व बुद्धि रहित इन्द्रिय, मन, बुद्धि और शरीर द्वारा भी आसक्ति को त्यागकर अन्तःकरण की शुद्धि के लिए कर्म करते हैं। गीता में कर्मयोग के साधक के द्वारा भगवत प्राप्ति के विषय में कहा गया है–

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते।।

अर्थात् कर्मयोगी कर्मों के फल का त्यागकर भगवत प्राप्ति के कारण शान्ति को प्राप्त होता है किन्तु सकाम पुरुष कामना की प्रेरणा से फल में आसक्त होकर कर्म बंधन में बंधता जाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि–

योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वाऽत्मशुद्धये।

कर्म से सत्व की शुद्धि होती है। सत्व से ज्ञान प्राप्त होता है–

सत्वात् संजायते ज्ञानम

और ज्ञान के सतत ध्यान से अनन्य भक्ति रूप आनन्द की प्राप्ति होती है। इस अनन्त ज्ञान की उत्पत्ति सत्व से स्वीकार की गयी है। परन्तु उसके साथ शर्त यह है कि यदि वह सत्व श्रद्धा मिश्रित नहीं है तो आनन्द की प्राप्ति नहीं की जा सकती। गीता से ज्ञात होता है कि–

श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्

अर्थात् श्रद्धावान व्यक्ति ही ज्ञान प्राप्त करता है।

वस्तुतः बात यह है कि पूर्णता की अवस्था में भी मनुष्य के लिए कर्म करते रहना गीता आवश्यक बताता है। उसके अनुसार ब्राह्य सक्रियता आन्तरिक शान्ति के साथ कोई असंगति नहीं है। गीता के अनुसार किसी भी स्थिति में कर्म का पूर्ण त्याग सम्भव नहीं है। अकर्म को भी कुकर्म को समान निन्दित माना गया है। यथा :

गहनाकर्मणोगतिः

कर्म का रहस्य बड़ा ही कठिन है। गीता में कहा गया है कि यह योग सर्वप्रथम विवस्वान को प्राप्त हुआ था। उनसे ऋषि-मुनियों को मिला और फिर साधकों ने उनसे ग्रहण किया। कृष्ण

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

ने गीता में इसे कर्म से विरत होते अर्जुन को देखकर युद्ध-क्षेत्र में फल की कामना छोड़कर मात्र कर्म करने का उपदेश दिया। इसी से पं. बालगंगाधर तिलक ने इसे, कर्मयोग प्रधान ग्रंथ माना है। डॉ. राधाकृष्णन ने कहा है कि **"कर्मयोग ही गीता का मौलिक उपदेश है।'** (The whole setting of Gita points out that it is an exhortation to action.) इसकी सबसे सटीक व्याख्या प्रो. हिरयन्ना (Hiryanna) ने किया है कि 'गीता कर्मों के त्याग के बदले कर्म में त्याग का उपदेश देती है।' (Gita teaching stands not for renunciation of action but for renunciation in action). इस प्रकार गीता में कर्तव्य को कर्तव्य मानकर (Duty for duty sake) करने का आदेश है। उसके फलाफल की चिन्ता का त्याग करना ही इसका मूल संदेश है। इसीलिए कृष्ण ने.......**'माशुचः'** (सोच मत करो) का उपदेश किया है।

भगवान ने बताया है कि किसी भी कर्म के लिए पाँच कारक होते हैं। कर्म करने के लिए शरीर का होना आवश्यक है। यह प्रारम्भिक कारक है। शरीर विहीन स्थिति में कोई काम नहीं हो सकता जैसे हवा, प्रकाश जिसका कोई देह नहीं है वह कोई कार्य नहीं कर सकते। पर शरीर भी तभी कार्य करेगा जब उसमें चेतना हो। मृतक शरीर कोई काम नहीं कर सकता। जिसमें चेतना होती है वही कर्ता होता है। शरीर भी सम्पूर्ण रूप से कार्य नहीं करता। कार्य करती हैं उसकी इंद्रियाँ। इंद्रियों के रहने पर भी अगर वे चेष्टा या प्रयास न करें तो कार्य नहीं होगा। इसलिए इन्द्रियों के अन्दर कार्य के प्रति चेष्टा अवश्य होनी चाहिए। चेष्टा को प्रेरणा मिलती है ईश्वरीय शक्ति से। इस प्रकार शरीर, कर्ता, इन्द्रियाँ, प्रेरणा और ईश्वरीय शक्ति ये पाँचों मिलकर कार्य को सम्पादित करते है–

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पंचमम्।।

इसमें शरीर, इन्द्रियाँ, प्रेरणा प्राकृतिक स्वरूप है, ईश्वर अदृश्य शक्ति है और प्रत्यक्ष कार्य करता है-कर्ता। अतः कर्ता में अपने द्वारा किये गये किसी भी कार्य के प्रति कर्तापन या अहं होना स्वाभाविक है। तभी वह कहता है कि यह कार्य हमें करना है या इसे मैंने किया है। यहाँ मैं या हम का यही बोध कर्तापन का है। ऐसे बोध से अहंकार उत्पन्न होता है। अहंकार ही सारी मूर्खता का जड़ है– **अहंकार विमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते!!** यदि कार्य करने वाला अहंकार न करे तथा अपने को कर्त्ता न माने बल्कि एक व्यवस्था के अधीन प्रेरणा द्वारा उस कार्य का होना स्वीकार करे तो कार्य के पीछे उसकी आसक्ति नहीं रहेगी।

आसक्ति का ही अर्थ चिपकना है। यही ममत्व का कारण है। किसी भी वस्तु से ममत्व होना ही बंधन है। जैसे यह शरीर मेरा है। यह मान लेने से कि शरीर मेरा है शरीर से ममत्व उत्पन्न होना स्वाभाविक है। पर जब किसी कर्म में ममत्व नहीं होगा तो उसमें आसक्ति ही नहीं होगी। फिर उसके लाभ हानि का कोई विचार ही नहीं रह जायगा। तब कर्म को कर्म (सहज क्रिया) मानकर किया जायगा, किसी फल की कामना से नहीं। ऐसी स्थिति में कर्म करने वाले के लिए हानि-लाभ बराबर होता है– **सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जया जयौ।** उसका इनसे कुछ लेना देना नहीं है। इस प्रकार किये गये काम को करने वाला अपना धर्म मानकर वह काम करता होता। जो भी करता है उसे भगवतार्पण करके करता है।

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

कर्म दो प्रकार के होते हैं। जब हम किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए अपनी इच्छा से काम करते हैं तो वह सकाम कर्म होता है। पर जब बिना किसी उद्देश्य के तथा अपनी इच्छा के काम किया जाता है तो उसे निष्काम कर्म कहते हैं। सकाम कर्म की श्रृंखका अनवरत होती है एक के बाद दूसरा क्योंकि इच्छाओं का कोई अन्त तो नहीं होता। एक के बाद दूसरी इच्छा अत: एक कर्म के बाद उसी श्रृंखला में फिर दूसरा काम। यह एक अनवरत कड़ी है जो जीवन भर चलती है। न मनुष्य अपने लाभ के लिए कहीं रुकता है। इसलिए जैसे जैसे हम कर्म में आगे बढ़ते जाते है हानि लाभ के जाल की सीमा बढ़ती जाती है और कर्ता उसमें आसक्ति के कारण फंसता जाता है। यही कर्म बंधन है। पर जब हम इच्छा विहीन, लाभ-हानि रहित कार्य करते हैं तो वहाँ कोई बंधन नहीं होता। यही निष्काम कर्म है।

निष्काम कर्म करना ही गीता की शिक्षा है। इसमें अभिप्राय है कर्मों में ममता और आसक्ति का त्याग। यहाँ कर्ता द्वारा यह भावना नहीं रखना कि इस कार्य को मैंने किया है तथा इससे हमको यह लाभ या हानि होनी है। केवल कर्म करने तक ही अपना संबन्ध रखना। यही मोक्ष का साधन है। इसके द्वारा वह भगवान की प्राप्ति कर लेता है-**असक्तो ह्यचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुष:।।** यह स्थिति फलत्याग, कर्मसन्यास की है। यही कर्म का विलक्षण स्वरूप है। इसमें मनुष्य कर्मों के द्वारा पाप पुण्य का भागीदार नहीं बनता- **लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा।।**

यह मान बैठना कि निष्काम कर्म का अभिप्राय है कर्मों का त्याग, पूर्णतया भ्रामक है। गीता कर्मों से भागने की सलाह नहीं देता। संसार छोड़कर सन्यास लेने का भी यह सलाह नहीं देता। यह संसार में रहकर, कर्मों को करते हुए सन्यास की स्थिति में रहने की बात करता है जिसमें सब कुछ देवार्पित तथा ईश्वर की इच्छा पर आधारित माना जाता है। तभी यह कहा गया है कि अपने-अपने कर्मों को करते हुए ही मनुष्य सिद्धि प्राप्त कर सकता है- **स्वे स्वे कर्मण्यभिरत: संसिद्धि: लभते नर:।**

इस प्रकार कर्मयोग की व्याख्या जो गीतों में की गई है उसकी मुख्य विशेषताएँ निम्न हैं-

(i) कर्म में कर्तापन का अभाव होता है।

(ii) आसक्ति और ममता कर्ता में नहीं रहती। उसमें लोक-कल्याण का भाव होता है।

(iii) कर्म करते हुए कर्म सन्यासी कि स्थिति में कर्ता होता है।

(iv) कर्ता सब कुछ ईश्वर का मनाकर करता है, उसी को अर्पित करके करता है।

(v) कर्त्तव्य स्वर्ग के लिए नहीं है जैसा वेद कहते है पर कर्त्तव्य कर्त्तव्य के लिये किया जाता है- Duty for duty sake.

(vi) कर्मों के लिए इन्द्रियों के दमन की बात यहाँ नहीं की गई है-**'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन'।**

ज्ञान योग

गीता में भक्तियोग एवं कर्मयोग के पश्चात ज्ञानयोग का महत्त्व प्रतिपादित किया गया है। भाष्यकारों में शंकराचार्य ने केवल ज्ञानयोग को ही महत्त्व दिया है। गीता में ज्ञानयोग का वर्णन

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

करते हुए कहा गया है कि-'माया से उत्पन्न हुए सम्पूर्ण गुण ही गुणों में बर्तते हैं, ऐसा समझकर तथा मन, इन्द्रिय और शरीर द्वारा होने वाली सम्पूर्ण क्रियाओं में कर्तापन के अभिमान से रहित होकर सर्वव्यापी सच्चिदानन्दघन, परमात्मा में एकीभाव से स्थित रहने का नाम 'ज्ञानयोग' है इसी को 'सन्यास-योग' 'सांख्ययोग' इत्यादि नामों से भी जाना जाता है।[१] गीता का कथन है कि अज्ञानता के कारण ही मनुष्य अपने को कर्ता स्वीकार कर लेता है। यही जीव का अहंकार है जो बंधन का मूल कारण बन जाता है-

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकार विमूढात्माकर्ताहमिति मन्यते।।[२]

वास्तव में सम्पूर्ण कर्म प्रकृति के गुणों द्वारा किये हुए है, तो भी अहंकार से मोहित हुए अन्तःकरण वाला पुरुष-मैं कर्ता हूँ, ऐसे मान लेता है। इसी अज्ञानतावश वह अपने को सृष्टिकर्ता ईश्वर की कोटि में पहुँचा देता है जबकि उसके द्वारा जो भी बन पड़ता है वह ईश्वर की प्रेरणा से।

इसी अज्ञानता से दृष्टि दूषित एवं स्वार्थ पूर्ण हो जाती है। दूषित दृष्टि से सत्य या परमात्मा का दर्शन सम्भव नहीं है। अतः बन्धन से मुक्त होने के लिए ज्ञान द्वारा अज्ञान को हटाना आवश्यक है क्योंकि अज्ञानता के दूर होने पर ही सत्य या परमात्मा का साक्षात्कार सम्भव है। अज्ञान एवं बन्ध से मुक्त होने की इस प्रक्रिया को ज्ञानयोग का नाम दिया गया है।

'ज्ञान' शब्द की व्याख्या करते हुए गीता में कहा गया है कि-

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम।।[३]

अर्थात् जैसे धुएं से अग्नि और मल से दर्पण ढक जाता है तथा जैसे जेर से गर्भ ढँका हुआ है, वैसे ही काम के द्वारा यह ज्ञान ढँका हुआ है। वास्तव में ज्ञान शब्द का प्रयोग दो अर्थों में किया गया है। प्रथम अर्थ में उसका सम्बन्ध आध्यात्मिक ज्ञान से और दूसरे अर्थ में साधारण ज्ञान से या विज्ञान से इसका तात्पर्य है। गीता के ज्ञानयोग में आध्यात्मिक ज्ञान और साधारण ज्ञान का समन्वय हुआ है तथा इसे ही पूर्णता तक पहुँचने का मार्ग वताया गया है। गीता के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि अज्ञानता के कारण ही आत्मा बन्धनयुक्त दिखायी पड़ती है। परन्तु ज्ञान से आत्मा पवित्र होती है तथा अन्तःकरण की शुद्धि होती है। अतएव इसके समान पवित्र करने वाला कुछ भी नहीं है-

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति।।[४]

परन्तु जितेन्द्रिय तत्पर एवं श्रद्धावान पुरुष ही ज्ञान को प्राप्त कर सकता है। वह ऐसा ज्ञान प्राप्त कर तत्क्षण भगवत्प्राप्तिरूप परम शान्ति को प्राप्त हो जाता है-

१. गीता-पृ. ६६ २. गीता-३.२७.
३. गीता-३.३८. ४. गीता-४.३८.

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

श्रद्धावान्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञान लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधि गच्छति।।[१]

अतएव समत्व बुद्धिरूप योग में स्थिर होकर अज्ञान से उत्पन्न हुए संशय को हृदय में उदित हुए को ज्ञान रूपी तलवार से खण्डित कर कर्म का उपदेश दिया गया है। इस प्रकार जब आत्माज्ञान प्राप्त हो जाता है तो वह ज्ञान सूर्य के सदृश परमात्मा के स्वरूप का साक्षात्कार करता है–

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम्।।[२]

ऐसी परिस्थिति में तद्रूप है बुद्धि जिनकी तथा तद्रूप है मन जिनका और उस सच्चिदानन्दघन परमात्मा में ही है निरन्तर एकीभाव और जिनकी ऐसे तत्परायण पुरुष ज्ञान के द्वारा पापरहित हुए अपुनरावृत्ति को अर्थात् परमगति को प्राप्त होते हैं। ऐसे वे ज्ञानीजन विद्या और विनययुक्त, ब्राह्मण तथा गौ, हाथी, कुत्ते और चाण्डाल को भी समभाव से देखने वाले होते है। इसलिए जिनके मन में समत्वभाव है। उनके द्वारा इस जीवित अवस्था में ही सम्पूर्ण संसार जीत लिया गया है तथा वे जीते हुए ही संसार से मुक्त है।

ऐसा ही गीता का कथन है कि ज्ञान द्वारा जिस व्यक्ति ने काम, क्रोध को सदा के लिए जीत लिया है वह मनुष्य के इस लोक में योगी है और वही सुखी है। इस प्रकार जो पुरुष निश्चय करके अन्तरात्मा में ही सुख वाला है और आत्मा में ही आराम वाला है तथा जो आत्मा में ही ज्ञान वाला है वह सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मा के साथ एक भाव हुआ सांख्ययोगी शान्त ब्रह्म को प्राप्त होता है। नाश हो गये है पाप जिनके तथा ज्ञान से निवृत्त हो गया है संशय जिनका और सम्पूर्ण भूत प्राणियों के हित में है रति जनिकी, वे एकाग्र हुए ब्रह्म को प्राप्त होते हैं। काम, क्रोध से रहित जीते हुए चित्तवाले, परब्रह्म परमात्मा का साक्षात्कार किये हुए ज्ञानी पुरुषों के लिए सब ओर से परब्रह्म परमात्मा ही प्राप्त होते हैं।

इस प्रकार बाहर के विषय भोगों का न चिन्तन करता हुआ, बाहर ही त्याग कर और नेत्रों की दृष्टि को भृकुटी के बीच में स्थित करके तथा नासिका में विचरने वाले प्राण और अपान वायु को सम करके जीती हुई हैं इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि जिसकी ऐसा जो मोक्ष परायण मुनि इच्छा, भय और क्रोध से रहित है, वह सदा मुक्त ही है।

इस प्रकार आत्मा को निरन्तर परमेश्वर के स्वरूप में लगाता हुआ स्वाधीन मन वाला योगी मेरे में स्थितिरूप परमानन्द पराकाष्ठावाली शान्ति को प्राप्त होता है–

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति।।[३]

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः।।[४]

---

१. गीता-४३९.
२. गीता-५.१६.
३. गीता-६.१५.
4. गीता-६.२९

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

ज्ञानी आत्मा को ही सब भूतों में स्थित तथा सब भूतों को आत्मा में स्थित देखता है।

परमेश्वर से संसार की अभिन्नता ही ज्ञानयोग का सार है। सृष्टि और सृष्टिकर्ता में एकत्व का अनुभव इसमें किया जाता है। जो कुछ भी दृश्य जगत में है वह सब ईश्वर का ही है, ईश्वरमय है। जो कुछ भी हो रहा है वह ईश्वर ही कर रहा है, करा रहा है आदि विचार ज्ञानयोगी रखता है। वह अपना या अपने द्वारा कुछ भी किया हुआ नहीं मानता। उसको सम्पूर्ण सृष्टि में व्रह्म और उसकी लीला ही दीखती है। वृद्ध बालक, पुरुष, स्त्री, कुमार, कुमारी सब उसके लिए ईश्वर ही होते है। उसके मन में तत्वमसि-वह तुम हो, का भाव रहता है। इसके कारण भेद दृष्टि का दोष ज्ञानयोग की मूल विशेषता है। जो कुछ भी है, भिन्न-भिन्न रूपों में दिखाई पड़ता है। वह ईश्वर ही है जो अपनी लीला के लिए अपने को भिन्न-भिन्न रूपों में प्रकट किये है। अत: सभी में समत्व है। ऐसे में यह संसार मिथ्या है। केवल व्रह्म ही सत्य है क्योंकि वह परमात्मा का ही स्वरूप है।

शंकर ने गीता को ज्ञानयोग का ही प्रधान ग्रन्थ कहा है। उनकी दृष्टि में गीता की मूल शिक्षा यही है। संसार के दो मार्गों में निवृत्तिमार्ग अर्थात् त्याग मार्ग, की ही प्रधानता है। त्याग गीता का आधार है। सांसारिक वृत्तियों का त्याग और ब्रह्म में जीव का एकाकार ही निवृत्तिमार्ग है। यही इसका मूल लक्षण है। तव किसी भी वस्तु में उसकी प्रवृत्ति नहीं होती। उसकी प्रवृत्ति-इच्छा, लगाव जो भी होती है उसे वह ईश्वर का करता है। उसी में अपने को विलीन करता है। ऐसे व्यक्ति के लिए संसार का अस्तित्व ही नहीं रह जाता। जो है वह ईश्वर है। उससे अलग कुछ नहीं है। यही दृष्टि ज्ञानी की होती है जो ज्ञान प्राप्त कर लेता है।

यह जो ज्ञान की अवस्था है वह ईश्वरमय है। इसमें आन्तरिक रूप प्रधान होता है। अन्तर में सभी वस्तुओं में ब्रह्म की ही सत्ता का यहाँ आभास होता है। वस्तु और ब्रह्म का अस्तित्व दो अलग-अलग नहीं होता। यहाँ द्वैत का भाव नष्ट हो जाता है। अत: यह आध्यात्मिक ज्ञान है। पर एक ज्ञान वह होना आवश्यक है जो तर्क के आधार पर किसी वस्तु को सिद्ध करता है। तर्क के लिए आधार वस्तु का बाह्यरूप होना आवश्यक है। इसमें ज्ञाता और ज्ञेय दोनों का स्वरूप दो या द्वैत होता है। दोनों में भेद होता है। इसलिए तार्किक ज्ञान ही विज्ञान है। इन दो प्रकार के ज्ञान की मान्यता गीता में दी गई है।

गीता में ज्ञान से समत्व योग की बात की गई है। जो कुछ भी इस संसार में दृश्य या अदृश्य है वहाँ तीन प्रकार का तत्त्व है : आत्मगत, वस्तुगत और गुणातीत। हम जिसको कह सकते हैं वह अमुक वस्तु है, वह है आत्मगत जैसे मनुष्य, पेड़, नदियाँ आदि वे वस्तुगत हैं। कुछ केवल भावना होती है वे वस्तुगत है जैसे मित्रता-शत्रुता, अच्छाई-बुराई आदि। कुछ गुण होते हैं जिन्हें गुणातीत कहते हैं। जैसे सुख-दुःख, लाभ-हानि, जय-पराजय आदि। इन सभी में समत्व का भाव ज्ञानी रखता है। उसके लिए सभी समान हैं क्योंकि सारी क्रियाएँ ईश्वर द्वारा की जाती है।

यह स्थिति या विचार स्थितप्रज्ञ का होता है। स्थितप्रज्ञ शब्द का प्रयोग सबसे पहले गीता में ही हुआ है। इसका तात्पर्य है कि जिसकी बुद्धि स्थिर हो गई है। जो स्थिरप्रज्ञ होता है वह भगवान की माया से विचलित नहीं होता। वह उनके वास्तविक स्वरूप को ही सर्वत्र देखता है।

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

यही देखना ज्ञान है। चूँकि सर्वत्र ईश्वर ही दीखता है इसलिए इसे ज्ञानयोग कहा जाता है। इसकी निम्न विशेषताएँ बताई गई हैं–

(i) सम्पूर्ण सृष्टि ब्रह्ममय है।

(ii) जो भी दृश्य जगत है वह ब्रह्म की ही माया है जो क्षणिक और नाशवान है।

(iii) वही आत्मा हममें है, वही सबमें है। सब ब्रह्मस्वरूप और आत्मास्वरूप है क्योंकि प्रत्येक आत्मा ब्रह्म का ही स्वरूप है।

(iv) इस मिथ्या जगत में ज्ञानी के लिए कोई नहीं होता क्योंकि वह कुछ पाना नहीं चाहता है।

ज्ञान--योग की प्राप्ति के लिए गीता में निम्न पद्धतियों का प्रयोग बताया गया है–

१. शरीर मन और इन्द्रियों को शुद्ध रखना। तभी ईश्वर का मिलन हो सकता है क्योंकि ईश्वर अशुद्ध वस्तुओं को स्वीकार नहीं करता।

२. मन, इन्द्रियों को विषय से हटाकर ईश्वर में लगा देना। इसमें मन की चंचलता समाप्त हो जाती है।

३. यह ज्ञान होना कि आत्मा ईश्वर का ही अंश है।

पर यहाँ जान लेना चाहिए कि इन्द्रियाँ चंचल हैं। वे ज्ञान की स्थिरता में बाधक होती हैं। गीता इसी से योगाभ्यास का आदेश देता है। इन्द्रियों को उनके लिए ज्ञान के आधार पर नियंत्रित करना होता है। पर कहीं भी इन्द्रियों के उन्मूलन की बात यहाँ नहीं कही गई है। वह इसी शरीर और परिस्थिति में ज्ञान की साधना की बात करता है।

ईश्वर

वासुदेवः सर्वम्

अर्थात् ईश्वर सर्वत्र व्यापक हैं।

भगवद्‌गीता में ईश्वर को पुरुषोत्तम कहा गया है। यह स्वरूप अत्यन्त दिव्य है। वह संसार (क्षर) तथा जीवात्मा (अक्षर) दोनों से ऊपर हैं। यद्यपि दोनों ही भगवान के रूप हैं पर पुरुषोत्तम दोनों में विद्यमान हैं। उनके ही अंश के दोनों ही अंशी है। इनका स्वरूप दिव्य है। इसी से इन्होंने अपने विराट स्वरूप को अर्जुन को दिखलाया था। भय से संत्रस्त अर्जुन ने जब भगवान से अपने चतुर्भुजी रूप में पुनः हो जाने की प्रार्थना किया तब वह सौम्य रूप में प्रकट हुए, अन्यथा न जाने अभी क्या-क्या दिखाते। इसलिए परब्रह्म, परमपुरुष, वासुदेव, विष्णु, परमात्मा आदि अनेक नामों से इन्हें सम्बोधित किया गया है।

परमात्मा के दो रूपों का वर्णन गीता में अनेक स्थलों पर किया गया है व्यक्त और अव्यक्त। जो भी संसार में प्रत्यक्ष दीखता है वह उनका व्यक्त स्वरूप है, जैसे प्राकृतिक अवयव, मूर्तियाँ आदि। पर जो तब शरीर में रहते हुए भी निर्लिप्त है तटस्थ है वह उसका अव्यक्त रूप है। यह अव्यक्त रूप तीन प्रकार का होता है सगुण, सगुण-निर्गुण और निर्गुण। व्यक्त रूप की अपेक्षा अव्यक्त रूप अधिक श्रेष्ठ है। कारण यह है कि जो भगवान का व्यक्त रूप है वह उनकी माया है। भगवान ने स्वयं अपने को अव्यक्त कहा है। व्यक्त स्वरूप को मानने वाले को उन्होंने बुद्धिहीन कहा है।

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

इसी प्रकार ईश्वर की दो प्रकृतियाँ बताई गई हैं-परा तथा अपरा। परा प्रकृति जड़ है और अपरा प्रकृति चेतन। अपरा को भगवान की निकृष्ट प्रकृति मानते हैं। परमात्मा इन दोनों के ऊपर हैं। वह न जड़ हैं न चेतन, बल्कि दोनों उन्हीं में समाहित हैं। इसलिए ईश्वर का स्वरूप दो प्रकार का है विश्वरूप और विश्वातीतरूप। यही कारण है कि गीता में भगवान ने अपने को सम्पूर्ण सृष्टि में व्याप्त बताया है तथा सृष्टि की सभी क्रियाओं का कर्ता कहा है। यह रूप उनका विश्वरूप है। पर इससे भी परे उनका एक और रूप है। वह रूप सर्वोच्च है। उसे किसी दूसरी शक्ति की आवश्यकता नहीं। वहीं वह दूसरे तत्वों को शक्ति देता है। सूर्य में वही प्रकाश है, अग्नि में वही चमक है। इस प्रकार वह संसार से अलग होकर सब कुछ अपने में ही धारण करता हैं। चूँकि वह संसार में व्याप्त है पर उसकी सत्ता उसी तक सीमित नहीं है। इसीलिए ईश्वर के इस रूप को विश्वातीत रूप माना गया है।

यहाँ स्पष्ट है कि जब गीता में यह कहा जाता है कि ईश्वर संसार में निहित है और फिर वहीं यह भी कहा जाता है कि ईश्वर की सत्ता संसार से परे है तो यह प्रथम दृष्टि से सर्वेश्वरवाद (Pantheism) का प्रतिपादन करता है पर दूसरी दृष्टि में जहाँ वह ईश्वर की सत्ता संसार से परे मानता है वहाँ विश्वातीत का प्रतिपादन करता है। इसके इस विश्वातीत को व्यक्तित्वरहित, निर्गुण, निराकार और अव्यक्त भी माना जाता है। इस विश्वातीत रूप को जानने के लिए दिव्यदृष्टि की आवश्यकता होती है। भगवान ने जब अर्जुन को अपना दिव्यरूप या विश्वातीत रूप दिखाना शुरू किया तो अर्जुन को कुछ भी नहीं दीख रहा था। तब उन्होंने अर्जुन को दिव्यदृष्टि दी जिससे वह उनका विराट रूप देख सकें। उनके इसी रूप में सबका विलय होता है। भगवान ही सृष्टि के रचनाकार हैं और उन्हीं में यह सृष्टि विलीन भी हो जाती है।

ऊपर हमने देखा कि ईश्वर के रूप के विषय में यहाँ कोई एक मान्य सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं किया गया है। कई सिद्धान्तों का एक साथ ही प्रतिपादन इस ग्रन्थ में हुआ है-ईश्वरवाद, सर्वेश्वरवाद, विश्वातीतवाद। इन विरोधी मतों के विषय में गीता में कोई कारण नहीं बताया गया है। इस विषय में यह मूक है। अत: डॉ. दासगुप्ता (Dr. Das Gupta) के अनुसार हम गीता में सर्वेश्वरवाद, ईश्वरवाद तथा विश्वातीतवाद का सामूहीकरण पाते हैं-ऐसा कह सकते हैं।

ईश्वर के अवतारी रूप का भी ज्ञान सर्वप्रथम गीता से होता है। ईश्वर ने अपने को अंजन्मा– **अजोऽपि,** कहा है फिर भी उन्होंने कहा है कि मैं माया के कारण जन्म लेता हूँ **संभवाम्यात्ममायया**। यही जन्म उनका अवतारी रूप है। अवतारी रूप वह इच्छानुसार मच्छ, कच्छ, वाराह, नृसिंह आदि विविध रूपों में लेते हैं, ऐसा शास्त्रों में वर्णित है। पर ऐसा क्यों? संसार की उत्पत्ति और लय के आधार होने के साथ ही वह इसके नियंत्रक भी है। नियंत्रण या धारण हेतु उन्होंने धर्म का स्वरूप अपनाया है- **धारयतीत धर्मः**। पर जब कभी यह नियंत्रण ढीला हो जाता है तब धर्म की हानि होने लगती है और अधर्म का अभ्युत्थान होने लगता है। तव-तव भगवान धर्म की स्थापना, उत्थान तथा उसकी अभिवृद्धिके लिए अवतार धारण कर धरती पर आते हैं–

यदा-यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।।

इस समय वह मनुष्य रूप धारण करके संसार में अवतरित होते हैं। इसमें सभी प्राणियों का कल्याण ही इसका कारक होता है-**सर्वभूतहिते रता:**। भगवान् ने स्वयं स्वीकार किया है कि **परित्राणाय साधूना** (साधुओं की रक्षा करने के लिए) तथा **विनाशाय च दृष्कृताम्** (दृष्टों के नाश के लिए) और **धर्मसंस्थापनार्थाय** (धर्म की स्थापना के लिए) **सम्भवामि युगे-युगे** (बार-बार मैं जन्म लेता हूँ)। शंकराचार्य ने भी इसी बात को दूसरे शब्दों में कहा है कि जब अधर्म से धर्म की पराजय होने लगती है तो धर्म की रक्षा के लिए भगवान का अवतार होता है।

जीवात्मा

ईश्वर अंश जीव अविनाशी-जीवात्मा परमात्मा का ही अंश है। जैसे परमात्मा अमर है वैसे ही जीव भी कभी विनष्ट नहीं होता। यह सदा-सदा बना रहता है। **अजायतो मृयतो वा**- यह कभी न जन्म लेता है और न कभी मरता है। यह शाश्वत है। शरीरी का शरीर नष्ट होता है। नामी का नाम मिट जाता है। पर आत्मा नहीं मिटती न नष्ट होती है। तब फिर वह आत्मा दूसरे शरीर में प्रविष्ट हो जाती है। **जीर्णनिवासांस यथा विहाय**- जैसे पुराने जीर्ण वस्त्र को छोड़कर प्राणी नया वस्त्र धारण करता है वैसे ही मृतक शरीर से निकलकर यह आत्मा दूसरे शरीर में प्रवेश कर जाती है। इस पर किसी भी वाह्य आघात प्रतिघात का प्रभाव नहीं होता। यह सांसारिकता से दूर है, यद्यपि संसार में विद्यमान है। **'नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावक:'**,-सारे विपदाओं के प्रभाव से यह परे है। इसी से यह नित्य, सनातन, अचल और स्थिर है।

यही कारण है कि पुनर्जन्म की अवधारणा गीता में है। जब मरेगा नहीं केवल वह शरीर बदलेगा तो यही पुनर्जन्म है। जीव की अमरता ही पुनर्जन्म का कारण है। पुनर्जन्म तब तक होता रहता है जब तक उस आत्मा के अंश को मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो जाती। मोक्ष तब तक नहीं मिलता जब तक भगवान की शरणागति नहीं होती, चाहे भक्ति से, ज़्ञान से या कर्म से। इन सभी मार्गों की चरमता ही मोक्ष है। चरमता की प्राप्ति के मार्ग में कर्म बंधन व्यवधान है। कर्मबंधन के अनुसार ही पुनर्जन्म होता है। जब कर्मबंधन टूट जाता है तब कर्म और जन्म का चक्र समाप्त हो जाता है। इसी अवस्था में भगवान की शरणागति होती है जो मोक्ष है– **सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज**। यह शरणागत की स्थिति एक जन्म में नहीं हो पाती। अभ्यास से क्रमश: जीव इसकी ओर बढ़ता है। वह जब तक वहाँ पहुँच नहीं जाता तब तक वह संसार में भटकता ही रहता है। इस भटकाव में वह पूर्वजन्मों के कर्मानुसार फलों को भोगता हैं। यद्यपि वह नहीं जानता कि पूर्वजन्म के उसके कर्म कैसे रहे हैं। पर ईश्वर तो सर्वव्यापी है। वह सब कुछ जानता है। वही उसको जन्म देता है। इसीसे कृष्ण ने कहा है– **'चातुर्वर्ण्य मया सृष्टं गुण-कर्म विभागश:'**। जब तक गुण और कर्म के चक्र का अन्त नहीं हो जाता मोक्ष नहीं मिलता। तब तक पुनर्जन्म होता रहता है। जैसे ही कर्मफल समाप्त होते है, जन्म का बंधन समाप्त हो जाता है तभी मुक्त-जीव बंधन-मुक्त होकर निर्मुक्त ईश्वर में विलीन हो जाता है। इसी को कबीर ने कहा है कि **'एक अण्ड ओंकारमह ता जग भया पसार'**।

कर्म का बंधन टूटे कैसे? यह एक गम्भीर प्रश्न है। इन्द्रियाँ चंचल हैं। गीता में इनकी समता घोड़ों से की गई है। जैसे घोड़ों को लगाम देना जरूरी होता है, इन्द्रियों को भी उसी प्रकार

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

नियंत्रण में रखना आवश्यक होता है। इसके अभाव में अनेक दुर्वृत्तियाँ बढ़ती जाती हैं। तब मोह, क्रोध, लोभ, काम आदि वासनाएँ घर कर लेती हैं। इनका बढ़ना ही मनुष्य के लिए खतरा है। रामचरितमानस में भी कहा गया है– 'काम, क्रोध, मद, लोभ सब नाथ नरक के द्वार'। ये पाप की भागीदारी दिलाते हैं। इसी से इनको नियंत्रित करने का यहाँ निर्देश है। पर इन्द्रिय निग्रह की बात नहीं की गई है। यह तो उसकी अति है। गीता में किसी भी पक्ष में अति का ज्ञान नहीं मिलता। अतः इन्हें जीतने का की बात यहाँ की गई है। इन्हें जीतने के लिए तीन मार्ग-भक्ति, कर्म और ज्ञान सुझाया गया है। इन पर विजय प्राप्त कर लेने पर ही प्राणी को मोक्ष मिल जाता है।

गीता में एक उपदेशक हैं और एक श्रोता। उपदेशक भगवान श्रीकृष्ण हैं और श्रोता अर्जुन हैं। अर्जुन की चित्तवृत्तियों को नियंत्रित करने के लिए ही कृष्ण यह उपदेश देते हैं। इस प्रकार यहाँ कृष्ण परब्रह्म रूप में हैं और अर्जुन जीवात्मा रूप में। जीवात्मा को सही मार्ग पर रखने के लिए ही ईश्वर उसे मार्ग प्रदर्शन करते हैं, कर्म का उपदेश देते हैं। यह उपदेश तो वहाँ युद्धक्षेत्र में अर्जुन को दिया गया था पर यहाँ जीवन क्षेत्र में आज सबके लिए है।

●

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

अध्याय ६

वैष्णव धर्म

हिन्दू धर्म में समय-समय पर विशेष देवताओं की प्रधानता रही है। कभी किन्हीं देवता को विशेष महत्वपूर्ण या श्रेष्ठ मानकर उनके अनुयायियों की एक लम्बी शृंखला बन गई और एक विशेष विधि से उनके द्वारा पूजा का विधान होने लगा। इसने उस देवता से सम्बन्धित धर्म का रूप धारण कर लिया और उसके अनुयायियों ने उस धर्म के नाम के पीछे एक सम्प्रदाय विशेष की स्थापना कर ली। इस क्रम में छः सम्प्रदाय मुख्य रूप से हिन्दू समाज में प्रचलित हुए : १. शैव २. वैष्णव ३. शाक्त ४. गाणपत्य ५. कौमार और ६. सौर। इनमें भी तीन प्रमुख हैं शैव, वैष्णव और शाक्त। यहाँ वह सिद्धान्त जिसके द्वारा विष्णु सर्वप्रधान देवता माने जाते हैं तथा सभी अन्य देवता उनके अधीन बताए जाते हैं, तथा इसकी व्याख्या जिस विशिष्ट रीति से की जाती है, वह वैष्णव धर्म कहलाता है। इसके अनुयायी वैष्णव या वैष्णव धर्मानुयायी कहे जाते है। इन्हीं को भागवत भी कहते हैं। इस धर्म में, भक्ति सिद्धान्त ने जनता में प्रेम और भक्ति-भावना का सर्वाधिक विकास किया जिसके कारण यह धर्म लोकप्रियता में शैव तथा अन्य धर्मों की तुलना में अधिक व्यापक है।

विष्णु तत्त्व

वासुदेवः सर्वम (गीता ७/१९) मात्र यही जान लेना कि सारी सृष्टि में वासुवेद कृष्ण (विष्णु) ही विराजमान हैं, इस धर्म का मूलमंत्र है। यहाँ यह माना जाता है कि जो कुछ भी यहाँ है सब उन्हीं से है और सब का लय भी उन्हीं में होना है-इस धर्म का मूल आधार है। काल, स्थान और कारण से युक्त होते हुए भी वासुदेव इनसे परे हैं। वे हर स्थिति में थे, हैं और रहेंगे।

भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च। (गीता १३/१६) अर्थात् वह तत्त्वतः अखण्डित सब भूतों में विभक्त हो रहा है, सब भूतों का पालन करने वाला, ग्रसने वाला भी उसे ही समझना चाहिए। यही एक परब्रह्म हैं जो जानने योग्य हैं, वही सम्पूर्ण प्राणियों का सृजनहार, पालक तथा संहारक है। किन्तु यह विचित्र है कि ऐसा करता हुआ भी वह निर्लिप्त रहता है। वही अकेला रजोगुण प्रधान होकर ब्रह्मा, सतोगुण प्रधान होकर विष्णु तथा तमोगुण प्रधान होकर शिव कहलाता है। **त्रिधा भिन्नों....ज्ञानमनन्तकम्।** इन सबके अलग-अलग लोक होते हैं। किन्तु जो सर्वलोकेश्वर होता है वह महाविष्णु है। वही अपनें अर्द्ध अंश में द्विभुजी कृष्ण हैं और अर्द्ध अंश में चतुर्भुजी विष्णु हैं। इस प्रकार यही अपने रूप को द्विविधीय व्यक्त करत हैं-कृष्ण और विष्णु। यही विष्णु- **एकोऽहं पञ्चधा जगतः**- पाँच रूपों में **(सौराश्च शैवा गणेशा वैष्णवा शक्तिपूजाकाः)** सूर्य, शिव, गणेश, विष्णु और शक्ति के रूप में प्रकट होते हैं। इसीलिए विष्णु को अनेक विशेषणों से सम्बोधित किया जाता है।

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

विष्णु को ही पुरुषोत्तम कहा गया है क्योंकि वही ब्रह्मा, विष्णु और महेश के कारण स्वरूप हैं। इसी से इनको परमात्मा भी कहा जाता है। इन्हीं को सच्चिदानन्द भी कहा जाता हैं क्योंकि इनमें तीनों गुण-सत (सत्य), चित (ज्ञान) और आनन्द (अनन्त रूप) विद्यमान हैं। दूसरे शब्दों में नित्यविज्ञानान्दघन (नित्य=अनन्त; विज्ञानानन्द=ज्ञान और घन=आनन्द) इनको कहा जाता है। इसी से इन्हें देवाधिदेव भी कहते हैं, अर्थात् सभी देवताओं के अधिष्ठाता देवता हैं- **जय देवाधिदेवाय.....**। (देवी पुराण)

इन्हें दो स्वरूपों में इनके उपासक सम्बोधित करते हैं-सगुण और निर्गुण। सगुण रूप ही व्यक्त कहलाता है और निर्गुण रूप अव्यक्त। अव्यक्त स्वरूप ही शुद्ध और अपरिवर्तनशील होता है जबकि व्यक्त रूप दो प्रकार के होते हैं-शरीरी और सूक्ष्म। यहाँ जो सूक्ष्म रूप होता है वही सर्वव्यापक माना जाता है। उसी के अंश द्वारा वह संसार में विद्यमान रहते हैं **विष्टम्याहमिदं कृत्स्नमेकाशेन स्थितो जगत्**। (गीता १/४२)।

इस धर्म में समाहित व्यक्ति के विचार अत्यन्त पवित्र होते हैं जिससे उसके हृदय में सत्य, अहिंसा और प्रेम की भावना भर जाती है। इसके कारण दया, करुणा, स्नेह, क्षमा, व्यवहार की कोमलता तथा हृदय की विशालता, सभी प्राणियों के प्रति सहृदयता उसके हृदय में जाग्रत हो जाती है। अतः प्रत्येक धर्म के लोग बिना किसी वर्ग या जाति भेद के चाहे वह सिक्ख, मुसलमान, ईसाई, हूण, किरात आदि कोई भी हों, इसके ध्वजा के नीचे एक समान स्थान पाते हैं। यहाँ पहुँचकर पापी और धर्मात्मा का स्तर समान होता है- **येऽन्ये च पापा यदपाश्रयाश्रयाः शुध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णने नमः।।** (श्रीमद्भागवत २/४/१८)। इस धर्म का केन्द्र है वसुधैव कुटुम्बकम तथा आधार है-अहिंसा। ईश्वर केन्द्रित यह धर्म अनुशासनात्मक प्रवृत्ति का पोषक है। इसका मूल लक्षण प्रवृत्तिमार्ग है अर्थात् इसमें कर्म को प्रधानता दी जाती है- **प्रवृत्तिलक्षणश्चैव धर्मो नारायणात्मकः।।** विश्व के सभी धर्मों को उद्देश्य है-दैवी प्रेम की प्राप्ति। इसी प्रेम की प्राप्ति का प्रयास वैष्णव धर्म विविध मार्गों-कर्म, ज्ञान और भक्ति द्वारा करने का निर्देश देत है। इसके लिए ईश्वर की उपासना विभिन्न रूपों (अवतारों) के माध्यम से की जाती है। इसीलिए चौबीस अवतारों की बात इस धर्म में की गयी है। साथ ही व्यक्त और अव्यक्त स्वरूपों की भी चर्चा इसमें हुई है। स्वतः क्रिया ही मन की शुद्धता का यहाँ आधार है और ज्ञान का कारण है। इसमें भक्ति ही प्रधान है। इसी को ईश्वर की प्राप्ति का माध्यम स्वीकार किया गया है। यहाँ ब्रह्ममय हो जाना-ब्रह्म सायुज्य- ही इस धर्म की परिणति है। इसके लिए भक्ति का माध्यम बताया गया है। भक्ति एक ही की होती है- **मामेकं शरणं व्रज**। (गीता १८/६६) किन्तु वहाँ भाव की शुद्धता आवश्यक है- **शुद्धभावं गतो भक्त्या....** (महा. आ. ५/६९/४) जैसे बालक की भावना गुरु में होती है- **यस्य देवे परा भक्ति यथा देवे तथा गुरौ,** क्योंकि इसी से ब्रह्मज्ञान (विष्णु) की प्राप्ति होती है। इसी से विष्णु को भक्तवत्सल कहा जाता है।

वैष्णव धर्म

इस धर्म का मूलमंत्र है –

'ॐ नमो नारायणाय' तथा 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय।'

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

वैष्णव धर्म के अनुसार सृष्टि में तीन तत्त्व हैं-जड़ (प्रकृति), जीव (प्राणी) तथा नियन्ता (ईश्वर)। इन्हीं तीनों के समन्वय से संसार में प्रपंच की उत्पत्ति होती है। इसमें शक्ति ईश्वर (नियंत्रक) के हाथ होती है जो भक्तों के समीप होता है क्योंकि वह भक्तों के पीछे रहता है और प्रत्येक जीव में व्याप्त होता है। पर वह सामान्य पहुँच के बाहर होता है। उसको उसके भक्त ही प्राप्त कर सकते हैं जो निश्छल भाव से उसके प्रति शरणागत होते हैं। इसी से वेद में उसे दो बार 'नेति'. 'नेति' कहा गया है अर्थात् जीव की सीमा की ओर यह इंगित करता है कि वह न उस परमतत्व को ठीक से जान सकता है न उसकी व्याख्या ही कर सकता है।

शिव ने मार्कण्डेय पुराण में कहा है कि मानव के जीवन का लक्ष्य मोक्ष है। उन्होंने विष्णु को ही मोक्षदाता माना है। प्रत्येक जीवधारी को जो मोक्ष प्राप्ति के योग्य होता है उसे विष्णु ही मोक्ष प्रदान करते हैं। इसी से सर्वत्र विष्णु के गुणगान की चर्चा की बात की गई है- **विष्णु सर्वत्र गीयते।**

धर्मानुसार वैष्णव मोक्ष के तीन साधनों में विश्वास करते हैं जो क्रमिक हैं तथा जिनके द्वारा वैष्णव भक्त विष्णु के साथ एका कर लेता है। ये हैं–

१. सारूप्य

वही स्वरूप धारण करना जो विष्णु का है।

२. सालोक्य

उसी लोक में रहना जहाँ विष्णु का निवास है। इसे बाद में विष्णु-लोक नाम से जाना जाने लगा।

३. सायुज्य

अपना स्वरूप समाप्त कर विष्णु के स्वरूप में समाहित हो जाना। यही अन्तिम स्थिति परम मोक्ष की है जहाँ जीव या अंशी पूर्ण में मिल जाता है।

ऐतिहासिक विकास

हडप्पा कालीन सभ्यता

वैदिक काल से पूर्व सैंधव घाटी की सभ्यता में कुछ प्रतीक चिन्ह ठिकरों पर अंकित ऐसे प्राप्त हुए हैं जो पीछे के युग में विष्णु के प्रतीक माने गए हैं। यह स्पष्ट तो नहीं है कि इनका सम्बन्ध उस समय भी विष्णु से ही माना जता हो या ये उसी के बीज रूप हों। पर एक बार इस ओर ध्यान तो जाता ही है। ये चिन्ह हैं चक्र तथा स्वस्तिक। इनका अंकन गुप्तकालीन विष्णु मूर्तियों में हुआ है।

वैदिक काल

(ब) वैदिक युग प्रधानतया कर्मकाण्डों और यज्ञों का काल था। वैदिक ग्रंथों में श्रद्धा को यज्ञ की अधिष्ठात्री देवी कहा गया है। श्रृद्धा और यज्ञ में कोई अन्तर नहीं है। बिना श्रृद्धा के यज्ञ का कोई अर्थ नहीं होता। आचार्य परशुराम चतुर्वेदी (Acharya Parashuram Chaturvedi) के अनुसार इसी श्रृद्धा से आगे चलकर क्रमशः श्रृद्धामूलक-भक्ति और श्रृद्धा-भक्ति का प्रादुर्भाव

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

हुआ तथा धीरे-धीरे प्रारम्भिक बहुदेववाद पीछे एकेश्वरवाद में परिणित हो गया। इसके अन्तर्गत ही परमतत्व तथा परमात्मतत्व की भावना की गई है। वैदिक कालीन धार्मिक भावना के विकास के क्रम में आगे चलकर इष्ट देवता के रूप में अनेक देवताओं के स्वरूपों की कल्पना की गई। उदाहरणार्थ एक स्थल पर यह विवरण प्राप्त होता है कि 'हे अग्निदेव! तुम्हीं वरुण हो, तुम्हीं मित्र (सूर्य) हो तथा तुम्हीं इन्द्र भी हो', इससे स्पष्ट होता है कि यहाँ एक देव में ही अनेक देवों की भावना की गई है।

इस प्रकार यह भी ज्ञात होता है कि बाद में बहुदेववादी भावना का विकास हुआ जिसकी अन्तिम परिणति एकेश्वरवादी भावनाा के रूप में हुई। उपनिषद काल में विष्णु का स्वरूप स्पष्ट नहीं है। किन्तु यह निश्चित है कि इस काल में भक्ति शब्द शृद्धात्मक प्रेम की अपेक्षा प्रेम के अर्थ में बहुधा प्रयुक्त हुआ है। ए. बी. कीथ (A. B. Keith) ने एक स्थल पर लिखा है कि आर्यों के आध्यात्मिक और दार्शनिक विचारों में गम्भीरता आने पर वैष्णव धर्म की भक्ति भावना का विकास हुआ जो बाद में अधिक व्यापक हो गया।

मैकडानेल (Macdonell) के अनुसार यह देवता (विष्णु) ऋग्वेद में निम्न स्थान धारण करता है जहाँ उसकी स्तुति कुछ छः ऋचाओं में ही की गई है। डॉ. आर. एन. दाण्डेकर (Dr. R. N. Dandekar) के अनुसार यहाँ विष्णु की स्तुति की ऋचाएँ बहुत ही कम हैं। पूर्णतः कुल पाँच ऋचाओं में तथा अंशतः कुछ अन्य ऋचाओं में इनकी स्तुति ऋग्वेद में की गई है। पूरे ऋग्वेद में अधिक से अधिक सौ बार इस देवता का नामोल्लेख आया है। इस आधार पर प्रायः विचारकों ने यह स्वीकार किया है कि वैदिक काल में संहिता ग्रंथों की रचना तक विष्णु एक साधारण देवता के रूप में प्रतिष्ठित थे। वहाँ इन्हें प्रमुख देवता नहीं माना गया है। पर डॉ. राधागोविन्द भण्डारकर (Dr. R. G. Bhandarker) ने यह स्वीकार किया है कि भले ही ऋग्वेद की कुछ ही ऋचाओं में विष्णु की स्तुति की गई है पर वह उस समय भी यह साधारण व्यक्तित्व के नहीं थे। आगे उन्होंने यह भी कहा है कि तुलनात्मक दृष्टि से वैदिक काल में उनका महत्व चाहे कम रहा हो पर ब्राह्मणों, महाकाव्यों और पुराणों के काल में क्रमशः बढ़ते हुए इन्होंने एक महत्वपूर्ण स्थान ग्रहण कर लिया।

पर योरोपीय विद्वानों की इस धारणा से कि विष्णु और शिव की महत्ता महाकाव्यों और पुराणों के समय से हुई अरविन्दो (Arbindo), टी. बी. कपाली शास्त्र (T. B. Kapal Shastri) तथा अन्य आचार्य सहमत नहीं हैं। अरविन्दों के अनुसार वैदिक देवताओं का महत्व उनके लिए दिये गये ऋचाओं की संख्या से नहीं बल्कि उनके कार्यों से आंकना चाहिए। इस दृष्टि से शिव और विष्णु दोनों की महत्ता ऋग्वेद के समय से ही रही है।

ऋग्वेद में इनकी प्रशंसा की गई है। पर इसमें वह शत्रुओं को दण्ड देने वाला या अनन्त ऐश्वर्य प्रदान करने वाला महत्वपूर्ण देवता नहीं बताया गया है। यहाँ वह मात्र-आदित्य, समझे जाते हैं। वे दिन भर की अपनी यात्रा तीन पगों में पूरा करते हैं, जिससे आर्य लोग उनको महत्व देते हैं तथा उनका यशोगान करते हैं। इनमें प्रथम दो पग पृथ्वी तथा अन्तरिक्ष नापने वाला बताया गया है जो मनुष्यों द्वारा देखा जाता है। किन्तु विष्णु का पग अलौकिक और आनन्ददायी माना गया है जिसे कोई भौतिक नेत्रों से देख नहीं सकता- **परमे पदे मध्व उत्सः**। कहीं-कहीं विष्णु

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

को यज्ञ के बीज देवता के रूप में स्वीकार किया गया है- **यज्ञोहं वै विष्णुः**। एक स्थल पर वह इन्द्र के सहायक बताये गये हैं- **इन्द्रस्य पूज्य सखा**। वहीं तो उन्हें इन्द्र से भी बड़ा स्वीकार किया गया है। ऋग्वेद में कहा गया है कि स्वयं नारायण ने समस्त जीवों को धारण किया था। यही वेदों का हिरण्यगर्भ या हिरण्यपिण्ड है। इनके बारह रूपों का भी संकेत ऋग्वेद में मिलता है। विष्णु के इसी व्यापनशीलता को व्यक्त करने के लिए इनकी स्तुति ऋग्वेद के कई सूक्तों में की गई है।

अकेले यही एक-एक ऋग्वैदिक देवता हैं जो एक सामान्य स्थिति में यहाँ वर्णित होकर भी बाद में त्रिदेवों (ब्रह्मा, विष्णु और महेश) में अपनी महत्वपूर्ण मर्यादा सदा बनाये रखा तथा महाविष्णु के रूप में पूज्य हुए। तब इसी में त्रिदेवों की स्थिति को मान्यता मिली। हिन्दू धार्मिक विचारों की यह एक-असुलझी कड़ी सी लगती है। यहाँ यह विचारणीय है कि कौन सा ऐसा देव तत्व पीछे इसमें जुट गया जो ऋग्वैदिक काल में नहीं था जिससे इसकी महत्ता सहसा इतनी ऊपर उभर गई ? इस सम्बन्ध में डॉ. दाण्डेकर की एक परिकल्पना है कि इसके व्यक्तित्व तथा मूलप्रवृत्ति में कोई ऐसा मौलिक गुण अवश्य था जिसे वैदिक ऋषियों ने इस भय से उजागर नहीं होने दिया था कि इससे इसकी महानता बढ़ जायगी। यही बाद में विकसित हुआ। अथवा यह भी हो सकता है कि वैदिक ऋषियों का इसकी प्रकृति से मेल न बैठने से उन्होंने इसके विकासमान पक्ष को दबा दिया हो। पर ऐसा किया ही क्यों गया होगा? इस विषय में कोई प्रत्यक्ष उत्तर वैदिक ग्रंथों से नहीं प्राप्त होता। इतना स्पष्ट है कि वैदिक देवताओं में इन्द्र की सर्वप्रधानता थी। यदि किसी भी देवता को वैदिक देवमण्डल में लाना होता था तो उसका सम्बन्ध इन्द्र के साथ जोड़कर ही ऐसा करते थे। पर ऐसा कोई सम्बन्ध इन्द्र और विष्णु के बीच नहीं दीखता। इस आधार पर अनुमान लगाया जा सकता है कि वैदिक ऋषियों से अलग विचार वाले लोगों द्वारा विष्णु की महत्ता स्थापित की गई होगी। उन्होंने पीछे चलकर दोनों देवों के उपासकों के बीच समन्वय का आधार स्थापित किया होगा। यह भी सम्भव है कि विष्णु भारत के मूलवासियों के देवता रहे हों जिन्हें वैदिक आर्यों ने प्रारम्भ में सहजतापूर्वक स्वीकार न किया हो। यह भी माना जा सकता है कि विष्णु सामान्य आर्यजनों के देवता थे जिन्हें प्रारम्भ में रूढ़िवादी आर्यों ने महत्व नहीं दिया था। जो भी रहा हो किन्तु इतना तो है ही कि प्रारम्भिक वैदिक युग में विष्णु को इन्द्र की अपेक्षा हेय स्थान प्राप्त था। पर ऐसा कहने के पहले इस सत्य को भी स्वीकार किया जा सकता है कि अग्नि और इन्द्र का वैदिक ऋषियों के लिए मानसिक और आध्यात्मिक अनुशासन से सम्बद्ध रहने के कारण, अनेक ऋचाओं में वर्णन किया गया है। यहाँ यह बताया गया है कि पहले सृष्टि में जल था उस पर ठहरी हुई गर्भाण्ड रूपी वस्तु चमकती थी जिसमें सभी देवता विद्यमान थे। यही वैदिक साहित्य का हिरण्यगर्भ या हिरण्यपिण्ड है। यह अजन्माकी नाभि पर ठहरी थी जिसे नारायण किया गया है। डॉ. भण्डारकर के अनुसार यहाँ नारायण विष्णु के लिए कहा गया है जो सृष्टि विषयक भावना के केन्द्र के लिए प्रयुक्त प्रतीत होते हैं।

बाद के वैदिक साहित्य में विष्णु की प्रधानता स्थापित होने लगी थी। यजुर्वेद में विष्णु को अविनाशक (नरंधिशः), स्वामी, मानवता का सजग संरक्षक, सौन्दर्य प्रधान, इच्छापूरक (वृषभः), सर्वशक्तिमान, अज्ञेय, अघातक, निषिक्तय, महः, विस्तारक आदि कहा गया है। साथ

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

ही वह केवल क्षितिज में ही विद्यमान नहीं बताये गये हैं बल्कि उच्च और विस्तृत स्वर्ग में भी स्थित कहे गये हैं। अथर्ववेद में इन्हें प्रमुख देव कहा गया है- **'विष्णु मुखा देवा:'**। यही बात तैत्तिरीय संहिता तथा वाजसनेयी संहिता से भी ज्ञात होती है। तैत्तिरीय संहिता में- **यज्ञोवै विष्णु** कहा गया है।

ब्राह्मण ग्रंथों के समय इनकी महत्ता और अधिक स्थापित हो गई। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार देवासुर संग्राम में विष्णु ने ही असुरों को राजी किया था कि वे वामन (विष्णु) के बराबर भूमि देवताओं को दे देंगे। ऐसा मान लेने पर वह भूमि पर लेट गये और अपना शरीर तब तक फैलाते गये जब तक सारी पृथ्वी उनके शरीर से ढक नहीं गई। इस प्रकार सम्पूर्ण पृथ्वी देवताओं को दिलवाने का श्रेय विष्णु को ही जाता है। इसी से वृहत्शरीरी का विशेषण इन्हें दिया गया। अत: यहाँ विष्णु को सर्वश्रेष्ट बताया गया है- **'तस्माद आहुर विष्णुरदेवानामं श्रेष्ठ'**। यहीं वह इन्द्र के साथ संसार के शासक बताये गये हैं तथा सूर्य, उषा और अग्नि के जनक भी।

उपनिषदों में भी विष्णु की महत्वपूर्ण स्थिति का वर्णन प्राप्त होता है। वहाँ विष्णु को परब्रह्म कहा गया है तथा उनके द्वारा परमपद के प्राप्ति की बात की गई है। चूँकि अन्न प्राणी के लिए अत्यन्त उपयोगी है इसलिए उपनिषदों में अन्न को ब्रह्म कहा गया है- **'अन्न वै ब्रह्म'**। इस समय ऋग्वैदिक सीमाओं से बाहर आकर विष्णु को ही एकमात्र सर्वप्रधान देवता स्वीकार किया गया। त्रिदेव-ब्रह्मा, विष्णु और शिव में इनकी महत्ता विशेष रूप से बताई गई। अन्य कम महत्व के देवता अब पीछे छूट गये। ईशावस्योपनिषद में इन्हें इसी कारण 'सपर्यगात' कहा गया है जो त्रिविध क्षेत्रों में अपने को फैलाने की क्षमता रखते हैं। ये त्रिविध क्षेत्र हैं-पर (परमात्मा रूप), अपर (अवतारी रूप) और विद्या तथा कर्म (कर्तारूप)। यहाँ इनकी महानता या प्रधानता का अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि नारायणोपनिषद, दत्तात्रेयोपनिषद, रामतापनीय उपनिषद आदि चौदह उपनिषदों को वैष्णव उपनिषद कहा जाता है। इनमें विष्णु के दो रूपों की चर्चा की गई है-सगुण और निर्गुण अथवा साकार और निराकार। निर्गुण रूप में उन्हें शब्द, स्पर्श, आकार, रस रूप आदि से परे बताया गया है- **अशब्दमस्पर्शमरुपमव्ययं** (कठोपनिषद, १/१३/१५)। सगुण रूप में- **सर्वकर्मा सर्वकाम:....** (छान्दो. ३/१४/४)। सगुण अर्थात् सब करने वाला तथा सभी इच्छाओं से युक्त कहा गया है। यही कारण है कि जब वह दूसरे को जानना चाहता है तभी वह इसके विषय में जानता है- **तनूं स्वाम्**।। (क. १/२/२३)।

(स) महाकाव्यों के काल से ईस्वी सन् तक
(भागवत, सात्त्वत या एकान्तिक सम्प्रदाय)

वैष्णव सम्प्रदाय को इस समय भागवत सम्प्रदाय के नाम से मुख्यत: जाना जाता था। उपनिषदों के समय से ही विष्णु को भगवान माना जाने लगा था- **ता वा एता: सर्वा ऋच: सर्वे वेदा: सर्वे घोषा एकैव व्याहृति:**। (ऐत. उ., २/१/१२)। इस समय यह भावना अपनी पराकाष्ठा पर थी जो भक्त मुझको प्रेम से भजते हैं, वे मुझमें हैं और मैं भी उनमें प्रत्यक्ष प्रकट हूँ- **ये भजन्ति तु मां भक्त्याभयितेतेषु चाप्यहं**। (गीता ९/२९) वह मेरा भक्त नष्ट नहीं होता- **न मे भक्त: प्रणश्यति** (९/३१)। वह परमगति को प्राप्त करता है- **यान्ति परां गतिम्**।। (९/३२)। इसी भक्ति की प्रधानता के कारण इस धर्म को भागवत धर्म कहा गया है।

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

विश्व में मुकुन्द को छोड़कर दूसरा कोई ऐसा नहीं है जिसे भगवान माना जाय मुकुन्दात् को नाम लोके भगवत्पदार्थ (वि. पु., १/१८/२१)। इस प्रकार जो धर्म भगवान से सम्बन्धित है वह भागवत है। अत: भागवत शब्द भगवान से लिया गया है। ऋग्वेद के अनुसार विष्णु में ही सभी दूसरे देवताओं का नाम समाहित है। वही सृष्टि के रचयिता तथा पालक हैं –

यो न: पिता जनिता यो विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा।
यो देवानां नामधा एक एव तं संप्रश्नं भुवना यन्त्यन्या।।

ऐसा एक वही अकेला है जिसकी नाभि से निकले विचित्र कमलनाल पर उगे कमल पर सारा विश्व विद्यमान है। अत: विष्णु ही भगवान हैं और उनका धर्म भागवत कहा जाता है। एक मत यह भी है कि इस धर्म के देवता नारायण भागवत कहे जाते थे इससे यह धर्म भागवत कहलाया।

वैदिक काल के प्रारम्भ में परमात्मा के रूप में प्रयोग होने वाले विष्णु का सम्बन्ध यज्ञ से जोड़ा गया है। ब्राह्मण ग्रंथों में- **यज्ञो वै विष्णु,** कहा गया है। उन्हें ही नारायण को सृष्टि का मूलाधार बताया गया है। तैत्तिरीय आरण्यक के समय तक लगता है विष्णु और नारायण का एकीकरण नहीं हो सका था। सात्त्वत नामकरण का कारण यह है कि अंश के एक पुत्र का नाम था सात्त्वत। उसी के नाम पर उसके वंश का नाम सात्त्वत पड़ा। इस परिवार के लोग वासुदेव के अनुयायी थे तथा उनको परमेश्वर के रूप में मानते थे। वासुदेव को सात्त्वतर्षभ भी कहा गया है और सात्त्वतों के कारण भगवत सम्प्रदाय के विकास होने से इसे यह नाम दिया गया। यह सम्प्रदाय छठी शताब्दी ई.पू. में चलन में आया होगा क्योंकि अष्टाध्यायी में **वासुदेव अर्जुनाभ्यां** (४/३/९८) के आधार पर वासुदेव की पूजा का चलन और इसकी प्रामाणिकता ज्ञात होती है।

एकान्तिक नाम इसका परवर्ती साहित्य में अन्य नामों के साथ आया है। यह नारायण के भक्तों द्वारा अपनी भिन्नता स्थापित करने के लिये दिया गया होगा।

वासुदेव कृष्ण

विष्णु के अवतारों में कृष्ण के बड़े भाई बलराम की गणना की गई है पर कृष्ण की नहीं। इसका कारण यह है कि कृष्ण तो स्वयं भगवान विष्णु ही हैं- **"कृष्णास्तु भगवान स्वयं"** (भागवत पुराण)। गीता में कृष्ण ने एक स्थल पर कहा है कि वृष्णयों में मैं ही वासुदेव हूँ- **"वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि।"** महाभारत, हरिवंश तथा अन्य पुराणों में कृष्ण सम्बन्धी जिन विविध विचित्र क्रियाओं का उल्लेख है उससे स्पष्ट है कि पृथ्वी पर उनके आगमन का कारण था- **'परित्राणाय साधूनां विनाशय च दुष्कृतां'** अर्थात् साधु पुरुषों की रक्षा करना तथा दुष्टों का विनाश करना। इससे विदित है कि कृष्ण भगवान विष्णु ही हैं।

कृष्ण चरित से ज्ञात होता है कि वे महाभारत के समय के थे। इनकी माता का नाम देवकी तथा पिता का नाम वसुदेव था। ये वृष्णी परिवार के थे। वसुदेव पुत्र होने के कारण इनके बचपन का नाम वासुदेव था। इनके बाल्य जीवन के चरितों के लिए वासुदेव नाम का ही उल्लेख महाभारत में मिलता है। तभी उन्होंने (कृष्ण ने) स्वयं अपने को वासुदेव (वासुदेवोऽस्मि) कहा है। इसी वासुदेव (कृष्ण) के पीछे इनके पूजक और उपासक वासुदेवक कहलाये। इन्हीं कृष्ण (वासुदेव) की स्तुति करते हुए युधिष्ठिर ने उनकी परमता उजागर किया है–

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

विश्वकर्मन नमस्तेस्तु-विश्वसम्भव।
विष्णो जिष्णो हरे कृष्ण वैकुण्ठ पुरुषोत्तम।।

(संसार के रचयिता कृष्ण आपको नमस्कार है। आप ही विश्व की आत्मा हैं। आप से ही इस विश्व की सृष्टि सम्भव हुई है। आप ही विष्णु (व्यापक), जिष्णु (विश्व विजेता), हरि (पाप को हरने वाले) तथा पुरुषोत्तम हैं।)

पातंजलि के महाभाष्य तथा पद्मतंत्र में भिन्न-भिन्न वासुदेवों की चर्चा हुई है। बौद्ध ग्रंथ घटजातक में मथुरा के उत्तरी भाग में रहने वाले किसी राजपरिवार से इनका सम्बन्ध बताया गया है। ऐसा ही उल्लेख अर्थशास्त्र से भी प्राप्त होता है। पाणिनी के उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि उनसे पूर्व ही इनका अस्तित्व था। पर कब से? यह अभी भी बहुत कुछ अस्पष्ट है। एक सूत्र में वासुदेव और अर्जुन दो नामों का उल्लेख साथ-साथ हुआ है। डॉ. सुधाकर चट्टोपाध्याय (Dr. S. Chattopadhyay) ने एक साथ इनके प्रयोग होने से दो अर्थों की ओर सम्भावना व्यक्ति किया है कि चाहे तो ये दो अलग-अलग सम्प्रदायों के सूचक हैं या एक ही सम्प्रदाय में अर्जुन और वसुदेव दोनों की पूजा साथ-साथ होती थी। आर्जुन्यायन एक गणराज्य था जिसका उल्लेख समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति में हुआ है। इससे ज्ञात होता है कि अर्जुन सम्प्रदाय के देवता भी वासुदेव थे। महाभारत के वन पर्व में जनार्दन ने कहा है कि अर्जुन तुम नर हो हम नारायण है। हममें तुममें कोई भेद नहीं है। अत: ये दोनों एक ही सम्प्रदाय में पूजित होते थे तथा एक ही थे। तभी शतपथ ब्राह्मण में अर्जुन को इन्द्र का पुत्र कहा गया है। इससे ऋग्वैदिक इन्द्र तथा वासुदेव (विष्णु) के सम्बन्ध की बात उजागर होती है। यद्यपि वेवर (Weber) ने पाणिनि के सूत्रों में उल्लिखित वासुदेव को क्षत्रिय माना है। पर बौद्धायन धर्मसूत्र में विष्णु को गोविन्द और माधव कहा गया है। यहाँ वासुदेव के लिए गोविन्द और माधव का उल्लेख नहीं हुआ है, फिर भी समझना चाहिए कि वासुदेव विष्णु नहीं थे या विष्णु के लिए यहाँ प्रयुक्त गोविन्द और माधव नाम वासुदेव से भिन्न किसी व्यक्ति का बोधक है।

मौर्यकाल में वासुदेव नामक एक व्यक्ति का उल्लेख यूनानी राजदूत मेगास्थनीज ने किया है। उसने मथुरा के सूरसेन (सौरसेनोई) जाति और यमुना (जोबारेस) नदी की चर्चा किया है। कृष्णलीला से ज्ञात होता है कि उनका सम्बन्ध मथुरा और यमुना नदी से विशेष रूप से रहा है। लगता है कि मथुरा क्षेत्र में यमुना नदी के किनारे इस समय भी सूरसेनो में कृष्ण की प्रधानता थी, क्योंकि इसने सूरसेनों द्वारा मथुरा के समीप वासुदेव की पूजा का वर्णन किया गया है। अत: मौर्ययुग से पहले बौद्धयुग के पूर्व वासुदेव की उपासना प्रचलित थी जो भागवत धर्म के उदय का बोधक है।

दूसरी शताब्दी ई.पू. में उत्तर भारत में शुंग वंश का शासन था। उसी समय पातंजलि ने महाभाष्य की रचना की थी। इन शासकों ने वैदिक यज्ञों की टूटी परम्परा को पुनर्जीवित किया। वही पातंजलि ने 'ऋष्यन्धक वृष्णि कुरुभ्यश्र' पर भाष्य लिखते हुए अन्धक-वृष्णियों द्वारा वासुदेव की पूजा का उल्लेख किया है। इसकी पुष्टि इस समय के पुरातात्विक प्रमाणों से भी होती है। मध्य प्रदेश के वेसनगर (भिलासा) से प्राप्त गरुड़ स्तम्भ पर तक्षशिला के यूनानी राजदूत हेल्योडोरस द्वारा अंकित कराया गया एक अभिलेख है जो विदिशा (मिलसा) के शासक

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

काशिपुत्र भागभद्र के समय का है इसमें- **'देवदेवस वासुदेवस'** का उल्लेख है। इससे स्पष्ट है कि उस समय वासुदेव को सभी देवताओं में श्रेष्ठ (देवदेवस) माना जाता था। यह अभिलेख इस धर्म का प्रचार जहाँ भारत की पश्चिमी सीमा पर बसी यवन आदि विदेशी जातियों के बीच होना बताता है वहीं वासुदेव और विष्णु की एकता भी प्रामाणित करता है। यहाँ अंकित- **'गरुडध्वज अयंकारिते'** तथा वासुदेव के प्रतीक पूजा के रूप में स्तम्भ पर विष्णु के वाहन गरुड़ का भी अंकित होना इस बात को स्वीकार करता है। इसी समय मध्यप्रदेश के बिलासपुर जिले के मल्हर ग्राम से एक विशालकाय चतुर्भुजी विष्णु-वासुदेव की मूर्ति प्राप्त हुई हैं जिस पर दूसरी शती ई. पू.की ब्राह्मी लिपि में एक लेख अंकित है। महाभाष्य में केशव, राम तथा कुबेर के मंदिरों के होने का उल्लेख है। केशव वासुदेव और विष्णु का ही एक नाम है। राम भी उनके एक अवतार हैं। इसी ग्रन्थ में वलिबंधन तथा कंसबध नामक नाटकों की चर्चा की गई है जिनका सम्बन्ध कृष्ण से है। इसी समय के कुछ दुलर्भ भारतीय यवन शासक एगैथोक्लीज़ के सिक्के अफगानिस्तान के अईखनूम नामक स्थान से प्राप्त हुए हैं जिनके मुखभाग पर कमर में खड्ग लिए चक्रधारी कृष्ण की आकृति अंकित है और पृष्ठ भाग पर हल-मूसल लिये खड्गधारी वलराम की। राजस्थान में भी वासुदेव विष्णु सम्प्रदाय का प्रचार इसके बहुत पहले से प्रचलन में रहा होगा तभी वहाँ के नगरी और घोषुण्डी अभिलेखों में जो इसी काल के हैं वासुदेव सम्प्रदाय के होने का तथा इसके मंदिर का उल्लेख है। इसी काल के नरवर्मन के मन्दसौर अभिलेख में महान देवता वासुदेव-कृष्ण की प्रशंसा की गई है। इन सभी से स्पष्ट है कि दूसरी शती में यह सम्प्रदाय अधिक विकसित हो चुका था। दक्षिण भारत में भी इसका प्रसार था। इस सम्बन्ध में नानाघाट अभिलेख में इस सम्प्रदाय का उल्लेख है एवं इसके प्रसार का ज्ञान प्राप्त होता है। कृष्णा जिले के चित्रनगर से प्राप्त इस समय के एक अभिलेख में वासुदेव की स्तुति की गई है तथा गुण्टूर जिले से प्राप्त एक पल्लव अभिलेख में भगवत् नारायण के देवकुल का उल्लेख है। यद्यपि डॉ. के. डी. बाजपेयी (Dr. K.D. Bajpey) के अनुसार अभी तक इन प्रमाणों की प्राप्ति के अभाव में ऐसी धारणा व्याप्त थी कि वासुदेव-कृष्ण सम्प्रदाय का अंकन इस समय भारतीय कला में नहीं है, जो अब निर्मूल हो गई। इनसे विदित होता है कि दक्षिण-पश्चिमी भारत तथा यहाँ के सीमा प्रदेशों पर वैष्णव धर्म का प्रचार था। पर पूरब में इसका प्रचार नहीं था। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि पूर्वी भारत में बुद्ध और महाबीर के मतों का प्रचार इस समय हो रहा था। भागवत धर्म का मूलस्थान मथुरा था और वैष्णव देवता कृष्ण मथुरा और द्वारका से सम्बन्धित थे। अतः इसी क्षेत्र में अभी यह विकसित हो पाया था।

पं. बलदेव उपाध्याय (Pt. Baldeo Upadhyay) के अनुसार इसके बाद के ४०० वर्षों का इतिहास वैष्णव धर्म के विकास के विषय में मौन हैं। पर इधर शक-क्षत्रपों तथा कुषाण काल की प्राप्त सामग्रियों ने इस कथन की सत्यता पर प्रश्न चिन्ह लगा दिया है। प्रथम शती ई. पू. के शासक महाक्षपष सोडास के काल के दो अभिलेख मथुरा से प्राप्त हुए हैं जिनमें वर्णित है कि मूलवसू ने विष्णु-वासुदेव के एक मंदिर का निर्माण किया था तथा तालाब, जलसंचयागार, उद्यान, वेष्टिनी, तोरण, स्तम्भ और प्रस्तर की मूर्तियाँ भी इसके लिए बनवाया था। वहीं मथुरा के एक पुरवा (टोला) मिरजायु से प्राप्त शोडास के खजानची मूलवासू की पत्नी के पक्ष का एक अभिलेख बड़े-बड़े ब्राह्मी अक्षरों में खुदा मिला है जिसके अनुसार उसने लक्ष्मी की एक मूर्ति

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

विष्णु-वासुदेव के मन्दिर के पास पधराई थी तथा एक तालाव, उद्यान, सभाभवन एवं स्तम्भ भी बनवाया था। इन पति-पत्नी के अभिलेखों से यह नई बात ज्ञात होती है कि इस मथुरा में कृष्ण-वासुदेव के साथ ही लक्ष्मी सम्प्रदाय का प्रसार था तथा उनकी मूर्तियाँ भी बना कर मंदिर में रखने लगे थे।

ईस्वी सन् में उत्तरी भारत में बलापहारी कुषाणों का राज्य था। इस समय मथुरा तथा गांधार कुषाण कला के केन्द्र थे जहाँ से बड़ी संख्या में मूर्तियाँ बनी। इनमें वासुदेव, लक्ष्मी, वसुन्धरा, शिव, कुबेर आदि की मूर्तियाँ प्रचुरता से बनी थीं जो वहाँ से प्राप्त होती हैं। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि वासुदेव के साथ उनकी बहन एकनशा की भी उपासना प्रचलित थी। यह यशोदा की पुत्री थी जिसे वसुदेव ने कृष्ण के बदले यशोदा के यहाँ से उठाकर देवकी के पास पहुँचा दिया था और फिर उसे कंस ले गया। इनकी उपासना कृष्ण की रक्षिका के रूप में की जाती थी। इन्हीं का परिवर्तित रूप लक्ष्मी माना जाने लगा। इनकी मूर्तियाँ कुषाण काल में बनने लगी थीं।

उपर्युक्त के विवरण से स्पष्ट है कि कृष्ण-वासुदेव शब्दों का प्रयोग कहीं-कहीं, साथ-साथ किया गया है। कृष्ण शब्द कृष (सत्) तथा ण (आनन्द) से मिलकर बना है जिससे अभिप्राय है सच्चिदानन्द। महाभारत में कृष्ण ने कहा है कि मैं काले लोहे के फाल से पृथ्वी को जोतता हूँ तथा मेरे शरीर की कान्ति भी काली है, इसी से मैं कृष्ण कहा गया हूँ। यही कृष्ण वसुदेव के पुत्र होने के कारण वासुदेव कहे गये। पहले कृष्ण और वासुदेव अलग-अलग देवता थे। पीछे ये एक दूसरे के पर्याय बने। डॉ. रायचौधरी (Dr. Roy Chaudhari) के अनुसार इनको जब अलग-अलग रखना सम्भव नहीं हुआ तब इनका एकीकरण हुआ। इसी से वायुपुराण में देवकी और वासुदेव के पुत्र का नाम कृष्ण दिया गया है।

पुराणों में इनका एक नाम नारायण है। तैत्तिरीय आरण्य के समय तक विष्णु नारायण का समीकरण नहीं हुआ था। महाभारत में वासुदेव की पहचान नारायण से की गयी है। वहाँ वनपर्व में जनार्दन ने अर्जुन से कहा कि हे अर्जुन! तुम नर हो और मैं नारायण हूँ। हममें और तुममें कोई भेद नहीं है। इस प्रकार कृष्ण-वासुदेव ही नारायण हैं। पहले नारायण शब्द का प्रयोग विष्णु के लिए होता था। नर का प्रयोग वैदिक देवताओं के लिए हुआ है। इन्हीं के समूह के आश्रयरूप देवता नारायण रहे होंगे। मनु ने नर का अभिप्राय जल से लिया है। इसलिए जल में निवास करने वाला (नर=जल + अयन=आवास) प्रथम नारायण रहा होगा। विष्णु पुराण के अनुसार परमात्मा (नर) से उत्पन्न होने वाले और जल में निवास करने वाले भगवान ही नारायण हैं। ऋग्वेद में नारायण नामक एक ऋषि का भी उल्लेख मिलता है। सम्भवत: यही बाद में देवता नारायण के रूप में विख्यात हुए होंगे। महाभारत में वर्णित है कि ब्रह्मा, जल (नर) में सोये हुए विष्णु (नारायण) की नाभि से निकले हुए कमल पर विराजमान थे। इसी प्रकार की आकृतियाँ जो कला में मिलती है उनका नाम शेशायी विष्णु दिया गया है। इसका सर्वाधिक सुन्दर मूर्तन देवगढ़ (झाँसी) के दशावतार मन्दिर में किया गया है। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार नारायण से ही सृष्टि का उद्भव और उन्हीं में इसका लय माना जाने लगा था। तैत्तिरीय आरण्यक, पुराणों तथा लोक-कथाओं में ऐसे ही नारायण के स्वरूप का ज्ञान प्राप्त होता है।

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

पर नारायण-वासुदेव का एकीकरण बाद में हुआ। पहले ये दोनों अलग-अलग देवता थे। तभी महाभारत के शान्तिपर्व के नारायणी खण्ड में नारद द्वारा नारायण की उपासना करने का वर्णन है। नारायण ही नारद के पितर थे। पीछे नारद को वासुदेव नाम के एक व्यक्ति ने वासुदेव (वैष्णव धर्म) की दीक्षा दी। तब से वे वासुदेव नारायण के उपासक हो गये। इससे स्पष्ट होता है कि पीछे वासुदेव नारायण के साथ मिलकर वासुदेव नारायण नाम से विख्यात हुए। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि नारायण का अस्तित्व सृष्टि के साथ रहा और वासुदेव का महाकाव्य काल में था जो इस समय नारायण के साथ जुट गया। इसका स्पष्ट ज्ञान महाभारत से होता है जहाँ वनपर्व में मारकण्डे की कथा से ज्ञात होता है कि सृष्टि के प्रलय के समय जल के बीच एक वृक्ष पर बैठे बालक के पेट में जाकर मारकण्डे ऋषि ने सृष्टि का अवलोकन किया और उस बालक से उसका नाम पूछा तो उसने अपने को नारायण बताया। अत: सृष्टि के आरम्भ में जब केवल जल ही जल था तब मात्र नारायण ही शेष थे। पीछे महाकाव्य काल में जब देवकी के पति तथा कृष्ण के पिता वासुदेव की महत्ता कृष्ण के साथ बढ़ी होगी तब वसुदेव से सम्बन्धित वृष्णी परिवार के वासुदेव (कृष्ण) के साथा नारायण का एकीकरण होकर नारायण वासुदेव का चलन हुआ होगा। इन्हीं देवकी पुत्र कृष्ण को भागवत् पुराण में **कृष्णस्तु भगवान स्वयम्** कहा गया है। इसी कारण विष्णु के अवतारों में कृष्ण का नाम नहीं आया है क्योंकि वह तो स्वयं भगवान (विष्णु) ही है जबकि उनके भाई बलराम को अवतारी बताया गया है। महाभारत में युधिष्ठिर द्वारा भी यही बात ज्ञात होती है –

विश्वकर्मन नमस्तेस्तु विश्वात्मन विश्वसम्भव।
विष्णो विष्णो हो कृष्ण वैकुण्ठ पुरुषोत्तम्।। (वन पर्व)

इस प्रकार नारायण और वासुदेव दोनों पर्यायवाची हैं। महाभारत में कृष्ण ने इसे अर्जुन से स्वीकार किया है कि 'हे अर्जुन! तुम नर हो, मैं नारायण हूँ। हम दोनों इस पृथ्वी पर समय-समय पर अवतरित होते रहे हैं। न तुम मुझसे अलग हो न मैं तुमसे। हमारे बीच कोई अन्तर नहीं है।' स्मृतियाँ भी नारायण को जगतपारायण (जगतपति) कहती हैं।

इसको एकांतिक धर्म भी कहते हैं। इस समय दो दार्शनिक सम्प्रदायों-सांख्य और योग का प्रचार हो रहा था। इन्हें ही क्रमश: ज्ञान और कर्मयोग कहा जाता है– **ज्ञान योगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्**। कृष्ण ने अपने उपदेश के द्वारा दोनों के बीच समन्वय स्थापित कर एकमात्र भगवान पर भरोसा करने पर बल दिया। यही भावतों में एकांतिक धर्म के नाम से जाना जाता है। इसमें मूलत: मानव को स्वतंत्र कर्ता नहीं माना जाता बल्कि वह ईश्वर की इच्छा के अनुसार ही कार्य करता है, जिससे कर्ता का अहंकार मनुष्य में जागृत न हो- **'मत्त: पतर नान्यक्तिञ्चत्'**। जो कुछ भी है सब वासुदेव का है- **'वासुदेवत: सर्वमिति'**। चूँकि इसमें आत्मसमर्पण और एकांतनिष्ठा प्रमुख है, इसलिए इसे एकांतिक धर्म कहा गया।

गोपाल कृष्ण

ई. पू. प्रथम शताब्दी में गोपाल कृष्ण की चर्चा नहीं मिलती। पर इसके बाद गोपाल कृष्ण का नाम कृष्ण की कथाओं में आता हैं। डॉ. भण्डारकर के अनुसार पश्चिम से कोई आभीर जाति मथुरा में आकर बस गई और उनका विस्तार धीरे-धीरे काठियावाढ़ तक हो गया। इनका जीवन

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

गो-पालन था और उनका आराध्य देव एक बालक था। यही गोपालकों द्वारा पूज्य बालक गोपाल कहलाया। ऋग्वेद में गोप शब्द आया है उनके परमपद में उत्तम सींगों वाली गौवों का रहना भी बताया गया है। गोपाल का विचार डॉ. भण्डारकर के अनुसार चार धार्मिक विचारों के क्रम का परिणाम था- १. वैदिक देवता विष्णु २. नारायण ३. वासुदेव और ४. बालगोपाल। यह अन्तिम कड़ी पुराणों की रचना के बाद जुड़ी होगी क्योंकि महाभारत में कहा गया है कि सभी अठारहों पुराणों के सुनने का जो फल होता है उसे मनुष्य केवल वैष्णव होकर ही प्राप्त कर सकता है। इनका एक नाम पुराणों में गोविन्द भी है। यह शब्द ऋग्वेद में गोपालकों के अर्थ में आया है जो पीछे वासुदेव कृष्ण का पर्याय बन गया। इस प्रकार के विचार का कारण यह लगता है कि तब निरीश्वरवादी बौद्ध और जैन धर्म में प्रचलित थे। इसलिए ईश्वरवादी साधकों को अपने हितार्थ विशिष्ट कल्याणकारी देवता की कल्पना की बात मन में आई। इसमें सबसे प्रमुख लगे विष्णु जो दलितों के रक्षक तथा देवासुर संग्राम में देवताओं के सहायक थे। इसी से इनके प्रति शुद्ध भक्ति का भाव जागृत हुआ।

पंचरात्र

सात्त्वत, भागवत या एकान्तिक धर्म का एक विकसित रूप था पंचरात्र धर्म। इसका प्रमुख ग्रंथ हैं- पंचरात्र संहिताएँ, जो भागवत मत और सिद्धान्त को स्पष्ट करने वाला प्रमुख ग्रंथ माना जाता है। इसे मोक्ष प्राप्ति का सर्वश्रेष्ठ मार्ग बताया गया है। ये सभी पहले एक ही थे। बहुत पीछे पंचरात्र और भागवत में भेद उत्पन्न हुआ। तब पंचरात्रिक नारायण की आराधना करते थे और भागवत वार्ष्णेय वासुदेव कृष्ण का पूजन करते थे। पंचरात्र का ज्ञान यद्यपि तीसरी शताब्दी ई.पू. में हुआ, पर इसका उदय बहुत पहले ही कभी हो चुका था। तभी नारद ने इसके अन्दर पाँच पदार्थों का का निर्देश दिया है : परतत्व, मुक्ति, युक्ति, योग और विषय। इन पाँचों के योग के कारण इसे पंचरात्र कहा गया है। इसमें भगवान की भक्ति का समर्थन किया गया है। वैदिकधर्म में व्याप्त रूढ़िवादिता के सुधार के लिए सात्त्वत धर्म का प्रारम्भ हुआ था। उस समय यज्ञों में की जाने वाली हिंसा का विरोध इसने अपनी अहिंसात्मक प्रवृत्ति से किया। साथ ही फलत्याग की भावना से प्रेरित कर कर्म करने का उपदेश देकर कर्मयोगी बन गया। अब भक्तिमार्ग में श्रद्धा और विश्वास को व्यापक स्थान मिला।

(द) ईस्वी सन् से पूर्व गुप्त काल तक

(i) पंचरात्र सम्प्रदाय या भागवत धर्म का समन्वयात्मक रूप

ऊपर पंचरात्र सम्प्रदाय के साथ एकान्तिक सम्प्रदाय का उल्लेख किया गया है। वैष्णवों के पूज्य नारायण के सम्मान में पंचरात्र होता था जिसमें पुरुषमेध यज्ञ करते थे। एकान्तिक शब्द का प्रयोग भागवत सम्प्रदाय के लिए इन्हीं नारायण भक्तों द्वारा इसलिए किया गया कि वे वासुदेव सम्प्रदाय से अपनी भिन्नता स्पष्ट कर सकें जिसमें वासुदेव और उनके परिवार (व्यूह) की उपासना की जाती थी। ये एकान्तिक वासुदेव सम्प्रदाय से अपने को श्रेष्ठ मानते थे।

ईस्वी सन् के प्रारम्भ के कुछ ही पहले वैष्णव सम्प्रदाय के देवता वासुदेव अपने अग्रज बलदेव के साथ एकाकार हो गये। अब वैष्णव उपासक एक ही साथ दोनों देवताओं की पूजा

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

करने लगे। ईस्वी सन् के प्रारम्भ में वृष्णी परिवार भी इस सम्प्रदाय में सम्मिलित हो गया। इसका एक नया नाम पंचरात्र सम्प्रदाय दिया गया। इसमें वृष्णी के पंचवीरों की भी पूजा की जाती थी जैसा कि मथुरा के समीप मोरावेल से प्राप्त प्रथम शताब्दी के अभिलेख से ज्ञात होता है। ल्यूडर (Luder) ने इन पाँच वीरों की पहचान-बलदेव, अक्रूर, अनादृष्टि, सरण तथा विदूरथ से की है। वायु पुराण के आधार पर डॉ. जे. एन. बनर्जी (Dr. J.N. Banerjee) ने इन पाँचों की पहचान संकर्षण, वासुदेव, प्रद्युम्न, शाम्ब और अनिरुद्ध से किया है। इनमें शाम्ब सौर परिवार से सम्बन्धित हैं जबकि शेष चार वासुदेव परिवार से। यहाँ संकषर्ण मूलत: नाग देवता हैं। अब संकर्षण वासुदेव की पूजा से वैष्ण धर्म में नागपूजा के समाहित होने का ज्ञान मिलता है। प्रद्युम्न-कृष्ण महाभारत के अनुसार संकर्षण बलराम-कृष्ण के भाई थे और प्रद्युम्न के पुत्र थे तथा अनिरुद्ध के प्रपौत्र। श्री फारुकहार (Dr. Farukhar) के अनुसार ये तीनों ही स्थानीय देवता थे जिनका सम्बन्ध कृष्ण से साम्प्रदायिक एकता के लिए जोड़ा गया। यह कुछ ठीक इसी प्रकार है जैसे रामायण में परमात्मा के चार रूपों राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न का उल्लेख है। महाभारत के अनुसार सृष्टि के आदि में विश्वात्मा नारायण धर्म के पुत्र हुए। उनके चार रूप थे-नर, नारायण, हरि और कृष्ण। डॉ. सुधाकर चट्टोपाध्याय के अनुसार इससे स्पष्ट है कि परमात्मा ने अपने को चार भागों में विभक्त किया था।

पंचरात्र में व्यूहवाद (परिवार) की चर्चा है। यहाँ व्यूहवाद से अभिप्राय है-वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध। श्री सदरचर (Sadarchar) के अनुसार पंचरात्र शब्द उस केन्द्रीय धर्म से उद्‌भूत है जो नारायण के पंचरात्र से सम्बन्धित था। इसमें ईश्वर (परमात्मा) अपने को पाँच रूपों में व्यक्त करता है-परा, व्यूह, विभव, अर्न्तयामी तथा अर्चा। परा, विष्णु का परात्पर ब्रह्म का स्वरूप होता है। व्यूह, उनका पारिवारिक स्वरूप है जिसमें उपर्यंकित चार-वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध की गणना की जाती है। विभव, उनका अवतारी रूप (अवतार) है और अर्चा, उनकी मूर्ति का स्वरूप है जो मन्दिर में पधराई जाती है। दूसरी ओर ग्रियर्सन (Griyarsan) ने व्यूह से अभिप्राय-विकासवादी सोपान, से लिया है।

महाभारत के नारायण खण्ड में सबसे पहले पंचरात्रों का उल्लेख है। इसके अनुसार एक पंचरात्र साहित्य था जिसकी रचना चित्रशिखण्डिन नामक सात ऋषियों द्वारा की गई थी और उन्होंने मेरु पर्वत से इसका प्रचार किया था। महाभारत के दूसरे खण्ड से नारायण द्वारा ही पंचरात्र साहित्य में निहित धर्म के प्रचार की बात ज्ञात होती है। डॉ. चट्टोपाध्याय ने मेरु पर्वत को पामीर माना है। इस आधार पर उनका विचार है कि यह सम्प्रदाय मध्य एशिया से प्रेरित था जो कुषाण शासन काल में कनिष्क के साम्राज्य का एक अंग था। इसके आधार पर कनिष्क के शासन काल प्रथम शताब्दी ईस्वी में इस सम्प्रदाय का प्रादुर्भाव भारत में माना जा सकता है।

यहीं नारायण खण्ड में अवतार की भी बात कही गयी है। यह गीता के इस सिद्धान्त पर आधारित है कि धरती पर जब-जब पाप बढ़ेगा तब-तब धर्म के स्थापनार्थ भगवान अवतार धारण करेंगे। वहाँ हंस, कच्छप, मत्स, सूकर, नरसिंह, वामन, भार्गवराम, दाशरथीराम, कृष्ण और कल्कि-दस अवतारों की चर्चा की गई है। पीछे चलकर इनके १२, १८ तथा २४ अवतारों में वासुदेव कृष्ण को केन्द्रित कर अनेक प्रारम्भिक भावनाएँ इनके साथ जोड़ दी गई थीं। जैकोबी (Jaycobi) ने इन अवतारों के कारणों को ध्यान में रखकर इन्हें तीन वर्गों में विभक्त किया है –

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

१. जिनसे ऋग्वेद में वर्णित विष्णु की मिथक क्रियाओं का विकास हुआ।
२. प्रजापति को केन्द्रित कर प्रारम्भिक साहित्य में विकसित होने वाले कथानक।
३. विष्णु से असम्बद्ध युद्ध सम्बन्धी क्रियाएँ।

कुछ विद्वानों ने इस भक्ति भावना का उदय ईसाई प्रभाव के कारण मानते हुए निम्न तर्क दिया हैं–

(i) भक्ति की अवधारणा और ईश्वर की अनुकम्पा ईसाई सिद्धान्त पर आधारित है।

(ii) महाभारत के नारायण खण्ड में नारद के श्वेतद्वीप की यात्रा का उल्लेख है। यहाँ श्वेतद्वीप से अभिप्राय है श्वेत रंग के (ईसाई) लोगों के वासस्थान से जिनसे इन्हें भक्ति की प्रेरणा मिली हैं।

किन्तु ये तर्क स्वीकार नहीं किये जा सकते क्योंकि सातवीं शती ई.पू. में अष्टाध्यायी, पांचवीं शती ई.पू. बौद्ध ग्रंथों तथा दूसरी शती ई.पू. में गीता की रचना हुई थीं जिनमें भक्तिभावना की व्यापक चर्चा की गई है। अत: भक्ति भाव उद्भव ईसाई धर्म की स्थापना के पहले से भारत भूमि में व्यापक था। फिर इसमें बाहरी प्रभाव का प्रश्न ही नहीं उठता।

इतना सम्भव है कि पंचरात्र सम्प्रदाय पर बौद्धों का प्रभाव रहा होगा क्योंकि मध्य एशिया में बौद्ध थे, जहाँ यह सम्प्रदाय था, जैसा कि ऊपर के विवरण से स्पष्ट है। इस प्रकार भारत में इसका विकसित रूप कुषाण काल की देन माना जा सकता हैं।

(ii) गोपाल-कृष्ण सम्प्रदाय

कृष्ण के गोपाल, गोविन्द, दामोदर आदि नाम भी थे जिनसे यह सम्प्रदाय चल पड़ा। गोवर्धन-कृष्ण की मूर्तियाँ मथुरा संग्रहालय तथा इण्डियन म्युज़ियम कलकत्ता में रखी हैं जिन्हें डॉ. कुमारस्वामी ने कुषाण कालीन बताया है। इससे स्पष्ट है कि कुषाण काल में गोपाल-कृष्ण के पूजकों का सम्प्रदाय प्रचलन में आ चुका था। हरिवंश तथा विष्णु पुराणों से भी यही ज्ञात होता है। वहाँ बालक कृष्ण द्वारा निम्न चार कार्यों के करने का ज्ञान मिलता है –

१. कालिय नाग का दमन
२. व्रज से इन्द्र के उत्सव का समापन
३. गोपीकाओं के साथ लीला
४. कंस का वध

प्राप्त विवरणों से ज्ञात होता है कि नाग-पूजा मथुरा में शकों तथा कुषाणों के काल में प्रचलित थी। नाग जाति मथुरा और उसके पड़ोस में रहती थी जो ३०० ई. के बाद स्वत: समाप्त हो गई। कृष्ण कथानक में कालिय दमन द्वारा यही बात प्रदर्शित की गई है। गोपीलीला में बाममार्गिय तांत्रिक प्रभाव का परिणाम ज्ञात होता है, जो गुप्त काल में प्रचलितं था। इसी समय के नाटककार भास के बालचरित का भी उल्लेख श्री फारुकहार ने इस संदर्भ में किया है। अत: ये दोनों शकों के बहुत बाद के हैं। इसी प्रकार गोवर्धन धारण की घटना कुछ विद्वानों के अनुसार इस सम्प्रदाय पर बौद्ध-चैत्यों के पूजा की छाप व्यक्त करता है। इन्द्र के मान मर्दन की बात वैदिक

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

देवता इन्द्र की अवमानना तथा अवैदिक विष्णु के गुणों के उभार को बतलाता है। **'त्रीणि पदानि चक्र में विष्णुर्गोपा अदाभ्यः'**, ऋग्वेद के इस मंत्र में विष्णु को गोपा विशेषण से सम्बोधित किया गया है। एक दूसरे मंत्र में विष्णु के परम पद में बड़ी-बड़ी सींगों वाली गायों के रहने का वर्णन है। जब कृष्ण और विष्णु के बीच तादात्म्य हुआ तो कृष्ण को भी गोपालक-गोपाल के रूप में प्रस्तुत करना स्वभाविक था। कंस वध का सर्वप्रथम उल्लेख महाभाष्य में हुआ है। अतः यह घटना दूसरी शताब्दी ई.पू. की है।

इससे विदित होता है कि महाभारत के समय गोपाल-कृष्ण की कोई व्यापक मान्यता नहीं थी। यही कारण है कि सभापर्व में शिशुपाल ने कृष्ण की बड़ी निन्दा की है। श्री फारुकहार के अनुसार कृष्ण लीला में कृष्ण के साथ जो कथाएँ जुड़ी हैं वे मथुरा की क्षेत्रीय कथाएँ होंगी जो बाद में कृष्ण के साथ जोड़कर वैष्ण धर्मोपदेश की महत्ता को महाकाव्यों के समय बताया गया होगा।'

कृष्ण का आभीरों में जन्म ग्रहण करना, उनका मथुरा से गोकुल ले जाया जाना आदि घटनाओं को कुछ विद्वान ईसाई धर्म के प्रवर्तक ईसा मसीह के जीवन से प्रभावित मानते हैं। डॉ. मैकनीओल (Dr. Macnicoll) ने ईसा के बचपन की घटनाओं के साथ बालगोपाल कृष्ण की अनेक घटनाओं को जोड़ने का प्रयास किया है। पर उनके तर्क विश्वसनीय नहीं है। कीथ ने इनकी कटु आलोचना की है। इलियट (Illiot) के विचारों में – There is little reason to regard christianity as an important factor in the evolution of Hinduism. अर्थात् यह विश्वास नहीं किया जा सकता कि ईसाई धर्म ने हिन्दू के विकास में कोई महत्वपूर्ण भूमिका निभायी हो। कृष्ण के बचपन की घटनाएँ वैदिक साहित्य में वर्णित विष्णु की घटनाओं के आधार पर विकसित हुई हैं। डॉ. रायचौधरी के अनुसार ऋग्वेद में विष्णु को गोप कहा गया है। इससे स्पष्ट है कि गोपाल-कृष्ण सम्प्रदाय वैदिक साहित्य के विष्णु कथानक पर विकसित हुआ है। यह सम्भव है कि इस पर बौद्ध प्रभाव भी पड़ा होगा जैसे गोवर्धन पूजन की घटना जिसमें चैत्य उपासना की परम्परा का अनुमान किया जा सकता है। इनके साथ गोविन्द नाम का भी उल्लेख कहीं-कहीं मिलता है। ऋग्वेद में गौवों के पालक के रूप में गोविन्द शब्द का प्रयोग किया गया है। पृथ्वी को संस्कृत में भी गौ भी कहते हैं। ऐसी धारणा गौ को पृथ्वी मानने की प्राचीन मिस्र में भी थी। चूँकि विष्णु ने अपने वामन शरीर के विस्तार द्वारा समग्र भूमि आर्यों के लिए प्राप्त किया था इसलिए उन्हें गोविन्द कहना सर्वोचित ही है। कृष्ण का विष्णु के साथ तादात्म्य होने पर गोविन्द नाम भी पर्याय के रूप में कृष्ण के लिए प्रयोग होने लगा। इसकी सत्यता इस बात से भी सिद्ध होती है कि कृष्ण मथुरा के थे जो क्षेत्र गायों के लिए प्रसिद्ध था तथा वह आभीर जाति के वीर पुरुष थे जिनका धंधा ही गो-पालन था। इसी के बाद में कृष्ण का गो-पालक रूप अधिक व्यापक हो गया।

(य) गुप्त काल

इस समय यह भारत का सर्वप्रधान धर्म बन गया। अधिकांश गुप्त शासक वैष्णव धर्मानुयायी थे तथा लगता है इसको अपने राज्य में राजधर्म का स्थान दे चुके थे। साहित्य में भी

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

विष्णु और उनके सम्प्रदाय को अधिक उजागर किया गया है। मूर्तन में अधिकाधिक वैष्णव मूर्तियाँ ही बनने लगी थीं। विष्णु के मंदिरों का निर्माण भी इस समय हुआ है। अधिकांश गुप्त सिक्कों पर भी किसी न किसी प्रकार इस सम्प्रदाय की छाप दीखती है। वैष्णव प्रभाव के बहुमुखी विधा के कारण इस काल को वैष्णव धर्म की चरमाता का काल कहा जाता है।

इस समय मुख्य रूप से वैष्णव धर्म में विष्णु का अवतार (विभव) रूप भी जुड़ गया। गीता के अनुसार धर्म के ह्रास और अधर्म की वृद्धि पर विष्णु अपने अंश से अवतार रूप में प्रकट होंगे। यद्यपि अवतारों का ज्ञान ब्राह्मणों तथा महाकाव्यों के समय से ही हो चुका था। इस अवस्था में अब वैष्णव धर्म के स्वरूप में वृद्धि हुई और पीछे चलकर लोक देवताओं को तथा विशिष्ट पुरुषों को भी अवतार की सीमा में समेटने के कारण इसकी संख्या क्रमशः बढ़ती गई। पहले केवल चार ही अवतार माने गये थे--वाराह, नृसिंह, वामन और वासुदेव-कृष्ण। फिर दो और बढ़े परशुराम (भागर्वराम) और राम (दशरथी राम)। पीछे ये दस हुए। इन चार अतिरिक्त नामों को पुराणों की सूची में अलग-अलग बताया गया है। कहीं चौबीस और कहीं उन्तालिस अवतारों की संख्या भी सूची में दी गई है। पर इनमें दस अवतारों की मान्यता प्रमुख है मत्स्य, कूर्म, वराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, राम, बलराम, बुद्ध और कल्कि। गुप्त कालीन फलकों से पाँच अवतारों की मान्यता तो स्पष्ट ज्ञात होती है। पर शेष पाँच अज्ञात हैं क्योंकि कोई फलक पूरा नहीं मिला है। ये स्पष्ट पाँच हैं-मत्स्य, कूर्म, वाराह, नृसिंह और वामन।

दूसरी विशेषता है कि इस समय लक्ष्मी भी इनके साथ आ गईं। इनको अब विष्णु की पत्नी के रूप में मान लिया गया था। इसीसे इनका नाम विष्णुप्रिया भी मिलता है। ऐसा स्कन्दगुप्त के जूनागढ़ अभिलेख से ज्ञात होता है। मिहिरकुल के ग्वालियर अभिलेख में भी इसकी चर्चा है तथा कालिदास ने भी इनको इसी रूप में वर्णित किया हैं।

विष्णु को भी अब अनेक नामों से विविध अभिलेखों एवं ग्रन्थों में सम्बोधित किया गया है-चक्रपाणि, चक्रधर, गोविन्द, गदाधर, जनार्दन, चित्रकूट स्वामी, दामोदर आदि। यह लोकात्मा के समन्वय का बोधक है। इनकी शक्ति महती स्वीकार की गई थी। तभी कालिदास ने कहा हैं-'वे विश्व स्रष्टा, पालक संहारक तीनों रूप धारण करते हैं। स्वयं अमाप्य (असीम) होकर तीनों लोको को नाप दिया। .....सर्वत्र होते हुए भी अज्ञात हैं। सबके आदि स्त्रोत हैं। पर स्वयं स्वयंभू हैं।' (रघुवंश)

इस समय वैष्णव धर्म का प्रचार व्यापक रूप से हो रहा था। इसके प्रमुख आधार हैं-

१. गुप्त सिक्कों तथा अभिलेखों में सम्राट के लिए 'परमभागवत्' उपाधि।
२. गुप्त सिक्कों के पृष्ठ भाग पर प्रायः लक्ष्मी का अंकन।
३. गुप्त सिक्कों के अग्रभाग पर राजचिन्ह के रूप में गरुड़ ध्वज का होना।
४. वैष्णव मंदिर और मूर्तियों का बनना।
५. वैष्णव पुराणों का संकलन।

चन्द्रगुप्त द्वितीय के महरौली लौहस्तम्भ लेख में विष्णु ध्वज स्थापित करने का उल्लेख है। इसी समय की उदयगिरि गुहा से प्राप्त विष्णु की चतुर्भुजी मूर्ति तथा वाराह मूर्ति, मंदसौर से

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

प्राप्त नरवर्मन के अभिलेख में वासुदेव की स्तुति, प्रभावती गुप्ता के रिद्पुर अभिलेख का प्रारम्भ-'जितं भगवता' से होना, इसके पूना ताम्रपात्र में भगवत के चरणों में भूमिदान, प्रवरसेन के अभिलेख में-चक्रपाणि का उल्लेख. वैग्राम अभिलेख में गोविन्दस्वामी नामक देवकुल को दान देना चन्द्रगुप्त द्वितीय के वैष्णव होने के स्पष्ट प्रमाण हैं। साथ ही उसके सिक्कों से भी यह पुष्ट होता है क्योंकि एक सिक्का का प्रकार स्पष्ट रूप से विष्णुकी आकृति वाला है जिसे चक्रविक्रम प्रकार कहते हैं। अन्य सिक्कों के पृष्ठ भाग पर लेख 'श्री विक्रम' और लक्ष्मी का अंकन भी इसकी पुष्टि करता है। कुमारगुप्त प्रथम के गंगाधर और नगरी अभिलेख विष्णु मंदिर के निर्माण की चर्चा करते हैं तथा इसके सिक्कों के पृष्ठ भाग पर लक्ष्मी की आकृति बनी है। इसकी रजत मुद्राओं के पृष्ठ पर 'परमभागवत' का उल्लेख तथा ताम्र मुद्राओं के पृष्ठ पर गरुड़ का अंकन भी इसको प्रमाणित करता हैं। स्कन्दगुप्त के भीतरी स्तम्भ लेख में एक मंदिर निर्माण और शारंगिण प्रतिमा की स्थापना का ज्ञान भीतरी उत्खनन से भी प्राप्त हुआ है। गढ़वा अभिलेख में अन्तस्वामी और चित्रकूटस्वामी का उल्लेख, कानपुर के भीतरगांव का वैष्णव मंदिर और उसमें शेषशायीविष्णु का अंकन, जूनागढ़ अभिलेख में विष्णु की स्तुति तथा चक्रभृत (विष्णु) के मंदिर की स्थापना और इसके सिक्कों के पृष्ठ भाग पर लक्ष्मी की आकृतियाँ भी इसी पक्ष को उजागर करती हैं।

गुप्तोत्तर अभिलेखों में एरण, मन्दसौर, दामोदरपुर, खोह आदि वैष्णव धर्म के प्रचार के पोषक हैं। मदसौर के वंधुवर्मा के सूर्य मंदिर अभिलेख के अन्त में शारंगण (विष्णु) का उल्लेख, एरण के मातृविष्णु द्वारा नारायण के मंदिर की स्थापना, जयनाथ द्वारा विष्णु के मंदिर में चरु तथा सत्र के लिए दान देना, बुद्धगुप्त के काल में कोकमुख स्वामी तथा स्वेतबाराह नामक देवताओं के मंदिर निर्माण का दामोदरपुर ताम्रपत्र में उल्लेख आदि विष्णु के विविध नामों तथा उनके पूजन होने के प्रमाण हैं।

छठी शती में देवगढ़ के दशावतार मंदिर, ईशानवर्मा के हरहा अभिलेख, पहाड़पुर (बंगाल) से प्राप्त मृणफलकों के अंकन से भी वैष्णव धर्म के प्रसार का ज्ञान प्राप्त होता है।

परवर्ती गुप्त काल में शंख, चक्र, गदा और पद्मधारी चतुर्भुजी वासुदेव-कृष्ण की मूर्तियाँ बहुतायद से विभिन्न कलाकेन्द्रों में बनी हैं। साथ ही द्विभुजी तथा अष्टभुजी मूर्तियाँ भी मिली हैं। विविध स्थानों से शेषाशायीविष्णु की मूर्तियाँ भी प्राप्त हुई हैं। अवतारी मूर्तियाँ और इनके मूर्ति फलक भी प्राप्त हुए हैं। वाराह की मूर्तियाँ दो रूपों भू-वाराह तथा आदिवाराह के रूप में भी मिली हैं। कई मंदिरों के निर्माण की भी चर्चा ऊपर की जा चुकी है जो इस धर्म की व्यापकता को प्रमाणित करते हैं।

यद्यपि डॉ. परमेश्वरीलाल गुप्त (Dr. P.L. Gupta) ने वैष्णव धर्म को गुप्तकाल का मात्र एक प्रचलित धर्म माना है क्योंकि उनको डॉ. दिक्षितार (Dr. R.R. Dixitar) द्वारा प्रस्तुत 'भागवत' शब्द के अर्थ में शंका है कि क्या यह शब्द शैव धर्म की भीं बोधक हो सकता है। पर ऐसी बात अन्य प्रमाणों के संदर्भ के आधार पर स्वीकार नहीं की जा सकती।

परवर्ती गुप्तकाल में पूर्वी चालुक्य शासकों द्वारा गरुड़ चिन्ह का शिरस्त्राण धारण करना प्रारम्भ किया गया। इनके अधिकांश अभिलेख वाराह की स्तुति से ही प्रारम्भ होते हैं। दक्षिण के चालुक्य शासक मंगलेश ने एक पर्वत के शिखर पर गुहा के भीतर विष्णु, नारायण, वाराह और

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

नृसिंह की आकृति का अंकन करवाया था। वहाँ शेषधारी विष्णु हैं। एलोरा में दशावतार विष्णु की आकृतियाँ अंकित की गई हैं। वहाँ भी गोवर्धनधारी कृष्ण, नृसिंह और वामन की आकृतियों का अंकन है। अमरकोष में भी वासुदेव के पिता का नाम वसुदेव दिया गया है। इसी प्रकार वाराहमिहिर की वृहत्संहिता में भागवत शब्द का प्रयोग इस सम्प्रदाय के लिए किया गया है।

(i) पंचरात्र सम्प्रदाय

इस समय से अवतारों की उपासना प्रारम्भ हुई। किन्तु पुरातात्विक प्रमाणों के आभाव में लगता है कि व्यूह का कोई स्थान इस धर्म में नहीं था। अब इसका केवल एक देवता वासुदेव ही रह गया था। इस समय कमन से जो भरतपुर में एक स्थान है, एक प्रस्तर खण्ड प्राप्त हुआ है जिस पर मत्स्य, कच्छप, वराह, नृसिंह और वामन का अंकन किया गया है। इस प्रकार अवतार पूजा जो पंचरात्र सम्प्रदाय का एक महत्वपूर्ण अंग है गुप्तकाल में पूर्णरूप से प्रारम्भ और विकसित हुआ है। पर पुरातात्विक दृष्टि से दो अवतारों की ही प्रधानता स्वीकार की जा सकती है-वाराह और नृसिंह।

वाराह अवतार इस समय अत्यन्त व्यापक था। उदयगिरि (म.प्र.), भितरगांव (कानपुर, उ.प्र.), दामोदरपुर (राजशाही, बंगाल) तथा एरण (म.प्र.) से इनकी गुप्तकालीन शैली में बनी मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। ये मूर्तियाँ दो प्रकार की हैं- सूकर के सिरयुक्त मनुष्य की धड़वाली मूर्ति (भू-वाराह) तथा वास्तविक वाराह या (आदिवाराह) की मूर्ति। दामोदरपुर अभिलेख में श्वेत वाराह तथा तोरमाण के एरण अभिलेख में देववाराह का उल्लेख हैं। एरण अभिलेख में धन्यविष्णु द्वारा इनके मंदिर के निर्माण का भी वर्णन है।

इस काल के नृसिंह की मूर्तियाँ अनेक स्थानों से प्राप्त हुई हैं। वेसनगर से प्राप्त प्रस्तर मूर्ति तथा बसाढ़ (मुजफ्फरपुर) से प्राप्त मिट्टी की मुहर पर अंकित मूर्ति। वाराह की उपासना इतनी विकसित थी कि पीछे इसका एक अलग उप-सम्प्रदाय बन गया। अब इसकी पूजा में तांत्रिक प्रभाव भी समाहित हो गया। तभी इसके उपासक नृसिंह के मंत्र को मंत्रराज कहने लगे। इसके उपासकों में यह भाव स्थापित हुआ कि नृसिंह की आकृति को साथ रखने पर वह भयमुक्त रहता है।

इसी समय पंचरात्र ग्रंथों की रचना भी हुई। इनमें निम्न चार पदों की शिक्षा का उल्लेख है –

१. ज्ञान (बुद्धि)
२. योग (ध्यान)
३. क्रिया (मूर्ति या मंदिर का निर्माण और उसकी सुरक्षा)
४. चर्या (धार्मिक एवं सामाजिक बनाना जैसे नित्यपूजा, त्यौहार, वर्णाश्रम धर्म आदि)

इनके सम्बन्ध में गोविन्दचार्य का विचार है कि प्रथम दो इसके सैद्धान्तिक या आंतरिक पक्ष हैं तथा शेष दो इसके व्यवहारिक या बाह्यपक्ष हैं।

पद्मतंत्र में पंचरात्र का अर्थ बताया गया कि पाँचशास्त्र। इनकी उपस्थिति में अन्य शास्त्र अंधकार के समान हैं – १. योग २. सांख्य ३. बौद्ध ४. अर्हत ५. कपाल, शुद्ध शैव, पाशुपत। इस प्रकार इसमें दो पक्ष हैं-एक भक्ति का तथा दूसरा भोग का।

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

(ii) गोपाल कृष्ण सम्प्रदाय

इस समय यह सम्प्रदाय मथुरा से बाहर निकल कर बंगाल में भी पहुँच गया था। यही कारण है कि पहाड़पुर से कृष्ण लीला सम्बन्धी अनेक मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। किन्तु नागदमन की कथा जो कालीदह और नाग के साथ जुड़ी है यहाँ नहीं मिलती। इसके पीछे कारण यह रहा होगा कि बंगाल में नाग पूजा का महत्व नहीं रहा होगा जिससे यहाँ इसको स्वीकार नहीं किया जा रहा होगा। यहाँ एक विशिष्ट बात और भी देखने को मिलती है कि अब इस सम्प्रदाय में तांत्रिक प्रभाव प्रवेश कर चुका था। इसी का परिणाम है कि बंगाल में गोपाल-कृष्ण की लीलाएँ अधिक प्रचलित थीं। हरिवंश तथा विष्णु पुराणों में भी वर्णित इस धर्म में तांत्रिक प्रभाव दिखाई पड़ता है। राजस्थान में भी इस सम्प्रदाय का प्रचार हो रहा था। पर यहाँ तांत्रिक प्रभाव का नितान्त अभाव था।

गुप्तकाल के बाद वैष्ण धर्म का केन्द्र उत्तर भारत नहीं रह सका। सातवीं शती के उत्तर भारत के शासकों ने शैव धर्म स्वीकार कर लिया था। इससे इस धर्म का प्रभाव यहाँ गिरने लगा। अब विंध्य पर्वत के दक्षिणांचल में इसका विस्तार होने लगा जिसके परिणामस्वरूप वहाँ संतों का उदय हुआ और उन्होंने इसके प्रसार में बहुत अधिक योगदान किया।

(र) गुप्त काल के बाद

गुप्त शासकों के बाद इस धर्म के विकास की गति उत्तर भारत में अत्यन्त मंथर हो गई। लगता है कि अहिंसा और भक्ति प्रधानता इसकी दो विशेषताओं के कारण इस धर्म के पनपने का परिवेश इधर नहीं रहा। छोटे-छोटे विशृंखलित राज्य तथा यवनों का आक्रमण जनता को हिंसा के लिए पुकारने लगा कि अहिंसा से अपने अस्तित्व तथा देश की सुरक्षा का मार्ग अब सम्भव नहीं रह गया है। इससे शैव और शाक्त सम्प्रदायों को विशेष मान्यता मिली। पर वैष्णव धर्म भी एक सामान्य धर्म के रूप में यहाँ जीवित रहा।

हर्ष के काल में भी यह धर्म मंथर गति से चल रहा था। बाण ने पंचरात्र तथा भागवत सम्प्रदायों के उपासकों का उल्लेख किया है जो दिवाकरमित्र के आश्रम में रहते थे। व्रजराजकृष्ण, गोपालकृष्ण, गोपीकृष्ण के रूपों में कृष्ण भक्त अब कृष्ण की उपासना करने लगे थे। श्रीकृष्ण विषयक कथाएँ कादम्बरी में भी प्राप्त होती हैं। इस समय के कुछ राजवंशों ने इस धर्म को स्वीकार कर लिया था। इसमें प्रागज्योतिषपुर (आसाम) के शासक भास्करवर्मन का नामोल्लेख किया जा सकता है जो हर्ष का समकालिक था। एलोरा के गुहा मंदिर में जो लगभग इसी समय के बने हैं इस धर्म के चित्र उकेरे गये हैं जिनमें पन्द्रवहीं गुहा विशेष उल्लेखनीय है। इसमें विष्णु के विभिन्न अवतारों का अंकन है। उनमें सर्वप्रमुख है शेषशायी विष्णु की मूर्ति जिसमें शेषनाग पर विष्णु लेटे हैं और लक्ष्मी उनका चरण दबा रही हैं तथा उनकी नाभि से कमल नाल निकला है जिस पर प्रफुल्लित कमल पर विष्णु भगवान विराजमान हैं। यहाँ गोवर्धनधारी कृष्ण की भी बड़ी ही रुचिर मूर्ति मिली है। इसके अतिरिक्त वामन, वाराह और नृसिंह की भी मूर्तियाँ उकेरी गई हैं।

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

राजपूत युग में आने पर भी इस धर्म का प्रचार देखने को मिलता है। यह बात अन्यथा है कि अब यह राजधर्म के रूप में नहीं था। फिर भी इसके सम्बन्ध की अनेक मूर्तियाँ, मंदिर, अभिलेख तथा प्रतिमाएँ प्राप्त हुई हैं। इसका सबसे सटीक प्रमाण खालिमपुर के दान ताम्रपात्र से प्राप्त होता है जिसमें वैष्णव मंत्र से ही अभिलेख का प्रारम्भ किया गया है-'ओम्' प्रणव मंत्र नारायण का है। इसके साथ नारायण या वासुदेव को जोड़ना विष्णु धर्म की प्रधानता का बोधक है। इसी वंश के देवपाल द्वारा नारायण मंदिर के निर्माण का उल्लेख है। सेन वंशीय शासक अपने को 'परम वैष्णव' कहते थे। गीतगोविन्द में जयदेव ने राधाकृष्ण सम्प्रदाय का उल्लेख किया है। इससे विदित होता है कि यहाँ कृष्णप्रिया राधा को भी इसमें स्थान मिल गया था। इसी समय की एक बड़ी ही सुन्दर और चित्ताकर्षक मूर्ति पहाड़पुर से गोवर्धनधारी कृष्ण की प्राप्त हुई है। विष्णु सहस्त्रनाम का भी चलन इस समय समाज में था। प्रतिहार शासक भोज के अभिलेख में हृषीकेष का उल्लेख विष्णु के लिए प्राप्त होता है जो पूर्ण सगुण हैं पर आंशिक रूप से निर्गुण भी हैं।

अनेक वैष्णव मंदिरों के निर्माण का भी ज्ञान इस काल के सम्बन्ध में प्राप्त होता है तथा उनके लिये दिये गये दान का भी परिचय प्राप्त होता है। चंदेल वंश के शासक परमर्दिदेव द्वारा विष्णु मंदिर के निर्माण का ज्ञान प्राप्त है। मध्य प्रदेश का खजुराहो मंदिरों की नगरी है। चंदेलों द्वारा वहाँ वैष्णव धर्म के भी कई मंदिरों का निर्माण किया गया है। परमार शासक भोजदेव के वेतम दानपात्र में गरुड़ध्वज फहराने का उल्लेख है। इससे यह अनुमान लगाना कठिन है कि वहाँ विष्णु मंदिर रहा होगा जिस पर गरुड़ध्वज लगाया गया होगा। उड़ीसा भी उस समय वैष्णव मंदिरों का केन्द्र था। भुवनेश्वर में बना इस काल का अनन्तवासुदेव का मंदिर अत्यन्त प्रसिद्ध है। यह वैष्णव धर्म का मंदिर है।

प्राय: वैष्णव मूर्तियों में शंख, चक्र, गदा और पद्म धारण किये चतुर्भुजी विष्णु की मूर्तियाँ ही बनायी गई हैं। इनके साथ लक्ष्मी तथा विष्णु के वाहन गरुड़ को भी सम्मिलित कर लिया गया है। अभिलेखों के ऊपरी सिरे पर प्राय: गजलक्ष्मी की आकृतियाँ उकेरी हुई हैं।

अवतारों की चर्चा ऊपर की जा चुकी है। भारत के विभिन्न भागों में विष्णु के विविध अवतारों को पत्थरों में उकेरा गया है। उत्तर भारत में इनमें प्रधानतया मत्स्य, वाराह और नृसिंह की आकृतियाँ ही मिलती हैं जबकि बंगाल में वामन और परशुराम का भी अंकन किया गया है। मध्य भारत में राम की आकृति और उनकी लीलाएँ प्रदर्शित की गई हैं। इस समय का प्रसिद्ध दशावतार मंदिर गुजरात में सहस्रलिंग झील के किनारे था। इसे चालुक्य नरेश जयसिंह सिद्धराज ने बनवाया था।

वैष्णव व्रत और त्यौहारों का भी लोक में प्रचलन हो चुका था। इसका ज्ञान विविध पुराणों के विवरणों से प्राप्त होता है। एक अभिलेख में आषाढ़ के शुक्लपक्ष की देवशयनी एकादशी का उल्लेख है। इस दिन से विष्णु का शयन हो जाता है जो पुन: कार्तिक शुक्लपक्ष की एकादशी को उठते हैं जिसको दोवोत्थान एकादशी के नाम से एक दूसरे अभिलेख में इंगित किया गया है। इसी प्रकार गंगाधर अभिलेख में कृष्णजन्माष्टमी का उल्लेख है जो भादों के कृष्णपक्ष के आठवें दिन मनायी जाती है। अल्बरूनी ने रामनवमी के मनाये जाने की भी चर्चा की है। इनसे स्पष्ट है कि उस समय भी वैष्णव धर्म विकसित अवस्था में था।

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

दक्षिण भारत में वैष्णव धर्म

दक्षिणी भारत में वैष्णव धर्म का प्रचार व्यापक रूप से उसी समय से हुआ जब शुंगो के काल से वैदिक धर्म का पुनरुत्थान उत्तर भारत में हो रहा था। भागवतपुराण मे एक भविष्यवाणी की गई है कि द्रविण देश में जहाँ ताम्रपर्णी, कावेरी आदि नदियाँ प्रवाहित होती हैं वहाँ वैष्णव भक्तों की लम्बी संख्या होगी। इसी पुराण में एक कथा है कि एक भक्त स्त्री घूमती हुई गोकुल आयी और वहाँ नारद को अपना वृत्तान्त सुनाते हुए कहा कि 'मेरा जन्म द्रविड़ क्षेत्र में हुआ था मुझे धर्म में पुष्टता कर्नाटक और महाराष्ट्र में मिली जहाँ से मैं गुजरात आ गयी हूँ।' यह स्त्री भक्त थी जो दक्षिण में उद्भूत तथा विकसित होकर वहाँ से उत्तर की ओर चलने पर उसकी शक्ति का इतना ह्रास हो गया कि वह असहाय हो गई। यह असहायता इस्लामी आक्रमणों के कारण थी जो हर्ष के बाद उत्तर में होने लगा था और इससे हिन्दूओं की मान्य धार्मिक परम्पराओं पर आघात हो रहा था।

दक्षिण में विष्णु तथा शिव की भक्ति भावना का उदय पल्लव शासकों के काल में बौद्ध और जैन धर्म की स्थापना की प्रतिक्रिया में हुआ। इस समय भक्त में विश्वास और आत्मसमर्पण की भावना पहले दार्शनिकों ने छेड़ा। उनके द्वारा प्रतिपादित दार्शनिक सिद्धान्तों के आधार पर उत्तर भारत में भक्ति आन्दोलन को प्रेरणा मिली। दक्षिण में वैष्णव गुरुओं के दो वर्ग थे-आलवार और आचार्य। आचार्य अपने दार्शनिक सिद्धान्तों का जहाँ प्रतिपादन करते थे वहीं आलवार भक्ति गीतों के माध्यम से धर्म का प्रचार करते थे। ये वैष्णव संत तथा भक्त थे।

(i) आलवार

'आलवार' तमिल शब्द है। तमिल भाषा में इसका अभिप्राय है-'भगवान की दया और प्रेम में सराबोर होना।' चूँकि ये भगवत् भक्ति में आकण्ठ डूब चुके थे। इसी से इन्हें आलवार कहा गया। जनता में ये विष्णु के सेवक के रूप में पूज्य थे तथा लोगों द्वारा सम्मान की दृष्टि से देखे जाते थे। इनको आदिशेष, गरुड़ विश्वकेशिन के रूप में मान्यता मिली थी। इनकी संख्या बारह थी-पोइगइ, भूतत्तालवार, पे, तिरमज़ीसई, कुलशेखर, पोरियालवार, आनदाल, तोनेदतदीपद्दी, तिरुप्पन, तिरुमंगई, नम्मालवार और मधुकर्कवि। पीछे इनके नाम भक्ति सूचक शब्दों में रखे गये। ये विभिन्न सामाजिक स्तर के लोग थे जो इसमें सम्मिलित हुए थे जैसे कुलशेखर राजा था, तिरुमंगई डाकू था, तोन्दरादीपोद्दी ब्राह्मण था और तिरुप्पन हरिजन था। फिर भी इनको एक ही पंक्ति में रखा जाता था। इनके प्रति जनता के मन में विशेष आदर का भाव था।

ये भजनों की रचना करते हुए भगवान का गुणानुवाद करते थे। यही इनकी भक्ति का माध्यम था। इनकी गीतों का संग्रह 'नायलार प्रबंधन्' नामक ग्रंथ में किया गया है। इसमें कुल गीतों की संख्या चार हजार है। आज भी दक्षिण भारत के द्रविड़ मंदिरों में पूजा के समय इन गीतों के गाने का चलन है।

(ii) आचार्य

ऊपर हमने दक्षिण के वैष्णव भक्तों को दो कोटियों में विभक्त किया है-आलवार और आचार्य। आचार्य शब्द से ही स्पष्ट है कि ये सिद्धान्तों के प्रतिपादक तथा उपदेशक थे तभी इस

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

नाम से इनको सम्बोधित किया गया होगा। ये तर्कों के आधार पर अपने मत का प्रतिपादन करते थे। आचार्य उपाधि का प्रयोग इनके लिये इस समय से होता था तथा इनके नाम के साथ यह शब्द जुड़ा रहता था जैसे आचार्य नाथमुनि, यामुनाचार्य, रामानुजाचार्य आदि। ऊपर जिन नामों की चर्चा की गई है वे क्रमशः अपने पहले वाले आचार्य के शिष्य थे। इन आचार्यों ने विभिन्न ग्रंथों की रचना करके अपने मत को प्रतिस्थापित करने का प्रयास किया।

आचार्य नाथमुनि पहले आचार्य थे जिन्होंने 'न्यायतत्त्व' तथा 'योगरहस्य' नामक ग्रंथों की रचना की थी। इनमें यामुनाचार्य के 'आगम प्रमाण', 'सिद्धिमय', 'गीता संग्रह', तथा 'माहापुरुषनिर्णय' नामक ग्रंथ मिले हैं। इनके शिष्य रामानुजाचार्य थे जिन्होंने गुरु के आदेशानुसार ब्रह्मसूत्र पर नया भाष्य किया जिसमें शंकर के अद्वैत ब्रह्म के स्थान भगवान और भक्त को अलग-अलग माना जिससे जीव भगवान की भक्ति कर सके। इसी दृष्टि को लेकर उपनिषदों पर भी उन्होंने भाष्य किया तथा द्वैतमत के स्थापनार्थ वेदान्तसार 'वेदान्त संग्रह' तथा 'वेदान्तदीप' नामक ग्रंथों का प्रणयन किया। इनका द्वैत मत विशिष्ट प्रकार होने से इसे 'विशिष्टाद्वैत' नाम दिया गया। इन्होंने तीन सत्ता को संसार में माना है-जड़ (जगत्), जीव और परमात्मा। जीव को चेतन माना गया है। इसलिए इसमें जड़ तथा जीवात्मा मिलकर परमात्मा के समान हो जाता है। यही कारण है कि परमात्मातत्त्व से जगत की सृष्टि होती है और उसी में इसका विलय भी। इसलिए परमात्मा ही सर्वव्यापक है और घट-घट वासी है। जब वह घट-घट वासी होता है-हममें, तुममें, खड्ग-खम्भ में, तो उसका स्वरूप सूक्ष्म होता है और जब सृष्टि की इच्छा करता है तो वह उसी अपने घट-घट रूप को बढ़ाता जाता है। इसमें पुनः उसको भक्ति पूर्वक परमात्मा का स्तवन करना चाहिए।

इसके बाद अनेक आचार्यों का ज्ञान मिलता है। इनमें मध्याचार्य का स्थान विशिष्ट है जिन्होंने 'द्वैतवाद' को उद्भासित किया है। इसमें केवल दो की ही सत्ता का स्थान स्वीकार किया गया-जीवात्मा और परमात्मा। इसी क्रम में कुछ आगे चलकर कृष्ण भक्त निम्बाचार्य ने 'अद्वैत' का समर्थन किया तथा वल्लभाचार्य ने 'पुष्टिमत' को स्थापित किया।

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

अध्याय ७

शैव धर्म

हिन्दू धर्म के सम्प्रदायों में वैष्णव और शैव सम्प्रदायों की प्रमुखता रही है। भारत में पाँच देवताओं की प्रधानता अतीत काल से आज तक बनी है। इन्हें पंचदेव कहते हैं। ये हैं-शिव, विष्णु, गणेश, सूर्य और देवी। इनमें शिव शैवोपासकों के अनुसार **शान्तं शिव चतुर्थमद्वैतं मन्यते,** अर्थात् यही चौथी तुरीयावस्था ब्रह्म का वाचक है। इनको 'बीजप्रद: पिता' के रूप में देखा जाता है। इसीलिए इनका एक विशेषण है-**महादेव**। इससे अभिप्राय है सभी देवताओं में बड़ा, श्रेष्ठ। इनके सम्प्रदाय, शैव धर्म का इतिहास अत्यन्त पुराना है तब से जब से सृष्टि का आविर्भाव हुआ। इसी से शास्त्रों में कहा गया है कि तब एक ही तत्त्व था 'रुद्र' (शिव), दूसरा तत्त्व था ही नहीं। जब कल्याणकारी देवताओं और रुद्रगणों की कल्पना साथ-साथ की गई तब दोनों पक्षों का आदर्श समग्र में स्थापित किया गया। इसी का जीवन्त उदाहरण शैव धर्म है जहाँ रुद्र शिव से चलकर कल्याणकारी शिव तक हम पहुँचते हैं। इसकी परम्परा तांत्रिक सम्प्रदाय तक चलती जाती है। इसीलिए शिव की मूर्तियाँ और मन्दिर बहुतायत से भारत में तथा भारत के बाहर सर्वत्र मिलते हैं। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि संसार के विभिन्न देशों में इस देवता की उपासना अतीत से ही विभिन्न नामों से की जाती रही है। इनकी मूर्तियाँ वहाँ की कला में आज भी विद्यमान हैं तथा आज भी इनकी पूजा वहाँ की पद्धति से होती है।

शिवतत्त्व

'शिव' शब्द 'वश कान्तौ' धातु से बना है जिसका तात्पर्य है कि- **जिसको सब चाहते हैं, उसी का नाम शिव** है। यहाँ स्पष्ट है शिव अखण्ड आनन्द के स्त्रोत होने के कारण सबके द्वारा चाहे जाते हैं। अत: **शिव का अर्थ 'आनन्द'** है। यही अर्थ उनके लिए प्रयोग किये जाने वाले दूसरे नाम **'शंकर'** से भी व्यक्त होता है क्योंकि शं=आनन्द और कर=करने वाला। योगिराज अरविन्द ने 'ब्रह्मा को अमर, विष्णु को सनातन तथा शिव को अनन्त' कहा है। अनन्त का अभिप्राय है जो अनन्त आनन्द देने वाला हो। स्वामी करपात्री जी ने 'शीङ् स्वप्ने' धातु से शिव शब्द की सिद्धि की है और इसका अर्थ किया है-'शेरते प्राणिनो यत्र स शिवा'-जहाँ प्राणी शयन करके थकावटट दूर करते हैं, वही शिव कहा जाता है। शंकर अर्थात् प्राण रहित भौतिक शरीर। 'इ' शक्ति का सूचक है जो शब से उन्हें शिवत्व प्रदान करता है। इस प्रकार शिव की पूर्णता प्रकृति या माया के ही साथ है।

शिव को अनेक नामों से सम्बोधित किया जाता है क्योंकि इनमें अनेक विशिष्ट गुणों का
CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri
समन्वय है। वेदों के रुद्र शिव ही हैं, तभी कहा गया है **'एको हि रुद्रः'** (श्वेता. उ. ३/२)

'स.....शिवः' (३/११)। यह दुःखों को विनष्ट करने से रुद्र कहे जाते हैं (रुत्=दुःखम् + द्रावयति=नाशयतीति)। यह अपने रूपों को शीघ्र ही प्रकट करने के कारण भी रुद्र कहे जाते हैं– **द्रुतंमस्य रूपमुलभ्यते। आशुतोष** भी इन्हीं का नाम है जिसका अर्थ है शीघ्र ही प्रसन्न होने वाला (आशु=शीघ्र + तोष=प्रसन्न होने वाला)। इनका नाम **मृत्युञ्जय** भी है। इसका अर्थ है जिसने मृत्यु को जीत लिया हो तथा अमरत्व की प्राप्ति कर ली हो। **त्र्यम्बक** भी ये कहे जाते हैं क्योंकि उनके तीन नाम हैं : सोम, सूर्य और अग्नि। इन्हें **'जगद्गुरु'** भी कहा गया है। गुरु की कृपा बिना इष्टदेव की प्राप्ति नहीं होती। अतः शिव जी के प्रसन्न किये बिना इष्ट का साक्षात्कार नहीं हो सकता ऐसी मान्यता है–

याभ्यां बिना न पश्यन्त सिद्धाः स्वान्तः स्थमीश्वरम्।।

'शिव' तीन अक्षरों से मिलकर बना है-श + ई + व। 'श' शयन तथा सुखवाचक है। यह समाधि का बोधक है। 'ई' अभीष्ट की सिद्धि का बोधक है। इसकी उपलब्धि से इच्छाएँ समाप्त हो जाती हैं जो भौतिक ताप हैं। 'व' बीज है-अमृतबीज। इससे दैविक ताप का निवारण हो जाता है। इस प्रकार यह त्रिताप (दैहिक, दैविक और भौतिक) का विनाशक है। एक शब्द में कहा जाय तो यह अमंगल के नाश का बोधक है। शिव तत्त्व के तीन रूप हैं- कार्यब्रह्म (जगत् का उदय स्थान), कारणब्रह्म (निलय स्थान) तथा कार्यकारणातीत ब्रह्म (विलय स्थान)। यह योगीन्द्र हैं क्योंकि हिमालय की गुफाओं में योग की साधना करते हैं। यह त्रिशूल धारण करने से **पशुपति** तथा विदेहमुक्त होने से **दिगम्बर** हैं। सबकुछ दान देने में तत्पर **औघड़दानी** हैं। अपनी प्रकृति में तमोगुणी होने से घृणितों से भी सहज स्नेह रखते हैं। विरक्त होने से उनमें कोई कामना नहीं रहती है। अपने परिवार के विरोधी परिवेश होने पर भी शान्त और मस्त रहते हैं। इस प्रकार सृष्टि के एक सफल पिता हैं। इनका रंग श्वेत (कर्पूरगौरं), तो शरीर पर श्मशान की काली राख और कण्ठ नीला है। वहीं शरीर पर सर्प की माला, तो हाथ में डमरू जिसके ध्वनि से साँप भागता हो और पुत्र कार्तिकेय का वाहन सर्प का भक्षक मयूर है। इनका अधोवस्त्र बाघम्बर है और वाहन नन्दी जो बाघम्बर देखते ही भाग जाय तथा पत्नी दुर्गा का वाहन सिंह है। पुत्र गणेश का मुख हाथी का तथा वाहन मूषक जो साँप का खाद्य है और हाथी सिंह का शिकार है। अपने **योगीराज** होकर भी अपनी अर्धांगिनी पार्वती को समेटे **अर्धनारीश्वर** का रूप धारण किये हैं। इस प्रकार वह परमानन्दघन हैं जिनकी मस्ती में कहीं चूक नहीं रह जाती।

शिव **नटराज** के रूप में आज के विज्ञानन्द भी हैं। पदार्थ में होने वाले सभी घात-प्रतिघात, सभी अणुओं और परमाणुओं में छन्दमय गति और यति के यह कारण होते हैं। इसी से वस्तुओं का उद्भव और विघटन होता रहता है। यही गति शिव के नृत्य में दीखती है जिससे ये अणु तथा परमाणु गतिमान होते हैं।

शिव का पंचाक्षर मंत्र है-**ओं नमः शिवायः**। इसमें 'ओं' प्रणव है। वही ब्रह्म है- **ओमिति ब्रह्म,** ओं ही सर्वत्र है-**ओमितिदं सर्वम।** ओं ही उनका स्वरूप है– **ओमित्यदनुकृतिर्ह स्म। यही 'ओम'** इनका नाम है। इसे बार-बार रटते रहने से प्राणी बंधन मुक्त हो जाता है।

वह स्वयं ब्रह्म है क्योंकि प्रलय के बाद जो शेष रह जाता है वही ब्रह्म है। शिव **प्रलंयकारी** देव है। पर प्रलय के बाद वही एक शेष रहते हैं-**'योऽवशिष्यते'**।

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

वेद से ज्ञात होते हैं- **न सन्न चासच्छिव केवल:**। सृष्टि के आदि में न सत् था न असत्। तब केवल एक ही था-शिव। ब्रह्मसूत्र में भी पहले ही यह जिज्ञासा की गई है- **'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा'**। वहीं इसको दूसरे सूत्र से स्पष्ट किया गया है-**'अस्य जन्मादस्य यत:'** अर्थात् अस्य=इस संसार में, जन्मादि=जन्म, रक्षा तथा विनाश, यस्य- जिससे होता है वही ब्रह्म है। इस प्रकार शिव ही ब्रह्म है। ऊपर के वेद वाक्य से ज्ञात होता है कि 'सत्' का स्वरूप स्थिर होता है जबकि असत् का परिवर्तनशील। पर जब ये दोनों ही नहीं थे तब केवल ब्रह्म था। वही ब्रह्म 'शिव' है। वही सृष्टि का कारण रूप है। पर यह शिव त्रिदेवों का देवता शिव नहीं है। वह ब्रह्म शिव है जिसमें सभी देवों की शक्तियाँ समाहित रहती हैं तथा जहाँ से त्रिदेव-ब्रह्मा, विष्णु और महेश (शिव) अपने-अपने कार्य के लिए शक्ति प्राप्त करते हैं।

शिव साकार और निराकार दोनों ही रूपों में हैं। निराकार रूप में उनका लिंग पूज्य है और साकार रूप में विग्रह (मूर्ति)। शिवलिंग ही से समस्त विश्व की उत्पत्ति, स्थिति और उसी में सबका लय होता है। उसे लिंग कहते हैं- **'लयनाल्लिंगमुच्यते'**। यहीं से पुन: सृष्टि का उदय है। इसलिए इसे पिता माना जाता है- **'पितृमातृस्वरूपेण स्वलिंग प्रपूज्येत'**। इसकी स्थिति का स्थान योनि होता है जिसमें यह स्थापित होता है। योनि मातृ चिन्ह है। यह पार्वती का प्रतीक है। इसे भग भी कहते है। इसी को धारण करने से यह भगवान (भग=योनि + वान=युक्त, धारक) कहे जाते है- **'लिंग वेदी महावेदी लिंग साक्षान्महेश्वर:। तयो: सम्पूजनान्नित्यं देवी देवश्च पूजितौ।'** (लिंगपुराण) यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि भौतिक रूप से अलग ब्रह्मा की स्तुति से प्रसन्न होकर उनको सृष्टि के हेतु शक्ति के साथ जब शिव ने दर्शन दिया था तो उनका आधा शरीर पार्वती का था जिसे अर्द्धनारीश्वर कहते हैं। सृष्टि स्रजक के रूप में यही उनका परात्पर स्वरूप है तथा उनका वाहन वृषभ जो सदा उनके सम्मुख रहता है-ज्ञान एवं धर्म है, जिसके वे आचार्य हैं। वही उन्हीं का अंश है।

यह विशिष्टता है कि शिव के अवतार की चर्चा किसी भी शास्त्र में नहीं की गई है। जबकि विष्णु तथा शक्ति के अवतारों का ज्ञान प्राप्त होता है। यह पुष्ट करता है कि यह परात्पर ब्रह्म स्वत: ही अपने को सृष्टि के आदि में लिंगरूप में स्रजन करते हैं और सर्वत्र मूलरूप में ही विराजमान रहकर योग के इस मार्ग से चलने वाले योगियों को सायुज्य भक्ति प्रदान करते हैं- **'मानव: शिवयोगेन शिवो भवति निश्चयम्'**।।

प्राचीनता और उत्पत्ति

शैवधर्म भारत का ही नहीं विश्व का एक व्यापक धर्म है, रहा है और रहेगा क्योंकि यही सरलता से मनुष्य को शान्ति तथा त्राण सरलता से प्राप्त होने वाला स्थान है। इसीलिए पत्थर को लिंग मानकर पूजने तथा जहाँ भी वैसा पत्थर स्थापित देखा जाय उसे मन्दिर तथा पवित्र स्थान मानने के पीछे व्यापक किन्तु अद्‌भुत शक्ति इसी देव में है। इसी से इनकी पूजा भारत में ही नहीं भारत के बाहर भी होती थी। बाईबल के जेनेसिस अध्याय में कहा गया है- **God created man in His own image, male and female created He them.** (ईश्वर ने अपने ही को मनुष्य बनाया, मनुष्यों को उसने स्वयं पुरुष-स्त्री का रूप धारण कर उत्पन्न किया।) प्राचीन मिस्त्र से भी लिंगपूजा का ज्ञान मिलता है। आज भी मक्का और मदीना में शिवलिंग की पूजा की जाती

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

है तथा प्राचीन काल से ही यह वहाँ के मान्य देवता रहे हैं। प्राचीन यूनान, रोम तथा दक्षिण-पूर्वी एशियायी देशों में इसकी एक लम्बी मान्यता पुरातात्विक अध्ययन से प्राप्त होती है। जबकि भारत में पाश्चात्य इतिहासकारों द्वारा इसकी प्राचीनता आर्यों से जोड़ी गई है, जो एक भ्रामक तथ्य है क्योंकि जब इसकी पूजा प्रारम्भ हुई तब न आर्य थे न अनार्य और न आर्य कभी बाहर से ही यहाँ आये।

शैव धर्म के प्रारम्भिक विकास में रुद्र (शिव) विषयक कल्पना की पृष्ठभूमि में उनका भयंकर और विनाशकारी रूप अवस्थित था। ऋग्वेद के अनुसार शैव धर्म के प्रारम्भिक विकास के समय ऐसा विश्वास प्रचलित था कि प्रकृति के भयंकर और विनाशक रूप तूफान तथा महामारी ही हैं। पशुओं तथा मनुष्यों को नष्ट कर देने वाली बिजली के समान तूफान पेड़ों को जड़ से उखाड़ देता है और घरों को नष्ट कर देता है। महामारियों के प्रचण्ड रूप के साथ-साथ प्रकृति का एक विशाल भाग विनष्ट हो जाता है। इन सभी विनाशकारी रूपों में प्राचीन आर्यों ने प्रकृति के भयंकर रूप को क्रोध की अभिव्यक्ति समझा है। इसकी शान्ति हेतु, शिव को प्रार्थना, स्तुति एवं वलि आदि धार्मिक क्रियाओं द्वारा प्रसन्न करने का प्रयास किया है। साथ ही आर्यकरण के लिए युद्ध और युद्ध के देवता की आवश्यकता थी। इसी स्वाभाविक परिक्रिया के अनुसार रुद्र-शिव जैसे विकराल देवता में आर्यों का विश्वास पैदा हुआ। उत्तर वैदिक काल में शान्ति की परिस्थिति में शासन, उत्थान और कल्याण की भावना जाग्रत हुई। तब यही रुद्र वहीं से आगे चलकर शिव के रूप में परमश्रष्टा, शासक आदि विश्व व्याप्त वन गया और उसमें ज्ञान तथा शाश्वत आनन्द की कल्पना की गई।

[अ] ऐतिहासिक विकास

आदि काल से महाकाव्य काल तक

(i) हड़प्पा सभ्यता का काल

सिंधु घाटी की सभ्यता से जो इस धर्म के साम्प्रदायिक स्वरूप की प्रस्तर मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं उनको मार्शल ने तीन प्रकारों में बांटा है; सामान्य प्रस्तर खण्ड, लिंग और योनि प्रकार के प्रस्तर, लिंग प्रकार के प्रस्तर खण्ड। ए. स्टीन ने, बलुचिस्तान में इसी काल की सभ्यता के स्तर से मुगलघुंडई, परियानोघुंडई आदि से ऐसे ही प्रस्तर खण्ड प्राप्त किया है। इस काल के गुजरात से भी ऐसे अनेक प्रस्तर खण्ड प्राप्त हुए हैं। इसी प्रकार दीमापुर के 'चेसमैन स्तम्भ' तथा आसाम के 'कसोमरी' प्रस्तर को भी कुछ लोग लिंग मानकर शैव धर्म की प्राचीनता वैदिक काल से पूर्व बताते हैं तथा इसकी मान्यता भारत में आर्यों से पूर्व स्वीकार करते हैं। बौद्धायन के अनुसार आर्यों के पहले 'संकीर्ण योनयः' कही जाने वाली जातियों का इस प्रकार का होना बताया गया है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि १५०० ई.पू. में आर्यों के बीच सम्भवतः कोई पारस्परिक उद्वेलन हुआ होगा जिससे सिंधु सभ्यता के लोगों ने अपना स्थानान्तरण कर लिया होगा। ऋग्वेद (११.३) में इन्द्र द्वारा सहस्त्र द्वारों वाले नगर की सम्पत्ति को बलपूर्वक जीतने का उल्लेख है। लगता है कि इनके पश्चिमी बस्ती वाले लोगों ने इन पर अधिकार कर लिया होगा। इसी ऋग्वैदिक ऋचा में शिश्नदेवों का उल्लेख हुआ है जिनके पास अतुलित सम्पत्ति थी। यहाँ शिश्नदेवों से अभिप्राय लिंगों से है। सम्भवतः इस विस्तार के परिणामस्वरूप आर्यों के उस फिर्के में नये सम्प्रदाय को

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

अपने में स्वीकार कर लिया होगा। यह आज भी पूर्ववत है तभी इसके अनेक तत्व अभी भी समाज में यथावत मान्य हैं जैसे पीपल की पूजा, लिंग की पूजा, दक्षिण दिशा को अपवित्र मानकर उसी ओर शव का पैर करके लिटाना, वेदी बनाकर यज्ञ करना आदि। अत: यह स्वीकार्य है कि पूर्व की सैन्धव कालीन संस्कृति की परम्पराएँ आज भी हमारे समाज में रची बसी हैं। श्री पी. बी. पाठक के विचारों में अथर्ववेद की ऋचाओं का सिन्धु सभ्यता के समझने के लिए पुनः इस दृष्टि से अध्ययन अपेक्षित है।

यहाँ से कुछ ऐसी मुहरें प्राप्त हुई हैं जो पाशुपत सम्प्रदाय की स्थिति को उस समय उजागर करती हैं। मार्शल (Marshall) तथा मैके (Mackey) ने ऐसी चार मुहरों की ओर संकेत किया है। इनमें एक मुहर आक्सफोर्ड के अश्मोलियन संग्रहालय में सुरक्षित है। सभी मुहरों में बनी आकृतियाँ लगभग समान हैं। इनमें आसन पर देवता विराजमान हैं जो सिर पर एक ऐसा खोल धारण किये हैं जिसमें तीन सींग हैं। वह लिंग की तरह सीधा समाधि में बैठा है तथा उसके पैरों के दोनों तलवे आमने-सामने हैं। एक पैर ऊपर है तथा दूसरा नीचे लटकता है। उसके तीन सिर हैं तथा बाहें घूमकर पैरों पर टिकी हैं। उसके चारों ओर पशु खड़े हैं जिनमें कुछ पालतू हैं और कुछ वन्य। इनके ऊपर कुछ खुदा है। मार्शल ने तीन सिर वाली मूर्ति को पाशुपति शिव माना है। विद्वानों के अनुसार अथर्ववेद की ऋचा के आधार पर इन लेखों को पढ़ने तथा इनकी व्याख्या का प्रयास किया गया है। यह सम्भवत: आसुरी प्रवृत्ति को भगाने के लिए लिखा गया है। इस देव को देखकर सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि देवता और लिंग दोनों रूपों में इनकी पूजा का चलन उस समय भी रहा होगा।

इसी आधार पर ह्वीलर (Wheeler) का विचार है कि हिन्दूओं में शिव और लिंग पूजा हड़प्पा सभ्यता से प्रारम्भ हो गया था। पर यह बात सत्य हो सकती है जब हड़प्पा की सभ्यता को हिन्दुओं की सभ्यता न मानी जाय। पर आज जब हड़प्पा वासी तथा आर्य भारतीय मूल के ही स्वीकार कर लिये गये हैं तो यह तर्क निराधार हो गया है। मार्शल ने इस मुहर पर अंकित लेख को 'Kueya' पढ़ा है और इसे एक देवता का नाम बताया है। इसमें कहाँ तक सत्यता है नहीं कहा जा सकता। ह्रोजनी (Hrozny) के अनुसार इसका अर्थ है-हत्यारा, विनाशक। हापकिन्स (Hopkins) ने शिव को हत्यारा देवता माना है। यह बात भले ही सत्य हो पर इतना स्पष्ट ही है कि सिन्धु सभ्यता के समय शिव की पूजा लिंग तथा शिश्नधारी देवता दोनों रूपों में की जाती थी। ह्रोजनी के अनुसार सिंधु सभ्यता के निर्माता योरोपीय मूल के हिती थे। इन्हें भगाकर द्रविड़ों ने वहाँ अपना अधिकार किया जिन्हें पीछे आर्यों ने खदेड़कर वहां अपना प्रभुत्व जमाया। यद्यपि आर्यों के बाहर से आने की बात जब अमान्य हो चुकी है तो यह धारणा ही निर्मूल है। यह कहा जा सकता है कि पुरातात्विक उपलब्धियों के आधार पर ज्ञात होता है कि आर्य और द्रविड़ दोनों में शिव की पूजा प्रचलित थी।

द्रविड़ों के शिव पूजा के आधार पर यही सम्भवत: वहाँ 'सिवन' से शब्द प्रचलित था। वहीं से संस्कृत भाषा में 'शिव' शब्द लिया गया होगा क्योंकि ऋग्वेद में शिव का उल्लेख नहीं है। 'सिवन' का अर्थ काला होता है। सम्भवत: इसी आधार पर उत्तर वैदिक साहित्य में शिव के लिए 'नील-लोहित' का उल्लेख हुआ है। तमिल साहित्य में इसके लिये 'सेम्बू' का प्रचलन था।

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

सम्भवत: इसी से पीछे 'शम्भू' शब्द संस्कृत में बना होगा। 'सेम्बू' का अर्थ शिव के आधार पर, कीथ ने कहा है कि, यह स्वीकार करना कि 'शिव' नामक देवता द्रविड़ उद्भव के हैं, मात्र एक कल्पना ही लगती है क्योंकि इसके पीछे कोई भी स्थूल आधार उपलब्ध नहीं है। शब्दों का परस्पर एक दूसरे से लेन-देन सभ्यता के विस्तार की कहानी का एक सामान्य अंग होता है। यह ठीक वैसे ही है जैसे यह कहा जाता है कि शिव के उपासक होने के कारण उनके नाम 'त्र्यम्बक' के आधार पर दक्षिण भारत के एक क्षेत्र को 'तैलङ्गाना' कहा जाता है।

डॉ. सुधाकर चट्टोपाध्याय (Dr. S. Chattopadhyay) ने सिन्धु घाटी में प्राप्त मुहरों पर जिनमें शिव के तीन मुँह दिखाई पड़ते हैं के विषय में कहा है कि ये मूलत: चार रहे होंगे। इनमें एक पीछे की ओर होने के कारण दिखाई नहीं पड़ता है। इसके लिए उन्होंने प्रारम्भिक तांत्रिक साहित्य में वर्णित सिन्धु नदी के पश्चिम में स्थित गांधार प्रदेश के तम्बरू नामक गंधर्व की ओर संकेत किया है और इसे शिव का दूसरा नाम तम्बरू-शिव बताया है क्योंकि इसके भी चार मुख थे। महाभारत में भी डॉ. पी. सी. बागची के अनुसार लगता है कि सिन्धु सभ्यता का प्रभाव महाकाव्यों के समय नष्ट हो चुका होगा। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि सिन्धु घाटी की कुछ मुद्राओं पर वेदी में अग्नि शिखा प्रदर्शित की गई है। इसे भी प्राय: विद्वानों ने 'शिव' का ही प्रतीक माना है क्योंकि यह भी नील-लोहित ही होता है जिसका उल्लेख वैदिक ग्रंथों में हुआ है।

(ii) वैदिक काल

इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका (Encyclopaedia Britanica) के अनुसार- "The name Siva literally auspicious does not occur however early in the Vedas. The vedic gods are mostly nature gods as Rudra, the god of thunder, figures prominently in the Rigveda only to give way subsequently to Siva" इससे स्पष्ट है कि प्रारम्भिक वैदिक साहित्य में शिव का उल्लेख नहीं है। वैदिक देवता मुख्यत: प्राकृतिक देवता थे। इनमें तड़ित (अग्नि, बिजली) के देवता रुद्र विशेष रूप से ऋग्वेद में शिव के स्थान पर पूज्य थे। इसका ज्ञान श्वेताम्बर उपनिषद से होता है। **'एको हि रुद्र:। स......शिव:।'** इसमें रुद्र और शिव का एकीकरण व्यक्त होता है। अथर्वशिरस के अनुसार शिव को रुद्र इसलिए कहा जाता है कि ये अपने उपासकों के सामने अपना रूप शीघ्र ही प्रकट कर देते हैं- **'द्रुतमस्य रूपमुपलभ्यते'**। इनके रूप की आवश्यकता पर अगर विचार किया जाय तो 'रुद्र' शब्द के विच्छेद से स्पष्ट होगा कि यह दु:खों का विनष्ट करने वाले कहे गये हैं-रूत्=दु:खम्, द्रावयति=नाशयतीति रुद्र:। शिव के लिए जिन विशेषणों के प्रयोग का चलन बाद में हुआ वही विशेषण रुद्र के लिए वेदों में मिलते हैं। अत: वैदिक रुद्र ही शिव हैं जो बाद में चलकर शिव के नाम से ही विख्यात हुए।

ऋग्वेद के केवल तीन सूक्त रुद्र के विषय में प्राप्त होते हैं। ये हैं-प्रथम मण्डल का ११४वाँ सूक्त, द्वितीय मण्डल का ३३वाँ सूक्त तथा सातवें मण्डल का ४६वाँ सूक्त। अन्य देवताओं के साथ ऋग्वेद में कुल ५० बार रुद्र का नाम आया है। पर दूसरे देवताओं की अपेक्षा इनकी महत्ता कम लगती है। यहाँ इन्हें क्रूर बताते हुए स्वर्ग का रक्तपूर्ण वाराह, अत्यन्त सुन्दर और यौवन वाले अपने उपासकों के प्रति उपकारी और विरोधियों के विध्वंसक तथा मरुतों का पिता बताया गया है। इसी

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

से वैदिक ग्रन्थों में रुद्र और मरुतों की उपासना साथ-साथ होने का ज्ञान मिलता है। इनके लिए आज प्रयोग किया जाने वाला **महामृत्युञ्जय मंत्र** ऋग्वेद का ही है-

त्र्यंबकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम।
उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीयमाऽमृतात्।।

इसमें प्रयुक्त 'त्रयम्वक' शब्द का उल्लेख शिव के सम्बन्ध में वैदिक साहित्य में अन्यत्र भी मिलता है। भाष्याकारों ने इसका अभिप्राय तीन नेत्रों वाला किया है। पर पाश्चात्य विद्वान इसे स्वीकार नहीं करते। ये इसका अर्थ तीन माताओं वाला बतलाते है। पर यह मान्य नहीं लगता क्योंकि रुद्र की तीन माताओं का ज्ञान नहीं मिलता। ऐसा एक भी विचार है कि यह जननी वाचक न होकर भगिनी वाचक लगता है।

ऋग्वेद में ये अग्नि के प्रतीक लगते हैं-**'त्यमग्ने रुद्रो'**। लगता है कि अग्नि की लपटें जो ऊपर उठतीं हैं सम्भवत: उन्हीं से शिवलिंग की कल्पना की गई होगी। अग्नि पर घी डालने से वह ऊपर की ओर प्रज्वलित हो उठती है ठीक उसी प्रकार शिव के सिरे पर जलधारा चढ़ाकर पूजन किया जाता है। अग्नि वेदी के बीच प्रज्वलित होती है और शिवलिंग योनि के बीच स्थित होता है जो समानता का बोधक है। इसी से अग्नि और शिव दोनों को एक मानकर अग्नि को उनका प्रतीक बताया गया है।

यहाँ इनसे प्रार्थना की गई है कि वे अपने हथियारों को दूर रखें तथा मनुष्यों और पशुओं की रक्षा करें। इन्हें महामारी फैलाने वाला भी कहा गया है। अत: इनसे प्रार्थना की गई है कि महामारी तथा बीमारी से लोगों को बचायें। इन्हें सैकड़ों औषधियों का रखने वाला कहा गया है तथा वैद्यों में सर्वश्रेष्ठ वैद्य बताया गया है- **'भिषक-तमं त्वा भिषजां श्रृणोमि'**।

ऋग्वेद में एक रुद्र की बात की गई है, जिसे मुमुक्ष लोग अपने अन्त:करण में बुद्धि द्वारा जानना चाहते हैं। अत: इसका वर्णन यहाँ परमात्मा परक है। पर दूसरी ओर वह उग्र और भय बताया गया है। यहाँ प्रार्थना की गयी है कि उसके बाण हम लोगों को स्पर्श न करें। पर विदेशी विचारकों के अनुसार यह प्राकृतिक देवता बताया गया है। डॉ. आदेर (Dr. Ader) के अनुसार यह मृतात्माओं से सम्बद्ध हैं। डॉ. आल्डेनवर्ग (Dr. Oldenberg) इन्हें जंगल तथा पर्वत से सम्बद्ध बताते हैं। डॉ. हिलेब्रान्ट (Dr. Hilabrant) कहते हैं कि यह ग्रीष्मकालीन देव हैं तथा विशेष नक्षत्र से इनका समीप्य है। डॉ. बेवर (Dr. Weber) ने इन्हें तूफान का देवता बताया है! पर ये सभी कथन मूलत: काल्पनिक ही लगते हैं।

इस समय लिंगपूजा का भी प्रचलन था। पी. टी. श्रीनिवास आयंगर (P. T. Sriniwas Aiyangar) के अनुसार **'शिश्नदेवों'** का उल्लेख ऋग्वेद में हुआ है। यह लिंग रूप में पूजित शिव की ओर संकेत करते हैं जो पीछे एक व्यापक परम्परा के रूप में चल पड़ा। इसका प्रमाण सिन्धु घाटी की सभ्यता के समय से ही दीखता है, जो वैदिक कालीन सिद्ध हो चुकी है।

जैसा ऊपर से ज्ञात होता है वेद में रुद्र संहार तथा आरोग्य दाता देवता के रूप में माने जाते थे। वैदिक आर्यों ने रुद्र में प्रकृति के भयंकर और विनाशक रूपों को देखा था, जो अपने पुत्र-रुद्रिय:, मरुतों के साथ गर्जना करते हुए प्रकट होते हैं। ऋग्वेद में वर्णित है कि वे अपने

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

तेजोमय बाणों को फेंकते हैं जो स्वर्ग और पृथ्वी पर गिरते हैं। (१/११४/१०) इन्हीं आधारों पर डॉ. भण्डारकर (Dr. Bhandarkar) ने इनके विषय में कहा है–

The dreadful and destructive phenomena are usually the storm that uproot trees and even demolish houses, accompained by the thunderbolt which strikes down men and beasts dead in a moment, epidemics that rage and carry off number of men. In these the old Aryans saw Rudra, who went about howling with the stormy winds (Maruts), who were his sons (Rudriyas). But human beings don't believe in a purely milignant power reigning in the universe.[1]

ऋग्वेदि में इनके स्वरूप का वर्णन प्राप्त होता है-रुद्र के हाथ तथा बाहु हैं। (२/३३/१०) उनका शरीर अत्यन्त वलिष्ठ है। उनके होंठ अत्यन्त सुन्दर हैं-**सुशिप्र:**। उनके माथे पर जटाजूट हैं जिसके कारण वे **कपर्दी** कहलाते है। (१/१४/१) उनका रंग भूरा है तथा आकृति देदीप्यमान है। वे नाना रूप धारण करने वाले है-**'पुरुरूप:'** तथा उनके अंग चमकने वाले सोने के गहनों से विभूषित हैं। वे रथ पर सवार रहते हैं।

यजुर्वेद में भी रुद्र के विषय में वर्णन है। रुद्राध्याय में रुद्र एक बलवान सुसज्जित योद्धा के रूप में वर्णित किये गये हैं। शुक्ल यजुर्वेद (१६.५) में वर्णित है कि उनके हाथ में धनुष तथा बाण हैं। उनके धनुष का नाम पिनाक है। उनका धनुष सोने का बना हुआ, हजारों आदमियों को मारने वाला, सैकड़ों बाणों से सुशोभित तथा मयूरपुच्छ से विभूषित है-

"धनुर्विभर्वि हरितं हिरण्यं सहस्त्राध्नि शतपधं शिखण्डिनम्"

बाणों के रखने के लिए वे तरकस धारण करते हैं जो संख्या में सौ हैं। उनके हाथ में तलवार भी चमकती रहती है तथा इस तलवार के रखने के लिए उनके पास म्यान (निषङ्गी) है। वे व्रज भी धारण करते हैं जिसका नाम-सृक है। (शु.यजु., १६.२१) शरीर की रक्षा करने के लिए अनेक सामाग्रियों को पहने रहते हैं। सिर की रक्षा के लिए वे शिरस्त्राण धारण करते हैं। देह के बचाव के लिए कवच तथा चर्म पहने रहते है। रुद्र अपने शरीर पर चर्म वस्त्र पहनते हैं।

इन वर्णनों से स्पष्ट ज्ञात होता है कि जिस तरह रथ पर चढ़कर धनुष बाण से सुसज्जित योद्धा रणाङ्गण में शत्रुओं के संहार के लिए जाता है, उसी भाँति रुद्र सिर पर शिरस्त्राण तथा देह पर कवच और चर्म पहनकर रथ पर आसीन होकर धनुष पर बाण चढ़ाकर अपने भक्तों के बैरियों को मारने के लिए मैदान में उतरते हैं। वे धनुष पर बाण हमेशा चढ़ाये रहते हैं। इसीलिए उन्हें 'आततायी' नाम से सम्बोधित किया गया है। इनके अस्त्र-शस्त्र इतने भयानक हैं कि ऋषि इनसे बचने के लिए सदा स्तुति किया करते हैं-

विज्यं धनुः कपर्दिनो विशल्यो बाणवान् उत।
अनेशन्वस्य या इषव आभुरस्य निषङ्गधि।।

यजुर्वेद में इन्हें **'नीलग्रीवाय च शितकाष्ठ च'**-नीला गलेवाला तथा श्वेत कण्ठ वाला कहा गया है। वही **'भूपति'** तथा **'पशुपति'** थे। उनके आघात को सहन करना सभी देवताओं

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

1. Vaishnavism, Saivism and Minor Religious Systems, p. 102.

तथा मनुष्यों के लिए सम्भव नहीं था। इन्हीं का एक रूप पशुपति है जो पाँच प्रकार के पशुओं-गौ, घोड़ा, मनुष्य, बकरी तथा भेड़ से घिरे होते हैं। उन्हें तीनों लोकों का अधिपति और स्वामी माना गया है। इसके लिए उन्हें इन विभिन्न नामों-उग्र, पशुपति, शर्व, ईशान, महादेव आदि से सम्बोधित किया गया है। पशुओं के स्वामी होने के कारण यह पशुपति कहलाये तथा अग्नि के समान ज्वलनशील होने के कारण **'कपर्दिन'** कहे जाते हैं। सामान्य वर्ग के लोगों में ख्याति प्राप्त होने से उन्हीं के समान इनके वस्त्रों की भी कल्पना की गई जिससे इन्हें 'कृतिवासिन:'-चर्म धारण करने वाला, कहा गया है। इस प्रकार रुद्र शिव का स्वरूप अब अत्यन्त व्यापक तथा विकसित था। सम्भवत: सामान्य लोगों में यही धर्म व्यापक था। वहाँ शिव की प्रधानता रुद्र रूप में थी। इसी समय उनको शंकर, शिव, शम्भू आदि नाम भी दिया गया है। लगता है कि अब उग्रता समाप्त हो रही थी तभी उनको इन सौम्य स्वरूपों के नामों से सम्बोधित किया गया होगा।

अथर्वेद में रुद्र की महत्ता ऋग्वैदिक काल से अधिक है। इस काल में रुद्र विषयक कल्पना का विकास हुआ। अथर्वेद में रुद्र के विभिन्न नाम- भव:, शर्व, पशुपति तथा भृतपति वर्णित हैं। डॉ. रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर का मत है कि भव एवं शर्व दो भिन्न देव हैं जो द्विपद एवं चतुष्पद जीवों पर शासन करते हैं। ये समस्त धनुर्धरों में श्रेष्ठ हैं। समीप और दूर के सभी पदार्थ उन्हीं के हैं। वे सहस्राक्ष हैं। यहीं एक स्थल पर इन्हें प्रकाश की तरह 'तेज पुंज' कहा गया है। उनका क्षेत्र दूर तक फैला है। कोई भी देवता या नर उनके आघात से नहीं बच सकता है। यातुधानों या दुष्टों पर वज्र प्रहार करने के लिए तथा स्तुतिकर्ता को क्लेश से मुक्त करने के लिए उनकी अभ्यर्थना की गयी है। उन्हें सर्व के रूप में धनुर्धर एवं भव के रूप में राजा कहा गया है। उनसे प्रार्थना की गयी है कि वे अपना घातक विष अन्यत्र ले जायें। रुद्र, अग्नि में, जल में, औषधियों में एवं वनस्पतियों में हैं तथा समस्त भूत उन्हीं में ही रचे हैं।

अथर्ववेद में वर्णित पशुपति का तात्पर्य मात्र गाय आदि जानवरों के ऊपर आधिपत्य से नहीं है, प्रत्युत "पशु" के अन्तर्गत मनुष्यों की भी गणना अथर्ववेद को मान्य है। अथर्ववेद का कथन हैं कि–

तवेमे पञ्च पशवो विभक्ता
गावो अश्वा: पुरुषा अजायय:।

अथर्ववेद के इस मंत्र से पशु के तांत्रिक अर्थ का आभास होता है जिसमें समग्र भुवन निवास करते हैं। वस्तुओं को धारण करने वाले विस्तृत ब्रह्माण्ड रूपी कोश रुद्र की अपनी वस्तु है। वे उसके उत्तराधिकारी हैं।

अथर्ववेद में रुद्र को समस्त भुवनों के रचयिता के रूप में भी स्वीकार किया गया है-

यो अग्नौ रुद्रो य अपस्वन्त य ओषधीर्वीरुध आविवेश।
य इमा विश्वाभूवनानि चाक्रष्टये तस्मै रुद्राय नमो अस्त्वग्नये।।

शतपथ ब्राह्मण एवं कौषीतकि ब्राह्मण से स्पष्ट होता है कि इन ग्रन्थों में रुद्र को उषा का पुत्र स्वीकार किया गया है। बड़े होने पर प्रजापति ने उनके आठ नाम रखे। इन आठ नामों में से सात नामों का उल्लेख अथर्ववेद में आया है। आठवाँ नाम आशनिया वज्र है। इन नामों की

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

समीक्षा से ज्ञात होता है कि प्रकृति के विभिन्न रूपों के आधार पर रुद्र के विभिन्न नामकरण किये गये हैं। विनाशकारी, भयंकर, कल्याणकारी और दयालु रूपों से अथर्ववेद में उल्लिखित सात देवों की मान्यता का ज्ञान मिलता है। शतपथ ब्राह्मण और कौषीतकि ब्राह्मण में वे सब एक देव के नाम हैं। वहाँ एक नाम और अम्वा मिलता है। इनमें से रुद्र, शर्व, उग्र एवं अशिन ये चार नाम विनाशकारी शक्ति के प्रतीक हैं तथा भव, पशुपति, महादेव एवं ईशान उनके कल्याणकारी शक्ति के प्रतीक हैं।

यहाँ 'गिरित्र' तथा 'गिरीश' दो विशेषणों का विशेष चलन ज्ञात होता है। इससे लगता है कि इस समय यह धर्म आर्यावर्त या मध्य प्रदेश के पश्चिमी पर्वतीय भाग में भी फैला था। यही कारण है कि जिस वज्र का प्रयोग ये करते हुए बताये गये हैं उसे मेघ से निकला हुआ कहा गया है। यहाँ मेघ से पर्वत की तुलना की गई है। इसकी पुष्टि इस बात से भी होती है कि बाजसेनयी संहिता में रुद्र को मूजवंत (पर्वत) से अलग हटने को कहा गया है। अथर्ववेद के अनुसार मूजवंत पर्वत पश्चिमी हिमालय का क्षेत्र था। वहाँ के निवासियों को 'महावृषस' कहा गया है। डॉ. वेंकटचलैय्या (Dr. Venkatchalliya) के अनुसार 'महावृषस' से अभिप्रेत है कि वहाँ लोगों द्वारा रुद्र को वृषभ के रूप में स्वीकार किया जाने लगा था। इसीलिए गिरित्र और और गिरिश उपाधियाँ इनके लिए इस समय प्रयुक्त होनी समीचीन लगती हैं।

अब समाज में शिव के दो और रूपों को भी स्वीकारा जाने लगा था। इन्हें 'कपर्दिन' कहा गया है। इससे स्पष्ट है कि यहाँ कपर्दो की तरह ज्वाला उगलने वाला कहकर, अग्नि से इनकी अभिन्नता स्थापित की गई है। इस प्रकार रुद्र रूप अब अनेकता में सम्बोधित होने लगा था अर्थात् रुद्र का स्वरूप कई ओर व्यापक होने लगा था। यहीं 'शिवायतनुः' का भी सम्बोधन इनके लिए मिलता है। शिव का यह स्वरूप कल्याणकारी है। अतः इससे अभिप्रेत है कल्याणमूर्ति। यह मंगलकारी रूप उनके सौम्य पक्ष का बोधक है। लगता है कि इस समय शिव के रौद्र और सौम्य दोनों रूपों भी उपासना की जाती थी। शतपथ ब्राह्मण में प्रयुक्त इनके आठ नामों में से चार नाम-रुद्र, शर्व, उग्र और अशिन विध्वंसकारी हैं जबकि भव, पशुपति, महादेव और ईशान चार नाम कल्याणकारी हैं। इससे स्पष्ट है कि अव यह धर्म पर्वतों से नीचे उतरकर सम्पूर्ण सृष्टि का कल्याण करता हुआ अधिक व्यापक हो गया।

सूत्रकाल में रुद्र की उपासना में कर्मकाण्डों को स्थान मिला। अब पशुबलि की व्यवस्था की गई। यह बलि ग्राम के बाहर दी जाती थी तथा उच्छिष्टांश को भी वहीं छोड़ दिया जाता था। सम्भवतः इसी परम्परा का प्रभाव है कि शिव का प्रसाद आज भी ग्राम के बाहर रहने वाले अतीथ जाति के ब्राह्मणों को छोड़कर कोई दूसरा उपासक स्वीकार नहीं करता है। मंत्रों के जप का प्रयोग रुद्र की प्रसन्नता के लिए किया जाने लगा। इनको अब बारह नाम दिए गए। लगता है कि व्यापक प्रकृति के विविध रूपों के साथ रुद्र का सानिध्य स्थापित किया गया। ऐसा विश्वास सम्भवतः इसलिए था कि इसी की प्रसन्नता से प्राकृतिक तत्त्वों से मनुष्य को सुरक्षा प्राप्त हो सकेगी। इस समय रुद्राणी, भवानी, शर्वाणी आदि रुद्र की चार पत्नियां बतलाई गयी।

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

(iii) संहिताकाल

संहिताओं में रुद्र-शिव के रूप एवं अस्तित्व का वर्णन किया गया है। तैत्तिरीय संहिता (४.५.२) और वाजसेनयी संहिता (अध्याय-१६) में रुद्र के अधिक विकसित स्वरूप का वर्णन मिलता है। उनके मंगलमय–

शिवाः तनुः

और उग्र रूपों में भेद किया गया है। यहाँ शिव को गिरीश, शिव, पशूनामपति, कपर्दी, शम्भु, भव, सर्व, रुद्र, शिवाः तनुः, संभव, शंकर, त्र्यम्बक आदि कहा गया है। लगता है कि यहाँ रुद्र का नाम अब बहुत व्यापक कर दिया गया है। यहाँ पर रुद्र एक सामान्य नाम है जिसका अभिप्राय सम्भवतः प्रेतात्माओं से है। एक अन्य स्थान पर पुनः इस नाम का प्रयोग मिलता है। किन्तु यहाँ इसका कुछ अच्छा तात्पर्य है। रुद्रों को गण एवं गणपति, कर्मकार, कुम्भकार, रथकार, तक्षक एवं निषादों का पति कहा गया है। डॉ. भण्डारकर का मत है कि इस प्रकार विभिन्न शिल्पियों एवं निषादों के साथ रुद्र को उनके उपास्य देव होने के कारण जोड़ा गया है।

(iv) उपनिषदकाल

शैव धर्म के विकास के विषय में उपनिषदों से पर्याप्त जानकारी प्राप्त होती है। छान्दोग्य, वृहदारण्य, मैत्री, महानारायण, नरसिंहतापनी, श्वेताश्वतर, आदि उपनिषदों में रुद्र के वैभव तथा प्रभाव का वर्णन उपलब्ध होता है। श्वेताश्वतर उपनिषद में रुद्र की एकता, जननिर्माण में निरपेक्षता, विघ्न के अधिपति, महर्षित्व, देवताओं के उत्पादक तथा ऐश्वर्य सम्पन्न बनाने के सिद्धान्तों की विवेचना स्पष्टतः की गई है–

"एको रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुः"
यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च
विश्वाधिपो रुद्रो महर्षिः।
हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वं
स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु।।

श्वेताश्वतर उपनिषद् में रुद्र शिव सम्बन्धी विचार का विकास प्राप्त होता है। यह उपनिषद् शिव को महेश्वर और मायी कहता है–

मायां तु प्राकृतिं विद्यात् मायिनं तु महेश्वरम्।

इन मंत्रों के वर्णन से स्पष्ट ज्ञात होता है कि रुद्र-शिव विषयक विचारों का विकास इस काल तक व्यापक हो गया था।

श्वेताश्वतर उपनिषद् के तृतीय अध्याय के आरम्भ में यह स्वीकार किया गया है कि ईश्वर एक है। वह (जगत् रूप जाल का अधिपति) जालवान् होकर अपनी शासन शक्तियों द्वारा समस्त लोकों पर शासन करता है। वह अकेला ही सृष्टि और उसके विस्तार में समर्थ है। उसको जो जान लेता है वह अमर हो जाता है। जो अपनी शक्तियों द्वारा इन सब लोकों पर शासन करता वह रुद्र एक ही है, दूसरा नहीं। वह समस्त जीवों के भीतर स्थित है, समस्त भूतों की रचना करके

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

उनका पालन करता है एवं प्रलयकाल में समस्त वस्तुओं को समेट लेता है। उसके नेत्र सर्वत्र हैं उसके मुख सर्वत्र हैं। वह देवों का प्रभाव एवं उद्‌भव है। वह विध्वाधिपति तथा महान् ज्ञानी है। उसने पहले हिरण्यगर्भ को उत्पन्न किया था। वह परमदेव रुद्र हम लोगों को शुभ बुद्धि प्रदान करें।

इस उपनिषद के चतुर्थ अध्याय में माया, प्रकृति को कहा गया है तथा माया के प्रयोग करने वाले (मायी) को महेश्वर कहा गया है। महेश्वर शिव का नाम है। प्रत्येक योनि के अधिष्ठाता, समस्त भूतों के आश्रयदाता और वर देने वाले इस ईशान को जानकर मनुष्य शाश्वत शान्ति को प्राप्त करता है।

डॉ. आर. जी. भण्डारकर का मत है कि ईश्वरवाद श्वेताश्वतर उपनिषद में अपनी पूर्णता को पहुँच गया है एवं ईश्वर भी व्यक्तित्व विभूषित हो गया है। परमात्मा के वाचक शब्द अत्यन्त सामान्य हैं। प्राय: देव शब्द से जिसका किसी सम्प्रदाय विशेष के सम्बन्ध नहीं है, उसका निरूपण किया गया है। उस देव को रुद्र, शिव, ईशान अथवा महेश्वर से अभिन्न बतलाया गया है एवं उसकी शक्तियों को ईशानी कहा गया है। किन्तु यहाँ पर ऐसा कोई भी संकेत नहीं है कि ये नाम अन्य देवों को हटाकर एकमात्र रुद्र-शिव को परमेश्वर की कोटि में पहुँचाने के उद्देश्य से रखे गये हैं।

श्वेताश्वतर उपनिषद् के काल तक रुद्र-शिव की पत्नी का वर्णन नहीं प्राप्त होता है। केन उपनिषद् में उमा का नाम वर्णित है। इस उपनिषद् में इन्हें हैमवती या हिमवान की पुत्री स्वीकार किया गया है। केनोपनिषद् में उनका उल्लेख रुद्र शिव की पत्नी के रूप में नहीं हुआ, यद्यपि वे बाद में रुद्र-शिव की पत्नी कहलाने लगीं।

अथर्वशिरस उपनिषद् रुद्र से सम्बन्धित है। इस उपनिषद् में वर्णन है कि देवता स्वर्ग गये और उन्होंने रुद्र से पूछा कि वह क्या हैं? उसने कहा कि वह अकेला ही था, अकेले ही है और अकेले ही रहेगा तथा उसके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। वह समस्त दिशाओं में है। वह गायत्री है, पुरुष-स्त्री आदि सब कुछ है और इसी प्रकार जिन अनेक वस्तुओं का उल्लेख किया गया है, उनसे वह अभिन्न है। इसके बाद रुद्र अदृश्य हो गया। देवों ने हाथ जोड़कर इस प्रकार उसकी स्तुति की- "जो भगवान् है तथा जो ब्रह्मदेव भी है, उसे नमस्कार है।"

अथर्वशिरस उपनिषद् के वर्णन का सारांश शंकरानन्द ने इस प्रकार दिया है- "रुद्र के ज्ञान के लिए पुरुष को संयत भोजन करना चाहिए, अपने को श्रवण, मनन आदि में लगाना चाहिए। परमहंस या एकाग्रचित भक्त बन जाना चाहिए और इस प्रकार अपना समय बिताना चाहिए। अनुभव करना चाहिए। ओइम् का जाप करना चाहिए तथा अवगति या प्रत्यक्ष में परिणत होने वाले ध्यान को करना चाहिए।"

(v) महाकाव्य काल

महाभारत से भी शैव धर्म की पुष्टि होती है तथा उससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि उस काल में रुद्र-शिव तथा शिवलिंग की उपासना प्रचलित थी। वन पर्व में अर्जुन द्वारा हिमालय जाने का वर्णन किया गया है। वहाँ पर अर्जुन ने तप किया। कुछ समय उपरान्त किरात के वेश में वहाँ

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

शिव उपस्थित हुए तथा उन दोनों में भयंकर युद्ध छिड़ गया। अन्त में अर्जुन पराभूत हो गये और श्रान्त होकर भूमि पर लेट गये। इसके पश्चात् उन्होंने शिव की स्तुति की एवं मिट्टी की वेदी बनाकर उस पर शंकर के नाम से पुष्प चढ़ाये। किन्तु ये पुष्प किरात के सिर पर रखे हुए दिखाई पड़े। तब अर्जुन को बोध हुआ कि किरात शिव ही हैं। वे उनके समक्ष आत्मसमर्पण कर दिये। इस पर शिव प्रसन्न हुए तथा मनोवांछित वर माँगने को बोले। अर्जुन ने उनसे पाशुपत अस्त्र माँगा जिसमें समस्त दुर्जेय शत्रुओं के नाश करने की शक्ति थी।

द्रोण पर्व में अर्जुन द्वारा पुन: पाशुपत अस्त्र प्राप्त करने का वर्णन किया गया है। यह यहाँ पर दूसरे भाँति का मालूम पड़ता है। उसमें धनुष और बाण दोनों हैं।

सौप्तिक पर्व में वर्णन है कि अश्वत्थामा ने शंकर की आराधना की और उनसे एक खड्ग प्राप्त किया। स्वयं शिव उसके शरीर में प्रवीष्ट हो गये। अश्वत्थामा ने उस खड्ग से पाण्डवों के शिविर में उत्पात मचा दिया और अपने पिता द्रोण के काटने वाले धृष्टद्युम्न तथा समस्त पाण्डव पुत्रों का वध कर डाला।

युधिष्ठिर द्वारा पूछे जाने पर कृष्ण ने बताया कि यह सब अश्वत्थामा ने शंकर की शक्ति से किया। उन्होंने उसके बारे में एक और कथा का वर्णन किया। एक बार जब ब्रह्म देव ने शंकर से सृष्टि करने के लिए कहा तो वे बहुत काल तक जल में विलीन रहे। लम्बे समय तक सृष्टि न होने पर ब्रह्मदेव ने दूसरे प्रजापति की सृष्टि की। नये प्रजापति ने बहुत बड़ी संख्या में प्राणियों को उत्पन्न किया। ये क्षुधा से पीड़ित ये प्राणी प्रजापति को खाने के लिए उनके समीप पहुँचे। तब भयभीत प्रजापति रक्षा के लिए हिरण्यगर्भ के पास गये। हिरण्यगर्भ ने इन प्राणियों के लिए दो प्रकार के खाद्य पदार्थ बनाया और तब से प्राणी शान्त हो गये। कुछ समय बाद जब महादेव जल से बाहर निकले तब देखा कि नये प्राणियों की रचना की गई है जो वे खुशहाल हैं, उन्होंने अपने लिंग को काट डाला क्योंकि अब इसकी आवश्यकता नहीं थी। इसके पश्चात् शंकर तप करने के लिए मूंजवान् पर्वत की उपत्यका में चले गये। महादेव की सृष्टि से विरत होने एवं योगी होने की इस प्रकार की कथा वायु पुराण में भी प्राप्त होती है। अनुशासन पर्व में लिंग-पूजा का उल्लेख मिलता है।

इन विवरणों से स्पष्ट है कि महाभारत काल में शिव एवं शिवलिंग की उपासना प्रचलित थी। महाभारत के शिव शक्तिशाली, क्रोधी और प्रचण्ड परन्तु कृपालु एवं दानी देव हैं। प्रसन्न कर लिये जाने पर वे सब कुछ देते हैं। अभिष्ट की प्राप्ति हेतु इनकी आराधना का वर्णन है। ऐसा वर्णन है कि वे हिमालय में अपनी पत्नी उमा, पार्वती या दुर्गा के साथ रहते हैं जिनके अनेक नाम है। अनेक प्राणी इनकी सेवा करते हैं कि जिन्हें 'गण' कहा जाता है। इनका वाहन वृषभ है। इस प्रकार इनमें परमेश्वर के समस्त लक्षण विद्यमान हैं।

रामायण तथा महाभारत में शिव एक श्रेष्ठ देवता हैं। यह शस्त्रों के भी देवता हैं। कृष्ण तथा अर्जुन ने पाशुपतास्त्र की याचना इन्हीं से की थी। यहाँ विभिन्न पर्वों में देवताओं द्वारा शिव की आराधना करने तथा उनको प्रसन्न कर उनसे फल प्राप्त करने का उल्लेख है। इसी प्रसंग में कृष्ण द्वारा शिव के आराधना करने तथा इससे प्रसन्न होकर शिव द्वारा उनको मनोवांछित फल प्रदान करने का वर्णन है। यह अन्य देवताओं की अपेक्षा शिव की महत्ता को अधिक प्रदर्शित

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

करता है। दूसरे विवरणों में शिव को समाज में शक्ति का प्रतीक चित्रित किया गया है। इस प्रसंग में उल्लेखनीय है कि पाशुपतास्त्र की कामना कर रहे कृष्ण और अर्जुन जब शिव के निर्देश पर एक सरोवर के किनारे पहुँचे तो वहाँ उन्हें दो सर्प दिखे जो पीछे धनुष और बाण के रूप में परिवर्तित हो गये। इससे स्पष्ट होता है कि नाग परम्परा भी शिव के साथ सामाजिक जीवन में समाहित हो चुकी थी। लिंग पूजा का भी ज्ञान महाभारत से होता है। अनुशासन पर्व में इसका उल्लेख हुआ है। यह अनार्य प्रभाव के परिणाम स्वरूप शिव की उपासना में जुट गया होगा। किन्तु लिंग आकृतियों का ज्ञान ऐतिहासिक काल में कुषाणकाल तक साहित्य या कला से नहीं होता। सर्वत्र शिव की मूर्ति के पूजन का ही ज्ञान प्राप्त होता हैं। इससे लगता है कि लिंग पूजा का व्यापक चलन गुप्त काल से ही आरम्भ हुआ होगा। रुद्र शिव से अलग स्थानीय रुद्रों का ज्ञान भी महाभारत से प्राप्त होता है। शान्ति पर्व के दक्ष-यज्ञ की कथा में दक्ष ने ग्यारह रुद्रों की बात की है किन्तु ये सभी अपने को माहेश्वर से अनविज्ञ बताते हैं। इससे स्पष्ट है कि रुद्र शिव के अतिरिक्त भी स्थानी रुद्र देवताओं की मान्यता थी। अत: स्थानीय रुद्र सम्प्रदाय शिव के साथ समाहित हो गया। यह भी उल्लेखनीय हैं कि शिव विकार विनाशक देवता होने के कारण अस्त्रों के भी स्वामी के रूप में पूजे जाते थे। रामायण के विवरण के अनुसार राम-लक्षमण को जब विश्वामित्र अपने यज्ञ की रक्षा के लिए ले जा रहे थे तो उनको शिव अस्त्रों की आराधना करके ही दो दिव्य अस्त्र दिलाया जिनको कोई काटने वाला दूसरा अस्त्र नहीं था। इसी प्रकार महाभारत के अनेक पर्वों में शिव की कृपा से अर्जुन, कृष्ण, अश्वत्थामा आदि को अनेक शस्त्रास्त्र प्राप्त होने का ज्ञान प्राप्त होता है।

[ब] ६०० ई. पू. से ईस्वी सन् तक

(i) साहित्य और पुरातत्व पर आधारित

चौथी शताब्दी ई.पू. में मौर्य शासक चन्द्रगुप्त के दरबार में आने वाले यूनानी दूत मेगस्थनीज़ के भारत यात्रा के विवरण से इस पर व्यापक प्रकाश पड़ता है। उसके अनुसार पर्वतों पर रहने वाले भारतीय 'डायोनिसियस' की उपासना करते थे। इन्साइक्लोपीडिया आव रेलिजन एण्ड इथिक्स (Encyclopadia of Religion and Ethics) में इस देवता को रोग निवारक बताया गया है तथा इसे उत्पादक क्रिया वाला, लिंग और सर्प चिन्हों से युक्त कहा गया है। ये सभी विशेषताएँ रुद्र-शिव में ही स्पष्ट रूप से पायी जाती हैं। अतः यूनानी यात्री द्वारा 'डायोनीसियस' शब्द भारतीय रुद्र-शिव के लिए ही प्रयुक्त किया होगा। लेवी (S. Levi) के अनुसार 'महामयूरी' में शिवपुरी के प्रमुख देव शिव बताये गये हैं। पातंजलि के महाभाष्य में शिवपुरी को उदीच्यग्राम कहा गया है। अत: यहं शिवी जनपद रहा होगा। स्ट्रैबो (Strabo) के अनुसार क्षुद्रक (व्यास नदी के किनारे बसा हुआ एक गण) तथा शिवी (झेलम तथा चिनाव नदियों की घाटी में बसा हुआ एक गण) पशुओं का चमड़ा पहनते थे और भाले की तरह का एक अस्त्र प्रयोग करते थे। शिव के वस्त्र में मृगचर्म तथा हाथ में त्रिशूल का उल्लेख प्रायः मिलता है। अत: ये शिव के स्वरूप को धारण करने वाले होंगे। पातंजलि के महाभाष्य में शिव-भागवतों द्वारा अपने आराध्य देव के प्रतीक स्वरूप हाथ में लोहे का भाला रखने का उल्लेख है। इससे स्पष्ट है कि ये दोनों गण शैव धर्मानुयायी थे। महाभारत के अनुसार दक्षयज्ञ

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

में रुद्रों की इसी वेशभूषा का उल्लेख किया गया है। चूँकि ये गणराज्य सिकन्दर के आक्रमण के बहुत पहले से ही पश्चिमी भारत में स्थित थे अत: बौद्ध काल में भी शैव धर्म के व्यापक प्रसार का ज्ञान प्राप्त होता है। उपर्यंकित विवरण तथा विदेशी वर्णन के अनुसार इस धर्म का प्रचार भारत के उत्तर पश्चिम में बल्ख (अफगानिस्तान) तथा उत्तर में मेरुपर्वत (पामीर) तक था तभी मेगस्थनीज तथा पातंजलि दोनों ने इसका उल्लेख किया है।

भीटा से प्राप्त प्रथम शताब्दी के एक पंचमुखी शिवलिंग पर ब्राह्मी में 'नाग श्री' का उल्लेख है। डॉ. सुधाकर चट्टोपाध्याय के अनुसार यह व्यक्त करता है कि नाग सम्प्रदाय भी शैव धर्म में किसी न किसी प्रकार समाहित हो गया था। इसी प्रकार महाभाष्य में प्रयुक्त 'शिव-भागवत' जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है स्पष्ट करता है कि शुंग काल से शैव और वैष्णव धर्म के बीच भी समन्वय की स्थिति आने लगी थी तभी दोनों सम्प्रदायों का सम्मिलित उल्लेख यहाँ हुआ है तथा शिव उपासकों को भी वैष्णव भागवतों की तरह शिव भागवत' कहा जाने लगा था। गीता दूसरी शती ई.पू. की रचना है। इसमें समन्वय का व्यापक ज्ञान प्राप्त होता है। यहाँ कृष्ण ने कहा है कि जो कोई भी जिस देवता की आराधना करता है मैं उसी में उसकी वास्तविक निष्ठा उत्पन्न करता हूँ। इससे स्पष्ट है कि दोनों धर्मों के बीच की दूरी मिटने लगी थी। डॉ. बाशम (Dr. Basham) ने कहा है कि इस प्रकार के कई श्लोक गीता में आये हैं जिनके आधार पर शैवधर्म का तत्कालीन प्रचलित वैष्णव धर्म के साथ समन्वय की बात स्वीकार की जा सकती है।

अब तक इसका प्रसार दक्षिण-पश्चिम में उज्जैन तक तथा उत्तर पश्चिम में तक्षशिला और औदुम्बर देश तक हो चुका था क्योंकि डॉ. एन. बनर्जी (Dr. N. Banerjee) के अनुसार उज्जैनी के एक सिक्के पर शिवलिंग अंकित मिला है। वहीं से प्राप्त कुछ सिक्कों पर शिव की खड़ी आकृतियाँ भी अंकित हैं जिनके दाहिने हाथ में दण्ड है और बाएं में कलश। कुछ सिर पर तीर की आकृति का अंकन हुआ है।

(ii) पुराण पर आधारित

पुराणों से शैव धर्म का व्यापक वर्णन प्राप्त होता है। कुछ पुराण शुद्ध शैवमत के प्रतिपादक हैं जैसे लिंगपुराण, शिवपुराण आदि। वामन पुराण मे शैवों के चार मत बताये गये हैं-शैव, पाशुपत, कालदमन तथा कापालिक। कालदमन को ही वाचस्पति मिश्र ने 'कारुणिक सिद्धान्ती' का नाम दिया है। यमुनाचार्य ने इसको कालामुख स्वीकार किया है। कालामुख का नाम ही अधिक प्रचलित है और इस प्रकार माहेश्वर सम्प्रदाय-शैव, पाशुपत, कालामुख और कापालिक हैं। परन्तु दार्शनिक दृष्टिकोण से शैव और पाशुपत सम्प्रदायों का विशिष्ट स्थान रहा है। पाशुपत सम्प्रदाय किसी समय सर्वाधिक प्रचलित था परन्तु आज वह लुप्त हो गया है। फिर भी आज शैव सम्प्रदाय अपने तीन रूपों में प्रचलित है-काश्मीरी शैवमत, वीर शैवमत और शैव सिद्धान्त। काश्मीरी शैवमत का प्रचार पहले काश्मीर में था। किन्तु अब उसके मानने वाले तथा विद्वान सम्पूर्ण भारत में पाये जाते हैं। वीर शैवमत का प्रचार एवं प्रसार क्षेत्र मैसूर या कर्नाटक है। शैव सिद्धान्त का प्रचार क्षेत्र तमिलनाडु है। इस प्रकार देखते हैं कि पुराणों के काल में शैव धर्म के मत ने भी विकसित होकर सम्प्रदायों का रूप धारण कर लिया था।

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

(iii) आगम पर आधारित

यद्यपि शैवमत के उद्‌भव स्रोत वेद तथा वैदिक परम्परा के साहित्य स्वीकृत किये गये हैं तथापि शैवमतों के मूल ग्रन्थों को शैवागम कहते हैं। अप्पयदीक्षित ने 'शिवाकर्मणि दीपिका' में शैवगम के वैदिक एवं अवैदिक दो भेद बताये हैं। वैदिक शैवागम वेदाधिकारियों के लिए हैं और अवैदिक शैवागम वैद के अनाधिकारियों के लिए। आजकल अवैदिक शैवागमों की परम्परा वैदिक शैवागमों से प्राचीन मानी जाती है। आगमों के शैवमत को ही मुख्य रूप से शैवमत स्वीकार किया जाता है।

अवैदिक शैवागमों के विषय में धारणा है कि ये अधिकांशतः लुप्त हो गये हैं। अभिनव गुप्त के समय में सम्भवतः कैलाशपति भगवान् श्रीकंठ ने अपने भक्त दुर्वासा को आदेश दिया था कि तुम लुप्त आगम शास्त्र का उद्धार करो। तदनुसार दुर्वासा ने आगम शास्त्र को तीन भागों में विभक्त किया-द्वैत, द्वैताद्वैत और अद्वैत तथा इन्हें त्रयम्बक, आत्मदर्क और श्रीनाथ नामक अपने तीन मानस पुत्रों को पढ़ाया। इन्हीं शिष्यों द्वारा क्रमशः अद्वैत, द्वैत तथा द्वैताद्वैत आगम का प्रचार हुआ। इन आगमों को क्रमशः भैरव-तंत्र, शिवतंत्र और रुद्रतंत्र कहा गया है। इनके अतिरिक्त एक चौथी धारा है जो त्रयम्बक की कन्या द्वारा प्रसारित हुई। यह शाक्तागम कहलायी। भैरव आगम ६४ हैं। शैव १० और रौद्र आगम १८ हैं। शैव आगम और रौद्र आगमों को शैवमत में प्रधानता मिली है और भैरव आगमों को शाक्तमत में विशेष महत्व दिया गया है। कुछ विद्वानों का कथन है कि उनकी मूलभाषा तमिल है जहाँ से संस्कृत में इनका अनुवाद किया गया है।

(iv) गृह्यसूत्र पर आधारित

इन सूत्रों के काल में भी रुद्र को उग्र देवता के रूप में स्वीकार किया गया है। उन्हें घर से दूर के प्रदेशों, मैदानों, शून्यारण्यों, श्मशानों, पर्वतों, प्राचीन वृक्षों एवं नदियों पर आधिपत्य रखने वाले देवता के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। जब कभी किसी मनुष्य को कोई अमांगलिक एवं भयदायक वस्तु मिलती थी तो उससे रक्षा के लिए रुद्र की स्तुति की जाती थी। डॉ. भण्डारकर का मत है कि "यही कारण है कि आगे चलकर रुद्र विष्णु के अतिरिक्त अन्य सभी वैदिक देवों को हटाकर सर्वव्यापी एवं समस्त जगत् के एकमात्र प्रभु बन गये।" वैष्णव धर्म की क्रियाओं में प्रेम, स्तुति और पूजा को जगाने वाले दृश्यों और घटनाओं का योगदान है, जबकि शैवधर्म के मूल में भय की भावना है। भले ही इस धर्म के विकास की विभिन्न अवस्थाओं में यह भावना दब गयी हो। सुप्रसिद्ध तत्त्व चिन्तक श्री रामबालक बाबा का भी यही मत है कि शैव उपासना में भय से भक्ति उत्पन्न करने का प्रयास किया जाता है।

रुद्र की वन्दना गृह्यसूत्र काल में प्रमुख हो गयी। पारस्कर गृह्यसूत्र के विवरण से स्पष्ट ज्ञात होता है कि मार्ग पार करते समय, चौराहे पर पहुँचते समय, नदी पार करते समय, नाव में चढ़ते समय, जंगल में प्रवेश करते समय, पर्वत पर चढ़ते समय, श्मशान, गोशाला तथा ऐसे ही अन्य स्थानों से होकर जाते समय रक्षार्थ रुद्र की वन्दना करनी चाहिए। इसी तरह हिरण्य गृह्यसूत्र का निर्देश है कि कोई यात्री जब किसी चौराहे पर गोबर के ढेर के पास पहुँचे या जब सर्प रास्ता काट जाए या जब वह चित्र-विचित्र दृश्य में यज्ञस्थल या पुराने बड़े वृक्ष को देखे तब उसे ग्रन्थ

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

में दिये गये विशेष मंत्र के जप द्वारा रुद्र की अर्चना करनी चाहिए। इस तरह हम देखते हैं कि गृह्यसूत्रकालीन रुद्र उग्र देव थे, अपशकुनों के नाशक थे।

[स] ईस्वी सन् से गुप्त पूर्व काल तक

इस समय पश्चिमी, पश्चिमोत्तर तथा मध्य भारत पर विदेशी प्रभाव विद्यमान था। शक तथा कुषाण शासकों का आधिपत्य इन क्षेत्रों पर था। ये विदेशी होकर भी भारतीय परम्परा को आत्मसात करने लगे थे क्योंकि उनका लक्ष्य मात्र भारत विजय करके अपने देश लौट जाना नहीं था अपितु यहाँ बसना और शासन करना था। इस समय अनेक शैव सम्प्रदायों का उदय हुआ। इनमें प्रमुख हैं–

(i) लकुलीश सम्प्रदाय

इस सम्प्रदाय का संस्थापक नकुली या लकुली था। इसके नाम पर ही इसके द्वारा स्थापित सम्प्रदाय लकुलीश सम्प्रदाय के नाम से विख्यात हुआ। बहुत दिनों तक लकुलीश सम्प्रदाय के संस्थापक लकुली की स्थिति विद्वानों के सामने समस्या बनी रही। इस गुत्थी को डॉ. भण्डारकर ने सुलझाया। अभिलेखों तथा पुराणों के आधार पर उन्होंने बताया कि वायुपुराण और लिङ्गपुराण के एक उद्धरण में माहेश्वर का अन्तिम अवतार लकुली बताया गया है। उनका यह अवतार कायावतार के समय हुआ था। इनके चार शिष्य थे-कुशिक, गार्ग, मित्र और कौरुष्य। कुशिक की चर्चा चन्द्रगुप्त द्वितीय के मथुरा स्तम्भ लेख में भी आयी है। इस कुशिक तथा लकुली के शिष्य कुशिक को अभिन्न मानकर इनको लकुली का परमशिष्यं बताया गया है। इसी अभिलेख में कुशिक के दसवें पीढ़ी में उदिताचार्य का होना बताया गया है। इस अभिलेख की तिथि ३८० ई. है। यदि एक पीढ़ी का समय २५ वर्ष माना जाय तो उदिताचार्य की तिथि इस लेख से (२५ x १० =) २५० वर्ष कुशिक के बाद रही होगी। अत: कुशिक की तिथि (३८० -२५० ई.) = १३० ई. होगी। यदि यह इनकी ज्ञात अन्तिम तिथि है तो २५ वर्ष पूर्व इस पीढ़ी में लकुली हुआ होगा। अत: लकुली की अनुमानित तिथि (१३० -२५=)१०५ से १३० ई. मानी जा सकती है। पर मथुरा के उपर्यकित अभिलेख में लकुली का नाम न होकर उनके शिष्य कुशिक का ही उल्लेख है। इससे लगता है कि तब कुशिक जो लकुली के शिष्य थे विशेष प्रभावक हो गये थे।

इसी समय का दूसरा ग्रन्थ है 'पाशुपत सूत्र'। आर. अनन्तकृषण शास्त्री (R. Anantkrishna Shastri) के अनुसार इसकी रचना लगभग १०० से २०० ई. के बीच हुई होगी। इस ग्रन्थ को लकुली ने अपने शिष्य कुशिक को पढ़ाया था जो इसे पढ़ने के लिए ब्रह्मावर्त से आये थे। इसमें निर्देश है कि शैव धर्म के अनुयायी शूद्रों तथा स्त्रियों के स्पर्श से दूर रहें। उनके स्पर्श से छूत लगता है। यदि वह किसी भी प्रकार से छू जाएं तो रुद्र-गायत्री मंत्र के उंच्चारण द्वारा उन्हें अपने को पवित्र कर लेना चाहिए।

इस सम्प्रदाय में भक्ति पर विशेष बल दिया गया है। यहाँ मन में भगवत भजन करने का निर्देश है। इसके अनुयायी को दिन में तीन बार अपने शरीर पर भस्म के लेप करने का आदेश दिया गया है। उसको एकान्तवासी या गुहावासी होकर या श्मशान में रहना चाहिए। अपनी इन्द्रियों को नियंत्रित करना तथा भिक्षाटन करना अपने लिए विहित बताया गया है। उसे भिक्षाटन

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

से प्राप्त अन्न के द्वारा ही अपनी जीविका का निर्वाह करना चाहिए। इनके लिए मांसाहार की स्वीकृति दी गई है पर ऐसा मांस विवर्जित है जो अपने भोजन के उद्देश्य से पशुओं की हत्या करके प्राप्त किया गया हो। उसके पास केवल एक वस्त्र (एकचैल) हो तथा उसका व्यवहार इस प्रकार का हो कि सामान्य लोग उसके व्यवहार को देखकर उसके प्रति उपेक्षा की दृष्टि रखें। इनके लिए ऐसी क्रियाओं की स्वीकृति दी गई है जो वाममार्गी शाक्तों द्वारा प्रयोग की जाती थीं। जिस प्रकार सन्यासी दण्डधारी होता है उसी प्रकार इस सम्प्रदाय के मानने वालों को लिङ्गधारी होने का निर्देश दिया गया है। लिंगधारी से अभिप्रेत है कि जैसे सन्यासी अपने साथ दण्ड रखते हैं उसी प्रकार इन्हें भी अपने साथ सदा शिवलिंग रखना चाहिए।

इस ग्रन्थ में जो भी निर्देश दिये गये हैं वे अतिवादी या कट्टरवादी हैं। पर ऐसा क्यों? इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि विदेशियों से अपने धर्म को बचाये रखने के लिये इस धर्म में कट्टरता अपनाई गई। इस प्रकार लकुली ने इन आदर्शों की स्थापना के द्वारा इस सम्प्रदाय में शुद्धता बनाये रखने का प्रयास किया। यही कारण है कि रूढ़िवादी पाशुपतों द्वारा यह सम्प्रदाय निन्दित माना जाता था।

(ii) पाशुपत सम्प्रदाय

दूसरी ओर हम देखते हैं कि नई विदेशी शक्तियों के आगमन से कारण इस सम्प्रदाय में कुछ उदारता अपनाई गई जिससे विदेशियों को भी इसमें सम्मिलित किया जा सके। इसी से ईस्वी सन् के प्रारम्भिक काल में शैव धर्म के उदारवादी दृष्टिकोण में प्रमुखता पाशुपत सम्प्रदाय को मिलती है। आर. पी. चन्दा के अनुसार इस समय शैव धर्म में अनार्य परम्परा प्रविष्ट हो गई थी। पुरातन वैदिक कालीन रुद्र पूजा की अपेक्षा अब शैव धर्म में पर्याप्त भिन्नता थी। यह बात दक्ष की ज्ञान क्रिया से स्पष्ट होता है कि उन्होंने अपने यज्ञ में शिव को स्थान नहीं दिया। उनके विषय में दक्ष ने कहा था कि माहेश्वर कौन है ? जबकि ग्यारह रुद्रों की उन्हें जानकारी थी। उमा के साथ दक्ष द्वारा किये गये दुर्व्यवहार तथा अपने प्रति उनकी उपेक्षात्मक दृष्टि के शंकर ने कुपित होकर वीरभद्र को उत्पन्न किया तथा उमा ने काली को, जिन्होंने उस यज्ञ को विध्वंस कर दिया। दक्ष के प्रार्थना करने पर शंकर ने उन्हें समझाते हुए कहा कि-'इस धर्म की स्थापना मैंने की है जो अद्वितीय है तथा प्रत्येक दृष्टि से लाभकारी है। यह वेदों के वर्णाश्रम व्यवस्था का विरोधी है। यही धर्म पाशुपत नाम से प्रसिद्ध है।' महाभारत में एक ऐसे सम्प्रदाय की चर्चा की गयी है जो किसी भेद-भाव को नहीं मानता तथा योग के द्वारा सबके लिए मोक्ष का मार्ग प्रशस्त करता है।

ये सभी सिद्धान्त तथा वीरभद्र और काली की आकृतियाँ एवं उनका भयावह स्वरूप द्रविड़ परम्परा की उपज प्रतीत होती हैं। ये सभी परम्पराएँ पीछे शैव धर्म में आत्मसात कर ली गईं। हापकिन्स ने भी इन्हें स्थानीय देवता माना है जो क्रमशः शैव धर्म में शिव के साथ उनके स्वरूप तथा पत्नी के रूप में समाहित किये गये।

शैव धर्म में पाशुपत सम्प्रदाय अत्यन्त महत्वपूर्ण है जिसमें शिव को पति के रूप में पूजा जाता है। यहाँ पशुओं के अंकन के पीछे यह धारणा लगती है कि मनुष्यों को ही पशु रूप में माना गया है जो पाश अर्थात् सांसारिक बंधन में फँसे पड़े हैं। चूँकि शिव ही मनुष्य को बंधनमुक्त करते हैं अतः इनको पशुपति नाम से सम्बोधित किया गया है।

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

इस समय यह सम्प्रदाय भारतीय तथा विदेशी संरक्षण में भी फैला। माउवेस के कुछ सिक्कों पर वज्र तथा त्रिशूलधारी शिव की आकृति अंकित हैं। पर इसमें परम्परागत पाशुपत प्रवृत्ति नहीं दिखती। इसी प्रकार पार्थियन शासक गण्डोफरर्नीज के सिक्कों पर भी शिव अपने बायें हाथ में चर्म का वस्त्र धारण किये हुए अंकित हैं। कुषाण शासक कुजुल कडफाइसिस के सिक्कों पर वह चर्म का उत्तरीय धारण किये चित्रित किये गये हैं। विम के सिक्कों पर एक देवता अंकित है जिसके दाहिने हाथ में त्रिशूल और कुल्हाड़ी है तथा वहाँ उसका नाम माहेश्वर भी अंकित किया गया है। इसी प्रकार यवन-भारतीय (ग्रीक बख्त्री) सिक्कों पर कूबड़दार बैल का अंकन है। यह कूबड़दार बैल शिवनन्दी के प्रतीक के रूप में बनाया गया है। उत्तर-पश्चिम्र तथा पश्चिम से प्राप्त ये सिक्के परिचायक हैं कि यह क्षेत्र जो विदेशी शासकों के प्रभाव में था वहाँ इन बलापहारियों के संरक्षण में शैव धर्म के इस सम्प्रदाय का विकास होता रहा। विदेशी संरक्षण के पीछे कारण रहा होगा कि विदेशों में भी पहले से शैव धर्म व्याप्त था। अत: उन्होंने यहाँ भी इसे अपना संरक्षण दिया।

पूरब की ओर बढ़ने पर भीटा, बसरा आदि स्थानों से पूर्वगुप्त कालीन मुहरें प्राप्त हुई हैं। इनसे स्थानीय शासकों द्वार इसके प्रसार का ज्ञान प्राप्त होता है। बसरा से प्राप्त एक मुहर पर जो इस काल की है 'नमः पाशुपते' अंकित है। महाभारत के एक प्रसंग में कृष्ण ने युधिष्ठिर से कहा है कि जरासंघ के रहते तुम इसमें नहीं सम्मिलित हो सकते क्योंकि उसने सहस्रों राजाओं को जीतकर राजगृह (गिरिव्रज) की पहाड़ियों में इसलिए बन्दी बना रखा है कि वह उन्हें महादेव के सम्मुख बलिदान करेगा। उसके ऐसा करने का कारण भी बताया गया है कि शिव की भयानक पूजा के द्वारा उसने उनपर विजय प्राप्त की थी। इस प्रसंग से स्पष्ट है कि इस समय शंकर की पूजा में बलिदान भी चढ़ाया जाता था। जहाँ ये राजा बंदी बनाये गये थे उसके लिए 'पाशुपति गृहे' का उल्लेख है। यहाँ पाशुपतिगृह से अभिप्राय शिव मंदिर से है।

(iii) नये सम्प्रदायों का उदय

[अ] अघोर सम्प्रदाय

पीछे चलकर शैवधर्म में एक नये सम्प्रदाय अघोरपंथ का उदय हुआ। इसकी एक झलक वैदिक परम्परा से शिव की पूजा करने की है। महाभारत में उसी का पूर्व रूप देखने को मिलता है। शान्ति पर्व में वर्णित है कि ब्रह्मचर्य रहकर सन्यास की क्रियाओं के द्वारा आत्मनियंत्रण के साथ वैदिक विधि से त्रिशूलधारी देवता का पूजन अश्वस्थामा ने किया था। इस पूजा में उसने स्वर्ग से उतरते हुए दैवीय विपान को देखा था जिसमें ज्वाला फूट रही थी तथा इसमें लदे हुए बहुत से विभिन्न जानवर थे जिनके अंगों से अग्नि लपटें निकल रही थीं। ये जानवर रक्तपान के द्वारा मोटे हो गये थे। अघोर सम्प्रदाय की विशेषता है रक्तपान तथा अंगों की विकारलता। इस दृष्टि से लगता है कि यह अघोरपंथियों का पूर्व प्रसंग रहा होगा।

[ब] अर्द्धनारीश्वर सम्प्रदाय

डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल को मथुरा से कुषाण कालीन अर्द्धनारीश्वर की एक मूर्ति मिली है। इस मूर्ति का आधा भाग पुरुष (शिव) का है और आधा स्त्री (पार्वती) का। पुरुष

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

तत्व के साथ स्त्री तत्व का यह संयोग अत्यन्त विलक्षण है। लगता है दोनों ही तत्व एक में समाहित थे। पुराणों के अनुसार जब ब्रह्मा ने रुद्र से अपने अंश को विभक्त करने को कहा तो दोनों तत्व (पुरुष और स्त्री) एक ही साथ विलग हो गये। डॉ. चट्टोपाध्याय ने ऐतिहासिक दृष्टि से इस कथा को बहुत महत्व नहीं दिया है। अत: उन्होंने इसकी व्याख्या को उत्तर द्रविड़ परम्परा में खोजने का प्रयास किया हैं। धर्म और आचार के विश्वकोष में एक परम्परा का उल्लेख है कि लोगों में विश्वास है कि प्रत्येक वर्ष खलिहान के बाद पृथ्वी की शक्ति समाप्त हो जाती है और पुन: उत्पादन के समय वह नये रूप में एक नयी क्रियाओं के लिए नवजीन प्राप्त करती है। यह भाव अनेक जातियों में अभी भी विद्यमान है। सम्भव है अर्द्धनारीश्वर के पीछे यही भावना रही हो। पर उपनिषदों में आत्मापुरुष को उभयलिंगी कहा गया है। यही पुरुष तथा स्त्री सभी को अपने में से विभाजित करती है। कठोपनिषद् में सृष्टि की रचना के लिए ही प्रजापति को उभयलिंगी होना बताया गया है। डॉ. दाण्डेकर (Dr. R. N. Dandekar) तथा गुण्टरेट (Guntrate) ने यमयमी की ऋग्वैदिक कथा के साथ शिव और शक्ति का सम्बन्ध जोड़कर अर्द्धनारीश्वर सम्प्रदाय की उत्पत्ति बताया है। डॉ. चट्टोपाध्याय ने शिव और विष्णु के संयोग से इसकी उत्पत्ति बताया है। इसकी पुष्टि के लिए हुविष्क के एक सिक्के का उदाहरण लिया जा सकता है जिस पर अंकित शिव के हाथ में चक्र के साथ त्रिशूल और वज्र है। इसी भावना के पीछे हरिवंश पुराण में हरिहर की भावना को स्थान दिया गया है। इस प्रकार दोनों सम्प्रदाय शैव और वैष्णव एक दूसरे के समीप आ गये। इस मूर्ति में शिव पुरुष रूप में अंकित हैं और विष्णु शक्ति के रूप में। यहाँ उल्लेखनीय है कि इस मान्यता को स्वीकार करने के पीछे कारण है कि ऋग्वेद में रुद्र और सोम का सम्बन्ध बताया गया है। महाभारत में रुद्र को अग्नि के रूप में तथा विष्णु को चन्द्र (सोम) के रूप में प्रदर्शित किया गया है। इसलिए हरिहर प्रतिमाओं में शिव का रूप वैसा ही है जैसा अर्द्धनारीश्वर प्रतिमाओं में शिव का। अत: हरि के स्थान पर अर्द्धनारीश्वर प्रतिमाओं में शक्ति ने स्थान लिया है।

इस सम्बन्ध में जे. एस. तारपोरवाला (J. S. Tarporwala) ने सुझाया है कि ईश्वर में त्रिगुणात्मक शक्ति होती है– सत्, चित् और आनन्द। चूँकि मानव ईश्वर की सृष्टि है अत: वह भी त्रिगुणात्मक शक्तियुक्त होता है। सत् उसका वास्तविक स्वरूप होता है। चित् उसके बाह्य जगत की चेतना होती है। जब ये दोनों परस्पर मिल जाते हैं तो वह सामान्य स्थिति से बहुत ऊपर उठकर आनन्द की कोटि में पहुँच जाता है। यहाँ आनन्द की स्थिति दोनों की समन्वयक स्थितियाँ होती है। दूसरी दृष्टि से सत् और चित् परब्रह्म परमात्मा में स्थिति क्रमश:-पितृ और मातृ तत्व के बोधक हैं और आनन्द की स्थिति वह है जिसमें ये दोनों तत्व एक ही में समग्रता में समाहित हो जाते हैं। यही स्थिति शिव और शक्ति के समाहित स्वरूप अर्द्धनारीश्वर का होता है। इस एकाकार में द्वितीय पक्ष का कोई महत्व नहीं रहता– 'एकमेवाद्वितीयम्'।

बाइबिल में भी सर्ग सम्बन्धी अध्याय में वर्णित है कि ईश्वर ने मनुष्य रूप में अपनी ही प्रकृति बनाई और उन्होंने उसे ही पुरुष और स्त्री में सृष्टि की। जब दोनों का एकाकर होता है तो आनन्द का दर्शन होता है। यही स्थिति भारतीय दर्शन में समत्व या योग की है-समत्वं योग उच्यते। विषमताओं से आवृत्त होकर भी चित्तशक्तियों को शान्त बनाये रखना ही योग है। यही अर्द्धनारीश्वर के विग्रह की अभिव्यक्ति हुई।

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

[द] गुप्तकाल

वैष्णव धर्म की तरह शैव धर्म भी गुप्त काल में एक अत्यन्त विकसित धर्म था, यद्यपि गुप्त शासकों ने वैष्णव धर्म को अपना राज्यधर्म बनाया था तथा इसके विकास में अत्यधिक योगदान दिया था। इसी से उनकी उपाधि परम-भागवत, परम-वैष्णव आदि मिलती है तथा उनके सभी सिक्कों पर गरुड़ चिन्हांकित राजदण्ड (Garud Standard) प्राय: दाहिनी ओर अंकित किया गया है। पर किसी भी गुप्त शासक ने शैव धर्म का विरोध किया हो तो ऐसा किसी भी स्रोत से ज्ञात नहीं। यही कारण है कि प्राय: गुप्त शासकों के काल के शिवलिंगों की प्राप्ति विभिन्न स्थानों से हुई है जो अधिकांश लेखयुक्त हैं। यह इस धर्म की व्याप्तता का परिचायक है। इसी से दोनों धर्म इन शासकों के राज्य में साथ-साथ विकसित होते रहे। पुरातात्विक तथा साहित्यिक दोनों ही स्रोत इसके विकास का परिचय देते हैं। इसकी पीठिका पहले से ही चली आ रही थी। गुप्त शासकों के आगमन के पूर्व और कुषाण राजाओं के बाद भारशिव वंश के राजाओं के शासन का ज्ञान मिलता है। भारशिव नामकरण का कारण ही प्रतीत होता है कि वे अपने साथ शिवलिंग लिये रहते थे। सम्भवत: उसी के भार वाहन करने के कारण ये भारशिव कहलाये होंगे।

पहला गुप्त शासक जिसके विषय में व्यापक ज्ञान प्राप्त होता है वह है-समुद्रगुप्त। यह वैष्णव धर्मानुयायी था। हरिषेण की प्रयागप्रशस्ति में उसकी संगीत कला की समता तुम्बरू के साथ की गई है। तुम्बिरू गांधार देश में तांत्रिकों द्वारा शैव धर्म के एक स्तम्भ माने जाते थे। इनको साक्षात शिव माना जाता था। पी. सी. बागची ने महाभारत के आधार पर गांधार देश में तम्बरू शिव के होने का उल्लेख किया है। इससे स्पष्ट है कि समुद्रगुप्त के समय शैव देवताओं की मान्यता समाज में स्थापित हो चुकी थी। चन्द्रगुप्त द्वितीय का संधि-विग्राहक मन्त्री वीरसेन शाव पाटलिपुत्र का रहने वाला था जिसने उदयगिरि गुफा में शिव का मन्दिर बनवाया था। इससे ज्ञात होता है कि वैष्णव धर्मानुयायी चन्द्रगुप्त द्वितीय के दरबारी और अधिकारी शैव धर्मनुयायी भी थे। शैव धर्म का प्रसार उस समय पाटलिपुत्र में था और उड़ीसा में भी। तभी पाटलिपुत्र के निवासी शिवभक्त वीरसेन शाव ने उड़ीसा में शैव मन्दिर बनवाया होगा। इसी शासक के मथुरा स्तम्भ लेख से ज्ञात होता है कि 'उपमितेश्वर' और 'कपिलेश्वर' नामक दो लिंगों की स्थापना 'गुरुवायतन' में की गई थी। डॉ. भण्डारकर ने 'गुरुवायतन' से अभिप्राय मन्दिर से लिया है। इसका प्रयोग उनकी दृष्टि में उस मन्दिर के लिए किया गया होगा जो उदिताचार्य नामक पाशुपत अनुयायी के गुरुओं की स्मृति में बनाकर उसमें इन लिंगों की स्थापना की गई होगी। इन लिंगों पर गुरुओं की आकृतियाँ बनी हैं। इसका कारण यह रहा होगा कि जिस प्रकार वेदन्ती मरने पर ब्रह्म में विलीन हो जाता है उसी प्रकार ये शैव गुरुओं का भी मरने पर शिव में विलीन होना माना गया था। कुमारगुप्त प्रथम के शासन काल में फैजाबाद के पास करमदण्डा नामक स्थान से प्राप्त शिवलिंग पर अंकित अभिलेख से उसके मंत्री और बलाधिकृत पृथ्वीसेन द्वारा शिव मन्दिरों को दान दिये जाने का ज्ञान प्राप्त होता है। इससे स्पष्ट है इस वैष्णव क्षेत्र में भी शैव धर्म का विकास साथ-साथ हो रहा था। साथ ही वहाँ देवद्रोणी शब्द का उल्लेख सम्बोधित करता है कि शिव का जलूस भी निकाला जाता था। इस धर्म की महत्ता इस बात से भी स्पष्ट है कि इस अभिलेख

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

का प्रारम्भ **'नमो महादेवाय'** से हुआ है। स्कन्दगुप्त का एक सामन्त था हस्तिन। वह शैव धर्मानुयायी था। स्कन्दगुप्त के कुछ सिक्कों पर बैल की आकृतियाँ अंकित मिली हैं। नन्दी शिव का वाहन है। अतः बैल का चिन्ह शिव के प्रतीक रूप में शैव धर्म में मान्यता प्राप्त है।

लिंगों के निर्माण की एक लम्बी परम्परा गुप्तकाल में ज्ञात होती है। अनेक स्थानों से विविध प्रकार के शिव लिंग इस काल के स्तरों से खुदाई में प्राप्त हुए हैं। कुछ पर केवल लिंग है और कुछ पर मुख बना है जिनमें एकमुखी, चतुर्मुखी तथा पंचमुखी लिंग भी हैं। खोह, भूमरा, शंकरगढ़ आदि से भी शिवलिंग मिले हैं। बुद्धगुप्त के दामोदरपुर अभिलेख में कोकमुख स्वामी का उल्लेख है जो शिव ही हैं। वैन्यगुप्त के गुनैघर अभिलेख से ज्ञात होता है कि उसने अपने पूर्वजों की धार्मिक आस्था को त्यागकर वैष्णव के स्थान शैव धर्म स्वीकार कर लिया था। शंकर के अनेक नाम इस काल के अभिलेखों से ज्ञात होते हैं यथा-हर, ईश, भूतपति, शूलपाणि, शम्भु, शिव, सर्व कपिलेश्वर, महेश्वर, पिनाकी, स्थाणु आदि। समुद्रगुप्त की प्रयागप्रशस्ति में पशुपति के जटाजूट से गंगा के निकलने का उल्लेख है।

समकालीन शासकों के समय की पुरातात्विक उपलब्धि से भी इस धर्म के विकास पर प्रकाश पड़ता है। मग शासक भीमबर्मन के समय की, जो स्कन्दगुप्त का समकालीन था, शिव-पार्वती की प्रतिमा कौशाम्बी से मिली है। परिव्राजक हरिस्तन के अभिलेख से ज्ञात होता है कि वह शैव था। बल्लभी के मैत्रक शासकों की उपाधि उनके अभिलेखों से परम माहेश्वर ज्ञात होती है। मौखरी शासक भी शैव थे तभी ईशान वर्मा के हारहा अभिलेख के प्रथम दो श्लोक शिव की प्रार्थना में लिखे गये हैं। उसके पुत्र सर्वर्मन के असीरगढ़ मुहर से उसका शैव होना ज्ञात होता है। अनन्तवर्मन नामक मौखरी शासक ने वाराबरकी गुफा में शिव की मूर्ति स्थापित किया था जो आज भी है। वाटक नरेश भी शैव थे। हूण शासक मिहिरकुल शैव था जैसा ग्वालियर अभिलेख से ज्ञात होता है। यशोधर्मन का मन्दसौर अभिलेख भी उसे स्थाणु (शिव) का उपासक बताता है। शालंकायन, नल, कदम्ब आदि वंश के शासक भी शैव थे। उदयपुर में एकलिंग जी के समीप स्थित नाथ मन्दिर के एक लेख में लकुटधारी शिव का भरुकच्छ में उत्पन्न होकर भृगु से उपदेश प्राप्त करने का उल्लेख है। साथ ही कुशिक आदि का पाशुपति योग में निष्णात होने, वृक्ष की छाल पहनने, भस्म लगाने, जटाजाल रखने आदि की भी चर्चा हैं। चिन्त्रा प्रशस्ति में शिव के भट्टारक लकुलीश के रूप में अवतरित होने का वर्णन है जो कायारोहण (लाट-गुजरात देश) में रहते थे। वहाँ उनके चार शिष्य कुशिक, गार्ग्य, कौरुष और मैत्रेय हुए जो पाशुपत सिद्धान्तों का पालन करते हुए उससे विकसित चार शाखाओं के संस्थापक बने।

गुप्तकाल के शिव मन्दिरों में विविध प्रकार के लिंगों की स्थापना की गई है-एकमुखी, चतुर्मुखी, पंचमुखी, सद्योजात, वामदेव, अघोर, तत्पुरुष और ईशान आदि। प्रतीकात्मक लिंग शिव परिवार की स्वतंत्र मूर्तियाँ भी इस काल की प्राप्त हुई हैं। लकुलीश की मूर्ति चन्द्रगुप्त द्वितीय के पांचवें राजवर्ष के मथुरा वाले स्तम्भ पर लकुट लिए त्रिनेत्रधारी मिली है। इसी प्रकार की आयागपट्टयुक्त व्याख्यान मुद्रा में बैठी शिव मूर्ति मिली है। इनमें कौशाम्बी से प्राप्त शिव पार्वती की स्वतंत्र मूर्ति तथा ग्वालियर संग्रहालय में बैठी शिव पार्वती की मूर्ति, मथुरा से अर्द्धनारीश्वर की मूर्ति, दिल्ली के राष्ट्रीय संग्रहालय तथा पटना संग्रहालय में मुण्डेश्वरी, जिला शाहबाद से

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

प्राप्त विष्णु के साथ शिव की हरिहर मूर्ति है। पुन: मुण्डेश्वरी से मिली पार्वती की मूर्ति, शिव परिवार-कार्तिकेय का मयूर पीठासीन भारतीय कलाभवन काशी तथा पटना संग्रहालय की मूर्तियाँ, उदयगिरि से महिषासुरमर्दिनी की मूर्ति, भूमरा से गणेश की एक खण्डित मूर्ति आदि भी इस समय मिली हैं जो इस धर्म की प्रधानता की परिचायक हैं। मृणमूर्तियों में भी शिव परिवार की मूर्तियाँ बनने लगी थीं। भीतरगाँव (कानपुर) से प्राप्त क्षतिग्रस्त फलकों में गणेश, दुर्गा की पहचान की गई है। अहिछत्र के उत्खनन से प्राप्त गुप्तकालीन शिवमन्दिर के फलकों पर शिवचरित का अंकन मिला है।

शिव मन्दिरों के निर्माण की बहुलता इस समय रही है। शंकरगढ़ (मध्यप्रदेश) का शिव मन्दिर, भूमरा का शिव मन्दिर (जबलपुर-इटारसी रेलमार्ग पर उचाहार रेलवे स्टेशन म.प्र. के पास) नचना-कुठार का पार्वती मन्दिर (भूमार के पास अजयगढ़ के निकट म. प्र.), अहिछत्र (बरेली, उ.प्र.) का शिव मन्दिर इस बात का परिचायक है कि शैव धर्म यहाँ जनमानस में व्याप्त था।

साहित्यिक ग्रन्थों से भी इस धर्म के प्रसार पर प्रकाश पड़ता है। गुप्तकालीन साहित्यकारों में सर्वश्रेष्ठ स्थान है कालिदास का। वह शिव के अनन्य भक्त थे। उज्जैन के महाकालेश्वर मन्दिर के प्रति उनकी घनिष्ठ श्रद्धा ज्ञात होती है। इसका ज्ञान उनके काव्य मेघदूत से मिलता है। इसमें उन्होंने बड़े ही आस्था से महाकाल के मन्दिर का वर्णन किया है तथा उनकी स्तुति की है। उनकी दूसरी कृति कुमार सम्भव में देवताओं की प्रेम-क्रीड़ा का वर्णन है। यह काव्य हिमालय पुत्री पार्वती और शिव के प्रेम से प्रारम्भ होकर उनके विवाह तथा कुमार कार्तिकेय के जन्म के साथ समाप्त होता है। उनकी अन्य कृतियाँ रघुवंश, अभिज्ञानशाकुन्तलम आदि सभी शिव की उपासना से प्रारम्भ होती हैं। इनमें शिव के विभिन्न रूपों तथा गुणों की चर्चा की गई है। विक्रमोर्वशी में अर्जुन द्वारा शिव की उपासना के किए जाने का उल्लेख है। कुमार सम्भव में वाक् और अर्थ की तरह आपस में जुटे तथा अलग जगत पिता और माता-परमेश्वर (शंकर) और पार्वती की वंदना की गई है। **'वागर्थविव सम्पृक्तौ वगर्थ प्रतिपत्तये, जगतं पितरौ बन्दे पार्वती परमेश्वरौ'**। यह शंकर के अर्द्धनारीश्वर स्वरूप को व्यक्त करता है। कुर्किहार से अष्टधातु की एक ऐसी ही मूर्ति तथा वैशाली की मुहरों पर अंकित इसी प्रकार की मूर्तियाँ मिली हैं। कालिदास ने अपने ग्रन्थों में शिव, विष्णु और ब्रह्मा इन त्रिदेवों की उपासना की हैं। कला में भी एक मूर्ति में त्रिमूर्ति की प्रतिस्थापना है। ऐसी भावना अद्वैत की बोधक है। इस प्रकार की एक मूर्ति एलिफैन्टा से भी प्राप्त हुई है जिसमें एक ही साथ तीनों देव अंकित हैं। इस समय उत्तर तथा दक्षिण भारत में शैवों और वैष्णवों के बीच संघर्ष था। कालिदास ने इसको समन्वित करने के लिए द्विदेव भी कल्पना की ओर दोनों को समान स्तर पर ला दिया। इसको कला में हरिहर मूर्तियों द्वारा प्रकट किया गया है जो इस समय की बहुतायत से मिली हैं। इनमें एक ही मूर्ति में आधे में शंकर हैं और आधे में विष्णु। शंकर की मूर्ति में त्रिशूल, जटाजूट, पाश और मृगचर्म है तो विष्णु की मूर्ति में शंख, चक्र और किरीट मुकुट है। शिव की अष्टमूर्ति का उल्लेख भी कालिदास ने किया है। इसके द्वारा उन्होंने प्रकृति के आठ तत्वों-जल, पावक, समीर, क्षिति, सूर्य, भीम, उग्र और महादेव तथा आठ प्रतीकों-जल, अग्नि, होता, आकाश, सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी और वायु को प्रतिरूपित किया है। गोकर्ण के शिव, काशी के विश्वनाथ तथा उज्जैन के महाकाल नामक ज्योर्तिलिंगों का उल्लेख भी इनके ग्रन्थों में मिलता है।

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

इसी समय पुराणों का भी संकलन हुआ था। इनमें शैव धर्म की भी व्यापक चर्चा है। कुछ पुराण तो शिव से ही सम्बन्धित हैं जैसे लिंग, शिव, मार्कण्डे, स्कन्द, वायु आदि। स्कन्द पुराण में रुद्र ने एक स्थल पर कहा है कि सृष्टि के आदि में मैं ब्रह्मा से भी पहले था। अब इस समय मैं ही ईश्वर हूँ और भविष्य में भी रहूँगा–

अहमेको जगद्धातुरास प्रथमीश्वरः
वर्तामि च भविष्यामि मत्तोऽन्योऽस्ति कश्चन।।

वायुपुराण में शिव के २८ अवतारों का उल्लेख है तथा उन स्थानों की भी चर्चा है जहाँ ये अवतार हुए थे जैसे हिमालय, गंगाद्वार (हरिद्वार), वाराणसी, कालंजर, कायारोहण (बड़ौदा) आदि। इससे शैव धर्म के विस्तार का ज्ञान मिलता है। यहाँ वर्णित है कि देवताओं में महान होने के कारण शिव को महादेव कहा गया है– **देवेसु महान देवो महादेवस्ततः स्मृतः**। लिंग पुराण में वाणासुर द्वारा शिवलिंग को सिर पर रखकर पूजा करने का उल्लेख है।

इस काल का दूसरा महत्वपूर्ण ग्रन्थ है कौण्डिन्य द्वारा रचित पाशुपतसूत्र की व्याख्या। इसमें लकुली के जीवन, पंचमंत्रों, पाशुपतमत के उपासकों के जीवन के चार विकासमान सोपानों, पंचरथों आदि की चर्चा की गई है। इसमें नई क्रियाओं का विधान है जो पूर्ववैदिक परम्परा से पूर्णतया भिन्न हैं। पर डॉ. दासगुप्ता (Dr. Das Gupta) के अनुसार इसने कहीं भी अपने स्रोत के रूप में द्रविड़ ग्रन्थों का उल्लेख नहीं किया है।

[य] हर्ष और पूर्व-मध्य काल

शैव धर्म के विकास का यह एक समुन्नत काल था। इस समय उत्तर-भारत के राजवंश प्रायः शैव धर्मानुयायी थे। बांसखेड़ा ताम्रपत्र में हर्ष को 'परममाहेश्वरोमहेश्वरइव' सम्बोधित किया गया है। ह्वेनसांग नामक चीनी यात्री जो इस समय भारत में आया था उसने इस धर्म का प्रधान केन्द्र वाराणसी बताया है। उसके अनुमान के अनुसार उस समय वहाँ सौ शिव मन्दिर थे तथा लगभग एक हजार से अधिक लोग शैव धर्मानुयायी थे। हर्ष का समकालीन शासक बंगाल का गौडाधिपति शाशांक तथा आसाम का भास्करवर्मन था। ये दोनों ही शैव थे। उत्तर भारत से प्राप्त अनेक प्रशासनिक अभिलेखों में शिव की वंदना की गई है। अभिलेखों के प्रारम्भ में प्रायः 'ओम् नमः शिवाय' का उल्लेख है तथा बीच में भी शिव की बड़ी ही भावप्रधान वंदना की गई है। शैव धर्मावलम्बियों के लिए शिव का स्थान अत्यन्त समादृत था। एक कलचूरी अभिलेख में शिव को परब्रह्म, देवदेव तथा जगतगुरु कहकर सम्बोधित किया गया है। अन्य कलचूरी अभिलेखों में शिव की स्तुति की गई है। भेड़ाघाट अभिलेख में इनको 'कल्याणपति' तथा 'भालेन्दु' विशेषणों से उद्बोधित किया गया है। उदयपुर प्रशिस्त में शम्भू को भुजंगमाल से सुशोभित तथा गंगाम्बु से सिक्त कहा गया है। राजपूत राजघराने के गहड़वाल, परमार, चन्देल, चौहान आदि शासकों के शैवानुयायी होने की बात उनके अभिलेखों से ज्ञात होती है। इन अभिलेखों में शिव को विभिन्न नामों से सम्बोधित किया गया है-नीलकण्ठ, महादेव, पशुपति, उमापति, सदाशिव, परममाहेश्वर, अर्द्धनारीश्वर, रामेश्वर, केदारेश्वर आदि। यह प्रयोग इस देव की व्यापकता और सार्वजनीनता का बोधक है।

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

इस समय शिव के विविध रूपों और मुद्राओं में बनी मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। सामान्यतया तो शिवलिंग और शिव-पार्वती की मूर्तियाँ परम्परागत रूप में प्राप्त होती हैं। अब शिव नटराज की मूर्तियाँ भी बनने लगीं। जहाँ दक्षिण भारत में शिव-नटराज की चतुर्भुजी मूर्तियाँ बनी थीं जो अप्समार दैत्य पर खड़े होकर नृत्य कर रहे हैं वहीं बंगाल से इससे भिन्न दसभुजी शिव की मूर्तियाँ इसी मुद्रा में वृषभ पर खड़े होकर नृत्य करती हुई मिली हैं। सेन राजाओं के सिक्कों पर अर्द्धनारीश्वर की बनी हैं। इसमें उमा शंकर के बाये जंघे पर बैठी आलिगन मुद्रा में प्रदर्शित की गई हैं।

अभिलेखों से ज्ञात होता है कि एकान्त स्थानों में शैव मठों को स्थापित किया जाने लगा था। इनके व्यय के लिए राजाओं द्वारा दान दिया जाता था। राजस्थान में ऐसे अनेक मठों के होने का ज्ञान मिलता है। इनमें रहने वाले सन्यासियों की सुविधा के लिए तालाब, उद्यान आदि भी बने थे। इसके वासियों की व्यवस्था के लिए गाँव दान दिया जाता था। कभी-कभी ये मठ शिव मन्दिर के पास ही बनाये जाते थे। इनका उद्देश्य था कि शैव योगी यहाँ रहकर साधना कर सकें।

इस समय शिव मन्दिर भी बनने लगे थे जो गुप्तकाल से मिलने लगे थे। पालशासक नारायण पाल देव यद्यपि बौद्ध धर्मानुयायी था पर प्राप्त वर्णन के अनुसार उसने एक हजार शिव मन्दिरों का निर्माण कराया था। चन्देल शासकों ने खजुराहों में अनेक शैव मन्दिर बनावाये थे जिनमें कन्दरिया महादेव का मन्दिर अपनी एक अलग महत्ता रखता है। चेदि तथा परमार शासकों के अभिलेखों में भी शिव मन्दिर के निर्माण का उल्लेख मिलता है। चालुक्य नरेश भीम शैवोपासक था। उसने गुजरात में सोमनाथ का मन्दिर बनवाया था। जब इसको महमूद गजनवी ने तोड़ा तो कुमारपाल ने इसका पुनर्निर्माण कराया था। इसी प्रकार बंगाल, उड़ीसा, मध्यप्रदेश, बिहार, उत्तर प्रदेश, राजस्थान, गुजरात आदि सभी जगह शिव मन्दिर थे।

साहित्यक साक्ष्यों से भी शैव धर्म के प्रसार पर व्यापक प्रकाश पड़ता है। शंकर ने ब्रह्मसूत्र पर व्याख्या करते हुए कहा है कि शैवों का कहना कि शिव ही संसार के निमित्त कारण हैं, उचित नहीं प्रतीत होता। यह सृष्टि ज्ञान के सिद्धान्त के विरोध में है। भामती नामक ग्रन्थ में मित्रमिश्र ने बताया है कि माहेश्वर चार वर्गों में विभक्त थे शैव, पाशुपत, कारुणिक सिद्धान्तिक और कापालिक। शिवपुराण, लिंग पुराण तथा कूर्म पुराण में पौराणिक शैव धर्म की चर्चा प्राप्त होती है इसमें वैदिक विचारों की प्रधानता नहीं है बल्कि व्यवहारिक क्रियाओं की ही प्रधानता है। इसे स्मार्त-शैव धर्म कहा जा सकता है। इसकी व्यापक चर्चा कूर्म पुराण से प्राप्त होती है। इस समय शैव धर्म में तांत्रिक प्रभाव बढ़ने लगा था जिसका ज्ञान कुंजिकामत तंत्र नामक पाण्डुलिपि से प्राप्त होता है। आगम-शैव धर्म में इसका विशेष प्रभाव दीखता है। डॉ. फारुकहार (Dr. Farukhar) के अनुसार आगम से स्पष्ट है कि शाक्तों के तांत्रिक विचार विचार शैव धर्म में समन्वित होने लगे थे। इनके ग्रन्थ आगमों की रचना भी इसी समय हुई। इस समय पाशुपत सम्प्रदाय में तीन विभाग थे– लकुलीश, कापालिक और कालामुख। दूसरा सम्प्रदाय विकसित हुआ वीरशैव या लिंगायत। तीसरा सम्प्रदाय कश्मीरी शैव सम्प्रदाय का भी प्रारम्भ यहीं से हुआ।

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

(i) लकुलीश सम्प्रदाय

लकुलीश उपसम्प्रदाय के संस्थापक थे लकुली जिनकी चर्चा पहले की गई है। इनकी अनेक मूर्तियाँ इस समय की प्राप्त हुई हैं। लाट और राजस्थान इस उपसम्प्रदाय के महत्वपूर्ण केन्द्र थे। वायु पुराण में लकुली को शिव का अट्ठाहरवाँ अवतार बताया गया है। इस सम्प्रदाय के अनेक आचार्य थे जिनकी सूची पाशुपतसूत्र नामक ग्रन्थ से प्राप्त होती है। ह्वेनसांग के विवरण से ज्ञात होता है कि इसके प्रमुख केन्द्र थे– केदार, प्रयाग, श्रीपर्वत, रामेश्वर, प्रभासक्षेत्र आदि।

(ii) कापालिक सम्प्रदाय

कापालिक तांत्रिक भावना से पूर्ण प्रभावित थे। ये तांत्रिकों की तरह खोपड़ी में खाना खाते थे, उसी में पानी पीते थे। अत: ये खोपड़ी को सदा अपने साथ रखते थे। ये अतड़ियों की माला पहनते थे या उसको अपने साथ लिए रहते थे। ह्वेनसांग ने इनका प्रमुख स्थल कपिशा बताया है। लेवी (S. Levi) के अनुसार मध्य एशिया में यहूदियों के बीच भी यह परम्परा व्यापक थी। शंकरदिग्विजय नामक ग्रन्थ में इनका प्रधान केन्द्र उज्जैन बताया गया है। इनकी दो शाखाओं का ज्ञान मिलता है-ब्राह्मणवादी तथा अब्राह्मणवादी। ब्राह्मणवादी कापालिक जाति प्रथा और वेद को मानते थे। पर अब्राह्मणवादी इन दोनों के विरोधी थे। अब्राह्मणवादी कापालिकों की प्रधानता दक्षिण भारत में ही थी। ये नरबलि चढ़ाते थे। भवभूति के मालतीमाधव नामक ग्रन्थ में इसी प्रकार के एक कापालिक पुजारी अघोरघण्ट का उल्लेख मिलता है।

(iii) कालामुख सम्प्रदाय

पाशुपत सम्प्रदाय का एक दूसरा उपसम्प्रदाय का कालामुख। ये कापालिकों के ही समीप थे। किन्तु कापालिकों का सर्वाधिक अतिधर्मी मार्ग इसे माना जा सकता है। इसमें मोक्ष की प्राप्ति के लिए निम्न क्रियाओं की प्रधानता थीं–

१. कपाल (खोपड़ी) में भोजन करना
२. श्मशान पर जले हुए शव का भस्म अपने शरीर में लगाना
३. श्मशान की राख तथा घृणित पदार्थ खाना
४. दण्ड धारण करना
५. सुरा-पात्र सदा साथ रखना
६. ईश्वर को इसी के अन्दर स्थापित मानकर उसकी पूजा करना
७. भैरव को प्रधान उपास्य देव मानना
८. एक हाथ में नर-कपाल तथा दूसरे में लोहे का दण्ड रखना
९. सुरा और रक्तरंजित कपालों से भैरव की पूजा करना
१०. छः मुद्राओं से भगासन पर बैठकर परब्रह्म-आत्मा का चिन्तन करना इस भावना से कि इससे मुक्ति प्राप्ति होती है।
११. सिर पर जटाजूट रखना तथा गले में रुद्राक्ष की माला पहनना

इससे ज्ञात होता है कि यह उपसम्प्रदाय अत्यन्त तामसी था तथा इसके अन्तर्गत अत्यन्त भयंकर और राक्षसी प्रवृत्ति की क्रियाएँ की जाती थीं। राजस्थान के दो अभिलेखों में इन कापालिकों का उल्लेख मिलता है।

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

वीरशैव या लिंगायत सम्प्रदाय

शैव धर्म का एक दूसरा सम्प्रदाय इस समय था वीरशैव। इस को लिंगायत भी कहते हैं क्योंकि इनमें शिवलिंग को साथ रखने तथा उसकी पूजा करने की महिमा पर बल दिया गया है। ये चाँदी के डिब्बे में लिंग को रखकर गले में पहने रहते थे। इसका संस्थापक कलचूरी वंशीय शासक विजय का मंत्री वसव था जो ब्राह्मण जाति का था। इसका अधिकांश साहित्य कन्नड़ भाषा में मिलता है। अत: यह दक्षिण भारत में विशेष प्रचलित रहा होगा। पर इसकी व्यापकता का ज्ञान इस बात से होता है कि इसके आचार्यों ने रम्भापुरी (मैसूर), उज्जैन, ऊखीमठ (केदारनाथ), श्रीशैल और काशी में अपनी गद्दियाँ स्थापित की थीं। इसके पाँच आचार्य जो इस धर्म के उपदेशक थे उनके नाम हैं- रेणुकाचार्य, दारुकाचार्य, एकोरामाचार्य, पण्डिताराध्य और विश्वाराध्य। इनके सम्बन्ध में मान्यता है कि विशिष्ट लिंगों से इनका जन्म हुआ था। इस सम्प्रदाय में कुछ लिंगी ब्राह्मण भी हैं जिनके आचार्य और पंचक नामक दो वर्ग हैं। पीछे चलकर लिंगगायतो के चार उपवर्गों का ज्ञान मिलता है-जंगम, शीलवन्त, वणिक और पंचमशाली।

कश्मीरी शैव सम्प्रदाय

इसी समय कश्मीर में शैव धर्म एक अलग रूप से विकसित हुआ जिसे कश्मीरी शैव सम्प्रदाय कहते हैं। इसकी चर्चा आगे की जायेगी।

प्रमुख शैव सम्प्रदायों का दार्शनिक विवेचना

१. पाशुपत सम्प्रदाय

जैसा पहले कहा गया है पाशुपत मत के संस्थापक नकुलीश या लकुलीश थे। इनके विषय में शिव पुराण से ज्ञात होता है कि नकुलीश या लकुलीश का जन्म भड़ौंच के पास कारबत नामक स्थान में हुआ था। पश्चिमी भारत में अनेक स्थानों पर इनकी मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं जिनके दायें हाथ में नींबूफल और बायें हाथ में लगुड या दण्ड है। लगुड धारण करने से इन्हें लगुडेसा या लगुडीस नाम से जाना जाता है। कुषाण सम्राट हुविष्क के सिक्कों पर अंकित लगुडधारी शिव की मूर्तियाँ लकुलीश की है। भगवान शंकर के १८ अवतारों में यह प्रथम अवतार माना गया है।

मृगेन्द्र आगम पर रचित पाशुपतसूत्र पाशुपत मत का सर्वाधिक प्राचीन ग्रन्थ है। पाशुपतसूत्र को महेश्वर रचित भी स्वीकार किया गया है। पाशुपतसूत्र में १६८ सूत्र एवं पाँच अध्याय हैं। सर्वदर्शन संग्रह में पाशुपत मत को नकुलीश पाशुपत नाम से भी सम्बोधित किया गया है। इसमें नकुलीश के ग्रन्थ से कुछ उद्धारण भी दिये गये हैं। इस शब्द से प्रकट होता है कि लकुसिन (लकुट, लगुड़ या लकुल धारण करने वाल) नाम का एक व्यक्ति हुआ था जिसने पाशुपत मत की स्थापना की थी। पाशुपत मत से चार सम्प्रदाय निकले, जिनके प्रवर्तक लकुलीश के शिष्य थे। डॉ. भण्डारकर का मत है कि लकुलिन् या नकुलिन एक ही हैं। इन्हीं का नाम लकुलीश भी है। पुराणों में उनका वासुदेव कृष्ण के समकालीन होने का जो वर्णन है उससे यह अनुमान किया जा सकता है कि वासुदेव सम्प्रदाय में जो स्थान पांचरात्र का है वही स्थान शैव धर्म में पाशुपत मत का है।

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

सुप्रसिद्ध पाशुपत सम्प्रदाय की विवेचना करते हुए शंकराचार्य ने निम्न पाँच सिद्धान्त बतलाये हैं–

१. कार्य-प्रधान से उत्पन्न महत् आदि।
२. कारण-ईश्वर या महेश्वर और प्रधान।
३. योग-ॐ का जप, ध्यान, समाधि आदि।
४. विधि-प्रातः, मध्याह्न एवं संध्या समय भस्मलेपन एवं गूढ़चर्या आदि।
५. दुखान्त-मोक्ष।

माधवाचार्य ने अपने सर्वदर्शन संग्रह में पाशुपत दर्शन के प्रसंग में इनकी निम्न व्याख्या की है–

(i) कार्य

वह है जो स्वतंत्र नहीं होता। यह तीन प्रकार का होता है– १. विद्या २. अविद्या ३. पशु (जीव)।

विद्या पशु का गुण स्वीकार किया गया है। यह दो प्रकार का है- (i) बोध स्वभाव और (ii) अबोध स्वभाव।

बोध स्वभाव विद्या दो प्रकार के हैं- (i) व्यक्त और (ii) अव्यक्त। ज्ञानेन्द्रियों से प्राप्त बोधात्मक व्यक्त विद्या चित्त कहलायी क्योंकि बोधात्मक प्रकाश की सहायता से जिस वस्तु का व्यक्त अथवा अव्यक्त, प्रत्यक्ष किया जाता है, उसका सम्यक् ज्ञान चित्त से ही होता है।

अबोध स्वभाव विद्या के दो रूप हैं-धर्म और अधर्म, जिनके लिए जीव (पशु) यत्नशील होता है। अबोध स्वभाव विद्या उन नियमों को निर्धारित करती है, जिनका जीव को पालन करना होता है। चेतन के अधीन जो अचेतन पदार्थ होता है उसे कला कहा गया है। कला भी दो प्रकार का है-कारणरूपा कला और कार्यरूपा कला। कारणरूपा कला में १३ इन्द्रियों का अन्तर्भाव है। कार्यरूपा कला में पृथ्वी आदि पाँच महाभूतों तथा उनके गुणों का अन्तर्भाव स्वीकार किया गया है। पशु का अर्थ यहाँ जीव लिया गया है। जीव को दो कारणों से पशु कहा गया है (i) जीव देखता (पश्यति) इसलिए वह पशु है, (ii) वह पाश (बंधन) में है इसलिए पशु है। पशु दो प्रकार का स्वीकार किया गया है (i) मलयुक्त (ii) निर्मल।

शरीर और कलाओं से सम्बद्ध पशु मलयुक्त कहा गया है जबकि इनसे असम्बद्ध को निर्मल पशु कहा गया है।

(ii) कारण

पाशुपत सम्प्रदाय के अन्तर्गत समस्त वस्तुओं की सृष्टि, संहार तथा अनुग्रह करने वाले तत्वों को कारण कहा गया है। यद्यपि यह एक ही है फिर भी गुण और कर्म के भेदों से साथ अनेक रूपों का हो जाता है। पति का अर्थ ज्ञान एवं क्रिया का निरतिमय शक्तियों से सम्पन्न होना स्वीकार किया गया है। जीवों में व्याप्त होने के कारण वह पति कहा गया है और वह जीवों की रक्षा करता है इससे भी पति कहा गया है।

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

(iii) योग

चित्त के द्वारा आत्मा और ईश्वर के बीच होने वाले सम्बन्ध को पाशुपत सम्प्रदाय में योग कहा गया है। क्रियात्मक एवं क्रियोपरम योग के दो भेद बताए गये हैं : क्रियात्मक योग, जप ध्यान आदि क्रिया के द्वारा होता है तथा क्रियोपरम (क्रिया से ऊपर) योग, एकान्तिक भक्ति तथा ज्ञान के द्वारा होता है।

(iv) विधि

पाशुपत सम्प्रदाय में विधि का अर्थ महेश्वर की प्राप्ति करने वाला साधन माना गया है। यह दो प्रकार का है– (अ) प्रधान (ब) गौण।

(अ) प्रधान

जो साक्षात् धर्म का कारण है उसे प्रधान विधि कहा गया है। इसे चर्या भी कहा गया है। इसके दो प्रकार हैं- (क) व्रत और (ख) द्वार।

(क) व्रत– भस्म से स्नान, भस्म में शयन, उपहार (नियम), जप एवं प्रदिक्षणा व्रत कहे गये हैं।

भगवान लकुलीश ने कहा है, भस्म से तीन समय (प्रातः, मध्याह्न एवं संध्या) स्नान करना चाहिए और भस्म में ही शयन करना चाहिए। उपहार (नियम) छः बताए गये हैं। सूत्रकार के अनुसार हसित, गीत, नृत्य, हुडुक्कार, नमस्कार इन उपहारों के द्वारा पूजा करनी चाहिए। कण्ठ एवं ओष्ठपुटों के विस्फूर्णन के साथ हा! हा! हा! इस प्रकार का अट्टहास करना हसित है। संगीत विद्या के नियमानुसार महेश्वर के गुणों का गान करना गीत कहा गया है। नाट्य-शास्त्र के नियमानुसार हाव-भाव के साथ कर, चरण आदि एवं अंग-प्रत्यंगों तथा उपांगों के विक्षेपण आदि करना नृत्य कहते हैं। हुडुक्कार उस पुण्यप्रद शब्द को कहा गया है, जो जिह्वा और तालु के संयोग से उच्चरित होता है। यह वृषभ के नाद के समान होता है। हुडुक्क वास्तव में वषट् के तरह की ध्वनि है जहाँ पर लोग उपस्थित हो वहाँ पर इन सबका प्रयोग गुप्त रूप से करने का निर्देश दिया गया है।

(ख) द्वार- द्वार चर्या में निम्नलिखित हैं

(१) क्राथन- जाग्रत अवस्था में सोये हुए व्यक्ति के समान चेष्टायें करना।

(२) स्पन्दन- अंगों को इस प्रकार कँपाना जैसे कि वे शक्तिहीन हों।

(३) मन्दन- लंगड़ा कर चलना।

(४) श्रृंगारण- किसी सुन्दर युवती को देखकर कामुक के समान श्रृंगारिक हाव-भावों द्वारा अपने को प्रेमासक्त दिखलाना।

(५) अवितत्करण- सभी लोगों द्वारा निन्द्य कार्य को इस भाँति करना जैसे कि करणीय-अकरणीय में भेद करने की बुद्धि ही न हो।

(६) अवितदभाषण- इसका अभिप्राय परस्पर विरोधी और निरर्थक बातें करने से है।

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

(ब) गौण

गौण विधि के अन्तर्गत अणुस्नान अर्थात् पूजा के उपरान्त भस्म स्नान करने से है। इस भस्म से अनित्यता का निवारण हो जाता है। इसीलिए पाशुपत सम्प्रदाय के अन्तर्गत पूजा के उपरान्त भस्म का लेप करने का विधान है तथा देवता पर से हटाये कुम्हलाये हुए पुष्प-पत्र (निर्माल्य) और लिंग धारण करने का विधान है।

(v) दुखान्त

अन्य हिन्दू धर्मों की भाँति पाशुपत सम्प्रदाय ने भी मुक्ति या मोक्ष का मार्ग प्रशस्त किया है। पाशुपत सिद्धान्तों के अनुसार दुखान्त दो प्रकार के होते है–

(१) अनात्मक दुखान्त जिसमें सम्पूर्ण दु:खों का पूर्णतया क्षय होता है।
(२) सात्मक दुखान्त जिसमें ज्ञान और धर्म-कर्म की शक्ति से युक्त ऐश्वर्य की प्राप्ति होती है।
ज्ञान शक्ति पाँच प्रकार की होती है–

(i) दर्शन-सूक्ष्म, व्यवहित और विप्रकृष्ट वस्तुओं का चाक्षुष स्पर्शादि ज्ञान।
(ii) श्रवण-समस्त शब्दों का सिद्धि ज्ञान।
(iii) मनन-समस्त चिन्त्य पदार्थों का अद्भुत ज्ञान।
(iv) विज्ञान-शास्त्रों के विषयों को ग्रन्थ (पंक्ति) और अर्थ के साथ जान लेना।
(v) सर्वज्ञत्व-गुरु के द्वारा प्रदत्त एवं प्रकाशित तत्त्व ज्ञान।

इस मत की प्रमुख विशेषताएँ निम्न हैं-जबकि अन्यान्यमतों में दुखक्षय को ही मोक्ष स्वीकार किया गया है, वहाँ इस मत में परमशक्तियों की प्राप्ति को भी इसी में निहितकर लिया गया है। अन्यमतों के अनुसार कार्य असत् से उत्पन्न होता है। परन्तु इस मत में कार्य नित्य स्वीकार किया गया है, उदाहरणार्थ-पशु या जीवात्मा। अन्यमतों में कारण को अपने कारणत्व के लिए सहायक कारण की अपेक्षा होती है। परन्तु यहाँ पर महेश्वर स्वतंत्र रूप से कार्यरत माने जाते हैं। अन्यमतों में योग के फल पूर्ण स्थिति की प्राप्ति है जबकि यहाँ योग का उद्देश्य परमशक्तियों को प्राप्त करना माना गया है। पाशुपत मत में विधि के फल (ईश्वर) का समीप्य है जहाँ से पुन: लौटने की अवस्था नहीं आती जबकि अन्य मतों में विधि के फल स्वर्ग आदि हैं, जहाँ से मर्त्य को पुण्य का भोग भोगकर पुन: वापस आना पड़ता है।

पाशुपत सम्प्रदाय में दुखान्त सिद्धान्त के अन्तर्गत क्रिया शक्तियों का भी उल्लेख किया गया है। इस सम्प्रदाय में क्रियाशक्ति एक होते हुए भी त्रिविध मानी गयी है–

(i) मनोजवित्व-इस शक्ति से किसी भी कार्य को तत्क्षण कर लिया जाता है।
(ii) कामरूपित्व-इच्छामात्र से अनन्त रूप, शरीर या इन्द्रियाँ धारण करना कामरूपित्व शक्ति है।
(iii) विकरणधर्मित्व-यह शक्ति है जो इन्द्रिय व्यापार निरुद्ध हो जाने पर भी निरतिशय ऐश्वर्य से सम्पन्न रखता हैं।

इस प्रकार पाशुपत सम्प्रदाय के बताये हुए मार्ग द्वारा निर्धारित लम्बी चर्या के अन्त में मनुष्य ज्ञान एवं क्रिया की सिद्धियों को प्राप्त करता है।

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

२. कश्मीरी शैवमत

कश्मीरी शैवमत अन्य शैव सम्प्रदायों से अधिक मानवीय एवं युक्तिसंगत है। काश्मीर प्रदेश में इसका विकास होने के कारण इसका नाम काश्मीरी शैवमत पड़ा तथा इसके सम्प्रदाय का नाम काश्मीरी शैव सम्प्रदाय पड़ा। काश्मीरी शैव दर्शन को 'प्रत्यभिज्ञादर्शन', 'त्रिकदर्शन' तथा 'माहेश्वर दर्शन' भी कहा गया है। इस मत में दस शैवागम, १८ रद्रागम और ६४ भैरवागम अर्थात् ९२ आगमों की मान्यता है। इन आगमों में जिनको विशिष्ट स्थान प्राप्त है वे सिद्धा और मालिनी हैं। काश्मीरी शैव मत के मूल प्रवर्तक के रूप में वसुगुप्त का नाम उल्लेखनीय है। इनका काल ८२५ ई. स्वीकार किया गया है। इनके प्रमुख ग्रन्थ शिवसूत्र और स्पन्दकारिका हैं। सोमानन्द और कल्लट वसुगुप्त को दो प्रमुख शिष्य थे।

कश्मीरी के शैवमत का त्रिकदर्शन इसलिए कहा गया है कि इसमें पति, पशु और पाश इन तीन तत्त्वों का वर्णन है अथवा तीन आगमों सिद्धा, नामक तथा मालिनि का विशेष महत्त्व है। काश्मीरी शैव मत के दर्शन दो रूपों में वर्णित किए गए हैं- (i) स्पन्ददर्शन तथा (ii) प्रत्यभिज्ञादर्शन। कल्लट ने स्पन्द सिद्धान्त को इस ढंग से विकसित किया है कि उसके नाम पर इस दर्शन को स्पन्द-दर्शन के नाम से पुकारा गया है। इसी प्रकार सोमानन्द ने प्रत्यभिज्ञा को इतने प्रभावशाली ढंग से मोक्षोपायके रूप में वर्णित किया कि इस मत को प्रत्यभिज्ञा दर्शन कहा जाने लगा। यद्यपि स्पन्द दर्शन और प्रत्यभिज्ञा दर्शन की मूल दार्शनिक दृष्टि एक ही है तथापि उनमें कुछ अन्तर भी है। अतएव ये शैवमत के दो सम्प्रदाय माने जाते हैं।

स्पन्दशास्त्र में मोक्ष के तीन उपायों का वर्णन किया गया है-आणव, सांभव और शाक्त। इनके लिए योगाभ्यास की आवश्यकता बताई गयी है। परन्तु प्रत्यभिज्ञा शास्त्र में एक चौथा उपाय भी माना गया है जिसे प्रत्यभिज्ञा कहा गया है। वास्तव में प्रत्यभिज्ञा का अर्थ है-अपनी आत्मा को पहचानना। इस ज्ञान के मार्ग में योगाभ्यास की आवश्यकता नहीं है।

तत्त्व- शैव दर्शन का वास्तव में एकमात्र तत्त्व 'शिव' है। ऐसा प्रतीत होता है कि इसी एक तत्त्व से अन्य सभी तत्त्वों की अभिव्यक्ति होती है। अभिव्यक्त तत्त्वों को लेकर शैव दर्शन में निम्नलिखित तत्त्व माने गये हैं- सांख्य दर्शन के स्थूल भूतों से लेकर प्रकृति तथा पुरुषतत्त्व पर्यन्त पचीस तत्त्वों को उसी क्रम में शैव दर्शन भी मानता है। अन्तर केवल इतना है कि सांख्य दर्शन में पुरुष और प्रकृति नित्य और स्वतंत्र हैं किन्तु शैव दर्शन में ये अनित्य और परतंत्र हैं। प्रकृति तत्त्व यहाँ माया के नाम से प्रसिद्ध है। इसके साथ पाँच तत्त्व है–

(i) कला (ii) विद्या (iii) राग (iv) काल (iv) नियति

ये माया के पाँच 'कञ्चुक' स्वीकार किये गये हैं। इन पाँच तत्त्वों के अन्तःप्रवेश करने से इनके स्वरूप का स्पष्टतः ज्ञान हो जाता है और माया से मुक्ति मिल जाती है। इसके पश्चात् 'माया' की अपेक्षा दूसरे सूक्ष्म तत्त्व में साधक प्रवेश करता है और शुद्ध सत्त्व-विशिष्ट पुरुष 'शुद्ध विद्या' के रूप में साधक को दिखाई पड़ने लगता है। शैव दर्शन में इसी को 'सद्विद्या' कहा जाता है। 'सद्विद्या तत्त्व', 'ईश्वर तत्त्व' में लीन हो जाता है और साधक को 'ईश्वर तत्त्व' के अनुभव करने का अवसर प्राप्त होता है। इस प्रकार 'ईश्वर तत्त्व' 'सदाशिवतत्त्व' में 'सदाशिव तत्त्व'

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

'शक्तितत्त्व' में तथा 'शक्तितत्त्व' 'परमशिव तत्त्व' में परिणत हो जाता है। इस अवस्था में पहुँचकर साधक शिवशक्ति के सामरस्यता का अनुभव करता है। शैव दर्शन में काश्मीर शैव दर्शन की यही पूर्णावस्था एवं परम लक्ष्य है।

शैव दर्शन के छत्तीस तत्त्व निम्नलिखित हैं– सांख्य दर्शन में प्रकृति से क्रमश: तत्त्वों की अभिव्यक्ति होती है, जिसका स्वरूप निम्नत: निरूपित किया जा सकता है–

शिव के दर्शन तत्त्व

(सांख्य के २६ तत्त्व)
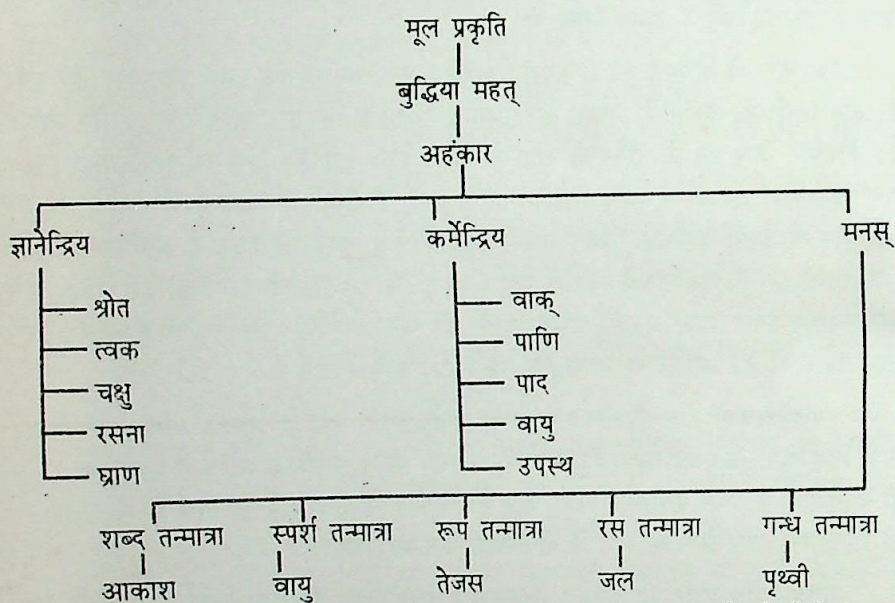
सांख्य दर्शन के ये चौबीस तत्त्व हैं। इनके अतिरिक्त एक पुरषतत्त्व हैं। ये दोनों मिलकर सांख्य दर्शन के पच्चीस तत्त्व होते हैं। इसके अतिरिक्त काश्मीरी शैव दर्शन के निम्नलिखित ग्यारह तत्त्व और हैं–

(i) माया (ii) कला (iii) विद्या (iv) राग (v) काल
(vi) नियति (vii) शिव (viii) शक्ति (ix) सदाशिव (x) ईश्वर
(xi) शुद्ध विद्या (सद्विद्या)

इस तरह काश्मीरी शैव दर्शन के कुल (२५ सांख्य के + ११ नए = ३६) ३६ तत्त्व हैं।

शिव तत्त्व

चैतन्यमात्मा-शिवसूत्र से ज्ञात होता है कि प्रत्येक जीव में रहने वाला 'शिवतत्त्व' ही 'आत्मतत्त्व' है। यह चैतन्य रूप है। काश्मीरी शैव दर्शन में इसी को 'परासंवित', 'परमेश्वर', 'शिव' या 'परमशिव' भी कहा गया है। इस दर्शन में यह स्वीकार किया गया है कि यह तत्त्व न केवल जीव में ही है, प्रत्युत जितनी वस्तुएँ संसार में हैं, जड़ या चेतन सभी में व्याप्टि तथा

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

समाष्टि रूप से वर्तमान है। ऐसी धारणा है कि अनन्त वस्तुओं में रहने पर भी यह एक है और एक रूप में सभी वस्तुओं में है। यह देश और काल से अतीत होते हुए भी सभी देशों में तथा कालों में एक रूप में वर्तमान है। 'शिवतत्त्व' नित्य और अनन्त है। 'शिवतत्त्व' समस्त विश्व में व्यापक रूप में है और 'विश्वातीत' भी है। इस तरह काश्मीरी शैव दर्शन में यह भी स्वीकार किया गया है कि समस्त विश्व इसी तत्त्व का अभिन्न रूप है। परम शिव स्वयं छत्तीस तत्त्वों के रूप में जगत् में भासित होता है। विश्वोत्तीर्ण, विश्वात्मक, परमानन्दमय तथा प्रकाशैकधन इस शिवतत्त्व का ही अपने से लेकर पृथ्वीतत्त्व पर्यन्त तत्त्व अभिन्न रूप में स्फुरण है।

'अखिलम् अभेदेनैव स्फुरित'

इस प्रकार हम देखते हैं कि इस तत्त्व के अतिरिक्त वस्तुतः और कुछ भी 'ग्राह्य' या ग्राहक रूप में नहीं है। यही परम शिव भट्टारक नाना वैचित्र्यों के रूप में स्वयं स्फुरण होता है। इस प्रकार शिवतत्त्व, इच्छा, ज्ञान, तथा क्रियात्मक है एवं पूर्णानन्द स्वभाव का है।

विमर्शशक्ति तत्त्व

'विमर्शशक्ति तत्त्व' प्रकाशात्मा है, अर्थात् 'विमर्श' ही इसका स्वभाव है। 'सृष्टि अवस्था' में विश्वाकार होने से 'स्थिति' में विश्व को प्रकाशन द्वारा 'संहार' में आत्मसात् करने से 'शिव' में पूर्ण जो अकृत्रिम अहंभाव है उसी को 'विमर्श' शक्ति कहते है। यदि विश्व में 'विमर्श' शक्ति न हो, तो वह 'अनीश्वर' तथा जड़ हो जायगा। आगमों में विंमर्श को चित्, चैतन्य, परावाक्, परमात्मा का मुख्य ऐश्वर्य, कर्तृत्व, स्फुरता आदि शब्दों से वर्णित किया गया है।

काश्मीरी के शैव-दर्शन में विमर्शशक्ति तत्त्व को अनन्त स्वरूप में स्वीकार किया गया है। किन्तु इनमें पाँच स्वरूप बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं–

(i) चित्-शक्ति-यह प्रकाशन रूप है। इसी के द्वारा शिव अपने को "स्वप्रकाश" स्वीकार करते हैं।

(ii) आनन्द शक्ति-जिसके द्वारा शिव आनन्दमय हैं और अपने में आनन्द का साक्षात्कार करते हैं।

(iii) ज्ञान शक्ति-जिसके कारण शिव स्वयं ज्ञानस्वरूप हैं।

(iv) क्रिया शक्ति-ऐसा माना जाता है कि इसके कारण शिव सभी स्वरूप को धारण कर सकने में सफल होते हैं।

(v) इच्छा शक्ति-इसी शक्ति के द्वारा शिव जगत् की सृष्टि, संहार और अन्य सभी कार्य करते हैं।

इस तरह हम देखते हैं कि काश्मीरी शैवदर्शन शिव-शक्ति के इन पाँच स्वरूपों से युक्त होकर अपने आप समस्त विश्व की अभिव्यक्त करता है। इस दर्शन के अनुसार जगत 'शिव' की शक्ति का ही विस्तृत रूप है जिसे परमशिव ने अपनी इच्छा से अभिव्यक्त किया है। इसके साथ-साथ यह भी सत्य है कि 'शक्ति' के अभाव में 'शिव' जड़वत् ही हैं। 'शक्ति' के कारण ही 'शिव' अपने में अहं का बोध करते हैं। शंकराचार्य ने भी निम्न मत व्यक्त किया है–

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

शिवः शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुम्।
न चेदेवं देवा न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि।।

परन्तु यह भी सत्य है कि शक्ति बिना शिव के नहीं रह सकती और न कुछ कर ही सकती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि शिव-शक्ति अभेद है, तादात्म्य है, सामरस्य है। तभी तो परमशिव पूर्ण हैं।

सदाशिव तत्त्व

जब परमशिव-शक्ति में "उन्मेष" होता है, तब "सृष्टि" होती है और जब वह "आँख मूँद लेती है", तब जगत् का "लय" हो जाता है। यह उन्मेष और निमेष अनादि और अनन्त हैं। इसी उन्मेष के कारण "सदाशिव तत्त्व" की भी अभिव्यक्ति होती है। शैव दर्शन में यह शक्ति तत्त्व के प्रथम और स्थूल "उन्मेष" के रूप में स्वीकार किया गया है। इसे "सादाख्य" तत्त्व भी कहा गया है। शैव दर्शनमें "सृष्टि" शक्ति का उन्मेष है, अर्थात् जो वस्तु पहले से थी, उसी की अभिव्यक्ति होती है। यह अन्तर्वती निमेष है-

ईश्वरो वाहिरुन्मेषो निमेषोऽन्तः सदाशिवः।

इस अवस्थ में 'इच्छा शक्ति' की प्रधानता रहती है क्योंकि 'इदं' अंश अस्फुट रहता है और 'अह' अंश प्रधान रूप में उसे आच्छादित किये रहता है। इसलिए 'मैं हूँ' इस प्रकार की प्रतीति होती है, अर्थात् जगत् का अव्यक्त रूप में यहाँ भान होता है।

ईश्वर तत्त्व

काश्मीरी शैव दर्शन के ईश्वर तत्त्व से जगत् की क्रमिक अभिव्यक्ति स्पष्ट होती है। इस तंत्त्व में 'अहम्' अंश गौण होता है और 'इदम्' अंश की प्रधानता रहती है। 'इदम् अहम्' इस प्रकार की प्रतीति विमर्श शक्ति में उल्लसित होते हैं। यहाँ 'ज्ञान शक्ति' की प्रधानता स्वीकार की गयी है।

शुद्ध विद्या या सद् विद्या

शुद्ध विद्या या सद्विद्या में 'अहम्' और 'इदम्' रूपों में ऐक्य की प्रतीति रहती है। 'मैं=यह हूँ' यही भावना इस भूमि में जाग्रत रहती है। इस तत्त्व में क्रियाशक्ति प्रधान है।

माया तत्त्व

कश्मीरी शैव दर्शन के माया तत्त्व में अहम् अंश 'पुरुष' रूप में तथा 'इदम्' अंश 'प्रकृति' रूप में अभिव्यक्त होता है। इस दर्शन में अचित अर्थात् जड़ में 'प्रमातृत्व' का आभास होता है। यह कला आदि पाँच भावों का उपादान कारण है।

कश्मीरी शैव दर्शन में माया शक्ति के द्वारा परमेश्वर अपने रूप को आच्छादित कर लेते हैं, तभी वह पुरुष तत्त्व होकर पृथक् हो जाते हैं। वह माया से मुग्ध कर्मों को अपना बन्धन समझता हुआ संसारी पुरुष है। परन्तु परमेश्वर से अभिन्न होता हुआ भी इसका मोह परमेश्वर में नहीं होता।

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

माया के पाँच कंचुक

काश्मीरी शैव दर्शन का परमशिव सर्वकर्त्ता, सर्वज्ञ, पूर्ण, नित्य, व्यापक, असंकुचित, शक्ति सम्पन्न होता हुआ भी, अपनी इच्छा से संकुचित होकर कला, विद्या, राग, काल तथा नियति माया के इन पाँच कंचुकों के रूप में व्यक्त होता है।

पाँच कंचुकों के कारण क्रमशः परमशिव के उपर्युक्त गुणों में संकोच हो जाता है। अतएव काश्मीरी शैव दर्शन के पुरुष का कुछ भी करने का सामर्थ्य, कुछ भी जानने का सामर्थ्य, अपूर्णता का बोध, अनित्यता का बोध तथा संकुचित शक्ति का ज्ञान प्राप्त हो जाता है।

पुरुष तत्त्व

काश्मीरी शैव दर्शन में पाँच कंचुकों के आवरण से आवृत्त चैतन्य को 'पुरुषतत्त्व' के रूप में स्वीकार किया गया है। पाँच कंचुकों के आवरण को स्वीकार कर 'पुरुष' संसारी हो जाता है। परम शिव के स्वरूप को आवृत्त करने के कारण ये कंचुक कहे गये हैं।

प्रकृति तत्त्व

इस दर्शन में महत् से लेकर पृथ्वी तत्त्व पर्यन्त सभी तत्त्वों का मूल कारण प्रकृति तत्त्व है। यह तत्त्व सत्त्व, रज और तम की 'साम्यावस्था' है। इस अवस्था में गुणों में प्रधान गौणाभाव नहीं होता। ये गुण प्रकृति तत्त्व में परस्पर विभक्त नहीं हैं।

बुद्धि तत्त्व

स्वरूप को निश्चित करने वाला तत्त्व 'बुद्धि' तत्त्व है अर्थात् यह ऐसा है इस प्रकार निश्चय करने वाला 'बुद्धि' तत्त्व है। सत्त्व प्रधान होने के कारण यह तत्त्व स्वच्छ है। इस तत्त्व में ही चैतन्य के प्रतिबिम्ब को ग्रहण करने की क्षमता है।

अहंकार तत्त्व

अपने, पराये तथा अहं को बोध कराने वाले तत्त्व को ही इस दर्शन में अहंकार तत्त्व कहा गया है। 'यह मेरा है', 'यह मेरा नहीं है', इस प्रकार अभिमान का साधन अहंकार तत्त्व है।

मनस्तत्त्व

किसी कार्य के करने या न करने की प्रेरणा देने वाले तत्त्व को मनस्तत्त्व कहा जाता है। किसी काम को 'करूँ या न करूँ' इस प्रकार के संकल्प और विकल्प का कारण 'मन' स्वीकार किया गया है। यह 'अन्तःकरण'-रूप तत्त्व है।

पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ

काश्मीरी शैव दर्शन में गंध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द को ग्रहण करने वाली क्रमशः घ्राण, जिह्वा, चक्षु, त्वक, श्रोत्र को ज्ञानेन्द्रिय कहा गया है। अन्तःकरण की अभिव्यक्ति इन्हीं से होती है।

पाँच कर्मेन्द्रियाँ

लौकिक आनन्द, विसर्ग (मल त्याग), विहरण (चलना-फिरना), आदान, बचन क्रमशः उपस्थ, वायु, पाद, पाणि, वाक् पाँच कर्मेन्द्रियाँ स्वीकार की गयी हैं।

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

पाँच तन्मात्रायें

रस, गन्ध, रूप स्पर्श, शब्द समान रूप के हैं। इनमें से प्रत्येक में स्वयं को छोड़कर कुछ नहीं रहता है जिसके कारण ये तन्मात्रायें कहलाती हैं।

पंचभूत

अवकाश देने वाला 'आकाश', 'संजीवनी 'वायु', दाहक और पाचक 'अग्नि', प्यास बुझाने वाला और भिगोने वाला 'जल' तथा धारण करने वाली 'पृथ्वी' काश्मीरी शैव दर्शन में पाँचभूत तत्त्व के रूप में स्वीकार किये गये हैं।

जैसे पीपल-बीज में, शक्तिरूप में बड़ा पीपल वृक्ष विराजमान होता है, उसी प्रकार ये सभी तत्त्व, अर्थात् चराचर सम्पूर्ण विश्व, परम शिव के हृदय रूपी बीज के अन्दर 'शक्ति' रूप में वर्तमान होते हैं। जैसे स्वर्ण के बने विभिन्न आभूषणों-कर्णफूल, अँगूठी, कंठाहार आदि पदार्थों का वास्तविक रूप स्वर्ण ही है उसी प्रकार पृथ्वी से लेकर व्युत्क्रम रूप में 'माया' पर्यन्त सभी तत्त्व 'सत्' ही है। इस 'सत्' में से भी धात्वर्थ व्यंजक प्रत्यय के अंश को छोड़ देने पर केवल 'प्रकृतिरूप' में 'सकार' ही रह जाता है। इस तरह 'प्रकृति' के अन्तर्गत ३१ तत्त्व होते हैं। इन तत्त्वों के ऊपर 'शुद्ध विद्या', 'ईश्वर', 'सदाशिव', 'तत्त्व ज्ञान' और 'क्रिया' शक्ति स्वरूप है। ये सभी 'औ' शक्ति तत्त्व में अन्तर्भूत हैं। इसके परे ऊर्ध्व तथा अधः लोको के सृष्टिस्वरूप दो 'विसर्जनीय' हैं। इस तरह के हृदय-बीज के स्वभाव रूप महामन्त्र स्वरूप, विश्वमय अर्थात् सर्वाकार एवं विश्वोत्तीर्ण अर्थात् निराकार, 'परमशिव' हैं।

व्युत्क्रम सृष्टि

'पृथ्वी तत्त्व' से लेकर 'प्रकृति तत्त्व' पर्यन्त सांख्य के समान ही तत्त्वों का विचार है। यही 'प्रकृति' विशुद्ध होकर 'मायातत्त्व' में विलीन हो जाती है। काश्मीरी शैव दर्शन में यह माना गया है कि परम शिव के सभी गुणों को संकुचित कर देने वाला 'पाँच कंचुक' है। 'पुरुष तत्त्व' में आकर परमशिव की शक्ति संकुचित हो जाती है। इन तत्त्वों से परे जब सूक्ष्मतर तत्त्व में साधक प्रवेश करता है तब 'पुरुष' अपने को सूक्ष्म-प्रपंच, जो स्थूल-प्रकृति का सूक्ष्म रूप है, के बराबर का समझने लगता है। ऐसी परिस्थिति में 'मैं यह हूँ' इस प्रकार की प्रतीति उल्लसित होती है। इसमें 'मैं' चैतन्य है और 'यह' प्रकृति है। ऐसी अवस्था में 'मैं' और 'यह' दोनों बराबर महत्व के होते हैं। इसके बाद वह 'पुरुष' सूक्ष्म प्रपंच के साथ तादात्म्य बोध करने लगता है और 'यह मैं हूँ' ऐसी प्रतीति उसके विमर्श शक्ति में भासित होने लगती है। ऐसी अवस्था में 'यह' अंश को प्रधानता मिलती है। काश्मीरी शैव दर्शन में इस अवस्था को 'ईश्वर तत्त्व' कहते हैं।

क्रमशः यह अंश 'मैं' में लीन हो जाती है और 'मैं हूँ' इतनी ही प्रतीति रह जाती है। फिर भी स्पष्ट होता है। 'मैं' और 'हूँ' में दोनों स्वरूप 'विभर्ष' में भासित होते हैं। इस अवस्था को सदाशिव तत्त्व कहते हैं।

जब साधक इससे भी सूक्ष्म भूमि में पहुँचता है तब उसे केवल 'अहं' की प्रतीति दीख पड़ती है। इस तरह अहं की प्रतीति वाली अवस्था को 'शक्ति तत्त्व' कहा जाता है। 'परमशिव' की यह उन्मीलनावस्था कही जाती है। ऐसी अवस्था में साधक परमशिव के स्वरूप को समझ

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

सकता है। ऐसे ही समय में आत्मा के आनन्द स्वरूप का प्रथम बार भान होता है कि यह 'शक्ति' और 'शक्तिमान' की युगल मूर्ति है। यह विभेद करना कठिन हो जाता है कि यह अवस्था 'द्वैत' है या 'अद्वैत'। यही अवस्था अन्ततः परमशिव में लीन हो जाती हे जो काश्मीरी शैव दर्शन में 'शिवतत्त्व' है।

चिन्मय सामरस्य की अवस्था

कश्मीरी शैव दर्शन की चिन्मय सामरस्य की अवस्था होती है जहाँ पहुँचकर जिज्ञासु साधक अपने अस्तित्व को परमशिव में लीन कर देता है। परन्तु परमशिव में लीन होने के पश्चात् भी कोई तत्त्व अपने स्वरूप को नष्ट नहीं करता है। इस दर्शन का ऐसा विश्वास है कि सारे तत्त्व 'परमशिव' में लीन होकर 'चिन्मय', शिवमय हो जाते हैं। कश्मीरी शैव दर्शन में मनुष्य-जीवन का यही परम लक्ष्य स्वीकार किया गया है। यह शुद्ध अद्वैत है। 'शिव तत्त्व' में सभी मनुष्य 'चिन्मय' हो जाते है। वास्तव में शिवशक्ति के 'सामरस्य' की यही अवस्था है।

जीवन्मुक्ति

स्थूल-शरीर धारण करने वाले मनुष्य को जीवितावस्था में यह ज्ञान प्राप्त हो जाता है तो उसे जीवन्मुक्ति कहा जाता है। ऐसे अवस्था में भी अविचल रूप में एक ही चित्त होता है। संविदरूपाशक्ति इस अवस्था में भी रहती है। अतएव चिदानन्द का लाभ जीवन्मुक्त को भी होता है। शरीर के पतन के पश्चात् वह 'परमशिव' में प्रविष्ट और उसी में लीन हो जाता है।

सम्पूर्ण विश्व एक ही 'शक्ति' और 'शक्तिमान' का उल्लसित रूप है। सभी चिन्मय हैं। ऐसी अवस्था में परमशिव सर्वथा स्वतंत्र होकर बिंना किसी की सहायता से, केवल अपनी ही 'शक्ति' से, सृष्टि को लीला के लिए उद्भासित करते हैं और लीला का संवरण भी कर लेते हैं। ऐसी अवस्था में साधक को- **"एकमेवाद्वितीयं नेह नानास्ति किंचन"** तथा **"सर्वं खल्विदं ब्रह्म"** का वास्तविक अनुभव प्राप्त होता है।

कश्मीरी शैवदर्शन में साधक चार्वाक भूमि से प्रारम्भ कर क्रमशः एक भूमि के पश्चात् दूसरी भूमि पर आकर परमतत्त्व के आभास का अनुभव करता हुआ सूक्ष्म जगत् की तरफ अग्रसर होता है। फिर धीरे-धीरे परमशिव तत्त्व में मिलकर परमशिव के साथ एक हो जाता है।

●

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

अध्याय-८

शाक्त धर्म

शक्ति की आराधना भारतीय परम्परा में अति प्राचीन है। यह प्रायः प्रत्येक क्षेत्र में तथा सभी भागों में विकसित रही है। सिन्धु घाटी से प्राप्त पुरातात्विक सामग्रियों से ज्ञात होता है कि उस समय इसका स्वरूप अत्यन्त विकसित था। द्रविड़ों में भी देवी उपासना का प्रचलन था। साहित्यिक प्रमाणों से ज्ञात होता है कि आर्य भी शक्ति की पूजा करते थे। पीछे चलकर ये सभी मान्यतायें रुद्र में समाहित होकर आदि शक्ति के रूप में विकसित हुईं और यह स्वीकार किया जाने लगा कि सृष्टि के उदय का यही कारण है। इसी भावना को भारतीय दर्शन में भी समाहित कर लिया गया। सांख्य दर्शन में प्रकृति की अवधारणा इसी आधार पर आधारित है। आज भी अनेक रूपों में इसी केन्द्रीय भावना को लेकर प्रायः सभी सभ्य एवं असभ्य तथा अर्द्धसभ्य जातियाँ शक्ति की उपासना विभिन्न प्रकारों से करती हैं।

(अ) आदि से ईसा पूर्व काल तक

हड़प्पा संस्कृति में अनेक मुहरों पर नारी मूर्तियाँ विविध प्रकार की मिली हैं। बहुतायद से यहाँ नारियों की मृण-मूर्तियाँ भी मिली हैं जो बनावट में सामान्य नारी आकृतियों से भिन्न हैं तथा विविध रूपों की हैं। पत्थर के योनि प्रकार के टुकड़े जो गोल हैं तथा बीच में जिनके छिद्र है इसी भावना को प्रतीक रूप में प्रस्तुत करते हैं। यहाँ शक्ति की उपासना उत्पादन के लिये की जाती थी, ऐसा कुछ मुहरों की आकृतियों से ज्ञात होता है।

हड़प्पा सभ्यता के प्रमुख नगरों के पुरातात्विक उत्खनन से अधिक संख्या में नारी की मृणमूर्तियाँ भी प्राप्त हुई हैं। इन मूर्तियों में नारियाँ प्रायः नग्न रूप में प्रदर्शित की गयी हैं तथा उनके कमर में पटका और मेखला तथा गले में गुलाबन्द अथवा हार प्रदर्शित है। सिर पर कुल्हाड़ी की आकृति सी कोई वस्तु भी प्रदर्शित है। ऐसी मूर्तियों के विषय में अधिकांश विद्वानों का मत है कि ये मातृदेवी की मूर्तियाँ हैं। प्राचीन संसार में मातृदेवी की उपासना बड़ी लोकप्रिय थी तथा इनकी मूर्तियाँ प्राचीन एशिया-माइनर, मेसोपोटामिया, सिरिया, फिलिस्तीन, क्रीट, साइरस, मिस्र आदि देशों में भी प्राप्त हुई हैं। वैदिक भारत में भी मातृदेवी माता पृथ्वी अदिति नामों से विख्यात थी।

सैन्धव सभ्यता में मातृदेवी की उपासना का विभिन्न रूपों में वर्णन किया गया है जो विभिन्न प्रकार की मूर्तियों से प्रमाणित होती हैं। नारी की कुछ ऐसी मूर्तियाँ यहाँ से प्राप्त हुई हैं

---

१. ऋग्वेद- १.८७.१०, यजुर्वेद- ९.२२

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

जो शिशु को स्तन-पान करा रही हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि यह जननी का दैवीकरण है। सैन्धव कालीन मातृदेवी मानव-लोक की पोषिका, पालिका, जननी मानी जाती थी। अन्य समकालीन सभ्यताओं की मातृदेवी की मूर्तियों से तुलना करने पर यह प्रमाणित होता है कि सैन्धव कालीन मातृदेवी सम्पूर्ण वानस्पतिक जगत की भी देवी थी। एक मूर्ति में एक नारी के गर्भ से एक वृक्ष निकलता हुआ प्रदर्शित किया गया है। यह मूर्ति वानस्पतिक जगत की सृष्टिकारिणी देवी के दैवीकरण का प्रमाण है।

मैके (Mackey) को यहाँ से एक मुद्रा प्राप्त हुई है जिसमें एक वृक्ष के नीचे एक नारी अंकित है। यह चित्र वनस्पति जगत की अधीश्वरी का ही प्रतीक रहा होगा। ऐसी कल्पना प्राचीन क्रीट एवं बाबुलोन आदि देशों में भी की गयी थी।

सैन्धवकालीन मातृदेवी न केवल मानवीय जगत एवं वानस्पतिक जगत की ही सृष्टिकारिणी अधीश्वरी थी वरन पाशविक जगत की भी देवी थीं। मोहनजोदड़ों से प्राप्त मातृदेवी की एक मूर्ति में उसके शीश पर एक पक्षी पंख फैलाये बैठा हुआ प्रदर्शित है। मातृदेवी के कुछ चित्र पशुओं के साथ भी प्राप्त हुए हैं। इससे मातृदेवी के पशु-पक्षी की अधीश्वरी रूप का परिचय एवं प्रमाण प्राप्त होता है।

इस प्रकार यह प्रमाणित होता है कि सृष्टि की आदि शक्ति सैन्धव काल में मातृदेवी के रूप में पूजित थी तथा शक्ति की उपासना मातृदेवी के रूप में अनादि काल से प्रचलित थी जिसमें उसे मानवीय जगत के साथ-साथ वानस्पतिक एवं पाशविक जगत की सृष्टिकारिणी एवं अधीश्वरी देवी के रूप में स्वीकार किया गया था। नारी तत्व की भी उपासना सैन्धव काल में प्रचलित थी। परम नारी-पुरुष के युग्म की उपासना के साथ-साथ सिन्धु निवासियों ने लिंग और योनि की प्रतीकात्मक उपासना ईश्वर की सृजनात्मक शक्ति की उपासना है। मातृदेवी की उपासना, शक्ति की उपासना का एक रूप है। सृष्टि के शक्ति की उपासना का प्रारम्भ इसके आधार पर सैन्धव कालनी प्रमाणित होती है जिसे डॉ. रमाशंकर त्रिपाठी ने अपनी पुस्तक "प्राचीन भारत" में स्वीकार किया है।

यहाँ से प्राप्त एक मुहर पर अंकित आकृति में एक नंगी स्त्री चित्रित है जिसके पैर ऊपर की ओर उठे तथा फैले हैं। उसके उदर से एक लता निकल रही है। यहाँ लता का निकलना उत्पादन के साथ दैवी सम्बन्ध को व्यक्त करता है। इसकी समता ऋग्वैदिक अदिति से की जा सकती है जिसे 'पृथ्वी' या 'भू' माना जाता है। इसी मुहर के पृष्ठ भाग पर एक पुरुष हाथ में छुरा लिये अंकित है जिसके सम्मुख एक औरत आत्मसमर्पण की स्थिति में हाथ ऊपर उठाये बैठी है। यह सम्भवतः बलि का द्योतक है। आज भी देवी पूजा में बलि की व्यवस्था है। उसी का यह प्रारम्भिक रूप कहा जा सकता है। दूसरी मुहर पर एक पीपल का पेड़ दो तनाओं वाला है। एक औरत दोनों तनाओं के बीच में खड़ी है तथा अपने हाथों से उनको कसकर दबा रही है। उसके सामने नीचे एक आदमी एक बकरा लेकर खड़ा है तथा उसके पीछे बहुत से लोग खड़े हैं। बकरा बलिदान के लिए सम्भवतः वहाँ लाया गया है तथा लोग उसमें भाग लेने के लिए एकत्रित हैं। एक ठिकड़े पर सात औरतें खड़ी हैं। उनके सामने एक बकरा बंधा है। बहुत से लोग बकरे के पीछे ढोल आदि वाद्य बजाते हुए नाचते हैं। लगता है दुर्गापूजा के अवसर पर जैसा आज किया

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

जाता है उसी का यह अविकसित रूप है। ये सात स्त्रियाँ सप्त मात्रिकाएँ हैं और बकरा बलि के लिए है जो उनकी पूजा में सम्भवतः चढ़ाया जाता रहा होगा। इस अवसर पर लोग आनन्द मना रहे हैं। अनेक स्वतंत्र नारी मृणमूर्तियाँ भी इस सभ्यता के विभिन्न केन्द्रों से प्राप्त हुई हैं। इनमें उनके शरीर का शेष भाग चाहे जैसा भी हो पर उनका स्तन अक्षत है, अविवाहित कन्याओं की तरह एकदम गोल और उठा। वे नंगी मूर्तियाँ हैं जो विविध अलंकरणों तथा केश विन्यास से सज्जित हैं। ये भी देवी की ही मूर्तियाँ लगती हैं जो सम्भवतः पूजा के लिए बनाई गई होगी। इसीलिए ह्वीलर (Wheeler) ने लिखा है- "A large number of the terracottas represent females, and there has been perhaps an exaggerated tendency as regard these a manifestation of the great mother Goddess familiar in the religion of Western Asia and parts of Europe."

वैदिक युग में इसने एक नया रूप धारण किया। अनेक देवियों के नाम ऋग्वेद में आये हैं जैसे उषा, अदिति आदि। उषा को 'देवानाम माता' कहा गया है। कहीं-कहीं इसे स्वर्ग की 'पुत्री' भी कहा गया है। अदिति और दक्ष को संसार का माता-पिता माना गया है। किन्हीं प्रसंगों में दक्ष की उत्पत्ति अदिति से तथा अदिति की उत्पत्ति दक्ष से बतायी गयी है। इससे स्पष्ट है कि अभी शक्ति उपासना व्यापक रूप से समाज में स्थापित नहीं हुई थी। यद्यपि इसका बीजारोपण किसी न किसी रूप में हो चुका था। यद्यपि देवी की प्राचीनता गृह्यसूत्र कालोपरान्त एवं महाभारत काल के पूर्व की है। डॉ. आर. जी. भण्डारकर (Dr. R. G. Bhandarkar) ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक Vaisnavism, Saivism and Minor Religious Systems (p. १४२) में इसी को प्रमाणित करते हुए निम्न मत व्यक्त किया है–

"In the Vedic literature down to the Grhyasutras which we have examined for tracing the development of the idea of Rudra-Siva no female devotee of predominant power is mentioned. We have such names as Rudrani and Bhavani, which are simply derivatives goddess. Uma, too is the wife of a god and does not overshadow her male consort. In the MBh. (Bhismaparva ch. 23), however, there is a hymn addressed to Durga by Arjun under the advice of Krishna in which she is prayed to for granting victory in the forthcoming battle. This hymn itself shows that at the time when it was composed and inserted in the poem, Durga has already acquired such an importance that she was adored by men as powerful gooddess, able to fulfil their desires."

पर यह मान्य नहीं प्रतीत होता क्योंकि ऊपर के विवरण से स्पष्ट है कि वैदिक काल में देवी उपासना प्रचलित थी।

उत्तर वैदिक काल में यह उपासना और भी अधिक विकसित हुई। वाजसनेयी संहिता में अम्बा को रुद्र की बहन कहा गया है। यहाँ अम्बिका के साथ पूजा में दिये गये भाग को उन्हें ग्रहण करने के लिए कहा गया है। इससे दो बातें स्पष्ट होती हैं कि रुद्र के साथ अम्बिका की पूजा होती थी तथा भाई-बहन के बीच [illegible] विवाह का चलन अनार्य संस्कृति से देवी उपासना के साथ आर्य संस्कृति में आने लगा था। इसके पीछे यह भी कारण रहा होगा कि सैन्धव

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

सभ्यता के लोग अपने गढ़ों के नष्ट होने पर आर्यों के साथ अपने अलग स्वरूप में रहे होंगे।

जब वे आर्य संस्कृति में स्वीकार किये गये तो आर्यों ने उनकी देवी पूजा की परम्परा को भी अपनी संस्कृति में ग्रहण कर लिया। इसका विकास आगे चलकर तैत्तिरीय आरण्यक में हुआ जहाँ रुद्र को 'उमापति' कहा गया है तथा अम्बिका के साथ इनके विवाह का उल्लेख प्राप्त होता है। इससे स्पष्ट है कि अम्बिका और उमा एक ही हैं और रुद्र उनके पति है। इनके अतिरिक्त इनके लिए अन्य नाम कात्यानी, दुर्गा, कराली, काली, सरस्वती, चण्डसाममाता, वेदमाता आदि का भी यहाँ उल्लेख है। वेबर के अनुसार ये सभी शिव की पत्नी के नाम हैं जो विविध दैवीय रूपों के समष्टीकरण की ओर संकेत करते हैं। शिव में जिस प्रकार अग्नि और रुद्र का योग है उसी प्रकार शिव की पत्नी में भी उमा, अम्बिका, पार्वती तथा हेमवती जहाँ रुद्र की पत्नियाँ हैं वहीं काली और कराली अग्नि की। डॉ. चट्टोपाध्याय के अनुसार कुछ नाम तो इनमें ऐसे हैं जो स्थानीय देवताओं से सम्बन्धित हैं जैसे हेमवती। केन उपनिषद् में यह ब्रह्मा के साथ सम्बन्धित एक स्वर्गीय देवी हैं जिन्हें शिव की पत्नी के रूप में पीछे स्थान दिया गया। इसी प्रकार उमा की निष्पत्ति का संस्कृत में अभाव देखकर कुछ लोगों ने द्रविड़ शब्द 'अम्मा' से इसकी निष्पत्ति बताया है। द्रविड़ देश में देवी का रूप विद्यमान था क्योंकि कन्याकुमारी के संबंध में 'पेरिप्लस आव दी इरीथ्रियन सी' तथा मेगास्थनीज के 'इण्डिका' से विवरण मिलता है। तैत्तिरीय आरण्यक में भी दक्षिण की कुमारी कन्या का सम्बन्ध शिव से होना वर्णित है। अग्नि की दो जिह्वओं का नाम काली और कराली मुण्डकोपनिषद में आया हैं। जैकोबी (Jacoby) के अनुसार अग्नि की सातों जिह्वाएँ, जिनका वर्णन ग्रन्थों में हुआ है, वे विनाशक और प्रलयकारी राक्षसी रही होंगी जो अपने विनाशक प्रकृति के कारण दुर्गा के साथ जोड़ दी गई होंगी क्योंकि वह भी रक्तपूर्ण बलि के द्वारा पूजित होती हैं। वेबर ने दुर्गा को देवी नृति, जो सभी बुराईयों की केन्द्र हैं, के साथ जोड़े जाने की बात कहा है।

महाकाव्यों में भी विविध देवी रूपों को शिव के साथ जोड़ने का उल्लेख है। महाभारत के अनुसार शिव की ही पत्नी ने क्रोध से एक विकराल रूप धारण कर अपना नाम महाकाली रख लिया। उसी भयानक कृति को अपनी आँखों से देखने के लिए शिव ने अपने मुँह से भद्रकाली उत्पन्न किया। इस प्रकार विविध मातृ शक्तियों को समन्वित रूप महान मातृदेवी के रूप में उन्हें समाहित कर शंकर के साथ जोड़ दिया गया।

ज्ञात होता है कि महाभारत कालीन लोग अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिए दुर्गा की आराधना अर्चना करते थे। महाभारत काल में दुर्गा की आराधना-कुमारी, काली, कपाली, महाकाली, चण्डी, कात्यायनी, कराली, विजया, कौशिकी, उमा, कान्तारवासिनी आदि नामों से की गयी है। महाभारत के विराट पर्व (अध्याय-६) में युधिष्ठिर ने देवी की स्तुति की है। दक्षिण की पाण्डुलिपियों में यह अंश नहीं है। डॉ. भण्डारकर का मत है कि- "सम्भवत: यह अंश प्रक्षिप्त है, क्योंकि इसका विषय प्राय: वैसा ही है जैसा कि हरिवंश के एक ऐसे ही स्थल का है। इस स्तुति में दुर्गा को महिषासुरमर्दिनी एवं सुरा मांस एवं पशुओं में अनुरक्त बताया गया है। दुर्गा को यशोदा के गर्भ से जन्म लेना बताया गया है। ऐसा वर्णन है कि कंस ने जब उन्हें (दुर्गा को) पत्थर पर पटका तब वे स्वर्ग चली गयीं। वे नारायण की परमप्रिया तथा वासुदेव की भगनी हैं। वे स्थायी रूप से विंध्याचल पर निवास करती हैं।"

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

इस काल का कोई भी अभिलेख या सिक्का मातृ पूजा का उल्लेख नहीं करता। कुछ पत्थर की तश्तरियाँ तथा मृणमूर्तियाँ इस काल की मिली हैं जिनके द्वारा इस पर किंचित प्रकाश पड़ता है। पत्थर की तश्तरियाँ तक्षशिला, कोसम, भीटा, राजघाट (वाराणसी), पटना शहर (मुरतुजागंज मुहल्ला) से प्राप्त हुई हैं जो ईसा पूर्व की हैं। इन पर चारों ओर मातृदेवियों की आकृतियाँ बनी हैं तथा लता के तरह की आकृति और कुछ अंकन भी साथ में है। इससे इन्हें उत्पादन की देवी माना जा सकता है। एलन (Allan) ने पांचाल राजा भद्रघोष के सिक्के के पुरोभाग पर कमलासीन देवी की आकृति को भद्रा कहा है। पर डॉ. चट्टोपाध्याय ने इसे लक्ष्मी मानना ही उचित बताया है। मार्शल (Marshall) ने तक्षशिला से प्राप्त मातृदेवी की मूर्तियों के आधार पर जो मौर्यकालीन हैं देवी उपासना का संकेत मौर्यकाल में दिया है। इनके पहनावे के आधार पर विदेशी उत्पत्ति का अनुमान इनके विषय में लगाया जा सकता है। पर यह भी सम्भव है कि मेसोपोटामिया की सभ्यता में प्रचलित मातृदेवियों का यह प्रभाव रहा हो। एक मृणमूर्ति में पुरुष और स्त्री की युगल मूर्ति से देव-देवी का साहचर्य भी उजागर होता है।

इससे ज्ञात होता है कि ईसा पूर्व काल में देवी उपासना हिमालय से कन्याकुमारी तक तथा पूरब में पटना और उसके आगे भी प्रचलित थी। यह दो रूपों में की जाती थी। एक विकराल जिसमें बलि के द्वारा पूजा होती थी तथा दूसरे उत्पादकता जैसे रामायण में वर्णन है कि सीता का उद्भव खेत जोतते समय हुआ था जिससे उन्हें 'धान्यमालिनि' कहा गया है। साथ ही देवी मूर्तियों के साथ लता-वितान का जोड़ना भी इसी भाव का बोधक है।

(ब) ईस्वी पूर्व से गुप्त पूर्व काल तक

महाभारत के भीष्म पर्व में अर्जुन द्वारा तथा विराट पर्व में युधिष्ठिर द्वारा दुर्गा स्त्रोत का प्रयोग किया गया है जो चौथी शती के लगभग का है। इसमें देवी का वासस्थान विंध्य प्रदेश तथा प्रसन्न करने का साधन मदिरा, मांस एवं बलि बताया गया है। इसका कारण लगता है कि पुलिन्द, शबर आदि वन्य जातियों में इसका चलन था। इनके द्वारा प्रयोग किये गये जाने वाले मांस, मदिरा, बलि आदि से इनकी पूजा की जाती थी। विशेष रूप से अर्जुन द्वारा व्यवहरित दुर्गा स्त्रोत में इनके आयुधों की चर्चा है जो युद्ध के काम में आते थे तथा नन्द के परिवार में उत्पन्न होने और विष्णु (कोकामुख) की बात से भी यही ज्ञात होता है।

हरिवंश पुराण

हरिवंश पुराण में दुर्गा के जन्म तथा उनके पूजित होने के विषय में वर्णन है। इस पुराण के ३२, ३६ तथा आगे के श्लोकों से स्पष्टतः ज्ञात होता है कि विष्णु पाताल लोक गये तथा कालरूपिणी निद्रा से यशोदा की पुत्री के रूप में जन्म लेने के लिए कहे। विष्णु ने कहा कि वे कौशिकी के नाम से अवतरित होंगे तथा विंध्याचल पर स्थायी रूप से निवास करने वाली शुम्भ और निशुम्भ का वध करने वाली एवं पशुबलि से पूजित होने वाली होंगी।

इसी पुराण में "आया" (दुर्गा) की एक स्तुति उद्धृत की गयी है जिसमें दुर्गा को सुरा और मांस में अनुरक्त शबरों, पुलिन्दों, बर्बरों एवं अन्य वन्य जातियों की अधिष्ठात्री देवी के रूप में वर्णित किया गया है। CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

मार्कण्डेय पुराण

मार्कण्डेय पुराण के रचना काल में दुर्गा प्रचण्ड तेजवान एवं शक्ति सम्पन्न देवी के रूप में अधिष्ठित हो चुकी थीं। इस पुराण के अध्याय ३२ में दुर्गा को महिषासुरमर्दिनी देवी के रूप में वर्णित किया गया है तथा इन्हें शिव, विष्णु, ब्रह्मदेव एवं विभिन्न देवों के प्रचण्ड तेज से उत्पन्न बताया गया है। इसमें दुर्गा को चण्डी एवं अम्बिका नाम से सम्बोधित किया गया है। मार्कण्डेय पुराण में शुम्भ एवं निशुम्भ के वध करने वाली देवी की उत्पत्ति के विषय में कहा गया है कि शुम्भ और निशुम्भ नामक दैत्यों से पीड़ित होकर देवगण हिमालय पर्वत पर गये तथा वहां उन्होंने देवी की स्तुति की। उसी समय गंगा में स्नान करने के लिए पार्वती निकली। उस समय पार्वती के शरीर से शिवा जो अम्बिका के नाम से भी जानी जाती है निकली और बोली कि 'शुम्भ और निशुम्भ से पीड़ित देवगण उनके वध के लिए जिसकी स्तुति कर रहे हैं वह मैं ही हूँ'। चूँकि वह पार्वती से अर्थात् उनके शरीर के कोश से उद्‌भूत हुई थीं, इसीलिए कौशिकी कहलायी। ऐसा वर्णन है कि जब अम्बिका पार्वती के शरीर से निकली तब पार्वती के शरीर का वर्ण कृष्ण हो गया तथा उनका नाम "कालिका" (काले रंग वाली) पड़ा। युद्ध के समय जब शुम्भ और निशुम्भ ने उन पर आक्रमण कर दिया तब क्रोध से उनका ललाट कृष्ण वर्ण का हो गया तथा उनसे नरमुण्डों की माला, व्याधचर्म एवं हाथ में खटवांग धारण किये हुए करालमुखी काली निकली। उन्होंने चण्ड और मुण्ड नामक दैत्यों का संहार किया तथा लौटकर अम्बिका के पास गयीं। चण्ड और मुण्ड दैत्यों के वध करने से अम्बिका ने उनका नाम चामुण्डा रखा। ब्राह्मी, माहेश्वरी, कौमारी, वैष्णवी, वाराही, नारसिंही एवं ऐन्द्री शक्तियाँ उनकी विभूति कही गयी हैं। मार्कण्डेय पुराण के वर्णन से ज्ञात होता है कि अन्त में देवी वैवस्वत मन्वन्तर में विंध्यवासिनी देवी का रूप धारण करके शुम्भ और निशुम्भ का विनाश करेंगी। इसके पश्चात् अन्य विभिन्न अवसरों पर उनके विभिन्न रूपों को ग्रहण करने का वर्णन है यथा-नन्दसुता, शाकम्भरी, भीमा, भ्रामरी आदि।

मार्कण्डेय पुराण में विभिन्न नामों से सम्बोधित की जाने वाली एक ही देवी का वर्णन है। परन्तु आलोचकों की दृष्टि से ऐसा प्रतीत होता है कि ये एक देवी के ही केवल विभिन्न नाम नहीं है वरन् विभिन्न-विभिन्न देवियों की स्थिति के सूचक हैं जिनकी कल्पना एवं उदय विभिन्न ऐतिहासिक परिस्थितियों की देन है। डॉ. भण्डारकर (Dr. R.G. Bhandarkar) ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक Vaisnavism, Saivism and Minor Religious Systems में निम्न मत व्यक्त व्यक्त किया है–

"But the critical eye will see that they are not merely names but indicate different goddess who owed their conception to different historical conditions, but who were afterwards identified with the one Goddess by the usual mental habit of the Hindus."[1]

प्रथमत: हमलोग उमा का वर्णन पाते हैं, जो रक्षिका एवं शिव की पत्नी हैं। इसके पश्चात् हैमवती और पार्वती का वर्णन आता है जो उमा के विशेषण हैं। यह उनके पति शिव के पर्वत

१. पृष्ठ-१४३-४

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

पर रहने एवं पर्वत पर ही उत्पन्न होने के कारण उन्हें प्रदान किया गया है। अगले क्रम में वनों और विंध्यपर्वत पर निवास करने वाली देवियाँ वर्णित हैं जो पशुओं और मनुष्यों की बलि द्वारा पूजित हैं तथा सुरा की आहुति उन्हें चढ़ायी जाती है। पुलिन्दों, शबरों एवं बर्बर जंगली जातियों द्वारा ये पूजित हैं। इनकी प्रकृति उग्र है तथा इन्हें उग्र देवी कहा गया है। ये कराला, काली, चण्डी, चामुण्डा आदि नामों से संबोधित हैं। डॉ. आर. जी भण्डारकर के अनुसार--

"It must be admitted, however, that the first two names came into use when in an early age Rudra was identified with Agni whose flames, which were considered his tongues, have those two names and five others. Probably the ferocity of the later goddesses of those names was due to this identification and not to their being the objects of worship to the ferocious barbarous tribes. In all likelihood, however, both the elements contributed to give that character to Kali, Karala and Chamunda. That an aboriginal element should have contributed to the formation of Rudra's consort in later times as it did in earlier times towards the formation of Rudra himself as he is represented in the Satarudriya, is a matter that might be expected. A third and powerful element in the conception of these goddesses is that of sakti or power. The powers of willing, acting, creating, illuding etc. were conceived of as gooddesses as the noun Sakiti is of the feminine gender. The seven goddesses named above Brahmi, Mahesvari etc. owe their origin to this conception of sakti and the powers of the seven gods."[1]

इस प्रकार हमलोग देखते हैं कि इन देवियों की परिकल्पना में प्रबल तत्त्व शक्ति की भावना है। इच्छा, क्रिया, सर्जन, मोह आदि की शक्तियों की कल्पना देवियों के रूप में की गयी क्योंकि शक्ति शब्द स्त्रीलिंग है। ब्राह्मी, माहेश्वरी आदि सात देवियों की कल्पना का कारण तत्-तत्-देवों की शक्तियों की भावना है। कालक्रम में कात्यायनी और कुशिक ब्राह्मणों में कौशिकी का भी उल्लेख है। डॉ. आर. जी. भण्डारकर के अनुसार शक्ति की भावना के परिणाम स्वरूप देवी का और भी विकास हुआ। इस प्रकार वह देवी के निम्न रूप स्वीकार करते हैं–

१. सौम्य रूप-देवी का एक ऐसा रूप है जिसकी पूजा सामान्यत: की जाती है।
२. प्रचण्ड रूप-यह देवी का ऐसा रूप है जो कापालिकों और कालामुखों से सम्बद्ध है तथा इसमें देवी को पशु-बलि एवं नर-बलि चढ़ायी जाती है।
३. कामप्रधान रूप-यह देवी का वह रूप है जिसकी उपासना शाक्त करते हैं।

इन उपर्यांकित विवरणों के आधार पर इस काल के शाक्त सम्प्रदाय के निम्नांकित स्वरूप ज्ञात होते हैं-

१. शाक्त सम्प्रदाय को वैष्णव और बौद्ध अपने में जोड़ने के लिए प्रयत्नशील थे पर सफल न हो सके।
२. शैव धर्म के साथ ही शाक्त धर्म अभी भी जुटा था क्योंकि इस समय शैव धर्म की ही प्रधानता थी।
३. शाक्त धर्म में द्रविड़ तथा अनार्य तत्व समाहित थे जैसे मदिरा, मांस, बलि आदि का इनकी

१. पृष्ठ-१४४

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

पूजा में प्रयोग होना।

४. इस समय शक्ति की उपासना का प्रमुख केन्द्र बना विंध्यपर्वत। इसी से आज भी विंध्यपर्वत वासिनी देवी की प्रधानता है।

पत्नी के रूप में इसका उल्लेख है जैसे (कालामुख) इससे दो बातें ज्ञात होती हैं–

यह शक्ति स्वरूपा है। तभी युद्धास्त्रों का धारण करती हैं विंध्यपर्वत में वास करती हैं। योद्धाओं के पसंद की चीजों का प्रयोग इनकी पूजा में किया जाता है जैसे– मांस, मदिरा आदि।

इनका सम्बन्ध वैष्णव धर्म से जोड़ने का प्रयास किया गया है। तभी नन्द और वासुदेव के साथ तथा 'कोकामुख' के प्रयोग द्वारा विष्णु के साथ इनका सानिध्य स्थापित करने का प्रयास दीखता है।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि हरिवंश पुराण में कंस और देवकी की कथा से यशोदा के गर्भ से इनके उत्पन्न होने तथा देवकी के पास पहुँचाये जाने, कंस द्वारा मारे जाने, इन्द्र के द्वारा देव पद प्रदान करने, विंध्यप्रदेश में निवास करने एवं शुम्भ और निशुम्भ नामक राक्षसों को मारने आदि की क्रिया और पशु-बलि द्वारा उपासित किये जाने का उल्लेख वैष्णव परम्परा के साथ शाक्त सम्प्रदाय को जोड़ने का प्रयास सिद्ध करता है। इनका नाम 'नारायणी' अर्थात् नारायण की पत्नी, भी मिलता है जो उपर्यंकित मत का एक अत्यन्त पुष्ट प्रमाण है।

दूसरी ओर महाभारत में देवी का निवास हिमालय की तराई में चैत्य के समीप होने का उल्लेख है-**'जम्बू कतक चैत्येषु नित्यम सन्निहितालये'**। यहाँ चैत्य शब्द का अभिप्राय बौद्ध चैत्य से है। इससे स्पष्ट है कि कुषाणकाल में इस तरह तो यह सफल नहीं हुआ पर पीछे शाक्त धर्म का प्रभाव बौद्धों तथा ब्राह्मणों पर तांत्रिक सम्प्रदाय के समय पड़ा। इसी से तारा, बौद्ध देवी के रूप में, तांत्रिक बौद्ध धर्म में स्वीकार की गई। इस समय भी शिव के साथ शक्ति के संयोग की ही मान्यता थीं क्योंकि समाज में शैव धर्म की ही प्रधानता थी।

इन उपर्यंकित विवरणों के आधार पर इस काल में शाक्त सम्प्रदाय का निम्नांकित स्वरूप का ज्ञात होता है-

१. शाक्त सम्प्रदाय को वैष्णव और बौद्ध अपने में जोड़ने के लिए प्रयत्नशील थे पर सफल नहीं हो सके।
२. शैव धर्म के साथ ही शाक्त धर्म अभी भी जुटा था क्योंकि इस समय शैव धर्म की ही प्रधानता थी।
३. शाक्त धर्म में द्रविड़ तथा अनार्य तत्त्व समाहित थे जैसे मदिरा, मांस, बलि आदि का इनकी पूजा में प्रयोग करना।
४. इस समय शक्ति की उपासना का प्रमुख केन्द्र बना विंध्यपर्वत। इसी से आज भी विंध्यपर्वत वासिनी देवी की प्रधानता स्वीकार की जाती है।
५. विंध्य क्षेत्र एवं हिमालय की वन्य जातियाँ जैसे शबर, पुलिन्द आदि इस धर्म को मानते थे।
६. इनका प्रसार हिमालय, मध्य भारत, पश्चिमी भारत, सुदूर दक्षिण (कन्याकुमारी), पूर्वी भारत में था।

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

७. इस सम्प्रदाय में कट्टरता के स्थान सहिष्णुता आ गई थी तभी वैष्णवों के साथ शक्ति का सम्बन्ध जोड़ा जाने लगा था और बौद्ध भी इसके ऊपर अपना प्रभाव जमाने लगे थे।
८. कुछ विदेशी प्रभाव भी इस पर दीखता है क्योंकि हुविष्क के सिक्कों पर पुरुष और स्त्री आकृतियाँ अंकित हैं। उनके मुद्रालेख के अनुसार यह पुरुष 'ओएसा' है और स्त्री 'नन'। कुछ सिक्कों पर स्त्री का नाम 'ओमा' या 'उमा' लिखा है। इससे ज्ञात होता है कि दुर्गा के साथ सिंह आदि का सानिध्य विदेशी देवी इश्तर-नन के साथ जोड़ा गया है। इस प्रकार बाबुलोनियन देवी का समीकरण भारतीय मातृदेवी में किया जाना स्पष्ट होता है।

(स) गुप्त काल और उसके बाद

गुप्त काल में देवी उपासना प्रचलित थी। पर इसका व्यापक चलन अभिलेखों से नहीं मिलता। मुख्यत: केवल दो ही अभिलेख देवी विषयक तथ्य पर प्रकाश डालते हैं। वि. सं. ४८० (४२३-२४ ई.) के गांधार अभिलेख में विश्ववर्मन के मंत्री मयूराक्ष द्वारा विष्णु तथा देवी के दो अलग-अलग मन्दिरों के निर्माण का उल्लेख है। यहाँ मातृदेवियों तथा उनकी अनुचरियों डाकिनी, शाकिनी से युक्त मन्दिर का चर्चा है तथा इस धर्म में जादुई क्रियाओं के द्वारा नाद करने तथा समुद्र में उफान लाने का उल्लेख है। इससे स्पष्ट है कि मातृदेवियों की संख्या अब एक से अधिक हो गई थी। उनके साथ उनकी भयानक सहचारियों को जोड़ा गया था तथा उनके द्वारा जादुई क्रियाओं के करने का उल्लेख है।

स्कन्दगुप्त के विहार स्तम्भ लेख में मातृ देवियों का उल्लेख है। इनकी संख्या भिन्न-भिन्न ग्रन्थों में ७, ८, ९, १६ आदि दी गई है। इनमें प्रमुख हैं ब्राह्मी, माहेश्वरी, कौमारी, वैष्णवी, माहेन्द्री, वाराही तथा चामुण्डा। इन्हें सप्तमातृका कहा जाता है। इस भिन्नता के पीछे कारण है देवों की शक्ति से ही मातृदेवियों की स्थिति। मार्कण्डेय पुराण के चण्डी महात्म में इसे स्वीकार किया गया है। ये सभी शक्तियाँ वास्तव में परस्पर समाहित हैं। इसी से मुण्डमाला तंत्र में देवियों के सौ नाम गिनाये गये हैं। इनमें से कुछ आर्य उत्पत्ति की हैं और कुछ द्रविड़। ब्राह्मी, माहेश्वरी, वैष्णवी आदि नामों से ही ये आर्य देवताओं की शक्तियाँ प्रतीत होती हैं। इसी प्रकार माहेन्द्री, देवराज इन्द्र की शक्ति है। पर चामुण्डा, कौमारी आदि दक्षिण भारतीय द्रविड़ परिवार की देवियाँ हैं जिनकी पूजा आज भी दक्षिण भारत में क्रमश: श्रीशैल (मद्रास) तथा कन्याकुमारी में होती है।

इस समय देवी के सहचारियों में डाकिनी, शाकिनी आदि का नाम लिया जाने लगा था जैसाकि ऊपर के अभिलेखों से स्पष्ट है। ये मध्य देशीय तत्व हैं जो यहाँ जुड़ी हैं। शाकिनी शकों से सम्बन्धित हैं तथा डाकिनी डगों से जो क्रमश: शकिस्तान तथा डगिस्तान नामक स्थानों से जुड़ी थीं जो मध्य एशिया के निवासी हैं। नीलतंत्र में देवी की उत्पत्ति का स्थान 'कोल' नामक झील बताया गया है। आज भी पामीर पर्वत (मेरु पर्वत) के पार सर और आमू नदियों के बीच कोल नामक झील है। इस प्रकार देवी सम्प्रदाय पर मध्य-एशियायी प्रभाव भी पड़ने लगा था।

देवी का अस्तित्व दो रूपों में इस समय उभरा: एक वीभत्स तथा दूसरा सौम्य। पर दोनों के प्रति विश्वास की चरमता मिलती है। किन्तु अभी तक देवी उपासना बंगाल में नहीं थी। महिषासुरमर्दिनी के रूप में देवी के कल्पनात्मक कथानक देवों की समन्वयात्मक शक्ति का उल्लेख पुराणों में दिया गया है। इससे गहन धार्मिक भावना तथा आस्था जागृत होती है।

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

हर्ष के समय में शाक्त धर्म के कुछ केन्द्र स्थापित होने लगे थे। गांधार क्षेत्र में प्रभाकर वर्द्धन की बीमारी के समय जादुई क्रियाओं का वाणभट्ट द्वारा उल्लेख इस ओर संकेत करता है जैसे देवी को प्रसन्न करने के लिए अग्नि से अपने अंगों को जलाना, अपने शरीर का मांस तेज चाकू से काटना आदि। यहाँ साथ में शिव की भी उपासना करने का इसी प्रसंग में विवरण है। इससे लगता है कि शिव और शक्ति दोनों ही जादुई क्रियाओं के प्रभाव क्षेत्र में साथ-साथ अब आ चुकी थीं। साथ ही तांत्रिक क्रियाएँ भी ब्राह्मण प्रवृत्तियों में अब प्रविष्ट होने लगी थीं।

इस समय शाक्त पीठों की मान्यताएँ स्थापित होने लगी थीं। सी-यू-की के अनुसार पश्चिमी पाकिस्तान में स्थित 'भीमादेवी' की काले कसौटी पत्थर की मूर्ति स्थित थी। वहाँ सम्पूर्ण भारत से लोग आकर सात दिन उपवास रहकर देवी का साक्षात्कार करते थे। वहीं पास में महादेव का मन्दिर था जहाँ भस्म रमाए उपासक रहते थे। ह्वेनसांग से ज्ञात होता है कि पूर्वी उत्तर प्रदेश में अयोध्या से आगे गंगा के किनारे 'अयमुख' नामक स्थान पर उसने देवी पूजक ठगों को वन प्रदेश में देखा था। पश्चिमी भारत में वाणभट्ट के कादम्बरी के अनुसार देवी उपासना का एक केन्द्र था जहाँ सम्भवत: सप्तशती की रचना हुई थी। यह उज्जैनी रहा होगा क्योंकि वहाँ चन्द्रापीड़ ने देवी दुर्गा के मन्दिर के समीप रक्त ध्वज देखा था।

तन्त्र साहित्य

तन्त्र साहित्य से हमें शाक्त धर्म से सम्बन्धित पूजा करने का विधान प्राप्त होता है। इस साहित्य में काम प्रधान रूप के विषय में वर्णन है कि-"इस सम्प्रदाय में देवी के काम प्रधान रूप की पूजा होती है। इस सम्प्रदाय में देवी के आनन्द भैरवी, त्रिपुरसुन्दरी, ललिता आदि अनेक नाम वर्णित है।" "शाक्त" साहित्य में त्रिपर सुन्दरी का निवास स्थान कल्पवृक्ष से घिरा हुआ, सुधा सिन्धु में कदम्ब वृक्षों से घिरा हुआ एक मणिमंडप में स्वीकार किया गया है। उसी मणिमंडप में एक चिन्तामणि गृह है जिसमें त्रिपुरसुन्दरी ईशानी निवास करती है। शिव, सदाशिव और महेशान उनके मंच पर्यंक और उपबर्हण हैं तथा ब्रह्मदेव हरि, रुद्र और ईश्वर मंच के पैर हैं। वहाँ पर ऐसी भी आत्मायें हैं जो महेश्वर सार में उपनिबद्ध कार्यों को पूरा करती है। डॉ. भण्डारकर का मत है कि यहाँ मण्डल की मूर्तियों और पारिभाषिक शब्दों का प्रतीकात्मक अर्थ ग्रहण करना चाहिए। आनन्द भैरव अथवा महाभैरव नौ व्यूहों की आत्मा हैं अथवा वे नौ व्यूहों से निर्मित हैं। ये नौ व्यूह हैं-

(i) कालव्यूह (ii) कुलव्यूह (iii) नामव्यूह (iv) ज्ञानव्यूह (v-ix) चित्तव्यूह (अहंकार, चित्त, बुद्धि, महत् और मन)। इस सम्प्रदाय की यह मान्यता है कि आनन्द भैरव अथवा महाभैरव का जब संयोग महाभैरवी के साथ होता है तब सृष्टि की रचना होती है। सृष्टि में महाभैरवी और संहार में महाभैरव प्रधान हैं। इस सम्प्रदाय में महाभैरव ही देवी की आत्मा हैं।

त्रिपुरसुन्दरी सम्प्रदाय के दर्शन के अनुसार शिव और शक्ति तत्त्व आद्य तत्त्व हैं। शिव प्रकाश स्वरूप स्वीकार किये गये हैं तथा वे विमर्श रूप अथवा स्फूर्ति रूप में शक्ति में प्रविष्ट होते हैं और फिर बिन्दु का रूप धारण कर लेते हैं। डॉ. भण्डारकर के अनुसार इसी प्रकार से शक्ति शिव में अनुप्रविष्ट होती है। उसके बाद बिन्दु सम्बर्धित होता है। फिर नाद (स्त्री तत्त्व) निर्गत होता है। बिन्दु और नाद मिलकर मिश्र बिन्दु हो जाते हैं, जो स्त्री-पुरुष शक्तियों का योग

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

है और काम कहलाता है। जव श्वेत, रक्त और मिश्र बिन्दु मिलकर एक हो जाते हैं तव काम कहलाते हैं। इस काम कला में चार शक्तियाँ होती हैं-

(i) मूलबिन्दु, ब्रह्माण का उत्पादान है। (ii) नाद, जिसमें समस्त वस्तुओं के नाम निहित है। (iii) श्वेत बिन्दु, जो पुरुष का प्रतीक है और (iv) रक्त बिन्दु, जो स्त्री तत्त्व का प्रतीक है।

शाक्त धर्म के एक ग्रन्थ के अनुसार जव स्त्री तत्त्व प्रथम बार विन्दु में प्रविष्ट होता है तब नाद के साथ हार्धकला नामक एक अन्य तत्त्व भी विकसित होता है। शाक्त धर्म के एक अन्य ग्रन्थ के अनुसार उच्चतम देवी काम कला है और सूर्य (संयुक्त बिन्दु) उसका मुख है। अग्नि और चक्र (रक्त और श्वेत बिन्दु) उसके उरोज हैं और हार्धकला उसकी योनि है, जिससे सृष्टि आरम्भ होती है। इस प्रकार देवीं सृष्टि करने वाली स्वीकार की गयी है। वह देवी देवताओं में सर्वोच्च है और परा, ललिता, भट्टारिका तथा त्रिपुरसुन्दरी कहलाती है। संस्कृत वर्णमाला का "अ" अक्षर शिव का प्रतीक है। "ह" अक्षर शक्ति का प्रतीक है। यह "ह" अर्ध कला कहलाता है। अतएव उपर्युक्त स्त्री तत्त्व अथवा योनि "ह" के आकार अर्द्धभाग (हार्घ कला) है। अर्द्धकला का अथवा "ह" शिव के प्रतीक "अ" अक्षर से मिलकर काम कला अथवा त्रिपुरसुन्दरी का प्रतीकात्मक रूप है, जो शिव और शक्ति के संयोग का फल है। वह अह कहलाती है और स्वयं अहं से मुक्त है। अतएव उसकी सम्पूर्ण सृष्टि अहंकारयुक्त है।

शाक्त धर्म के इस सम्प्रदाय के अनुयायियों का मत है कि सभी आत्माएँ त्रिपुरसुन्दरी की रूपमात्र हैं और जब वे देवी चक्रों के साथ कामकला, विद्या और ज्ञान का अभ्यास कर लेती हैं तब वे त्रिपुरसुन्दरी हो जाती है। "अ" और "ह" वर्णमाला् के प्रथम और अन्तिम अक्षर हैं एवं सभी अक्षर इनके बीच में है। सृष्टि त्रिपुरसुन्दरी का परिणाम है। इसमें स्त्री तत्त्व को प्रधानता है और देवी त्रिपुरसुन्दरी का उच्च स्थान है। इसमें यह स्वीकार किया जाता है कि जैसे त्रिपुरसुन्दरी से सब अर्थ उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार अर्थ के व्यंजक सब शब्द भी त्रिपुरसुन्दरी से उत्पन्न किये गये हैं। इसे परा नाम से भी सम्बोधित किया गया है। सृष्टि उसका ही परिणाम बताया गया है, विवर्त नहीं। इसे "शाम्भव-दर्शन" कहा गया है। डॉ. आर. जी. भण्डारकर ने ठीक ही कहा है कि इस मत को मानने वाले की इच्छा त्रिपुरसुन्दरी के साथ अभिन्नता की होती है- "The ambition of every pious follower of the system is to become identical with Tripurasundari, and one of his religious exercise is to habituate himself to think that he is a woman. Thus the followers of the Sakt school justify their appellation by the belief that God is a woman and it ought to be the aim of all to become a woman."[1] — Dr. R.G. Bhandarkar

अर्थात् इस मत को मानने वाले प्रत्येक व्यक्ति की यही महत्त्वाकांक्षा रहती है कि मैं त्रिपुरसुन्दरी के अभिन्न हो जाऊँ। उसको इस बात का भी अभ्यास करना पड़ता है कि वह अपने को स्त्री समझे। शाक्तों का ऐसा विश्वास है कि ईश्वर स्त्री रूप है अतएव सबका उद्देश्य यही होना चाहिए कि वे स्त्री हो जायँ।

1- Vaisnavism, Saivism and Minor Religious Systems, page-146.

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

देवी को दीक्षा-विधि द्वारा पूजित किया जा सकता है तथा देवी की प्राप्ति की जा सकती है। इसे तीन प्रकार से प्राप्त कर सकते हैं। प्रथम प्रकार में यह कल्पना करना पड़ता है कि देवी महापद्मवन में शिव के अंक पर बैठी हुई हैं। उनका विग्रह आनन्दमय है, सबका कारण है और आत्मा से अभिन्न है। द्वितीय प्रकार में चक्र पूजा है जो एक बाह्य पूजा है। तृतीय प्रकार में सच्चे दर्शन का अध्ययन एवं ज्ञान प्राप्त करना है।

चक्रपूजा का शाक्त धर्म के विभिन्न सम्प्रदायों में विशिष्ट स्थान है। इस पूजा में भूर्जपत्र, रेशमीवस्त्र अथवा स्वर्णपत्र पर नौ योनियों के मण्डल के मध्य में एक योनि का चित्र बनाकर उसकी आराधना की जाती है। पूरा मण्डल श्रीचक्र कहलाता है। इस प्रकार के पूजा की दृष्टि से शाक्तों के दो वर्ग सामने आते हैं- (i) कौलिक (ii) समयिन्।

प्रथम में स्त्री रूप की पूजा करते हैं तथा दूसरे काल्पनिक रूप की। पूर्व-कौल श्रीचक्र की पूजा करते हैं जबकि उत्तर कौल जीवित सुन्दरी की योनि की आराधना करते हैं। मदिरा, मांस, मधु, मत्स्य आदि पूज्य पदार्थ कौल अपनी उपास्य देवी को अर्पित करते हैं और फिर स्वयं प्रसाद स्वरूप ग्रहण करते हैं।

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

अध्याय-९

गणेश या गणपति सम्प्रदाय

स्मार्त पंचदेवोपासक होते हैं। ये पाँच देव हैं– १. विष्णु २. शिव ३. शक्ति ४. सूर्य और ५. गणेश। गणेश की पूजा करने वाले गाणपत्य कहलाते हैं। गणेश आदि पूज्य देव के रूप में हिन्दू धर्म में माने जाते हैं। भगवान गणपति का प्रादुर्भाव सृष्टि के आदि में हुआ। ये विघ्नों के नाश करने वाले, सिद्धि दाता तथा सर्वांग पूज्य हैं। यहीं कारण है कि चाहे सम्प्रदाय कोई भी क्यों न हो प्रत्येक हिन्दू को जब भी किसी कार्य को प्रारम्भ करना होता है तब वह सर्वप्रथम गणपति की ही पूजा से उसे प्रारम्भ करता है।

विदेशी विद्वानों के मत में गणपति अनार्य देवता हैं। वेदों में इनका कोई स्थान नहीं है। गुप्त युग के पूर्व तक हिन्दू धर्म में ये अज्ञात थे। मैक्समूलर महोदय ने लगभग सौ वर्ष पूर्व विभिन्न देवताओं की खिल्ली उड़ाते हुए गणेश को लोलजिह्वा कहा था। उन्होंने हिन्दुओं की मूर्ति पूजा ग्रीस और रोमन लोगों के जूपिटर, अपोलो, मीनरवा आदि की पूजा के अपेक्षा नीचे स्तर का बताया है। कुछ भारतीय विद्वान भी इनके मत का अनुसरण करते हुए कहते हैं कि दक्षिण भारत में इनकी पूजा पहले पहल दशम् शताब्दी में आरम्भ हुई थी। पर विदेशी विद्वानों का यह मत पूर्णतया अमान्य है क्योंकि सभी धर्म ग्रन्थों में गणेश का स्तवन अनादि काल से चला आ रहा है। साथ ही इनके विदेशी देवता होने की वात का आधार सम्भवतः यह लिया गया होगा कि आर्य बाहर से आकर भारत में बसे थे और वे यहीं सभ्य हुए। सम्भवतः इन विदेशी आर्यों में मान्य होने से इन्हें विदेशी कहा गया।

यदि गणेश विदेशी देवता होते तो हिन्दू ग्रन्थों में उनके अनेक नामों का उल्लेख तथा उनके सम्बन्ध की अनेक कथायें नहीं प्राप्त होती। साथ ही विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों से उनका सम्बन्ध नहीं जुड़ा होता। आक्सफोर्ड के लारण्डन प्रेस से प्रकाशित "गणेश ए मोनोग्राफ आफ द एलीफैण्ट फेस्ड गाड" नामक पुस्तक में भारत के अतिरिक्त चीनी, तुर्कीस्तान, चीन, तिब्बत, जापान, बर्मा, श्याम, हिन्द-चीन, जावा, बाली तथा बोर्नियों में इनकी प्रतिमायें अतीत से मिलती हैं और उनकी पूजा होती है। पण्डित बलदेव उपाध्याय ने पुराण विमर्श में बौद्ध धर्म के साथ गणपति के पूजा का चलन तथा अमेरिका में भी गणेश की मूर्ति मिलने का उल्लेख किया है। ब्रह्माण्ड का कोई भी ऐसा भाग नहीं है, जहाँ गणेश का निवास नहीं है–

ज्योतिषामपि तज्जमोतिस्तमसः परमुच्यते।
ज्ञानज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य तिष्ठितम्।।

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

गणेश शब्द का पर्यायवाची गणपति शब्द सर्वप्रथम ऋग्वेद में प्रयुक्त हुआ है– **'गणानां त्वा गणपति हवा महे'** (२/२३/१)। यहाँ से चलकर आज तक प्रत्येक धार्मिक क्रिया और लोक धर्म में गणेश की पूजा सर्वप्रथम होती है। दक्षिण भारत में पंचमुखी गणेश की मूर्तियों से स्पष्ट है कि यह ब्रह्मा के पांचवे मुख हैं। गणपति के सम्बन्ध में स्पष्ट है कि वह 'गणानां त्वा गणपति' अर्थात् गणों के अधिपति हैं। भारत प्राचीन काल से गणतन्त्र का पोषक रहा अर्थात् यह गणदेवता का राज्य रहा है। इसीलिए यहाँ के परात्पर ब्रह्म का नाम महागणाद्पति है। यह गणेश शब्द से स्पष्ट होता है। गणेश शब्द का विग्रह है : गण=देवताओं का समूह+ईश=स्वामी अर्थात् देवताओं के समूह का स्वामी। यह पद परम पिता परमेश्वर को ही प्राप्त हो सकता है। इसलिए परमपिता परमेश्वर की पूजा गणेश के रूप में करने का यह विधान रहा होगा।

ऐतिहासिक विकास

ऋग्वेद में गणेश की पूजा का उल्लेख कई स्थानों पर मिलता है। एक स्थान पर **'गणानां त्वा गणपति'** (१/२३/१) का उल्लेख है। याज्ञवल्क्य स्मृति की मिताक्षरा टीका के लक्ष्मी भाष्य में वालम ने इसे गणेश पूजन कहकर उल्लेख किया है। इसी प्रकार मंत्र संख्या-२/३१/१ में गणेश के लिए 'कवि: कविनाम' तथा 'ज्येष्ठ राज' विशेषणों का प्रयोग किया गया है। यहीं इन्हें विद्या धारादि देव, गणों के पति, त्रिकालदर्शी, अमितान्वान, सकलदेवोक्त 'मंत्रो के स्वामी', रक्षण शक्ति वाला बताया गया है। ऋग्वेद की शाकल संहिता में उल्लिखित 'ज्येष्ट राज' जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है के समान भाष के 'प्रतिज्ञायौगन्धरायण' के नान्दि श्लोक में 'वत्सराज' का उल्लेख है। महामहोपाध्याय गणपति शास्त्री ने इसकी व्याख्या में ज्येष्ठराज को वत्सराज (कार्तिकेय) का जेठा भाई बताया है। यही बात तैत्तिरीय संहिता से भी स्पष्ट होती है। मैक्समूलर ने बताया है कि 'अथर्ववेद में तीन आँखों वाले नंगे दानव-शिव, उनकी महाशक्ति नृशंसकाली और उनके दो कुमार-हस्तीमुख गणेश और षडमुख कार्तिकेय का अस्तिव नहीं है। किन्तु ऊपर के विवरण में ज्येष्ठराज अर्थात् गणेश के होने से उनके माता-पिता तथा भाइ की प्रमाणिकता स्वयं सिद्ध होती है। 'प्रतिज्ञायौगन्धरायण' में भाष ने वत्सराज का उल्लेख देव पक्ष में कार्तिकेय के लिये किया है। देव भ्राता गणपति और कार्तिकेय हैं। अत: तैत्तिरीय संहिता में प्रयुक्त ज्येष्ट राज गणेश का ही सूचक है। शुक्ल-यजुर्वेद में गणेश के गणपति, प्रियपति और निधिपति विशेषण दिये गये हैं। कृष्णयजुर्वेद में गणेश के दो गायत्री मन्त्र हैं। गणेश के गजवदन का विषद वर्णन वेद में है। मिस्र देश के बहुत से देवताओं के मुख पशुओं के समान थे। अथर्ववेद में एकदन्त शब्द का प्रयोग है। पुराणों के अनुसार परशुराम ने गणेश का एकदन्त काट दिया था। इससे वह एकदन्त कहलाये। ब्राह्मणों एवं आरण्यकों में भी गणेश पूजा की चर्चा है। तैत्तिरीय आरण्यक में उनके हस्थितुण्ड और एकदन्त के ध्यान करने का उल्लेख है।

कई उपनिषद तो गणेश से सम्बन्धित हैं जैसे गणेश कुलतापनीयोपनिषद्, गणेशोतर तापनीय उपनिषद्, गणपति उपनिषद् आदि। इनमें गणेश जी के विभिन्न स्वरूपों का वर्णन है। एक में कहा गया है कि वे चतुर्भुजी हैं। उनका रंग लाल है। उनका सूढ़ टेढ़ा है। एक में उन्हें गणसमूहों का पति बनाया गया है। कहीं उन्हें विघ्नहन्ता, लम्बोदर ; मूषक, ध्वज, सूर्प कर्ण, पाश-अंकुश, अभय और वरद मुद्रा वाला बताया गया है।

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

वेदांग में हर-गौरी और उनके दो पुत्र गणेश और कार्तिकेय की लीला कथाएँ वर्णित हैं। अष्टाध्यायी के ५/३/९९ में 'जीविकार्थे चापण्ये' तथा ५/३/९६ में 'इवे प्रतिकृतौ'' की व्याख्या करते हुए भाष्यकार पातंजलि ने मूर्तिपूजा का तथा कैयट ने शिव, विशाख और गणपति मूर्तियों का उल्लेख किया है।

सूत्र-ग्रन्थों में गणेश पूजा की चर्चा प्राप्त होती है। मानव गृह्यसूत्र में इन्हें विनायक कहा गया है। बौद्धायन गृह्यसूत्र में गणेश की उपासना की विधि बतायी गयी है। इसी सूत्र में इनका उल्लेख है। अत: यह कहना कि गाणपत्य सम्प्रदाय का दसवीं शताब्दी में प्रादुर्भूत हुआ, गणेश का आदि स्थान दक्षिण भारत में था और गणेश की उपासना अति निम्न स्तर की है आदि बातें अत्यन्त अमान्य है। शंकराचार्य ने पंचदेवों के लिंग पूजा का उल्लेख किया है। ये पंचलिंग हैं-शिव का वाणलिंग, विष्णु की शालिग्राम शिला, सूर्य का स्फटिक बिम्ब, शक्ति का धातु यन्त्र और गणपति का चतुष्कोण।

महाकाव्यों में गणेश और उनके उपासकों के सम्बन्ध में उल्लेख है। अन्य देवताओं के साथ गणेश्वरों और विनायकों की चर्चा है। ये अनिष्टों को दूर करते थे, सभी जगह विद्यमान रहते थे तथा सबके कार्यों को देखते हुए परखते थे। महाभारत की रचना के सम्बन्ध में बताया गया है कि इसके लेखक गणेश ही हैं और ग्रन्थकार हैं-वेदव्यास। जब ब्रह्मा ने वेदव्यास को भारतीय धर्म ग्रन्थों के संकलन का आदेश दिया तो उन्होंने अपनी असमर्थता व्यक्त करते हुए कहा कि हमें एक लेखक चाहिए। वहाँ लेखक गणेश तय किये गये। किन्तु शर्त थी कि जहाँ भी थोड़ा व्यास विराम लेंगे वहीं से मैं लिखना बन्द कर दूँगा। इस पर वेदव्यास ने कहा कि जो भी लिखना होगा उसका अर्थ समझकर लिखना होगा। इसीलिए जहाँ वेदव्यास क्रम बैठाने चूक जाते थे वहाँ बीच में वह प्रक्षिप्त जोड़ देते थे।

जैन धर्म में ज्ञान संकलन करने वाले गणेश अर्थात् गणधर की मान्यता है। यहाँ भी वे ज्ञान के १२ अंगों और १४ पूर्वों के संकलनकर्ता माने जाते हैं। तीर्थंकरों के सात साधुओं के संघ्र का नियमाक गणधर को ही मानते है। डॉ. सम्पूर्णानन्द ने पं. कैलाशचन्द शास्त्री के आधार पर सूचित किया है कि जिनेन्द्र भगवान को गणेश और विनायक कहते थे। विवाह के समय विनायक यन्त्र की पूजा की जाती है। श्वेताम्बर सम्प्रदाय में पार्श्वनाथ, गजमुख वाले पार्श्वयक्ष की प्रतिमाओं में प्रदर्शित होते है।

बौद्ध धर्म में 'गणपति हृदय' नेपाली बौद्ध साहित्य का एक प्रमुख ग्रन्थ है। गणपति से अभिप्राय यहाँ गणेश से है। वज्रयान शाखा में श्रीगणेश की स्तुति के बिना मंत्रों के सिद्ध न होने की बात स्वीकार की गयी है। एच. हेरास (H. Heras) ने अपनी पुस्तक 'दी प्राब्लम आफ गणपति' में गणेश की महत्ता को व्यक्त किया है। भारत के बौद्ध धर्म में गणेश की पूजा को ज्यों का त्यों हिन्दू धर्म की तरह अपने में स्वीकार कर लिया गया है। वज्रयान शाखा के साधकों ने श्रीगणेश को अपनी साधना की सिद्धि के लिए एकमात्र सहायक माना है। महायान के समय से बौद्धों में गणेश पूजा प्रारम्भ हुई। गणेश जी का स्वरूप भी कुछ इसी प्रकार का है कि बुद्ध मूर्ति में महापुरुष लक्षणों की तरह इनका भी आकार लक्षणयुक्त दिखता है।

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

स्मृतियों में गणेश की चर्चा मिलती है, पर यह बहुत न्यून है। सम्भवतः सामाजिक ग्रन्थ होने के कारण इसमें इनकी आवश्यकता महसूस नहीं की गयी होगी। लौगाक्षीस्मृति में उल्लिखित है कि गणेश से भी वस्तुओं की याचना करनी चाहिए। यह माहेश्वर की मूर्ति हैं। याज्ञवल्क्य स्मृति के आचाराध्याय में एक समूचे प्रकरण के वर्णन को 'गणेश प्रतिकल्प' कहते हैं। यहाँ गणेश जी द्वारा विघ्नों के शान्त करने का उल्लेख है तथा एक लम्बी तालिका द्वारा विनायक के चंगुल में फंसने तथा उससे उद्धार के भी उपाय का वर्णन है। मानव गृह्यसूत्र में चार विनायकों की चर्चा है-शालकटकट, कुष्माण्डराजपुत्र, अस्मित तथा देवयजन।

पौराणिक काल में गाणपत्य सम्प्रदाय समाज में मान्य हो चुका था। इनसे सम्बन्धित कई कथाएँ पुराणों में मिलती हैं। शिव पुराण से ज्ञात होता है कि स्नान के लिए गई पार्वती ने अपने शरीर के मैल से मानव आकृति को निर्मित कर द्वारपाल के स्थान पर स्थापित कर दिया था कि कोई अन्दर न आ सके। शंकर इसी वीच आये। जब उन्हें अन्दर प्रवेश करने से द्वारपाल ने रोका तो देवताओं और शिवगणों के साथ उनका युद्ध हुआ। अपराजित द्वारपाल की हत्या शंकर ने स्वयं कर दी। स्नान से लौटी पार्वती इसे देखकर क्रोधित हो शंकर के साथ संघर्ष की। इसमें पराजित देवताओं ने गणेश को जीवित करने के लिए हाथी का मस्तक काटकर उसके मस्तक पर जोड़ दिया। एक पुराण के अनुसार गणेश कृष्ण के अंश है। जब पार्वती को पुत्र नहीं उत्पन्न हुआ तव उपासना करने के कारण श्रीकृष्ण स्वयं उनके घर पहले भिखारी रूप में आये और पीछे भीतर जाकर वालक रूप में विस्तर पर लेट गये। एक पुराण में वर्णित है कि एक गुफा के अन्दर परशुराम प्रवेश करने लगे थे तब गणेश ने उन्हें रोका। इस पर क्रुद्ध परशुराम ने अपने परशु से प्रहार कर उनका एक दंत काट दिया। तबसे वह एकदन्ती हुए। इनका विवाह शिव ने दो कन्याओं ऋद्धि और सिद्धि के साथ किया था। गणेश सम्बन्धी अनेक कथाओं का ज्ञान पुराणों से विशेष रूप से प्राप्त होता है यथा गणेश पुराण, पद्म पुराण, स्कन्द पुराण, शिव पुराण, ब्रह्मवैवर्त पुराण आदि।

वैष्णव सम्प्रदाय में भी गणेश की मान्यता है। ऐसा विश्वास है कि जब तक गणेश विघ्नों को दूर नहीं करते तब तक परमात्मा की प्राप्ति नहीं होती। यह बात चारों वैष्णव सम्प्रदायों और उनसे सम्बन्धित सब शाखाओं में स्वीकार की गयी है। पांचरात्र का साहित्य बहुत विशाल है। इसमें १०८ संहिताएँ हैं। उनमें 'श्रीविष्वक्षेन् संहिता' में गणेश के दक्षिणपंथी आराधना का विस्तृत वर्णन है। इस संहिता में भगवान् विष्वक्षेन् का गणेश जी के रूप में अवतरित होने का उल्लेख है।

योगसाधना भी गणेश की मान्यता को स्वीकार करता है। श्रीगणेश को षटचक्र साधनयोग का आधार स्वीकार किया गया है। मूलाधारचक्र जहाँ से कुण्डलिनी जागृति की जाती है वहीं से इनका सम्बन्ध बताया गया है। 'योगमार्ग प्रकाशिका गीता' में गणेश का वचनामृत उद्धृत है। यही 'गणेश गीता' के नाम से भी जाना जाता है। इस प्रकार गणेश जी योगियों के परमश्रृध्येय हैं। वे योगशास्त्र के तत्वक और योग प्राप्य ब्रह्म है।

मूर्ति कला के क्षेत्र में गणेश की मूर्तियाँ भारत में ही नहीं विश्व के सभी भागों से प्राप्त हुई हैं। सामान्यता इनकी मूर्तियाँ चतुर्भुजी हैं। उनके हाथों में परशु, मोदक, त्रिशूल, कमल, अंकुश,

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

नाग, फल, अक्षमाला, स्वदन्त आदि में से कोई चार होना चाहिए। इनका निकला हुआ बड़ा पेट, भारी शरीर, ललाट पर उभरी तीसरी आँख, मस्तक पर क्रीटमुकुट, सर्प का यज्ञोपवीत, व्याघ्रचर्म का वस्त्र, सूप की तरह बड़े कान, हाथी का मस्तक, टेढ़ा घुमा हुआ सूँढ़, मूषक की सवारी, ऋद्धि-सिद्धि और बुद्धि नामक दो पत्नियाँ मूर्तियों में प्रदर्शित होती हैं। इनकी मूर्तियाँ तीन प्रकार की हैं-स्थानक (खड़ी), आसन (बैठी) और नृत्य मुद्रा में। प्रायः मोदक के लिए हुए ये प्रदर्शित किये जाते हैं। ऐसी मूर्ति को मोदकप्रिय गणेश कहते हैं। प्रायः बहुत कम मूर्तियाँ लेखक गणेश को मिलती हैं जिनके दाहिने हाथ में कलम और बायें हाथ में पोथी होती है। इनकी स्वतन्त्र मूर्तियाँ और भित्तियों पर उकेरी गयी भी मिलती हैं। प्रायः प्रत्येक मन्दिर के गर्भ गृह के ललाट-बिम्ब पर गणेश की मूर्ति बनी होती हैं।

दयाराम साहनी ने सबसे पहले जयपुर के सांभर झील के पस के टीले से द्विभुजी गणेश की मिट्टी की पकी मूर्ति निकाली थी। इसी के साथ ग्रीक शासक एण्टीमेकसनिकोफर की एक मुद्रा भी मिली थी जिसकी तिथि १३० ई. पूर्व है। अतः यह मूर्ति दूसरी शताब्दी ई. पूर्व की बनी होगी। बंगाल के चौबीस-परगना जिले में गणेश और शक्ति की मिट्टी की पकी मूर्तियाँ भी इसी समय की प्राप्त हुई हैं। इनके आठ अवतारों की बात भी मुद्गल पुराण से ज्ञात होती है। इनसे सम्बन्धित मूर्तियाँ भी विभिन्न स्थानों से मिली हैं। गणेश की प्राचीनतम मूर्तियाँ यक्षों और नागों की प्रतिमाओं का प्रतिरूप ज्ञात होती हैं। ये ईसा से कई शताब्दी पूर्व की हैं जो मथुरा, विदिशा और पवाया आदि से मिली हैं। अमारवती से प्राप्त एक शिलापट्ट पर दूसरी शताब्दी के गजानन यक्ष का अंकन मिला है जिसके कान और मुख हाथी के समान हैं। ऐसी ही एक मूर्ति मथुरा से भी मिली है। इसके बाद हिन्दू, बौद्ध और जैन देव मूर्तियों के साथ गणेश की मूर्तियाँ भी बनने लगी थीं। पर गुप्त युग से इनकी स्वतंत्र मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। मथुरा संग्रहालय में इस समय की एक द्विभुजी मोदक प्रिय गणेश की मूर्ति मिली है। भूमरा से लम्बोदर की बैठी मूर्ति मिली है। गुजरात के शामलाजी से गणसहित इसी समय की मूर्ति प्राप्त है। पांचवी सदी में द्विभुजी मोदकप्रिय गणेश की मूर्ति बनी थी जो उदयगिरि में रखी है। झांसी के देवगढ़ से गणेश की चतुर्भुजी मूर्ति मिली है। गुजरात के टिम्पोई से पार्वती के साथ नृत्यगणेश की मूर्ति मिली है। आठवी से दसवीं शताब्दी के बीच प्रतिहार कालीन राजस्थान के पटियाला स्तम्भलेख के ऊपरी भाग पर चार दिशाओं की ओर मुख किये हुए गणेश की चार मूर्तियाँ मिली हैं। इसी समय जोधपुर के मण्डोल के पास रावण की खाई के समीप सप्तमातृकाओं के साथ गणेश का अंकन हुआ है। ओसिया के सूर्य मन्दिर के बाहरी भाग पर गणेश की मूर्ति बनी है। वहाँ से अन्य प्रतिहार मूर्तियाँ भी प्राप्त होती है। कन्नौज से प्राप्त चतुर्भुजी नृत्य गणपति की मूर्ति मिली है। ऐसे नृत्य गणपति की मूर्तियाँ भारत कला भवन, वाराणसी तथा ग्वालियर संग्रहालय में रखी गयी हैं। अमेरिका के वर्जिनिया संग्रहालय में नृत्य गणपति की एक अष्टभुजी प्रतिमा है जो चार विभिन्न मुद्राओं में नृत्य करती हुई प्रदर्शित है। उसके बदन पर सिन्दूर का चिन्ह भी है। 'क्लिवलैण्ड म्यूजियम आफ आर्ट' में नृत्य मुद्रा में खण्डित हाथों वाले गणेश की मूर्ति विद्यमान है। ऐसी ही एक नृत्य गणपति की मूर्ति जिसके दाहिने हाथ में परशु है राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली में है। प्रतिहार काल की दसवीं शती की चतुर्भुजी गणेश की आसन पर लक्ष्मी के साथ बैठी एक मूर्ति है जो भूमरा से प्राप्त बोस्टन म्यूजियम में रखी गयी है। मध्य प्रदेश से प्राप्त इसी प्रकार की

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

मूर्तियाँ मथुरा, कलकत्ता और नई दिल्ली के संग्रहालयों में हैं। चौहान शासकों के समय की स्थानक गणेश की मूर्तियाँ मिली हैं जिनके हाथ में पद्म, परशु, अक्षमाला और मोदक पात्र हैं। तोमर राजाओं के समय के चतुर्भुजी गणेश की मूर्ति प्राप्त हुई है। चन्देल राजाओं द्वारा निर्मित मध्य प्रदेश के खजुराहों के मन्दिरों से द्विभुजी, चतुर्भुजी, षट्भुजी आदि गणेश मूर्तियाँ स्थानक, आसन और नृत्य स्थिति में कभी अकेले, कभी अपनी शक्ति के साथ बहुत बड़ी संख्या में मिली हैं। खजुराहों संग्रहालयों में एक आदमकद नृत्य गणेश की मूर्ति रखी गई है तथा यहीं एक स्वतंत्र मूषक का भी मोदक पात्र पकड़े मूर्ति है। चेदि और है हय वंशी शासकों के मन्दिरों में गणेश की मूर्तियाँ मिली है। रायपुर संग्रहालय में गणेश की एक कांसे की बड़ी सुन्दर मूर्ति रखी है। जबलपुर के भेड़ाघाट की चौसठ योगिनियों के मन्दिर में नृत्य गणपति की अनुपम मूर्ति उपलब्ध है। गढ़वाल शासकों के समय की कामपिल्य, जिला फर्रुखाबाद, से प्राप्त नृत्य गणपति की मूर्ति लखनऊ संग्रहालय में है। पाल राजाओं के समय की विहार से प्राप्त एक मूर्ति पटना संग्रहालय में तथा वंगाल से प्राप्त मूर्ति मद्रास संग्रहालय में विद्यमान है। चतुर्मुखी शिवलिंग पर इस समय गणेश का अंकन भी इस समय किया जाता था जो काशी नरेश के संग्रहालय में है। चालुक्य कालीन बादामी की गुफाओं में भी गणेश की मूर्तियाँ मिली हैं। चोल काल में बनी गणेश की चतुर्भुजी मूर्ति तंजौर से मिली है। होयसल कालीन मन्दिरों में भी इनकी मूर्तियाँ रखी हैं। इस समय की एक मूर्ति तो दसभुजी है जिसके हाथों में विविध आयुध हैं।

गणेश सम्प्रदाय

गणेश का जन्म किसी माता या योनि से नहीं हुआ है। इनके विभिन्न गुणों के कारण ही इनको विविध नामों से सम्बोधित किया गया है। 'शितत्वानिधि' नामक ग्रन्थ में कर्नाटक के राजा मुम्मडि कृष्णराज ओयटर ने ३२ गणपतियों के नाम-रूपों का उल्लेख किया है।

गाणपत्य सम्प्रदाय में छः भेदों के होने का ज्ञान प्राप्त होता है। १. महागणपति सम्प्रदाय २. हरिद्रागणपति सम्प्रदाय ३. उच्छिष्ट गणपति सम्प्रदाय ४. नवनीत गणपति सम्प्रदाय ५. स्वर्णगणपति सम्प्रदाय ६. संतानगणपति सम्प्रदाय।

गणेश का स्वरूप और परिवार-वह विशालकाय एवं तपाये हुए स्वर्ण सरीखे प्रकाश वाले हैं। वह लम्बोदर हैं। वह बड़ी-बड़ी आँखों वाले तथा एक दन्ती हैं और मुञ्ज की मेखला कृष्णमृगचर्म और सर्प का यज्ञोपवीत धारण किये हुए हैं। उनके ललाट पर बालचन्द्र है, उनका शरीर रत्नों से अलंकृत, अद्भुत माला धारण किये हुए, हाथी के मुख वाले, सुन्दर कानों से विभूषित, पाश और अंकुश धारण करने वाले हैं। उनके अनेक विग्रह उपलब्ध है जैसे-बालगणपति, तरुणगणपति, भक्तिविघ्नेश्वर, लक्ष्मीगणपति, महागणपति, उच्छिष्ट गणपति, हेरम्बगणपति, प्रसन्नगणपति, ध्वजगणपति, हरिद्रागणपति, एकदन्त, केवलगणपति आदि। ये द्विभुजी, चतुर्भुजी, षटभुजी, अष्टभुजी, षोडषभुजी आदि हैं। इनका रंग चन्द्रमा की तरह श्वेत, कहीं सूर्य की तरह लाल, कहीं सोने की तरह पीला आदि बताया गया है। इनका मुकुट मोतियों और रत्नों से जटित है। मस्तक पर सिन्दूर शरीर पर चन्दन, गले में मोती के माला, रत्न जटित बाजूबन्द, अंगूठी, कर्धनी, लाल वस्त्र आदि से ये युक्त हैं। उनका उत्तरीय तारागणों से सुशोभित है। उनका सूँड़ दाहिने तथा बायें दोनों ओर मुड़ा हैं। डॉ. गोपीनाथ राव (Dr. Gopinath Rao) के अनुसार जब सूँड़ दक्षिण की ओर

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

मुड़ता है तो तमिल भाषा में उसे 'बल्लमबुरी' कहते है और जव उत्तर की ओर मुड़ता है तो उसका भी इसी प्रकार का एक तमिल नाम दिया गया है। इनके परिवार में इनकी दो पत्नियाँ सिद्धि और बुद्धि का ज्ञान विभिन्न पुराणों से प्राप्त होता है। मूर्तियों में भी इनके वाम भाग में सिद्धि और दाहिने भाग में बुद्धि होती है। ये दोनों ब्रह्मा की पुत्रियाँ हैं। इनके अतिरिक्त पुष्टि को भी इनकी पत्नी बताया गया है। इनसे दो पुत्र थे-सिद्धि से क्षेम और बुद्धि से लाभ। रूपमण्डल में गणेश के पार्षद और प्रतिहारों का भी विवरण है। उनके आठ द्वारपाल हैं जो दो-दो की संख्या में चारों द्वारों पर खड़े रहते हैं। ये हैं– अविघ्न और विघ्नराज, सुवत और वलवान, गजकर्ण और गोकर्ण तथा सुसम्य और शुभदायक। ये आठों वामनाकार हैं। इनका स्वभाव सौम्य और मुख कठोर है।

गणेश के वाहन सिंह, मयूर, मूषक बताये गये हैं। सतयुग में इनका वाहन सिंह, त्रेता में मयूर, द्वापर में मूषक तथा कलियुग में धूर्मवर्ण है। इनका सबसे प्रसिद्ध वाहन मृषक वताया जाता है। डॉ. सम्पूर्णानन्द की पुस्तक 'गणेश' के अनुसार गजमुखासुर दैत्य से गणेश का युद्ध हुआ था जिसमें इनका दाँत टूट गया था। इसी एक दाँत से उन्होंने गजमुखासुर पर ऐसा प्रहार किया कि वह चूहा बनकर भागने लगा। तब तक गणेश ने उसे पकड़ लिया। तब से वह उनका वाहन बन गया।

गणेश जी के यों तो अनन्त नाम शास्त्रों में लिये गये हैं किन्तु उनके १२ नाम प्रमुख हैं जिनका उच्चारण प्रत्येक मंगलमय कार्य के समय, हिन्दू धर्म संस्कार तथा पूजन के समय प्रत्येक सम्प्रदाय में लिया जाता है। ये निम्न हैं –१. सुमुख (सुन्दर मुख वाले) २. एकदन्त (एक दाँत वाले) ३. कपिल (कपिल वर्ण वाले) ४. गजकर्ण (हाथी के कान वाले) ५. लम्बोदर (लम्वे पेट वाले) ६. विकट (भयंकर) ७. विघ्ननाशन (विघ्न दूर करने वाले) ८. विनायक (विशिष्ट नायकोचित गुण वाले) ९. धूम्रकेतु (धुएँ के रंग के पताका वाले) १०. गणाध्यक्ष (गणों के अध्यक्ष) ११. भालचन्द्र (मस्तक पर चन्द्रमा धारण करने वाले) १२. गजानन (हाथी के मुख वाले)।

सुमुखश्चैकदन्तश्च कपिलो गजकर्णकः।
लम्बोदरश्च विकटो विघ्ननाशो गणाधिपः।
धूम्रकेतुर्गणाध्यक्षो भालचन्द्रो गजाननः।
द्वादशैतानि नामानि यः पठेच्छृणुयादपि।।
विद्यारम्भे विवाहे च प्रवेशे निर्गमे तथा।
संग्रामे संकटे चैव विघ्नस्तस्य न जायते।।

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

अध्याय-१०

स्कन्द कार्तिकेय

"The continuous rule of the foreigners in the period of our discussion gave rise of a national feelling which ultimately worked behind the rise of Kartikeya cult in India." -हरपद चक्रवर्ती

सकन्द कार्तिकेय का उल्लेख सर्वप्रथम हमारे धार्मिक ग्रन्थ महाकाव्यों में मिलता है। इनकी उत्पत्ति रामायण में गंगा से बताई गई है। वहाँ वर्णित है कि अग्नि ने गंगा का अभिषेक किया था। उससे जो भ्रूण बना उसको गंगा ने हिमालय में फेक दिया। वहाँ उसका पालन-पोषण कृत्तिकाओं ने किया। इसी से उन्हें 'कार्तिकेय' कहा जाता है। यही कथा कुछ अन्तर से महाभारत में भी वर्णित है। वहाँ भी इनके पिता अग्नि ही कहे गये हैं पर इनकी माता गंगा न होकर स्वाहा हैं जो अग्नि की पत्नी है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि अग्नि को शिव का रूप माना गया है। इसी से यह भी माना जाता है कि कार्तिकेय शिव के पुत्र हैं। पीछे इनको शिव का ही रूप मान लिया गया। इनका निवास जंगल बताया गया है तथा वाहन मयूर। यही कारण है कि कार्तिकेय की मूर्तियाँ प्राय: मयूर पर आरूढ़ बनी हैं। मयूर एक वन्य पक्षी है जो कार्तिकेय का वाहन है। इनके स्वामी रुद्र और यह उनके गण हैं। रुद्र शिव के रूप में हैं। कार्तिकेय भी वन में रहने के कारण शिव के ही एक गण के रूप में पूजित होते हैं। इन्हें देवताओं का सेनापति भी कहा जाता है। स्कन्द और विशाख को भी एक माना जाने लगा था क्योंकि विशाख भी स्कन्द के दक्षिण भाग से निकले हैं। जब इन्द्र ने स्कन्द पर वज्र से प्रहार किया था तो उनके दक्षिण भाग से विशाख निकले थे। अत: पहले वे अंशी रूपों में पूजे जाते थे जो पीछे एक ही रूप में पूजित होने लगे। डॉ. भण्डारकर के अनुसार दोनों देवताओं के एकीकरण के लिए महाभारत में यह कहानी कही गई होगी। लेवी महोदय ने एक नया अनहोना तर्क दिया है कि सिकन्दर महान को देवता के रूप में ग्रहण करने के लिए 'स्कन्द' की कल्पना की गई। पर डॉ. चट्टोपाध्याय के अनुसार यह विचार भारतीय मान्यताओं के एकदम विपरीत है। अत: इसे स्वीकार नहीं किया जा सकता कि एक विदेशी ऐतिहासिक व्यक्ति को जो भारत में आक्रमणकारी होकर आया हो उसे यहाँ के लोगों द्वारा देवता स्वीकार कर लिया जाय। इन्होंने यह भी कहा है कि महाकाव्यों के विवरण के पीछे कोई ऐतिहासिक आधार नहीं ज्ञात होता केवल कार्तिकेय की मान्यता को ही उस ग्रन्थ में प्रतिपादित किया गया है।

महाभाष्य से ज्ञात होता है कि मौर्य शासक स्वर्ण के लालच में शिव, स्कन्द और विशाख की मूर्तियाँ बेचते थे। इस विवरण से दो बातें विदित होती हैं- एक यह कि इनकी पूजा होती थी

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

तथा दूसरे कि इनकी पूजा के लिए मूर्तियाँ बनाकर बेची भी जाती थीं। यहाँ स्कन्द और विशाख का अलग-अलग उल्लेख उनके बीच भेद का द्योतक है जो पीछे एक में समाहित हो गये। अत: मूलत: ये दोनों अलग-अलग देवता थे।

शुंग काल में कार्तिकेय की मान्यता थी। पाणिनि ने शिवद्व स्कन्द और विशाख की मूर्तियों का उल्लेख किया है। पातंजलि ने मौर्यों के समय से चली आती हुई स्कन्द पूजा का वर्णन किया है। इसको उन्होंने 'शारवणभव' तथा 'शरजन्मा' कहा है। ये दोनों ही नाम उन्हें इसलिए दिये गये हैं कि जैसा ऊपर रामायण के विषय में कहा गया है कि गंगा ने अपने इस गर्भ को शरवन में छोड़ दिया था जहाँ उनका पालन हुआ। इससे यह शरवन में जन्मे जाने जाते हैं। पर महाभाष्य में कहीं भी कार्तिकेय सम्प्रदाय का उल्लेख नहीं है। वहाँ केवल मूर्तियों की ही चर्चा मात्र मिलती है। इससे लगता है कि तब यह सम्प्रदाय के रूप में व्यापक नहीं हो सका था।

बलापहारियों में शक और कुषाण भी कार्तिकेय के उपासक थे। शकों का प्रधान श्रीधरवर्मन कार्तिकेय का उपासक था। इसका ज्ञान कनखेरा अभिलेख से प्राप्त होता है। यह शकों के द्वारा उत्पन्न संकट काल में अपने राज्य की सुरक्षा के लिए युद्ध के देवता कार्तिकेय का उपासक बन गया होगा कि वह संकट से उसकी रक्षा करें।

कुषाण शासकों द्वारा भी यह ज्ञात होता है कि उस समय यह पूजित थे। कनिष्क के सिक्के के पृष्ठ भाग पर इनकी तीन भिन्न आकृतियों के साथ चार नाम उत्कीर्ण हैं- 'स्कन्दो', 'महासेनो', 'कुमारो' और 'विजागो'। इनमें स्कन्द तो परम्परा से इनका नाम था। विजागो विशाख का बोधक है जिसकी चर्चा ऊपर महाकाव्यों के संदर्भ में की गई है कि यह इन्हीं का अंशी होने के कारण इनका ही रूप था। देवताओं के सेना का नायक होने के कारण इनका नाम महासेनो भी था। शंकर कुमार होने के कारण इनको कुमार नाम से भी सम्वोधित किया जाता था। हुविष्क के सिक्के इस बात के प्रमाण हैं कि द्वितीय शताब्दी में इनका सम्मानित स्थान था। The coins of Harviska show how this god was held in high veneration in India in the ,,nd cent. B.C. इसी काल के कानपुर के पास लाह भगत के एक लाल प्रस्तर स्तम्भ के खण्डित अभिलेख में 'कमाखर' का उल्लेख भी इन्हीं की ओर संकेत करता है। यहाँ कुषाण सिक्कों पर अंकित चार नामों के विषय में जिनकी चर्चा अभी कर चुके हैं डॉ. भण्डारकर का मत है कि ये चारों अलग-अलग देवता थे। पर डॉ. राखल दास बनर्जी इसको स्वीकार नहीं करते। वे एक ही के चारों नाम मानते हैं।

इसी काल के लगभग जनपद और गणराज्यों के सिक्कों पर भी इनकी आकृतियाँ खुदी हैं। डॉ. हरपद चक्रवर्ती के अनुसार इनके पीछे कारण था कि ये जनपद युद्धप्रिय थे जो इस युद्ध के देवता की पूजा करते थे। इनका विस्तार पंजाब, उज्जैनी तथा अयोध्या के सिक्कों एवं मुद्राओं से देखा जा सकता है। औदुम्बर के सिक्के कार्तिकेय अंकित सतलज और रावी नदियों के बीच में प्रचलित थे। उज्जैनी के सिक्कों में मुख्यत: तीन प्रकार ऐसे हैं जिन पर कार्तिकेय की आकृतियों का अनुमान होता है। पर यह सामान्यतया स्वीकार्य नहीं है। अयोध्या के शासक विजयमित्र के सिक्कों पर एक में एक स्तम्भ के शीर्ष पर मयूर उत्कीर्ण है। रोहतक से जो यौधेयों का केन्द्र स्थल था, बहुत से सांचे सिक्कों के निर्माण करने के प्राप्त हुए हैं जिनमें से एक पर लेख अंकित है–

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

'यवधेय-भागवत-स्वामिनो ब्रह्मणयस'

दूसरे पर अंकित है–

'भागवत-स्वामिनो ब्रह्मणदेवस्य कुमारस्य'

इससे लगता है कि यौधेय कार्तिकेय को अपना शासक मानकर उसके प्रतिनिधि के रूप में शासन करते थे। चूँकि यह युद्धप्रिय गण था इसलिए इसने युद्ध के देवता स्कन्द को अपना अधिष्टाता स्वीकार कर लिया होगा। ईसी से लगता है कि इन्होंने सात वर्षों तक कुषाणों को मध्य भारत से बहिष्कृत कर दिया था जिससे उनका कोई भी अभिलेख १३८ से १४५ ई. तक यहाँ प्राप्त नहीं होता। रुद्रदामन के जूनागढ़ अभिलेख में भी इन्हें अपराजित कहा गया है। कौशाम्बी के मग शासक भी भीटा से प्राप्त मिट्टी की मुहरों पर जो गौतमीपुत्र वृषध्वज का है, अंकित लेख के आधार पर अपना राज्य कार्तिकेय को समर्पित कर दिया थ। इसका कारण यह था कि गुप्त शासकों से अपनी सुरक्षा के लिए ये इस युद्ध के देवता को अपना राज्य समर्पित कर शासन करते थे। चन्द्रगुप्त प्रथम के विषय में ज्ञात होता है कि उन्होंने इनका राज्य समाप्त किया था।

गुप्त काल में भी इस देवता की महत्ता थी। इनकी प्रधानता के ही कारण सम्भवत: कुमारगुप्त प्रथम ने अपने पुत्र का नाम इन्हीं के नाम पर स्कन्दगुप्त रखा था। इनके विहार स्तम्भ लेख में स्कन्द का उल्लेख है। कुमारगुप्त ने कार्तिकेय प्रकार के सिक्के भी चलवाये थे। कालिदास ने मयूर पर आरूढ़ अनेक मूर्तियों का उल्लेख किया है। कालिदास की कृति कुमारसंभव भी इसी ओर इंगित करता है और वहाँ कुमार के जन्म सम्बन्धी कथा भी कुछ इसी प्रकार से मिलती जुलती है। इसी समय का बना भिलसंड में स्कन्द का एक मन्दिर है जिसे 'स्वामी महासेन' नाम से जाना जाता है क्योंकि स्कन्द को 'महासेनापति' भी कहा गया है। इसी प्रकार देवगिरि पर भी स्कन्द का एक मन्दिर निर्मित है। पुराणों में भी स्कन्द के कथानक मिलते हैं। इनमें वायु पुराण में स्कन्द को 'सुरसेनापतिः स्कन्द', ब्रह्माण्ड पुराण में 'जाह्नवीसुते' तथा 'शंकरामज', विष्णु पुराण में 'देवसेनापतिहरिः' आदि कहा गया है। इन सभी में स्कन्द के माता पिता पार्वती और शंकर बताये गये हैं। ब्रह्माण्ड पुराण के अनुसार शंकर और पार्वती के रति में विघ्न उत्पन्न करने के लिए अग्नि को इन्द्र ने भेजा था। शिव का तेज अग्नि के लिए असह्य था। अतः उन्होंने गंगा में उसे स्थानान्तरित कर दिया। गंगा के लिए भी जब वह असह्य हो गया तो उन्होंने उसे शरवण में छोड़ दिया जहाँ उनका जन्म हुआ।

ऊपर के विवरणों से स्पष्ट है कि शंकर और पार्वती के इस पुत्र को जिनका जन्म शरवण में हुआ था और जिनकी मूर्तियाँ मयूर पर आरूढ़ हाथ में माला लिये मिलती हैं मुख्यतः युद्ध का देवता माना जाता था। इसी से युद्धप्रिय राजा और गण इनको अपना इष्ट मानते थे। साथ ही जो गण या जनपद भयाक्रान्त होता था वह इन्हीं को अपना राज्य सौंपकर शासन करता था। सम्भवतः इसी से इनका एक नाम 'कुमार' अर्थात् सदा युवा रहने वाला कहा गया है। अग्नि से इनको जोड़ने के पीछे कारण होगा कि यह अग्नि की तरह शत्रुओं को जला कर नष्ट करने वाले माने जाते होंगे। चूँकि शिव के गणों की तरह दुष्ट निवारक होने से इन्हें शिव के पुत्र के रूप में जोड़ा गया है। कार्तिक की रात्रि सबसे पवित्र मानी जाती है इसी से इन्हें कार्तिकेय कहा गया। इनका एक नाम षडानन भी है तभी इनकी मूर्तियों में इनके छः मुंह बने हैं। छः मातृ ताराओं की परम्परा

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

अत्यन्त प्राचीन है। वे युद्ध के देवता माने जाते हैं तथा युद्ध के लिए निर्धारित महीनों के अधिष्टाता के रूप में स्वीकार किए जाते हैं। सम्भवत: उन्हीं की शक्ति के केन्द्रीकरण की भावना के कारण एक शरीर तथा छः मुंहों की कल्पना इनके सम्बन्ध में की गई है। उमा के साथ इनका सम्बंध जोड़ने का कारण है कि उमा हिमालय की कन्या हैं। अत: यह भी हिमालय के क्षेत्र में पूजित रहे होंगे। शरवण की कल्पना आयुध के लिए की गई होगी क्योंकि पहले महाभारत में शर का प्रयोग ही आयुध के रूप में युद्ध में किये जाने का उल्लेख मिलता है।

इस प्रकार कार्तिकेय सम्प्रदाय अनेक छोटे-छोट धार्मिक सम्प्रदायों का समन्वय है। इसी से अपने अलग व्यक्तित्व के अभाव के कारण इनका भारत के धार्मिक जीवन में कोई स्वतन्त्र तथा महत्वपूर्ण स्थान नहीं बन सका। दक्षिण भारत में भी इनकी पूजा होती थी। वहां के अनेक राजवंश इनके भक्त थे। इनमें कदम्ब, चालुक्य, इक्ष्वाकु आदि का नाम उल्लेखनीय है। वहां के ग्रन्थों में स्कन्द-मुरुगन के पूजा का वर्णन है। यहां मुरुगन इसका एक उपनाम प्रतीत होता है। इसी प्रकार दक्षिण भारत में उनको कई उपनामों से जाना जाता था यथा-श्योन, बेलन आदि। इस देवता को युवा, रक्त वर्ण का तथा वीर माना जाता है, जिससे इसका स्कन्द-कार्तिकेय होना पुष्ट होता है।

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

अध्याय-११

सौर सम्प्रदाय-सूर्योपासना

सूर्योपासना का भारतीय धर्म में एक प्रमुख स्थान है। इसको विदेशी बताने का प्रयास कुछ विद्वानों ने किया है। पर यदि सभ्यता के विकास के साथ इसकी मान्यता का अध्ययन करें तो ज्ञात होता है कि यह सैंधव सभ्यता में किसी में किसी न किसी रूप में विद्यमान था। फिर वैदिक काल में इसकी महत्ता बढ़ी और बाद में विष्णु नारायण के साथ इसकी एकात्मकता के कारण इसका महत्त्व वैष्णव धर्म के विकास के साथ उसी में समाहित होने लगा था। फिर भी इसका अपना अस्तित्व बना रहा। इसी से कुछ पुरातन मुद्राओं पर इसकी आकृतियाँ मिली हैं तथा इसके मन्दिर और मूर्तियों का भी ज्ञान विकास कालीन अवस्था में देखने को मिलता है। इस आधार पर लगता है कि सौर्य सम्प्रदाय यहाँ प्रचलित था, भले ही इसकी स्थिति शैव या वैष्णवों की तरह व्यापक नहीं थी।

ईसा पूर्व काल तक

सैंधव सभ्यता में बहुत स्पष्ट तो नहीं पर प्रतीक रूप से सूर्य की स्थिति का ज्ञान मुहरों पर अंकित आकृतियों से होता है। कुछ मुहरों पर गोल आकृति के चारों ओर रेखाएँ निकलती हुई दीखती हैं। यदि इसको हम सूर्य और उसकी किरणों का प्रतीक मान लें जो मानना स्वाभाविक है, तो हम कह सकते है कि सिन्धु घाटी में सूर्योपासना थी। पर इस प्रकार की आकृतियों का बहुत कम मिट्टी की मुहरों पर पाया जाना सिद्ध करता है कि इस काल में इस धर्म का स्वरूप व्यापक नहीं था। यह भी बहुत सपष्ट नहीं कहा जा सकता कि ये खेल के लिए बनाये जाते थे या पूजा के लिए।

वैदिक काल में सूर्य की मान्यता व्यापक हो चली थी। ऋग्वेद में दस मंत्र सूर्य की स्तुति में दिये गये हैं। वैदिक गायत्री को यदि देखा जाय तो वह सूर्य की स्तुति को हीं व्यक्त करती है। इसमें सूक्तों में सूर्य के रथ को जिसमें वे विराजमान होते हैं एक से लेकर सात घोड़ों द्वारा खींचे जाने की चर्चा की गई है जो पीछे सूर्य के प्रतिमाशास्त्रीय स्वरूप से पूर्ण मेल खाता है। इनका सम्बन्ध उषा के साथ स्थापित किया गया है। पर उषा के साथ इनका सम्बन्ध विभिन्न बताया गया है जैसे उषा के पुत्र, उषा के पति, उषा के प्रेमी। इसका अभिप्राय यह प्रतीत होता है कि उषा और सूर्य का सम्बन्ध इस समय स्थापित तो हो गया था पर उसका स्वरूप निर्धारित नहीं हो पाया था। वह संसार के जंगम और जड़ जीवों की आत्मा कहे गये हैं-**'सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुपश्च'**। इस युग में वे प्रकृति के रूप में थे। ऋग्वेद की एक ऋचा में सूर्य को अग्नि का रूप कहा गया है। सूर्य के अनेक नामों का ज्ञान ऋग्वेद से मिलता है यथा आदित्य, सविता,

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

प्रसविता, विवस्वान आदि। यह इनकी व्यापकता का बोधक है। सूर्य और आदित्य को भिन्न बताते हुए यहाँ कहा गया है कि आदित्य सूर्य का मार्ग बनाते हैं पर यहीं एक स्थल पर उदयकालीन सूर्य के लिए आदित्य का नाम प्रयुक्त किया गया है। इस प्रकार सूर्य और आदित्य के बीच दो विरोधी बातें ज्ञात होती है। इसका एक नाम सविता और प्रसविता भी यहाँ लिया गया है। विवस्वान् का उल्लेख प्रातःकालीन सूर्य के लिए किया गया है। इसी पर समस्त जगत् को आधारित बताया गयी है। यह दिन और रात्रि का मापन करते हैं। इसकी उपासना का उद्देश्य पाप का निवारण बताया गया है।

शतपथ ब्राह्मण के कथा से विष्णु और सूर्य के एकीकरण का ज्ञान मिलता है। इसमें वर्णित है कि एक बार विष्णु एक धनुष के सिरे पर अपना सिर रखकर विश्राम कर रहे थे कि देवताओं ने उसकी प्रत्यंचा काटने के लिए चीटियों को भेजा। उनके द्वारा प्रत्यंचा काटे जाने पर धनुष का वह सिरा सहसा ऊपर उछला और विष्णु का सिर उसके प्रवाह से धड़ से अलग होकर ऊपर उछल पड़ा। वहाँ से यह नीचे **'घ्रिन'** शब्द करने के साथ गिरा। तब उसका स्वरूप सूर्य का था। तभी से 'घ्रिन' शब्द तांत्रिकों द्वारा सूर्य की उपासना के लिए मंत्र स्वरूप स्वीकार किया गया। इस विवरण से स्पष्ट है कि उत्तर वैदिक काल में भी सूर्योपासना प्रचलित थी।

महाकाव्यों के समय वैदिक धर्म की प्रधानता घटने लगी थी। सूर्य की महत्ता इस समय इसलिए व्यापक नहीं थी कि सूर्य के अधिकांश अवयव विष्णु में समाहित माने जाते थे। साथ ही पाशुपत शैव सम्प्रदाय का विरोध भी अब व्यापक रूप ले चुका था। फिर भी सूर्योपासना सम्बन्धी स्फुट विवरण प्राप्त होते हैं। रामायण के एक प्रसंग में कहा गया है कि एक ऋषि मन्दाकिनी नदी के तट पर उर्द्धव वाहु करके खड़ा होकर सूर्य की उपासना कर रहा था। महाभारत के समय पाशुपत शैवों द्वारा इसका विरोध खुलकर उनके रुद्र सम्बन्धी इस विवरण से सामने आता है कि रुद्र अपनी अदम्य शक्ति और भयावह स्वरूप से आकाशीय देवों की ओर लपके। क्रोधातुर रुद्र ने भग (सूर्य) की आँखे फोड़ दी। क्रोध के आवेश में वे पूषन पर अपने चरण से प्रहार किये। उस देवता के दाँतों को तोड़ दिये जब वह यज्ञीय भाग का आहार करने के लिए बैठा था। पर दूसरी ओर हमें महाभारत से ही ज्ञात होता है कि पांडवों की सेना में एक सौ आठ ऐसे थे जो सूर्योपासक थे। ग्रहस्थ तथा स्मार्त भी उनकी पूजा करते थे कि उनके प्रसन्न होने पर सम्पत्ति, गौरव और दीर्घायु प्राप्त होगी। इन विरोधी प्रसंगों से यह अर्थ निकाला जा सकता है कि शैवों और वैष्णवों के विरोध के कारण पाशुपत शैवों ने सौर्य सम्प्रदाय जो विष्णु से सम्बन्धित था, के साथ इस प्रकार के व्यवहार करने की कल्पना रुद्र के सम्बन्ध में की है।

सिकन्दर के साथ भारत पर विदेशी आक्रमण के समय यूनान के कुछ लेखक भी आये थे। उन्होंने यहाँ के सौर्य सम्प्रदाय के विषय में लिखा है कि भारतीय 'सोरोएडेयिसोस' (सूर्य देवता) की पूजा करतें थे। यह विष्णु की पूजा के साथ-साथ प्रचलित था। यद्यपि विष्णु ने, जो मूलतः एक सूर्य देवता ही थे, अपना प्रभाव समाज में बना लिया था। उसी से कर्टियस ने लिखा है कि पुरु की सेना जब बढ़ने को तैयार खड़ी थी तो 'हिरैकिल्स-विष्णु' की मूर्ति उसके सम्मुख लाई गई। यह शुभ के लिए किया गया होगा। यहाँ हिरैकिल्स सूर्य के लिए प्रयुक्त है और विष्णु के साथ इसका उल्लेख दोनों देवताओं के बीच का साम्य का बोधक है। पुल्टार्क ने झेलम के

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

तट पर सूर्य मन्दिर का उल्लेख किया है तथा फिलासट्रेटस तक्षशिला में भी इसके मन्दिर का स्थित होना बताया है। इससे स्पष्ट है कि पश्चिमी पंजाब में पांचवी शती ई. पू. में सूर्योपासना का विशेष चलन था।

भारतीय साहित्य में डॉ. भण्डारकर के अनुसार इतने पुराने समय से सूर्य मन्दिर की बात नहीं ज्ञात होती। वाराहमिहिर के अनुसार भारत में मग ब्राह्मणों द्वारा सूर्य मन्दिर का निर्माण कराकर सूर्य प्रतिमा पधराई गयी थी। ये मग शकों के लिए ब्राह्मण थे। वाराहमिहिर लगभग चतुर्थशती ई. पू. के हैं। क्या उस समय शक भारत में थे? इसके उत्तर में जे. प्रिनिलुस्थी ने बताया है कि शकों की एक शाखा पांचवीं शती ई. पू. में ही भारत में प्रवेश कर चुकी थी और जहाँ वे बसे थे उस स्थान को शाकल कहा गया। जो शक प्रथम शती ई. पू. में आक्रमण करते हुए आये थे वे दूसरी शाखा के थे तथा शकों का वह भारत में दूसरा प्रवेश था। पातंजलि से भी इसकी पुष्टि होती है। उसने 'शूद्रनां अनर्वसितानाम्' सूत्र के आधार पर बताया है कि उसके समय के शक न शूद्र माने जाते थे न उनके साथ खानपान की मनाही थी। उससे ज्ञात होता है कि ये भारतीय समाज में सम्मिलित हो चुके थे। अत: सौर सम्प्रदाय के विकास में इनका भी योगदान बना रहा।

शुंगकाल में उत्तरी और दक्षिणी दोनों ही भारतीय क्षेत्रों में इस धर्म को स्थान मिल चुका था। इसका प्रमाण है कि बोध गया (उत्तरी भारत) की कला और भाजा (दक्षिणी भारत) की गुफाओं में सूर्य की आकृतियाँ उत्कीर्ण की गई हैं। बोधगया के महाबोधि मन्दिर के पास की वेष्टिनी पर अंकित आकृति में उषा के साथ चार घोड़ों द्वारा खींचे जाते हुए रथ पर सूर्य विराजमान हैं। कुछ विद्वान इस पर हेलेनेस्टिक कला का प्रभाव बताते हैं। पर कलाविद रालैण्ड के अनुसार इसमें कोई भी यूनानी तत्व नहीं दिखता। यह पूर्णत: भारतीय प्रतिमा शास्त्रीय आधार पर उत्कीर्ण है। भाजा के शैलोत्खात गुहा में उत्कीर्ण सूर्य आकृति में विदेशीपन बिल्कुल ही नहीं है। इससे स्पष्ट है कि विदेशी देवता सूर्य और उनके सम्प्रदाय ने पश्चिमी पंजाब में अपना स्थान बना लिया था जबकि वैदिक देवता सूर्य का प्रसार शेष भारत में था। इस प्रकार भारतीय सूर्योपासना पर विदेशी प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। सिक्कों के आधार पर इस समय सूर्योपासना का विकास ज्ञात होता है। स्थानीय सिक्कों पर सूर्य की आकृतियाँ इसके व्यापक प्रभाव की द्योतक हैं। इसका अंकन काड, उज्जैनी तथा पांचाल के सिक्कों पर देखने को मिलता है। काड के सिक्के भी पंजाब क्षेत्र से ही प्राप्त हुए हैं। इनके कुछ सिक्कों पर एक ओर सूर्य की आकृति है और दूसरी ओर अश्व की। कुछ पर सूर्य की खड़ी आकृति के बांये हाथ में भाला है और दाये हाथ में छोटा झोला। यह सम्भवत: अंधकार को बेधने के लिए भाला रखे हैं। कहीं-कहीं गोल आकृति के रूप में इनका प्रदर्शन हुआ है। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि इस समय सूर्योपासना पर बौद्ध मूर्तियों का प्रभाव था तभी सूर्य मूर्तियों के निर्माण में भी बौद्ध मूर्तियों का प्रभाव दिखता है रालैण्ड के अनुसार-**"Certainly even in primitive Buddhism, Sakyamuni had come to be identifeed with the Sun-God and his nativity linked to the rising of another sun,"** (निश्चय ही प्रारम्भिक बौद्ध धर्म में शाक्यमुनि की पहचान सूर्य देवता से की जाने लगी थी और उनका जन्म दूसरे सूर्योदय के रूप में जाना जाने लगा)।

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

भारत में बलापहारियों का द्वितीय आक्रमण ईस्वी सन् के आस-पास हुआ। इनमें ग्रीक-वख्त्री आक्रमणकारी पश्चिमी भारत में कुछ दिनों तक रहे जब तक की शकों का प्रवेश वहाँ नहीं हुआ। इन भारतीय ग्रीक-वख्त्री शासकों के समय के अनेक सिक्कों पर सूर्य की आकृतियाँ प्राप्त होती हैं। इनमें फिलाक्सेनस, टेफेलस, प्लेटो आदि के सिक्के विशेष उल्लेखनीय हैं जिन पर जूता पहने, विदेशी आकृति और स्वरूप में सूर्य की मूर्तियाँ अंकित हैं। यह मग जातीय सौर्य प्रतिमा का प्रभाव व्यक्त करता है। इसका कारण यह है कि मग ब्राह्मण, जैसा ऊपर देखा जा चुका है, सिकन्दर के आक्रमण के पूर्व पश्चिमी भारत में आ चुके थे। अब विदेशियों द्वारा शासित होने वाले उस क्षेत्र में उनको अपना प्रभाव बढ़ाने का अवसर मिला। इससे सूर्य पूजा में विदेशीपन प्रविष्ट होने लगा। पर अभी यह पश्चिमी भारत तक ही सीमित था। किन्तु इसने अपना मार्ग भारत के भीतरी भाग पर बनाना प्रारम्भ कर दिया था। इसी से भारतीय सौर सम्प्रदाय का प्रभाव आगे के दिनों में इस क्षेत्र में विकसित होता दीखता है।

शक-सीथियन, पार्थियिन और कुषाण अब भारत में प्रवेश किये। कुषाणों ने यहाँ अपना न केवल राजनीतिक प्रभाव जमाया वरन सांस्कृतिक प्रभाव भी स्थापित किया और भारतीय संस्कृति में घुलने-मिलने लगे। इसके परिणाम स्वरूप कुछ विदेशी तत्व भी उनके साथ हमारी संस्कृति में प्रविष्ट होने लगे तथा शकों पर भी भारतीयता की पूरी छाप पड़ने लगी थी जिससे पीछे ये पूर्ण भारतीय स्वरूप धारण कर लिये। इस समय विष्णु पुराण, भविष्य पुराण, गरुड़ पुराण आदि के अनुसार शाकद्वीप में सीथियन परम्परा में सूर्योपासना प्रचलित थी क्योंकि वहाँ मग ब्राह्मण थे जो भारत में एक नई परम्परा के सूर्योपासना की स्थापना के उत्तरदायी थे। इसी से वाराहमिहिर ने कहा है कि अब से जो भी राजा सूर्य का मन्दिर बनवायेगा वह मग ब्राह्मणों को अपना उपासक रखेगा। ये मग ब्राह्मण उत्तरी और सुदूर दक्षिणी भारत में फैलने लगे थे। टालमी के भूगोल से ज्ञात होता है कि ये तमिल, पाण्डय आदि देशों में फैल चुके थे। इससे इनकी विशेष पद्धति की सूर्योपासना ने अपना स्वरूप भारतीय सूर्य पूजा के साथ-साथ ग्रहण करना प्रारम्भ किया था। पर दक्षिण में अभी भी भारतीय परम्परा से ही सूर्योपासना का चलन था।

गांधार कला केन्द्र का विकास कुषाण शासकों के समय में विशेष रूप से हुआ। इसमें यूनानी शैली की भारतीय मूर्तियाँ बनती थीं। पहले यह कला भारत की पश्चिमी सीमा पर गांधार प्रदेश में ही स्थापित हुई। पर पीछे इसकी शैलीगत विशेषता भारत के शेष भागों में भी फैली। यहाँ की बनी एक सूर्य मूर्ति में सूर्य लम्बा ईरानी जूता पहने, चार घोड़ों द्वारा खींचे जाते रथ पर विराजमान हैं और उनके दोनों ओर दासियाँ हैं। रथ के नीचे दाढ़ीवाली आकृति सम्भवतः अंधकार को कुचलते हुए दिखाया गया है। इसमें स्पष्ट विदेशी प्रभाव दिखता है। यहाँ आकृतियाँ 'यामल' के अनुसार गांधार के ब्राह्मणों द्वारा बनाई जाती थीं जो मग थे तथा कला में सिद्धस्तता के कारण जिन्हें 'चित्रपण्डित' कहा गया है। इस प्रकार इस समय दो शाखाओं में सौर सम्प्रदाय यहाँ विद्यमान था-भारतीय और विदेशी जो क्रमशः समीप आकर एकाकार बनने लगे थे। इसी से उपपुराणों में कृष्णपुत्र शाम्ब की कथा आती है जो अपने कुष्ट निवारणार्थ शकद्वीपीय मग ब्राह्मणों को बुलाये थे जिन्होंने चन्द्रभाग नदी के किनारे निर्मित सूर्य मन्दिर में पूजाकर उनको कुष्ट से मुक्ति दिलाई थी। ये मग ब्राह्मण सूर्य और मिहिर गोत्रीय निकशुभा से उत्पन्न थे तथा कमर में करधनी

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

पहनते थे जो अव्यंग कहा जाता है। भारतीय ग्रंथों में सूर्य का एक नाम मिहिर आता है तथा जो करधनी सूर्य की मूर्तियों में बनी है उन्हें भी अव्यंग ही कहा जाता है। इस प्रकार आगे चलकर यह विदेशीपन भारतीय संस्कृति में समाहित हो गया।

किन्तु कुषाणकाल में यह प्रभाव अभी तक ही बना रहा क्योंकि कानपुर के एक गाँव में लाल-भगत से प्राप्त इस समय की सूर्य मूर्ति के स्तम्भ पर मयूर की आकृति का होना तथा उसके लेख 'कुमारवर' का अंकन स्कन्द कार्तिकेय के साथ इनकी समीपता दिखता है। डॉ. गोपीनाथ राव (Dr. Gopinath Rao) के मत में भागवत पुराण के अनुसार असुरों ने जब सूर्य पर आक्रमण किया तो उनके रक्षार्थ देवताओं ने उनके एक ओर स्कन्द और दूसरी ओर अग्नि को स्थापित किया जो पीछे दण्डनायक और पिंगल के नाम से जाने जाते हैं। उड़ीसा के अनन्त गुफा में प्रथम शती ई. की रथ पर विराजमान सूर्य मूर्ति, के साथ दो स्त्री सहयोगियों की आकृतियाँ अंकित हैं जिनमें एक पिंगला है। ये दोनों मूर्तियों वैदिक कालीन सूर्य परम्परा की द्योतक हैं। पर इसी समय की सूर्य की एक मूर्ति मथुरा संग्रहालय में रखी है जो कुषाण राजाओं की तरह विदेशी वेशभूषा सलूका, घुटने तक जूते में है। उसकी पहचान मात्र उसके हाथ में कमल होने से सूर्य प्रतिमा से की जाती है।

गुप्त काल के आने पर सौर सम्प्रदाय का विकास और अधिक हुआ। कालिदास ने रघुवंश में सूर्य के सात हरे अश्वों का उल्लेख किया है। इस काल की बनी अनेक सूर्य मूर्तियाँ भारतीय कला भवन, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय तथा मथुरा संग्रहालय में विशेष रूप से संग्रहीत हैं, जो इसकी व्यापकता को स्पष्ट करती हैं। साथ ही मग ब्राह्मणों को सूर्य मन्दिरों में पुजारी बनाये जाने की सिफारिश वराहमिहिर द्वारा किया जान मगों के द्वारा प्रसारित सूर्य पूजा की महत्ता की प्रधानता और व्यापकता को सिद्ध करता है। इस काल के प्राप्त अभिलेखों से ज्ञात होता है कि इस समय तीन सूर्य मन्दिरों का निर्माण हुआ था। कुमारगुप्त प्रथम और बंधुवर्मा के मंदसौर अभिलेख से तंतुवाय श्रेणी द्वारा दशपुर (गुजरात) में एक सूर्य मन्दिर बनवाया गया था। दूसरा इन्दौर में बना था जिसमें दीपक जलाने के लिए देवविष्णु नामक ब्राह्मण द्वारा अक्षयनीवि जमा करने की बात स्कन्दगुप्त के समय के इन्दौर अभिलेख में की गई है। तीसरा ग्वालियर में मातृचेट द्वारा गोपा पर्वत (जहाँ आज ग्वालियर का किला है) पर सूर्य मन्दिर की स्थापना का ज्ञान मिहिर कुल के ग्वालियर अभिलेख से होता है। इनसे विदित होता है कि मग-सूर्य सम्प्रदाय का विस्तार उत्तरी भारत में मध्य प्रदेश तक फैल चुका था। भीटा और बसरा से प्राप्त जिन मुहरों पर 'आदित्यस्य' या 'रविदास' अंकित है वे पूर्वी उत्तर प्रदेश और बिहार तक इस सम्प्रदाय के प्रसार को स्पष्ट करती हैं। इन मुहरों पर वेदी की आकृतियाँ बनी हैं। यह ईरानी परम्परा का द्योतक है। पर इस समय इसका पूर्ण भारतीयकरण हो चुका था तभी सूर्य के प्रतिमा शास्त्रीय लक्षणों में मत्स्य पुराण के अनुसार देशी और विदेशी परम्परा के मिले जुले रूप का उल्लेख है। जहाँ लाल शरीर, लम्बाकोट, मूँछ, विदेशी जूता एवं स्वरूप का निर्देश है वहीं भारतीय वस्त्र का उल्लेख है। दूसरी ओर इस काल की बनी दक्षिण भारतीय मूर्तियों में पूर्ण भारतीयता विद्यमान है क्योंकि उनके पैर नंगे हैं तथा उनके हाथ में पूर्ण विकसित कमल है जो वक्ष तक उठे हाथों में दीखते हैं। पर किरीट-मुकुट दोनों ही क्षेत्रों में समान रूप से दीखते है। इससे कहा जा सकता है उत्तर भारत

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

में सूर्य पूजा ईरानी प्रभाव से प्रभावित थी जबकि दक्षिण भारत में यह भारतीय परम्पराओं पर इस समय आधारित थी। हूण नरेश तोरमाण और मिहिरकुल भी सूर्योपासक थे। मिहिरकुल ने कई मन्दिर सूर्य देवता के बनवाये थे।

हर्षकालीन भारत तथा उसके बाद के समय में भी यह धर्म विकसित रहा। हर्षचरित से ज्ञात होता है कि आदित्यवर्धन, प्रभाकरवर्धन और राज्यवर्धन सभी सूर्य की उपासना करते थे। हर्ष भी सूर्य की महत्ता स्वीकार करता है। ह्वेनसांग से ज्ञात होता है कि प्रयाग की सभा के दूसरे दिन हर्ष सूर्य की मूर्ति स्थापित कर उसका पूजन करता था। हर्ष के जन्म के समय बुलाये गये ज्योतिषियों में एक का नाम तारक था जो भोजक जाति का था। भोजक मग ब्राह्मणों की ही एक उपजाति है जैसे जजक, जाजक आदि। जैसा ऊपर वर्णित है इस समय मुल्तान में चन्द्रभागा पदार्थों से अलंकृत था। इस मन्दिर के साथ लगा हुआ विश्रामगृह तथा निःशुल्क भोजनालय आदि की व्यवस्था थी। यहाँ लगभग एक सहस्र तीर्थयात्री नियमित पूजा करते थे। इसी प्रकार के दूसरे मन्दिर की स्थिति का ज्ञान कन्नौज में ह्वेनसांग देता है। ये दोनों ही केन्द्र विदेशी प्रभाव में सूर्योपासना को सिद्ध करते हैं।

पूर्व मध्यकाल में भी सूर्य पूजा व्यापक थी। इस समय के कुछ अभिलेख सूर्य की उपासना से ही प्रारम्भ होते मिलते हैं। मुल्तान के सूर्य मन्दिर, जिसकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है, की मूर्ति तथा व्यापकता का उल्लेख अनेक मुसलमान इतिहासकारों ने किया है। इस समय के अभिलेखों में सूर्य विभिन्न नामों से सम्बोधित किये गये हैं यथा- भास्कर, मार्तण्ड, वरुणस्वामी आदि। शंकराचार्य के समय दक्षिण भारत में भी यह सम्प्रदाय तांत्रिक प्रभाव में आने लगा था। इस समय छः उपवर्ग बन चुके थे जो लाल चन्दन, लाल लेप, लाल फूलों की माला और अष्टाक्षर मंत्रों का जप प्रारम्भ कर दिये थे। इस सम्प्रदायों में से छठा सम्प्रदाय पूर्ण तांत्रिक प्रभाव में था जो अपने शरीर के विभिन्न अंगों पर गर्म लोहे से सूर्य के चिन्ह का छाप लगाता था। इस समय रुद्र और विष्णु के साथ आदित्य का एकीकरण हो चुका था। अब सूर्य विष्णु की तरह संसार का निमित्तकारण माना जाने लगा था। फिर भी इस समय यह सम्प्रदाय अधिक प्रभावक नहीं लगता है।

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

अध्याय-१२

पौराणिक धर्म

ऐसा मान्यता है कि पुराणों का रचयिता कोई व्यक्ति नहीं है। ब्रह्मा जी खेल में इसका स्मरण करते हैं। भगवान इस शतकोटीर्य (सौ करोड़) पौराणिक धर्म के श्लोकों वाले (शतकोटिप्राविस्तरम्) पुराण को चार लाख श्लोकों में सीमित करके अठारह भागों में विभक्त करने के लिए प्रत्येक द्वापर युग में व्यास के रूप में अवतीर्ण होते है। इसीलिए कहा गया है- **पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्राह्मणा स्मृतम्।** (पद्मपुराण, सृष्टिखण्ड १/५०-५२) यही कारण है कि पुराण को भी वेदों की तरह अपौरुषेय माना गया है। वेदों की संख्या चार है। इसीलिए छान्दोग्य उपनिषद पुराणों को पांचवां वेद मानता है। (**इतिहास पुराण पञ्चम वेदानां वेदम्** /७/१/२) शिवमहापुराण में तो कहा गया है कि- **प्रथमं सर्वशास्त्राणां पुराणं ब्रह्मणा स्मृतम् अनन्तरं तु वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिर्गताः।** (शिवपुराण, वायवीय संहिता, पूर्वभाग, प्रथम अध्याय, श्लोक ३१-२) स्पष्ट है यहाँ वेदों से पूर्व पुराणों को माना गया है। पद्मपुराण में तो यहाँ तक कहा गया है कि वेदों के ज्ञाता के अपेक्षा पुराणों का ज्ञाता विचक्षघण है। सम्भवतः इसके पीछे कारण यह है कि वेदों में जो सूत्र रूप से कहा गया है वही पुराणों में विस्तार से वर्णित है। पुराण में जो वर्णित है वह इसी कारण ब्रह्म से प्रारम्भ कर ब्रह्माण्ड तक का विवरण है। इसमें पाँच विषय मुख्य हैं जिनका निरूपण अठारहों पुराणों में पूर्णतया हुआ है। अतः पुराणों की पाँच विशेषताएँ बतायी गयी हैं-

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।
वंशानुचरितं चैव पुराणं पंचलक्षणम्।।

इन समस्त का केन्द्र है, सृष्टि विद्या। इसलिए पुराणों का प्रमुख प्रतिपाद्य विषय सृष्टि विद्या ही बताया गया है। पुराण का अर्थ ही है पुराना जो पहले हो चुका हो और उसका जिस ग्रन्थ में वर्णन हो वही पुराण है। इतिहास भी अतीत का विवरण है। अतः पुराण मूलतः इतिहास ही है इसीलिए छान्दोग्य उपनिषद्, महाभारत, श्री मद्मभागवत आदि में **'इतिहास पुराण'** तथा **'इतिहासपुराणाभ्यां'** का उल्लेख है। वेद भी पुराणों की महत्ता को अपने समान मानता है-**'ऋक् समानि छन्दांसि पुराण यजुषा सह।'** (अथर्व. ११/७/२४) इससे स्पष्ट है कि वेदों को भी पुराण का ज्ञान था। अतः पुराण को वेद से पूर्व या समकालीन मानना ही उचित है। ये अपने कलेवर में ज्ञान की सर्वांगीण गठरी छुपाए हैं। इसीलिए इसमें पृथ्वी के ऊपर व्याप्त सम्पूर्ण ज्ञान राशि किसी न किसी रूप में समाहित है। अतः इसे विश्वकोष की संज्ञा दी जाय तो अनुपयुक्त नहीं होगा। लगता है संसार में विश्वकोषों की परम्परा का सूत्रपात इन्हीं के कारण

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

हुआ। पर धर्म विषयक ज्ञान का यह एक महान कोष है। इसमें वर्णित धर्म का स्वरूप अत्यन्त व्यवहारिक, आचरण योग्य तथा सर्वाजनीन होने के कारण इसमें वर्णित धार्मिक परम्पराओं का पालन दैनिक जीवन में किया जाता है। इन्हीं प्रचलित धर्म विद्याओं एवं परम्पराओं को पौराणिक धर्म की संज्ञा दी जाती है।

सदाचार

पौराणिक धर्म का आधार सदाचार है। सज्जनों द्वारा किया गया आचरण ही सदाचार होता है। महाभारत में कहा गया है- **आचारप्रथमो धर्मः**। यहाँ आचार को ही धर्म माना गया है। मनु के अनुसार परम्परा से क्रमागत चला आता हुआ आचार ही सदाचार है।.... **आचारः परम्पयक्रिमानतः।... सदाचार उच्यते**।। वामन पुरण के अनुसार धर्म इसका मूल है, अर्थ इसकी शाखा है, काम इसका पुष्प है और मोक्ष इसका फल है। (**धर्मः अस्य मूलं धनमस्य शाखा, पुष्पं च कामः फलमस्य मोक्षः**। १४/१९) इसका परिणाम यह होता है कि-**धर्मोजयति नाधर्मः सत्यं जयति नानृतम्। क्षमा जयति न क्रोधः क्षमावान् भवेत्**।। वामन पुराण में तो यहाँ तक उल्लेख है कि जो व्यक्ति सदाचार का पालन न करता हुआ परम्परा का त्याग करता है उस पर सूर्य नाराज हो जाते हैं (**परिकुप्यति भास्करः**) और उनके क्रोध से प्राणी के कुल का नाश हो जाता है तथा उसके शरीर में अनेक प्रकार के रोग बढ़ जाते हैं। (१४/१२१-२) इसी संदर्भ में यह भी उल्लेख है कि विभिन्न पुराणों में दैनिक दिनचर्या का वर्णन किया गया है। साथ ही जीवन के विभिन्न क्रमों, सोपानों के आधार पर जीवन पद्धति का भी इनमें निरूपण मिलता है।

बंधन और मोक्ष

पद्मपुराण के भूमिखण्ड में अमरकण्टक तीर्थ के ब्राह्मण सोशर्मा और उनकी विदुषी पत्नी सुमना की कथा में उनके परस्पर संवाद से स्पष्ट होता है कि जीव का संसार में आना एक कारण के अधीन है। वह कारण है पूर्वजन्म का पारस्परिक ऋण। इसे ऋणानुबन्ध की संज्ञा दी गई है। वहाँ बताया गया कि किसी का ऋण चुकाने के लिए अथवा किसी को दिये गये ऋण की वसूली के लिए जीव संसार में आता है। यहाँ वह ऋणों के अनुरूप ही कार्य करता है। इस क्रिया के लिए वह बाप, बेटा, बहन, माँ, भाई, मित्र, शत्रु, नौकर, पड़ोसी, सम्बन्धी, जानवर, वृक्ष आदि अनेक योनियों में कर्मानुसार जन्म लेकर सम्बन्ध स्थापित करते हैं। ऐसे जो भी हैं उनकी तीन कोटियाँ हैं-शत्रु, मित्र और उदासीन। इनकी क्रिया पुत्र रूप में उत्पन्न जीव से अधिक स्पष्ट होती है। शत्रु और पुत्र नाना प्रकार का कष्ट देता है, दुर्व्यवहार करता है, सब कुछ छीनने का प्रयास करता है तथा पिता की मृत्यु पर श्राद्ध तर्पण भी नहीं करता। ये भी दो प्रकार के होते हैं। एक वह पुत्र जिसका किसी ने पूर्वजन्म में ऋण लिया हो और लौटाया न हो। वह इस जन्म में भुगतान प्राप्त करने के लिए ऋणी का पुत्र बनता है। दूसरे जो पूर्व जन्म में किसी के पास धरोहर रखा हो किन्तु मांगने पर रखने वाला उसको दिया न हो। वह इस जन्म में उस रखने वाले का पुत्र बनता है लौटवाने के लिए। मित्र पुत्र परिवार का हितकारी तथा शुभेक्षु होता है। पर उदासीन तटस्थ रहता है। न कुछ दे, न कुछ ले, न हानि करे, न रुष्ट हो और न प्रसन्न। वह संत जिसका शिष्य पूर्व जन्म में सेवा किया होता है, वह मरने के समय यदि शिष्य को स्मरण करता है तो

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

उसके यहाँ वह शिष्य उदासीन पुत्र के रूप में वह जन्म लेता है। अतः लेन-देन या ऋणानुबन्ध से छुटकारा पाना ही जन्म-मरण से छुटकारा पाना है क्योंकि यही जन्म-मरण का कारण है। पर इनसे मुक्ति प्राप्ति के लिये मार्ग क्या है? इस सम्वन्ध में श्रीमद्भागवत में कहा गया है कि निःस्वार्थ भाव से दूसरों के हित में लगने तथा उसके बदले में उससे कुछ न चाहने से पुराना ऋण समाप्त हो जाता है और नया उत्पन्न नहीं होता। भगवत भजन में लग जाने पर सारे ऋण समाप्त हो जाते हैं। कोई ऋण रहता ही नहीं-**देवर्षिभूताप्तनृणां पितृणां न पिङ्करो नायमृणी च राजन्। सर्वात्मना यः शरण्यं गतो मुकुन्दं परिहहत्य कर्तम्।।** (११/५/४१)

भगवत्प्राप्ति

प्राचीन भारत में शिक्षण की विधि थी, ज्ञात से अज्ञात की ओर शिष्य को ले जाना। इसे आज From known to unknown कहा जाता है। इसके लिए व्याख्या विधि (Analytical Method) का प्रयोग किया जाता है। इस दिशा में बढ़ने के लिए आज जहाँ ज्ञात को आधार बना कर कल्पना का सहारा लेते हैं वहीं प्राचीन ऋषि कथा को माध्यम बनाते थे। जिसको एक वाक्य में कहकर श्रोता या पाठक के मन पर गुरु गहरी छाप सीधे नहीं छोड़ता था जैसे मंत्रसंहिताओं में **'पुरुषस्वेदं सर्वम्'** तथा उपनिषदों में **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'** विना व्याख्या के स्पष्ट नहीं हो पाता। वहीं पुराण भी परमात्मा के सर्वात्मक स्वरूप को तीर्थ, व्रत, पूजा, जप, तुलसी, भागवत लीला, भगवान के गुणानुवाद आदि के साथ जोड़कर उसकी सर्वात्मिक सत्ता में जीव के एकीकरण का प्रयास ही पुराणों में भगवत प्राप्ति का साधन वताया है जो सरल, सर्वग्राही और अधिक व्यवहारिक है। इसी से पुराण कहता है कि **'तीर्थामाच परं तीर्थ कृष्णनाम महर्षभः।'** (पद्म., स्वर्ग., ५०/१६) तथा देव मूर्तियों में हरि को ही देवता तथा तीर्थों का फल प्राप्त करना (**प्रतिमां च हरेर्दृष्टा सर्वतीर्थफलं लभेत्**) आदि इसी दिशा में बढ़ते कदम हैं। जैसे श्रुतियाँ अपने सरल रास्ते से कहती हैं- **'गोविन्दे धेहि हृदयं....'** तथा **'साधुसङ्गद् भवेद् विप्र शास्त्रमाणां श्रवणं प्रभो। हरिभक्तिर्भवत् तस्मात् ततो ज्ञानं ततो गतिना।'** इसीलिए नाम, लीला, तीर्थ, व्रत आदि किसी एक को ठीक से पकड़ लेने पर पर भगवत तत्त्व का साक्षात्कार सम्भव है, जो पुराणों में धर्म का केन्द्र वताया गया है- **भक्तिवरिकर्मगवत्प्रबोधः।**

बहुदेववाद और एकेश्वरवाद

पुराणों के नाम से ही स्पष्ट है कि भिन्न-भिन्न पुराण भिन्न-भिन्न देवताओं से सम्वन्धित हैं जैसे विष्णु पुराण-विष्णु से, शिव पुराण-शिव से, सौर पुराण-सूर्य से आदि। साथ ही न केवल प्रमुख देवताओं से बल्कि अवतारी स्वरूपों वाले देवताओं से भी कुछ पुराण सम्बन्धित है जैसे कूर्म, वामन, मत्स्य आदि। इस प्रकार अनेक देवत्व विषयक-पुराणों का ज्ञान मिलता है। यह बहुदेववाद की परम्परा अनादिकाल से समाज में बनी रही जिसने इस समय उभर कर ग्रन्थों के माध्यम से व्यवहारिक क्रियाओं को स्थायित्व प्रदान किया। सिन्धु घाटी की सभ्यता में भी हमने बहुत से देवी देवताओं की उपासना का प्रचलन देखा है। पर वैदिक ग्रन्थों में हमें मिलता है- **एकं सद्‌विप्राः बहुधावदन्ति।** यहाँ एक सत् से स्पष्ट है कि बहुदेववाद के साथ जुड़ा है- एकेश्वरवाद। जब तक मनुष्य एक तत्त्व के महत्त्व को नहीं समझता तब तक वह बहुत से तत्त्वों के वीच अपने को केन्द्रित नहीं करता पर जब वह केन्द्रित हो जाता है तो उसका ध्यान एक

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

तत्त्व पर आधारित होता है। चाहे उसे जिस नाम से कहें वही उसका एकलक्ष्य बनता है। वहीं से भगवत तत्त्व की प्राप्ति होती है और दूसरों की इच्छा से निवृत्ति हो जाती है। उसी एक के आधार पर वह सर्वत्र देवमय दीखने लगता है- **हरिभक्तिर्भवेत् तस्मात् ततो ज्ञानं ततो गतिः।।** पद्मपुराण में भी ऐसा ही कहा गया है- **तीर्थानां च परं तीर्थं कृष्णनां हमर्षयः।। तीर्थीकुर्वन्ति जगती गृहींत कृष्णानां यैः।।** (स्वर्ग काण्ड, ५०/१७) इसी एक तत्त्व से बहुत से तत्त्वों की निष्पत्ति की बात हमारे शास्त्र कहते हैं। तैत्तिरीय उपनिषद में वर्णित है- **तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः। आकाशाद्वायु वायोरग्निः अग्रेरायः अब्भ्यः पृथ्वी।।** ब्रह्मवैवर्त पुराण में कहा गया है कि सब कुछ ब्रह्म का विवर्त है। इसी विवर्त के लिए ब्रह्म विभिन्न रूपों में अवतार लेता है। इसी से आगे भी मनु ने कहा है- **एकमूर्तिस्मयो देवा ब्रह्माविष्णुमहेश्वराः।** यहाँ पुराणों में उस एक की महिमा तक पहुँचने के लिये विभिन्न रास्ते बताये गये हैं जिससे मानव प्रारम्भ में ही ज्ञान का दबाव महसूस करे अथवा इस विषय की अवधारणा को न समझ सकने के कारण उस तक पहुँचने के प्रयास को ही न छोड़ दे। अतः यहाँ क्रमशः स्वेच्छानुसार मार्ग चुनने की छूट ह जो पीछे उसी एक बिन्दु या तत्त्व तक सरलता से क्रमशः विवेक जाग्रत होते ही पहुँचा देता है। यही तत्त्व ब्रह्म है। इसलिए ब्रह्मविद्या ही मुक्ति का माध्यम बताया गया है- **'सा विद्या या विमुक्तये।'**

देवोपासना

ईश्वर के तत्त्व की प्राप्ति के लिए ब्रह्म के अंशों (देवताओं) की प्राप्ति प्रथम चरण है। इस चरण के लिए पुराणों में देवोपासना की विधि का निर्देश है। इस विधि से धीरे-धीरे मनुष्य देवक्रिया को अपनाता हुआ, देवोपासना में संलग्न रहता हुआ अनेक दुर्गुणों का त्याग करता है। इसमें जितना मनोयोग से वह जुटता है उतनी ही देवता से प्रगाढ़ता हो जाती है। उपासना दो प्रकार की होती है- नित्य और नैमित्तिक। नित्यक्रिया में प्रेम के अतिरिक्त इष्ट से कोई आकांक्षा नहीं रहती जबकि नैमित्तिक क्रिया जैसे एकादशी, पूर्णिमा आदि का व्रत किसी कामना की सिद्धि के लिए किया जाता है। नित्योपासना की दो विधियाँ बताई गई हैं। मानसपूजा-जिसमें मन में ही हवन, तर्पण आदि की क्रिया की जाती है तथा बाह्य पूजा- जिसमें चौंसठ विधि से पूजा का विधान होता है। पर सामान्यतया पंचोपचार विधि का इनमें निर्देश है, १. गंध, २. पुष्प, ३. धूप, ४. दीप और ५. नैवेद्य। इस विधि से पुराणों में मुख्यतः पंचदेवों की पूजा का विशेष विधान है-१. गणेश, २. दुर्गा, ३. शिव, ४. विष्णु और ५. सूर्य। पूजा के विभिन्न सोपानों पर यथा आसन, आवाहन, स्नान, दीप, नैवेद्य और सम्बन्धित अवसरों के लिए मंत्रों का विधान किया गया है। इसके बाद जप का निर्देश दिया गया है। जप का महत्त्व यज्ञ से कहीं अधिक बताया गया है। जप के तीन प्रकार बताये गये हैं-मानस (मन ही में जप करना), उपांशु (जीभ और होठों का शब्दों के अनुसार हिलने से ही जप करने पर शब्द का उच्चारण न निकलना) तथा वाचिक जप (बोलकर जप करना)। इनमें उपांशु को ही विशेष प्रभावक माना गया है। जप की गणना करने के लिए दो विधियों का प्रयोग किया जाता है-कर माला (हाथ की अंगुलियों पर बने पोरों के सहारे) तथा मणिमाला (मनिया की माला)। प्रत्येक देवता के जप के लिए अलग-अलग मंत्रों का विधान किया गया है जैसे इन्द्र के लिए- **'ॐइं इन्द्राय नमः'**। सनिश्चर के लिए- **'ॐसं सनिश्चराय नमः'** आदि।

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

यज्ञ

ऊपर हमने देखा कि पौराणिक मंत्रों का जप यज्ञ से अधिक महत्त्व का है। यहाँ स्पष्ट है कि यज्ञ की परम्परा अनादि है। वेद और पुराणों में यज्ञों की महिमा का गान मिलता है जिसे मनुष्य को जीवन-मरण के बंधन से मुक्त करने का साधन माना गया है। इसी से वेदों में एक वेद यज्ञ से सम्बन्धित है-यजुर्वेद है। गीता में श्रीकृष्ण ने कहा है....**'ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्।'** मत्स्यपुराण के अनुसार यज्ञ के लिए पाँच पक्षों को संयोग यज्ञ में होना आवश्यक है-**देवानां द्रव्यहविषां ऋक्सामयजुषां तथा। ऋत्विजां दक्षिणानां च संयोगो यज्ञ उच्यते।।** अर्थात् देवता, हवन सामग्री, वेदमंत्र, यज्ञ कराने वाला ऋत्विक तथा दक्षिणा। इनके करने से इहलौकिक कल्याण ही नहीं होता अपितु पारलौकिक भी होता है। (पद्मपुराण, सृष्टि) यद्यपि तीन प्रकार के यज्ञों का ज्ञान शास्त्रों से मिलता है: १. हविर्यज्ञ, २. सोमयज्ञ तथा ३. पाकयज्ञ। इन्हीं के अन्तर्गत अनेक यज्ञों का विधान किया गया है। पर पुराणों में हविर्यज्ञ तथा पाकयज्ञों के प्रकारों का विशेष ज्ञान प्राप्त होता है। सोमयज्ञ सम्भवत: वैदिक परम्परा का यज्ञ था। कुछ यज्ञों का पुराणों में विवर्जन किया गया है जैसे अश्वमेध यज्ञ आदि। इनसे प्रमुख रूप से सप्ताहयज्ञ, भागवतयज्ञ आदि अनेक यज्ञों का चलन ज्ञात होता है। ये प्रत्येक भी दो प्रकार के बताये गये है: सकाम (किसी कामना को लेकर) तथा निष्काम (बिना किसी कामना के)। एक प्रकार से ये नारायण की आराधना ही हैं। इनका व्यापक ज्ञान मत्स्य, भविष्य, अग्नि आदि पुराणों से मिलता है।

व्रतोपवास

व्रतोपवास की महिमा पुराणों में व्यापक रूप से दी गई है। इससे मनुष्य मन तथा विचार से शुद्ध होता है। वह उपवास के द्वारा काया-शुद्धि भी कर लेता है। भगवान के प्रति मन में आस्था बढ़ती है। हल्का शरीर होने से भजन-पूजन में भी मन लगता है। वृत्ति स्वात्विक बनी रहती है। इसी से पापों का नाश होता है चाहे वे किसी भी प्रकार के हों कायिक, मानसिक या अन्य। चूँकि व्रती इस कार्य में शारीरिक संताप का सहन करता है, अत: इसे तप की संज्ञा दी जाती है। इनमें कुछ नियमों का पालन भी करना पड़ता है जैसे सद्वृत्तियों का पालन यथा क्षमा, दया, शौच आदि; दुर्वृत्तियों का निवारण यथा चोरी, व्यभिचार, असंतोष, वासना आदि से दूर रहना; दैनिक जीवन में शुद्धता लाना स्नान, ध्यान, जप आदि करना। इसलिए इसे 'नियम' भी कहते हैं। इसमें उसे तामसी सामग्रियों जैसे हल्दी, तेल, मांस आदि का सेवन भोजन में नहीं करना होता है। उसे भगवतकथा श्रवण, दान, सत्संग, पूजन-भजन आदि इस अवधि में करना पड़ता है। चूँकि इसमें विशिष्ट पवित्र तिथि को उपवास रहकर व्रत परायण रहते हैं अत: इस क्रिया को 'व्रतोपवास' कहा जाता है। इससे कायिक, वाचिक तथा मानसिक शुद्धि होती है और इहलौकिक तथा पारलौकिक सुख की प्राप्ति होती है। इसका अधिकारी किसी भी वर्ण, धर्म और लिंग का हो सकता है। पर इसका लिए उसे संकल्पित होना होता है। इसी से व्रतोपवास के तीन भेद बताये गये हैं नित्य (बिना किसी प्रयोजन के जैसे एकादशी), नैमित्तिक (किसी के लिए जैसे सूर्य के लिए रविवार आदि) और काम्य (किसी अपने अभीष्ट कार्य की सिद्धि के लिए)। इसी के अनुसार व्रत में पूजन का विधान किया गया है। पर कोई बीमार, अशौच या किसी अन्य कारण से व्रत न करने की स्थिति में जब न रह जाय तो इसे मित्र, भाई, पति, पत्नी, पुरोहित आदि से

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

भी कराया जाता है। इसमें भोजन अयाचित तथा मितभुक्त दो प्रकार का वताया गया है। पहले में जो बिना मांगे मिल जाय तथा दूसरे में थोड़ा ही भोजन किया जाता है। पर दोनों ही में केवल एक बार ही भोजन होता है। इनकी एक लम्बी तालिका पुराणों से वर्ष के बारहों मास चैत्र से प्रारम्भ होकर फाल्गुन तक के लिए बनायी जा सकती है, इस प्रकार देवसानिध्य, पापशमन, शुद्धि, इप्सित फल प्राप्ति और मनोरथ सिद्धि का यह सरलतम मार्ग पुराणों में वर्णित है।

दान

छान्दोग्य उपनिषद् में कहा गया है-**'श्रद्धया देयम्, हियादेयम, भिया देयम्'**। इससे स्पष्ट होता है कि श्रद्धा से हो या लज्जा से अथवा भय से दान नित्य देना चाहिए। यह नित्यकर्म है। इससे मनुष्य का अभ्युदय होता है। यहाँ बहुमूल्य वस्तुओं के दान देने का विशेष महत्त्व है। इसीलिए कन्या रत्न का दान सब दानों में श्रेष्ठ बताया गया है। फिर सभी लोग दानी क्यों नहीं होते। इसका कारण है कि दान की वृत्ति सहज नहीं है। यह महान तपस्या का फल होता है-**'विभवोदान शक्तिश्च महतां तपसां फलं'**। बिना जन्म जन्मान्तर के अर्जित पुण्य के विभव का दान नहीं हो पाता। पुराणों में दान देने के शुभ मुहूर्त, उचित पात्र और शुभ काल पर व्यापक विचार किया गया है। इसी से तीर्थ स्थान में, पुण्य तिथियों पर तथा शुद्ध ब्राह्मण को दान देने का चलन आज समाज में व्याप्त है, अन्यथा दान का महत्फल प्राप्त नहीं होता। पर विशिष्ट परिस्थितियों में जहाँ, जिस किसी को भी जिस किसी चीज की आवश्यकता हो उसको वही दान देने की स्वीकृति सर्वत्र दी गई है। दान की शर्त बतायी गयी है कि न्यायत: अर्जित सामग्री का दान देना चाहिए- **'न्यायोपार्जित वित्तस्य'**। देवी भागवत में कहा गया है कि अन्याय से प्राप्त धन का दान न करें-**''न कीर्तीरिहलोके न परलोके च तत्फलम्।'**-क्योंकि वह न इस लोक में कीर्ति देता है न परलोक में फल। इसी प्रकार जो स्वजनों के दु:खी होने पर भी जो अपने पुण्य के लिए दान देता है उसको मना करते हुए कहा गया है कि इससे पुण्य नहीं पाप मिलता है। इसी से व्यक्तिगत सम्पत्ति का पाँच भाग बताया गया है-धर्म, यश, अर्थ (व्यापार एवं आजीविका) काम, (जीवन के उपयोगी सामग्री के लिए) तथा स्वजन (परिवार के लिए)। इसमें धर्म का ही एक पक्ष है दान। इसी से स्कन्दपुराण में कहा गया है कि न्यायत: अर्जित धन का दशमांश दान करना चाहिए। पर यह भी यहाँ निर्देश है कि इसके प्रति अभिमान या लेने वाले के प्रति उपकार का भाव दाता के मन में नहीं होना चाहिए। दान के भी तीन भेद बताये गये है- नित्य (नित्यप्रति नियमपूर्वक दिया जाने वाला), नैमित्तिक (विशेष अवसरों या पर्वों पर दिया जाने वाला) तथा काम्य (कामना पूर्ति के लिये भगवदार्पण बुद्धि से किया जाने वाला)। इसके पीछे मान्यता है **गौरवं प्राप्यते दानान्नतु वित्तस्य संचयात्**।

तीर्थाटन

तीर्थानि च यथोक्तेन विधिना संचरन्ति ये।
सर्वद्वन्द्वसहा धीरास्ते नराः स्वर्गगामिनः।।

जो निर्धारित रीति से तीर्थाटन करते हैं वे धीर पुरुष सम्पूर्ण विपदाओं को सहन करते हुए स्वर्ग की प्राप्ति करते हैं। इससे स्पष्ट है कि तीर्थयात्रा स्वर्ग की प्राप्ति का एक साधन है। इसके साथ यह भी जानना चाहिए कि तीर्थ का विधान पाप के नाश के लिए पुराणों में जहाँ किया गया

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

है-'पापस्य शमनं भवेत्', वहीं इसकी कल्पना के पीछे फल है मनुष्य को दुर्वृत्तियों-काम, क्रोध, लोभ आदि से मुक्त कराने का है। किन्तु तीर्थ किसे कहते हैं? विशिष्ट देवताओं के लीला क्षेत्र, उनके अवतारों के प्राकट्य स्थल, उनसे पवित्र नदियाँ, सरोवर, पर्वत, अरण्य, नगर-बस्ती, सिद्ध-क्षेत्र, प्रमुख मन्दिरों के स्थान, नगरादि, ऋषि-मुनियों की तपोस्थली, साधना क्षेत्र आदि तीर्थ के नाम से जाने जाते हैं। तीर्थ की महत्ता श्रद्धा से बढ़ती है। यहाँ जाने पर मनुष्य को असत्, अशौच और दुर्वृत्ति से बचना चाहिए तभी तीर्थ का फल मिल पाता है। विशिष्ट नदियों तथा सरोवरों को तीर्थ की संज्ञा देने का कारण यह है कि ये किसी देव विशेष से इनका सम्बन्ध बताया जाता हैं। इसी प्रकार अन्य वन, सिद्ध-क्षेत्र आदि के विषय में भी यही विचार रखना चाहिए। पुराणों के प्रमुख तीर्थों में चार धाम, सप्तपुरियों, सात क्षेत्र, पाँच सरोवर, चौदह प्रयाग, बारह देवियों के स्थान, बारह जंगल आदि प्रमुख हैं।

चार धाम हैं : बद्रीनाथ, जगन्नाथपुरी, रामेश्वरम् तथा द्वारिका।

सात पुरियाँ हैं :

अयोध्या मथुरा माया काशी काञ्ची ह्यवन्तिका।
पुरी द्वारवती ज्ञेया: सप्तैता मोक्षदायिका।।

अयोध्या, मथुरा, माया (हरिद्वार), काशी (वाराणसी), काञ्ची (काञ्चीवरम), अवन्तिका (उज्जैन) तथा द्वारका।

सात क्षेत्र हैं : कुरुक्षेत्र (हरियाणा में), हरिहरक्षेत्र (बिहार में), प्रभासक्षेत्र (गुजरात में), भृगुक्षेत्र (गुजरात में, एक भृगुक्षेत्र उत्तर प्रदेश के बलिया जनपद में भी है), पुरुषोत्तमक्षेत्र (उड़ीसा में), नैमिषक्षेत्र (उत्तर प्रदेश में) तथा गयाक्षेत्र (बिहार में)।

मुख्य अरण्य हैं : दण्डाकरण्य, विन्धारण्य, नैमिषारण्य, धर्मारण्य, वेदारण्य तथा सैन्धवारण्य आदि।

द्वादश शाक्तस्थल : कामाक्षी (काञ्चीपुर), भ्रामरी (मलयगिरि), कन्याकुमारी (केरल), अम्बा (गुजरात), महालक्ष्मी (कोल्हापुर), कालिका (उज्जैन), ललिता या अलोपी (अलापुर मुहल्ला, प्रयाग), विंध्यवासिनी (विंध्याचल पर्वत पर), विशालाक्षी (वाराणसी), मंगलावती (गया), सुन्दरी (बंगाल), और गुह्यकेश्वरी (नैपाल)।

पौराणिक तीर्थ

पुराणों में तीर्थों का उल्लेख व्यापक रूप से मिलता है इससे स्पष्ट है कि पुराणों के समय से तीर्थों की मान्यता चल पड़ी थी और इसको सामाजिक रूप के साथ ही धार्मिक रूप भी दिया गया था। तीर्थ शब्द का प्रयोग वैदिक साहित्य में भी हुआ है। ऋग्वेद में इसका प्रयोजन है नदी के तट या समीपस्थ क्षेत्र या किसी भी जल अथवा समुद्र का तटीय स्थान। (वैदिक कोश पृ. १७४) पीछे इसके अर्थ में परिवर्तन हुआ। पुण्यप्रदेशों को पीछे तीर्थ की संज्ञा दी गई। स्कन्द पुराण में कहा गया है कि मुनि, देव आदि के जो आश्रयभूत भूमिभाग एवं पर्वत हैं वे तीर्थ हैं (**आश्रया: मुनीन्द्राणां देवानां च तथा प्रिये। भूमिभागा: पर्वता: स्यु: तत्कीर्त्य तीर्थ मित्युत।।**) आगे नगर खण्ड में कहा गया है कि **'धर्मस्थानेषु सर्वेषु'** अर्थात् सभी धर्मस्थल

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

तीर्थ होते हैं। ब्रह्मपुराण में वर्णित है कि कर्मभूमि होने के कारण ये तीर्थ कहे जाते है **"कर्मभूमिर्यत: पुत्र तस्मात् तीर्थं तदुच्यते"**। (७७/२१) कर्मभूमि से अभिप्राय है कर्मक्षेत्र से। इससे विदित होता है कि श्रेष्टजनों का जो कर्मक्षेत्र होता है वही तीर्थ कहा जाता है। दूसरी ओर प्राकृतिक तत्व चाहे वन हों, नदी हों, पर्वत हों या कोई इस प्रकार के सरोवर आदि हों जिनकी महत्ता शास्त्रों में वर्णित हों या जो पुण्यफल प्रदायिणी हों अथवा उपर्युकित की लीला स्थली हों या जहाँ कोई अतिमानवीय घटना घटी हो वे भी तीर्थ माने जाते हैं। रेवाखण्ड में उल्लिखित है कि पुण्यदायिनी नदी तटों पर बसे हुए स्थान भी तीर्थं की संज्ञा ग्रहण करते हैं जैसे गंगा किनारे के तटवर्ती स्थल **तीर्थमुक्तावली पुण्य ग्रथिता तटरज्जुना मण्डनायेह साधूनाम** (२३०/१०८)।

पुराणों के समय तीर्थ की महत्ता बहुत बढ़ गई थी। इसका कारण पद्मपुराण तथा मत्स्य पुराण में बताया गया है कि वैदिक यज्ञ दुरूह तथा अत्यन्त व्ययसाध्य हैं। उनमें समय भी बहुत लगता है। इससे सामान्य व्यक्ति के लिए यह सम्भव नहीं है कि वह लम्बे तथा जटिल वैदिक यज्ञ को करा सकें। अत: इसका फल प्राप्त करने के लिए दूसरा सरल मार्ग इस समय यह अपनाया गया कि लोग तीर्थाटन करें। इसीलिए कहा गया कि तीर्थ गमन का फल यज्ञ से भी विशिष्ट है- **'तीर्थाभिगमनं पुण्यं यज्ञैरपि विशिष्यते'** (पद्म. आदि. ११/१७)।

प्रत्येक तीर्थ क्षेत्र को एक नाम विशेष से पुराणों में सम्बोधित किया गया है जैसे भृगुक्षेत्र, वाल्मीकि पर्वत, प्रयाग तीर्थ आदि। इस क्षेत्र या इन क्षेत्रों के नामकरण के पीछे कारण यह प्रतीत होता है कि जिन श्रेष्ठ या पूज्य लोगों से वह स्थान पुण्यकारक बन गया उनके नाम के साथ उस स्थान का नाम जोड़ दिया गया। इस स्थान के दर्शन, यहाँ के जल में स्नान करने, यहाँ के पुण्य स्थलों को देखने या दर्शन करने, उसके महात्म सुनने का फल अति श्रेयस्कर बताया गया है। इसीलिए वहाँ भगवान के पूजन का विशेष फल माना गया है। वहाँ लोग व्रतोपवास करके, भगवत कीर्तन करके तथा अनेक प्रकार के धार्मिक एवं सामाजिक संस्कार करके अपने को धन्य समझते हैं। इसीलिए पुराणों में जहाँ कहीं भी विशिष्ट तीर्थों की चर्चा की गई है वहाँ उनकी विशेषताओं और पुण्य के कारणों का भी उल्लेख किया गया है। इसी से कहा गया है- **'तीर्थानां दर्शनं श्रेय: स्पर्शनं स्नानमेव च, कीर्तनं स्मरणं चापि न स्यात् पुण्यं बिना परम'**।

तीर्थों के भेदों का उल्लेख भी पुराणों से प्राप्त होता है। एक स्थल पर दो प्रकार के तीर्थों का उल्लेख किया गया है-चर और स्थावर। चर से अभिप्राय वैसे तीर्थ से है जो चलता रहता है जैसे नदियाँ पर स्थावर वे हैं जिसमें कोई गति नहीं होती जैसे स्थल, पर्वत, वन आदि। स्कन्दपुराण में पुन: दो भिन्न प्रकार के तीर्थों की चर्चा मिलती है-कृत और अकृत। कृत से अभिप्राय है वे तीर्थ जिसे मनुष्यों ने स्वयं विशिष्ट व्यक्ति के साथ जोड़कर तीर्थ मान लिया है। यह लोक से प्रभावित होता है। दूसरा अकृत वे तीर्थ होते हैं जो अनादिकाल से तीर्थ के रूप में शास्त्रों द्वारा मान्यता प्राप्त करते चले आते हैं जैसे काशी, प्रयाग आदि। एक स्थल पर चार प्रकार के तीर्थों की चर्चा की गई है-- दैव, आर्य, मानुष और आसुर।

पुराणों में 'तीर्थतम्' शब्द का प्रयोग किया गया है। तीर्थतम् का अर्थ है सबसे अधिक महत्वपूर्ण तीर्थ। एक तीर्थ में तीर्थ के कई स्थल होते हैं। पर उन सबमें एक सबसे अधिक महत्व का होता है जिसके कारण उसकी महत्ता बनी रहती है। उसी को तीर्थतम् कहा जाता है। जैसे

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

उज्जैनी तीर्थ में महाकाल का मन्दिर ही महत्वपूर्ण केन्द्र है। अत: यही वहां का तीर्थतम् है। शेष तीर्थ जैसे क्षिप्रा नदी, अन्य पड़ोसी मन्दिर उस तीर्थ के उपांग मात्र है। ये सारे उपांग जो तीर्थ के पड़ोस में फैले होते है 'क्षेत्र' या 'तीर्थक्षेत्र' कहे जाते हैं।

तीर्थों की मान्यता और लोगों को इससे लाभ के विषय में ज्ञात होता है कि इससे पुण्य की प्राप्ति होती है, राष्ट्रीय एकता की भावना उभरती है। तीर्थाटन या तीर्थों में पर्यटन की भावना बढ़ती है। वहाँ जाने के पहले लोगों में अत्याज्य और निषिद्ध वस्तुओं को त्यागने में बल मिलता है। सदाचार की उन्नति के लिए बढ़ावा मिलता है– **'न तीर्थ पापं कुर्यात्, त्यजेत् तीर्थोप जीवनम्'**। तीर्थ पाप को रोकता है। पर तीर्थ को जीविका का माध्यम नहीं बनाना चाहिए। जीविका का माध्यम तीर्थ को बनाने से एक प्रकार धर्म विक्रय ही सिद्ध होगा जो धर्मविरुद्ध कार्य माना जाता है। इसमें भावशुद्धि पर विशेष बल दिया गया है। वहाँ साधु समागम होता है जिससे आत्मशुद्धि स्वत: हो जाती है। अन्यथा इससे रहित व्यक्ति तीर्थ में रहने वाले पशु के समान होता है। वहाँ जाकर भी कोई लाभ प्राप्त नहीं कर सकता।

पुराणों से तीर्थों की एक लम्बी तालिका का ज्ञान प्राप्त होता है। भिन्न-भिन्न पुराणों में इसकी भिन्न-भिन्न संख्या दी गई है। ऐसी लम्बी संख्या स्कन्दपुराण में तीन लाख पचास हजार स्कन्दपुराण में उल्लिखित है। पद्मपुराण में दस करोड़ हजार तीर्थों का उल्लेख है। इसी प्रकार अन्य पुराणों में भी उल्लेख मिलता है। इससे स्पष्ट है कि तीर्थों की एक लम्बी परम्परा पूरे देश में व्याप्त थी और है। इसके विषय में यदि यह कहा जाय कि भारत का अधिकांश क्षेत्र किसी न किसी प्रकार तीर्थों से जुड़ा हुआ दीखता है तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। एक ओर जहाँ गंगा पवित्र नदी है वहीं दूसरी ओर काशी पवित्र स्थल है तो तीसरी ओर कुरुक्षेत्र धर्मक्षेत्र है तो चौथी ओर अजमेर शरीफ का ब्रह्मसरोवर एक अपने प्रकार का विशिष्ट ब्रह्मा का तीर्थस्थल है और पांचवे गोमुख जहाँ पहाड़ से गंगा की धारा झरने की तरह फूटती है, वह झरना पूज्य और अमृत धारा है, तथा छठे हैं वन्य प्रदेश जहाँ जाकर हम अवतारों की क्रियाओं के लिए नत मस्तक होते हैं जैसे-नैमिषारण्य, सातवें लीलास्थल वाले पर्वत भी हमारे आध्यात्मिक भाव से जुड़े हैं जैसे कैलाश, आठवें मन्दिरों, मूर्तियों आदि के कारण कुछ स्थानों की महत्ता तीर्थ बन जाती है जैसे कन्याकुमारी का मन्दिर, नवें महापुरुषों की जन्मस्थली भी तीर्थ मानी जाती है जैसे बांदा का सारो गाँव जहाँ तुलसीदास का जन्म हुआ था, दसवें सागर जैसे गंगासागर भी पवित्र तीर्थ मानते हैं। इस प्रकार तीर्थों की कोटियाँ क्रमश: महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों के जन्मस्थान, कार्यस्थली के साथ, पवित्र स्थलों के शास्त्रीय ज्ञान के साथ बढ़ती जायगी।

भारत के प्रसिद्ध तीर्थों की सूची और विवरण जो पुराणों से प्राप्त होते हैं उन्हें संक्षेप में निम्न रूप से रखा जा सकता है :

नदीरूप तीर्थ

गंगा (शंकर, भागीरथ आदि से सम्बन्धित भारत की सबसे पुण्यफलदायिनी नदी है जिसकी कीर्ति अनेक पुराणों में वर्णित हैं), यमुना (इसे कालिन्दी, कृष्णा, सूर्यपुत्री, यमी आदि नाम से भी जानते हैं। इसके तट पर हुए अनेक यज्ञ तथा इसके जल की पवित्रता की व्यापक महिमा का ज्ञान मिलता है), सरस्वती (इसकी धारा की व्युत्पत्ति पुराणों में अनेक कारणों से

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

अनेक दिव्य पुरुष शरीरधारी देवांशों द्वारा विभिन्न स्थानों पर बतायी गयी है। कुल मिलाकर तीस सरस्वती नदियों का उल्लेख पुराणों में किया गया है जो मूलतः लुप्त हैं। यज्ञ स्थल पर पुण्य से इनके प्रकट होने की बात बार-बार पुराण कथाओं में मिलती है), नर्मदा (यह भगवान शंकर की पत्नी मानी गयी है और कहा गया है कि जहाँ सरस्वती में तीन दिन, यमुना में सात दिन, गंगा में एक दिन स्नान से मनुष्य पवित्र होता है वहाँ इसके दर्शन मात्र से ही- **'दर्शनादेव नर्मदाम्'**, पवित्र हो जाता है), गोदावरी (मध्य प्रदेश के ब्रह्मगिरि पहाड़ी से निकलकर सप्तगोदावरी (सातधाराओं) में सागर में गिरती है। इसे गौतमी भी कहते हैं क्योंकि गौतम ऋषि शंकर की कृपा से इसे धरती पर लाये थे), सरयू (इसका सम्बन्ध राम से जुड़ा है। इसे तुलसीदास ने कहा है-त्रिविध ताप नाशक तथा 'रामस्वरूप'), गोमती (इस नाम की कई नदियाँ ज्ञात हैं पर पुराणानुसार यह गंगा की एक धारा है), वागमती (हिमालय से निकलकर नैपाल होती हुई बिहार में गंगा में मिलती है। इसे गंगा से सौगुना पवित्र बताया गया है), क्षिप्रा (ऐसा वर्णन है कि इस नदी में स्नान और महाकाल के दर्शन से मृत्यु का भय नहीं रह जाता), गण्डकी (विष्णु के गण्डस्थल के स्वेद से निकलने के कारण इसका यह नाम पड़ा। विष्णु के सानिध्य के कारण इसमें स्नान से अश्वमेध यज्ञ और सूर्यलोक का फल मिलता है) आदि अनेक नदियों की महिमा का उल्लेख पुराणों में किया गया है।

पर्वत-रूप तीर्थ

कुछ पर्वतों को भी तीर्थ की तरह पूजने का वर्णन है। हिमालय (भारत के उत्तर में अनेक शृंगों को समेटे, कई पूज्य नदियों का उद्‌गम स्थल, विविध सरोवरों तथा तीर्थों को अपने आंचल में संजोये यह गिरिराज है जहाँ कई देवताओं का स्थान तथा मनोरम प्राकृतिक स्थल है), विंध्यपर्वत (भारत को उत्तर दक्षिण में बांटने वाला यह पर्वत अरावली से राजशाही तक फैला है जिस पर अनेक पवित्र वन, तीर्थ तथा देवताओं की लीला भूमि और ऋषियों की तपोस्थली है), मलयगिरि (मलयगिरि चन्दन तथा ऋषि अगस्त के आश्रम के लिए यह प्रसिद्ध है), चित्रकूट (राम के वनवास काल का एक मुख्य स्थान, उत्तर प्रदेश और मध्य प्रदेश की सीमा पर स्थित, अनेक दिव्य पुरुषों की लीला भूमि तथा पुण्यफल दायक कहा गया है-'नपापे कुरुतेमनः'), कामाख्या (गोहाटी के पास आसाम का यह पर्वत विश्वप्रसिद्ध कामाख्या मन्दिर तथा श्रीपीठ, ब्रह्मपीठ एवं परशुराम कुण्ड के लिए प्रसिद्ध है), अरुणाचल (पुराणों में भी यह शिव का लीला स्थल बताया गया है), गोवर्धन (मथुरा के पास स्थित इस पर्वत के आंचल में कृष्ण के जीवन और उनकी कई लीला स्थलियों का दर्शन होता है)

पुरी-रूप तीर्थ (सप्त पुरियाँ)

सात पुरियाँ निम्न हैं–

अयोध्या मथुरा माया काशी काञ्ची ह्यवन्तिका।
पुरी द्वारावती ज्ञेयाः सप्तैता मोक्षदायिकाः।।

इन्हें मोक्षदायिका (मोक्ष देने वाला) कहा गया है। प्रथम चार उत्तर प्रदेश में और एक आन्ध्र प्रदेश, एक मध्य प्रदेश तथा एक गुजरात में हैं।

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

१. **अयोध्या**- यह विष्णु के सुदर्शन चक्र पर बसी है। दूसरी मान्यता के अनुसार भगवान राम के धनुषाग्र पर स्थित हैं। यहाँ के प्रमुख तीर्थ हैं-ब्रह्मकुण्ड, सीताकुण्ड, स्वर्गद्वार, रामजन्मभूमि, त्रेता के राम, हनुमानगढ़ी आदि।

२. **मथुरा**- इसके साथ जुड़ा है वृन्दावन, वरसाना आदि भी। कृष्ण की जन्मस्थली पर स्थित अनेक तीर्थस्थल और लीला भूमि हैं।

३. **माया (हरिद्वार)**- यहीं से गंगा मैदान में उतरती हैं। अत: इसका एक नाम गंगाद्वार भी प्रसिद्ध है तथा यहीं गंगा की धारा में बना है गंगा मन्दिर। यहाँ के दूसरे तीर्थ हैं मनसादेवी मन्दिर, चण्डीदेवी मन्दिर, नीलकण्ठ महादेव, दक्ष प्रजापति की यज्ञ स्थली (कनखल) आदि।

४. **काशी (वाराणसी)**- द्वादश ज्योर्तिलिंगों में से एक यहाँ काशी विश्वनाथ का लिंग विश्वप्रसिद्ध है और पुराणों में इसके घाटों की प्रचुर महिमा का वर्णन है। यहीं है संकटमोचन, पिशाचमोचन, मणकर्णिका घाट, दुर्गाकुण्ड आदि जिनका विस्तृत ज्ञान स्कन्दपुराण के काशीक्षेत्र महात्म में मिलता है।

५. **काञ्ची**- मद्रास के पास स्थित इसके दो भाग है शिवकाञ्ची और विष्णुकाञ्ची। यहाँ का सर्वतीर्थ सरोवर प्रसिद्ध है। इस क्षेत्र की महिमा ब्रह्माण्ड पुराण में वर्णित है।

६. **अवन्तिका (उज्जैन)**- यहाँ महाकाल का मन्दिर है जिसका लिङ्ग द्वादश ज्योतिलिंगों में से एक है जिसके पास बहती है पुण्य नदी क्षिप्रा। यहाँ प्रमुख तीर्थ हैं-माधवक्षेत्र, सिद्धवट, संदीपन ऋषि का आश्रम, रुद्रसरोवर आदि।

७. **द्वारका**- कृष्ण की राजधानी, गुजरात के इस पुण्य स्थल का मुख्य स्थान आज समुद्र में विलीन है फिर भी उसके अवशेषों से पुण्य के लाभार्थ यहाँ का विवरण स्कन्दपुराण के प्रभास खण्ड की महिमा से उजागर होता है। ऐसा विश्वास है कि यहाँ मृत्यु होने से कीट-पतंग तक मुक्त हो जाते हैं।

चारधाम तीर्थ

प्रसिद्ध चारधामों की चर्चा पुराणों में मिलती है। आज का प्रत्येक हिन्दू चारधामों के प्रति नतमस्तक ही नहीं होता वरन उनके दर्शन के लिए लालायित रहता है। ये हैं :

१. **बदरीनाथ**- उत्तर प्रदेश से निकाल कर बनाये गए उत्तरांचल राज्य के पर्वतीय क्षेत्र में चमोली जनपद में यह स्थान अलकनन्दा नदी के तट पर हिमालय पर्वत की उपत्यका में बसा है जहाँ बदरिकाश्रम मन्दिर में नर-नारायण की मूर्ति विराजमान है। यहीं है गणेश गुफा, व्यास गुफा, ब्रह्मकपाली, सोमतीर्थ, कपालतीर्थ, जोशीमठ आदि। यहाँ बदरी (कटीले बेरों) की झाड़ियाँ बहुत हैं। इसी से इसे बद्रीनाथ कहा जाता है।

२. **जगन्नाथ (पुरी)**- उड़ीसा में स्थित इस स्थान की महिमा स्कन्दपुराण के पुरुषोत्तम क्षेत्र महात्म में वर्णित है। अन्य पुराणों में भी इनकी विस्तृत चर्चा है। यहाँ का प्रसिद्ध जगन्नाथ मन्दिर चार तोरणद्वार और दो परकोटो के लिए प्रसिद्ध है। विश्व प्रसिद्ध रथयात्रा का मेला इसकी विशेषता है जो आषाढ़ शुक्ल द्वितीया को प्रतिवर्ष होता है। इसमें विशिष्ट लकड़ी की कृष्ण, बलराम और सुभद्रा की मूर्तियाँ विश्वकर्मा द्वारा निर्मित रखी गई हैं। यहाँ अनेक मन्दिर और मठ हैं।

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

३. **रामेश्वर**- कहा जाता है कि भगवान ने लंका पर आक्रमण करने के लिए ही यहीं समुद्र में तैरने वाले पत्थरों से पुल बनवाया था जिससे ऋक्ष, वानर, भालू आदि की विशाल सेना लंका पहुँच सकी थी। इसीलिए इसे सेतुबंध रामेश्वर भी कहते हैं। यही गंधमादन क्षेत्र में रामचन्द्र ने शिवलिंग की स्थापना की थी और उसकी पूजा करके ही लंका प्रस्थान किया था। इस लिंग की गणना द्वादश ज्योतिर्लिंगों में की जाती है। स्कन्दपुराण के सेतु-क्षेत्र में इसका महात्म वर्णित है।

४. **द्वारिका**- इसकी चर्चा सप्तपुरियों में प्रथम ही की गई हैं।

पाञ्च सरोवर तीर्थ

पाँच सरोवरों को पुराणों में तीर्थ की मान्यता दी गई है। ये है–

१. **मानसरोवर**- कैलाश पर्वत पर मानसरोवर है। अब यहाँ जाने की व्यवस्था कर दी गई है। यह भारत-चीन सीमा पर स्थित है तथा ऊँची चोटी के कारण दुर्दान्त है। यहीं वे हंस रहते हैं जो मोती चुगते हैं।

२. **बिन्दुसरोवर**- गुजरात में स्थित इसी स्थल पर कर्दमक प्रजापति को वर देते समय विष्णु भगवान के नेत्र से अश्रुबिन्दु गिरा था। इसीसे यह इस नाम से प्रसिद्ध है। इसका एक नाम सिद्धाश्रम भी है।

३. **नारायण सरोवर**- यह हिमालय में है जहाँ से गंगा नदी का स्रोत फूटता है। इसका सम्बन्ध नारायण से जोड़ा गया है। यह बर्फ से ढका रहता है। कोई अतिपुण्यात्मा ही इसका दर्शन पा सकता है।

४. **पम्पासरोवर**- हम्पी (दक्षिणी भारत) में स्थित इस सरोवर में पुराणों के अनुसार श्राद्ध का विशेष महत्व है।

५. **पुष्कर सरोवर**- यह राजस्थान के अजमेर में ब्रह्माजी द्वारा निर्मित है जिसमें माता के पिण्डदान का विशेष महत्त्व है। यह भारत में अपनी तरह का अकेला ब्रह्मा द्वारा निर्मित सरोवर है। यहीं एकमात्र ब्रह्मा का मन्दिर भी है।

सप्त क्षेत्र

विभिन्न क्षेत्रों का वर्णन पुराणों में है। इनमें निम्न सात प्रमुख हैं :

१. **कुरुक्षेत्र**- वर्तमान हरियाणा राज्य में महाभारत के युद्ध का यह प्रसिद्ध स्थल है।

२. **हरिहरक्षेत्र**- बिहार राज्य के सोनपुर में गण्डकी के तट पर यह क्षेत्र है जहां गज-ग्राह का युद्ध हुआ था। यहीं पुलस्त तथा जड़भरत ने तपस्या भी की थी।

३. **प्रभासक्षेत्र**- यह गुजरात प्रांत के उत्तर सौराष्ट्र में है। शैव और वैष्णवों का यह तीर्थ कृष्ण तथा दक्षप्रजापति के शाप से क्षयरोग ग्रसित चन्द्रमा की तपोस्थली है।

४. **भृगुक्षेत्र**- गंगा के संगम पर उत्तर प्रदेश के बलिया जिले में भृगु की तपोस्थली तथा पड़ोस में इनके पुत्र परम्परा में जमदग्नि ऋषि और परशुराम की यह तपः स्थली है।

५. **पुरुषोत्तमक्षेत्र**- जगन्नाथ पुरी जिसकी चर्चा ऊपर की गई है वही पुरुषोत्तमक्षेत्र है।

६. **नैमिषक्षेत्र**- उत्तर प्रदेश के सीतापुर जिले में नैमिषारण्य जहां विष्णु का चक्र गिरा था वहां चक्रतीर्थ है। वही खण्ड नैमिषारण्य या नीमसार नाम से प्रसिद्ध है।

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

७. **गयाक्षेत्र**- यह बिहार के गया जिले में है जहां विष्णु ने गयासुर का वध किया था। यहां फल्गूनदी के किनारे विष्णुपादगिरि पर पिण्डोदक दान का महात्म है।

अरण्य

१. **दण्डकारण्य**- इसका विस्तार गोदावरी से चित्रकूट तक माना जाता है। इसमें दो ज्योतिर्लिंग श्रीशैल और मल्लिकार्जुन हैं तथा कई तीर्थस्थल भी हैं।

२. **विंध्यारण्य**- यहीं रामने वनवास के समय बारह वर्षों तक निवास किया था। इसके उत्तरी भाग में विंध्यवासिनी का मंदिर है जो विंध्य पर्वत पर स्थित है।

३. **पुष्करारण्य**- यह अजमेर में है। ब्रह्माजी ने यही वज्रनाभ नामक दैत्य का बध किया था।

४. **कुरुजाङ्गल**- कुरुक्षेत्र में यह वन प्रदेश था।

५. **धर्मारण्य**- यह बलिया, गाजीपुर, भोजपुर (बिहार) से होकर मध्य प्रदेश के जबलपुर तक फैला था।

६. **वेदारण्य**- दक्षिण भारत के शैव क्षेत्र में यह अरण्य था।

७. **सैंधवारण्य**- अब यह स्थान पाकिस्तान के पश्चिमी भाग में है।

इनके अतिरिक्त ५१ सिद्ध क्षेत्रों, कई देवी विग्रह स्थानों, सप्तबदरी तथा पंच केदारों का भी उल्लेख है।

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

अध्याय-१३

तंत्र सम्प्रदाय

भारतीय धार्मिक जीवन में तांत्रिक क्रियाओं का विशेष एवं व्यापक स्थान है। ये क्रियाएँ अन्य धार्मिक क्रियाओं की अपेक्षा अधिक जटिल हैं। इसके ज्ञाता अपने शिष्यों को तथा इसकी क्रिया करने वालों को इसका रहस्य नहीं बताते क्योंकि इसे गूढ़ मानते हैं। इन क्रियाओं और उनसे सम्बन्धित देवताओं का ज्ञान तंत्र साहित्य से होता है, जिसका विशाल भण्डार इसके धार्मिक ग्रन्थों में अलग से है तथा दूसरे धर्म ग्रन्थों में भी स्थान-स्थान पर इसका उल्लेख किया गया है। पर आज इसका व्यवहार सभ्य समाज में नहीं के बराबर है क्योंकि इसका चलन अब मात्र आदिवासी जातियों तक ही सिमट कर रह गया है। इसके ग्रन्थों की व्याख्या भी भारत में ही हुई अब जानकारी के अभाव में मात्र एक दुरूह तथ्य बनकर रह गयी है। इधर हाल में विदेशी विद्वान जान उडरफ ने इसकी व्याख्या कर समाज के सम्मुख प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। पर उन्हें अपने कार्य में आशातीत सफलता नहीं मिल सकी है क्योंकि इसकी क्रियाएँ अति गोपनीय हैं, इनके मंत्र अटपटे और अस्पष्ट हैं, फिर भी किसी न किसी रूप में कुछ वर्गों में जीवित हैं। ये ऐसे लोगों के बीच आज प्रचलित है जो सभ्य समाज से दूर एकान्त स्थानों में रहने वाली जनजातियाँ हैं जहां पुरानी परम्परा प्रचलित है।

'तंत्र' शब्द की व्युत्पत्ति

तंत्र शब्द संस्कृत के 'तन', या 'तन्त्री' से बना है। इसका अर्थ है विस्तार या व्याख्या। एस. एन. दासगुप्ता (S.N. Das Gupta) के अनुसार 'तन' शब्द को 'तंत्री' से लिया गया है। विस्तार करने की भावना को यहाँ सीमित कर इसका अभिप्राय मात्र 'व्याख्या' ही है। इस प्रकार इसका मौलिक उद्देश्य है कि किसी भी समस्या का वैज्ञानिक या व्यवस्थित विवाद। ईशान शिवगुरुदेव ने अपने ग्रन्थ 'ईशान शिवगुरुदेव पद्धति' में इसकी व्युत्पत्ति 'तंत्री' से बताया है जिसका अभिप्राय है 'सम मना'। उन्होंने इसे शैव धर्म के छः पद्धतियों का समन्वय बताया है यथा : पशु, पाश, पति, शक्ति, विचार और क्रियाचर्य। पिंगला मत के अनुसार तंत्र का अभिप्राय है विस्तार और सुरक्षा। इसके दो स्वरूप यहाँ बताये गये हैं- आगम और निगम। आगम शब्द आगत (आना) गत (जाना) और मत (स्वीकृत) शब्दों के प्रारम्भ के अक्षरों (आ+ग+म) के योग से ही बना है। यह तन्त्र सर्वप्रथम शिव ने पार्वती को बताया था। इसी प्रकार निगम तन्त्र 'निर्गत' से बना है जिसे पार्वती ने शिव से कहा था। इसकी व्युत्पत्ति 'निर्गत', 'गिरीश' और 'मत' शब्दों के प्रथम अक्षरों (नि+ग+म) को मिलाकर बना है। इस प्रकार तन्त्र शब्द मुख्यतया शैव और शाक्त धर्मों से सम्बन्धित है। शब्द कल्पद्रुम में वाराहीतन्त्र का उल्लेख है जो सात विषयों

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

को अपने में संजोये है-सृष्टि, विनय, ईश्वर, आराधना, साधन और पुरश्चरण। इनके साथ ही इसमें सम्मिलित हैं- छः निकृष्ट क्रियायें और चार प्रकार के ध्यान। कुछ ग्रन्थों में 'यामल तन्त्र' की भी बात आती है। इसमें सृष्टि, ज्योतिष, जाति विमुख युग धर्म आदि की चर्चा है। म. म. हरप्रसाद शास्त्री (M. M. Har Prasad Sastri) के अनुसार इसमें संयुक्त देवताओं की पूजा होती है।

अर्थ

संस्कृत वाङ्गमय में तन्त्र का अर्थ है शास्त्र। भारत के विभिन्न दार्शनिक सिद्धान्तों को तन्त्र के नाम से पुकारा जाता है-जैसे कपिल तन्त्र, गौतम तन्त्र आदि। जैमिनी मीमांसा में दर्शन के एक पक्ष को जैमिनी तन्त्र कहा जाता है। भट्टोजी द्वारा रचित 'तन्त्राधिकार निर्णय' में पूर्व तन्त्र और उत्तर तन्त्र का उल्लेख है। ये क्रमशः मीमांसा और वेदान्त के बोधक हैं। पर अतीत में शैव, वैष्णव, गाणपति, शाक्त आदि विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों के मानने वाले इसे आगाम नाम से जानते थे। वर्तमान काल में इसका प्रयोग ऐसे साहित्य के लिए किया जाता है जो रहस्यमय और जादुई हो तथा इसका सम्बन्ध मातृदेवी शक्ति के साथ जुड़ा है। फिर भी यहाँ तन्त्र शब्द को ही मानना उचित है क्योंकि आज यही चलन में है।

तन्त्र का उद्भव

यद्यपि वैदिक काल से तन्त्र की उत्पत्ति ज्ञात होती है, पर यह स्पष्ट नहीं कि कहाँ, कब और किन लोगों ने सबसे पहले तन्त्र का प्रयोग प्रारम्भ किया था। यह तो साधारणतया स्वीकार किया जाता है कि इसका प्रारम्भ समाज के निम्न वर्गों में हुआ होगा, जहाँ से उच्च वर्गों के लोगों ने इसे ग्रहण कर इसको व्यवस्थित किया होगा और इसको दार्शनिक स्वरूप प्रदान किया होगा। जयद्रथ यामल के अनुसार तेलियों और कुम्भकारों के घरों में दुर्गा की पूजा होती थी। हरप्रसाद शास्त्री के अनुसार यह शिवव्रात्यों अर्थात् अवैदिक एवं असभ्य परिवार का देवता था। वाणभट्ट ने कादम्बरी में वर्णन किया है कि सामान्य लोग तन्त्रों का प्रयोग करते हुए मांस, मदिरा, रक्त आदि के द्वारा देवताओं का पूजन करते थे। चण्डिका के मन्दिर का भी उल्लेख इसमें किया गया है जहाँ पुराने द्रविड़ लोग उपासक होते थे और उनका परिवार मातृप्रधान था। यही विचार आर. पी. चन्द (R. P. Chand) का भी है। बी. सी. मजुमदार (B. C. Majumdar) के अनुसार दुर्गा की पूजा अनार्य प्रकृति की बोधक है जो 'गौडवाहों' के अनुसार कोलियों और शबरों में पूजित होती थीं। इन विवेचनों से स्पष्ट है कि तन्त्र की उत्पत्ति निम्न वर्ग के परिवार से, जो सम्भवतः अनार्य थे, प्रारम्भ होकर भारत के विभिन्न भागों और वर्गों में फैली।

तन्त्र की उत्पत्ति का स्थान अनेक विद्वानों के अनुसार भारत के बाहर उत्तर और उत्तर-पूर्व क्षेत्र माना है। वहीं से यह भारत में फैला। कुछ लोग ऐसा भी मानते हैं कि हिमालय के पार प्रदेश में यह पद्धति प्रचलित थी जहाँ से भारत आयी। 'साधनमाला' के अनुसार तांत्रिक देवी तारा मूलतः भोट या तिब्बत की थीं। देवी भागवत में इसकी उत्पत्ति का स्थान चीन बताया गया है। वामाचार और कुलाचार का स्थान 'कालीतन्त्र' में चीन या महाचीन बताया गया है। एक ग्रन्थ के अनुसार मेरुपर्वत के पार प्रदेश में कोलंग नामक झील के प्रदेश में तारा की उत्पत्ति का उल्लेख है।

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

ए. एच. फ्रैंके (A. H. Franke) के अनुसार वहीं तार नामक गाँव है ज़हाँ तारा का उद्भव हुआ। होगा और उसी स्थान के एक स्थल को शक्ति कहते हैं। शिव को हिमालय का देवता माना गया है। इसी से उन्हें कैलाशवासी तथा यक्षों, गणों, गन्धर्वों से घिरा हुआ बताया गया है। साथ ही कहा जाता है कि उनकी पत्नी हिमालय की पुत्री हैं तथा शंकर अपनी जटा में हिमालय से निकले वाली गंगा को धारण किये हैं। हिमालय पार प्रदेश के आक्रमणकारी जो भारत में आये थे शक, पह्लव, कुषाण और हूण सभी शैवोपासक थे। बुड्डीमल्लम में मंगोलियन आकृति के शिव की मूर्ति प्राप्त हुई है। 'कुब्जिकामाता' के अनुसार कुब्जिका नामक देवी भी भारत में बाहर से ही आयी हैं। हरप्रसाद शास्त्री के अनुसार तुर्किस्तान के पुजारी इनकी पूजा में निपुण थे। डॉ. डी. बी. स्पूनर (Dr. D. B. Spooner) के अनुसार शाक्त उपासना ईरानी है। हड्सन (Hudson) के अनुसार तुरानी अंधविश्वास के परिणाम स्वरूप ब्राह्मण और बौद्ध धर्मों में 'तन्त्र' साधना को स्थान मिला। एल. डी. बर्नेट (L. D. Burnett) ने श्याम की परम्परा से भारतीय तन्त्र की उत्पत्ति सिद्ध करने का प्रयास किया है।

पर भारतीय विचारकों की दृष्टि में तन्त्र का मूल उद्भव केन्द्र बंगाल था। इस सम्बन्ध में प्रोफेसर विन्टरनित्स (Prof. Winternitzth) के अनुसार यह बंगाल में प्रस्फुटित हुआ जहाँ से आसाम, नैपाल, तिब्बत और चीन के पार प्रदेशों में बौद्ध धर्मानुयायियों के माध्यम से फैला। एक मत के अनुसार तन्त्र विद्या का उद्भव बंगाल में हुआ और इसका विस्तार मिथिला, महाराष्ट्र से होता हुआ अवनत कालीन अवस्था में गुजरात तक फैल गया। वर्दातन्त्र का केन्द्र बंगाल के प्राणतोषिनी नामक स्थान को मानते हैं। कौलतन्त्र की उत्पत्ति कामरूप या आसाम से मानी जाती है। एक शाखा के अनुसार पूर्वी बंगाल के चन्द्रद्वीप से इसका उद्भव बताया जाता है। पुराणों में ह़िमालय से इसका सम्बन्ध जोड़ा गया है। रामायण भी ऐसा ही बताता है। गुजरात से भी कुछ लोग इसका सम्बन्ध जोड़ते हैं। इससे स्पष्ट है कि तंत्र की अनेक शाखाएं थीं और इस विविधता का कारण था विभिन्न क्षेत्रों में उसकी विविध नामों से, प्रकारों की मान्यता।

यद्यपि यह बहुत स्पष्ट नहीं है की उसकी उत्पत्ति कहाँ हुई पर इतना तो सही ही है कि यह भारतीय भूमि में पाँच सौ वर्ष पहले से फैल चुका था। यह धर्म आंशिक रूप से वैदिक, पौराणिक और तांत्रिक है। तन्त्र भारतीय समाज का एक व्यापक अंग है। पर आज भी इसे व्यापक दृष्टि से नहीं देखा जाता है।

तन्त्र का स्वरूप

'मतंगपरमेश्वरी तन्त्र' में इसके चार पदों की चर्चा है- 'विद्या, क्रिया, योग और चर्या'। कहीं-कहीं योग और चर्या के लिये दूसरे व्याख्याकारों ने 'पाश्या' और 'सिद्धि' का उल्लेख किया है। पंचरात्र सिद्धान्त के 'अहिरबुद्धन्य संहिता' में इसके दस अंगों का उल्लेख है। पर मुख्य रूप से तन्त्र साहित्य की विषय-वस्तु को दो मूल खण्डों में विभक्त किया जा सकता है- 'क्रियातन्त्र' और 'योगतन्त्र'।

तन्त्र की मूल विशेषताओं में सबसे प्रमुख क्रिया है-दीक्षा। इसके द्वारा तांत्रिक को अधिकार प्रदान किया जाता है कि वह तन्त्र के नियमों के अनुसार साधना करे। यह बिना किसी

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

जाति या लिंग भेद के हिन्दू धर्म सम्बन्धी या उसको किसी भी देवता की उपासना के लिये दीक्षित करता है। इसके बाद दीक्षित व्यक्ति को 'मन्त्र' दिया जाता है जिससे वह अपने अभीष्ट देवता की आराधना करे। इस मंत्र को वह गोपनीय रखता है। मंत्र को व्यक्ति की विशेषता, पारवारिक परम्परा आदि के अनुरूप देते हैं जिसे, वह उस देवता की पूजा के समय अथवा दैनिक क्रियाओं के समय प्रयोग करता है। जब वह इस प्रकार की साधना में सिद्धि प्राप्त कर लेता है तो उसका 'पूर्णाभिषेक' किया जाता है और उसके बाद वह उपासना की दो विधियाँ अपनाता है- 'भूतशुद्धि' और 'न्यास'। इनके द्वारा शरीर की शुद्धि होती है तथा दैवी आत्मा से मानवीय आत्मा का सम्मिलन होता है। मन्त्रों को एक या कई भागों में उच्चारित करते हैं। फिर विभिन्न क्रियायें करते हैं जिससे की मन्त्र प्रभावक बन जाय। इनमें सबसे महत्वपूर्ण है पुरश्चरण जिसके पाँच तत्त्व होते हैं- निर्धारित संख्या में मन्त्रों का उच्चारण, होम, तर्पण, अभिषेक के समय घड़े में सम्बन्धित यन्त्र रखकर, जल से भरकर, आम्र पल्लवों को उसमें डालकर देवता पर चढ़ाया जाता है। यन्त्र देवता का रूप होता है।

विशिष्ट देवताओं की दैनिक पूजा के अतिरिक्त प्रमुख त्यौहारों पर भी इसके पूजन का आयोजन किया जाता है। शक्ति उपासना में जो कर्मकाण्ड किये जाते हैं वे बड़े विचित्र प्रकार के होते हैं। ये हैं-षटकर्म, द्वित्याग या पंचमकार (मदिरा, मांस, भूना हुआ अन्न, शारीरिक सम्बन्ध तथा शव साधना)। इनमें वैदिक स्मृति की क्रियाएँ भी की जाती हैं। इसमें संस्कार भी किया जाता है जैसे उपनयन आदि जिसकी क्रियायें पौराणिक क्रियाओं की तरह होती हैं। वैदिक मंत्रों का प्रयोग विनाशात्मक तांत्रिक क्रियाओं में किया जाता है। पर प्रश्न है कि वैदिक मन्त्रों का प्रयोग क्यों किया जाता है? इस सम्बन्ध में ज्ञात होता है कि इनके साथ कुछ अन्य मन्त्र भी जोड़ दिये जाते हैं जैसे परशुराम कल्पसूत्र में सात ऋग्वैदिक मन्त्रों का उल्लेख है। सरस्वती हस्योपनिषद में सरस्वती और वाक के दस मन्त्रों का प्रयोग साथ करने का विधान है। फिर भी वैदिक क्रिया और तांत्रिक क्रिया के प्रयोग में कुछ अन्तर है।

तन्त्र की विशेषताएँ

तान्त्रिक क्रिया प्राचीन भारतीय साधना की एक प्रमुख कड़ी रही है जो आज भी उन लोगों में विद्यमान है जो वर्तमान सभ्यता एवं संस्कृति से बहुत दूर हैं। ये क्रियाएँ सर्वत्र समान रूप से प्रयोग में देखने को मिलती हैं। ये निम्न हैं-

१. तांत्रिक षटकर्म- ये हैं तावीज का प्रयोग, काम सम्बन्धी क्रियाएँ, मादक द्रव्यों का प्रयोग, बिना अर्थ के शब्द वाले मन्त्रों का प्रयोग आदि। ये विशेषताएँ विश्व के प्राचीन धर्मों में सर्वत्र देखने को मिलती हैं।

२. शत्रु की मूर्ति पर आघात- ये जादुई क्रियाएँ हैं जिससे शत्रु के विनाश का उपाय किया जाता है। उसके प्रसंग में डॉ. फ्रेजर (Frezer) के अनुसार शत्रु के विनाश के लिए उसकी कल्पित आकृति बनायी जाती है चाहे मोम की, मिट्टी या किसी दूसरे वस्तु की। फिर उसे किसी नुकीली चीज से छेदा जाता है तथा आग में जलाया जाता है। इस भावना से कि इस क्रिया

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

द्वारा शत्रु के शरीर को इसी प्रकार का कष्ट मिलेगा। ईरान में भी इसी प्रकर की पद्धति का उल्लेख डॉ. जे. जे. मोदी (J.J. Modi) ने किया है कि वहाँ राज्य की ओर से मना था कि मृतक शरीर के साथ सूई या कोई ऐसी दुखदायी वस्तु न गाड़ी जाय ताकि इससे उसका भावी जीवन कष्टमय हो। जरथुस्त्रनामा में भी लिखा है कि जरथुस्त्र को कष्ट दने के लिए कमरे में ये सब सामग्रियाँ रखी जाती थीं।

३. ताबीज और यन्त्रों का प्रयोग– ये व्यापक चलन में थे। प्राचीन काल के लोग इनका तथा अभिमंत्रित अंगूठियों का प्रयोग बाधाओं को रोकने के लिए करते थे।

४. अशुद्ध और विरोधी क्रियायें– यूनान, रोम, दक्षिणी, पश्चिमी सागर के द्वीप समूहों में इस प्रकार की क्रियायें की जाती हैं। विश्वास था कि ऐसा करने से प्रेतबाधा नहीं आती है।

५. जननेन्द्रियों की उपासना– सम्पूर्ण विश्व में इसकी पूजा की जाती थी। इसके लिए जननेन्द्रीय के प्रतीकों का प्रयोग किया करते थे। यह प्रत्येक समाज की आन्तरिक व्यवस्था के साथ जुड़ चुका था। इसी का एक रूप लिंग पूजा के रूप में भारत में तथा विभिन्न देशों में आदि काल से पाया जाता है। बान (Van) महोदय ने तो सभी धार्मिक क्रियाओं में इसका स्थान स्वीकार किया है। प्राचीन मिस्र, यूनान, रोम और यहाँ तक कि ब्राह्मण धर्म, शिवोपासना और ईसाई धर्म में भी इसका चलन था।

६. मादक द्रव्यों और मुद्राओं का प्रयोग– प्राचीन काल के लोग तंत्रोपासना में विभिन्न प्रकार के सुरा और मादक पेय का प्रयोग करते तथा शरीर के अंगों की विभिन्न मुद्राओं, आसन और न्यास के द्वारा तन्त्र की उपासना करते थे।

७. जादुई नामों का प्रयोग– कुछ ऐसे शब्दों का उच्चारण इसमें करते थे जिनका कोई स्पष्ट अर्थ नहीं होता था। वे मात्र रहस्यमय होते थे। इनके द्वारा वे अपनी तांत्रिक साधना पूर्ण करते थे। गाइगर (Giger) के अनुसार ऐसे शब्दों के प्रयोग के द्वारा वे दुष्प्रभावक तत्त्वों के आक्रमण को अपने पर होने से रोकते थे तथा दूसरों पर उसे भेजते थे।

भारत में तन्त्र की प्राचीनता और ऐतिहासिकता का विकास

कुछ विचारकों के अनुसार तांत्रिक क्रियायें द्रविड़ों और अनार्य लोगों की उपज हैं जिन्हें पीछे आर्यों ने ग्रहण करके तन्त्र के रूप में व्यवस्थित किया। इसका व्यवस्थित ज्ञान इसके ऐतिहासिक विकास में ही देखा जा सकता है।

पूर्व ऐतिहासिक काल

ब्रुशफुट (Bruce Foot) ने दक्षिणी भारत में लिंग प्रकार की अनेक सामग्रियाँ आकृतियाँ की हैं। ये तन्त्र के प्रारम्भिक रूप माने जा सकते हैं। डॉ. शाम शास्त्री (Sham Shastri) ने भारत में तन्त्र का प्रयोग १००० ई. पू. से माना है। उन्होंने यह सुझाव दिया है कि प्रारम्भिक सिक्कों पर कुछ ऐसे चिन्ह बने हैं जिनकी कोई व्याख्या नहीं की जा सकी है। उन्हें तांत्रिक चिन्ह ही स्वीकार करना उचित होगा। उन्होंने आगे यह भी बताया है कि त्रिपुनोपनिषद में चित्रांकित तन्त्र का उल्लेख पूर्व ऐतिहासिक युग में तन्त्र साधना का बोधक है।

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

वैदिक काल

ऋग्वैदिक काल में प्रत्यक्ष: तो नहीं पर प्रसंगवत वर्णित क्रियाओं के द्वारा तंत्र के होने की सम्भावना की जा सकती है। स्पष्ट रूप से योग के सैद्धान्तिक क्रियाओं तथा तांत्रिक कर्मकाण्डों का कोई उल्लेख यहाँ नहीं है। इससे ऐसा कहा जा सकता है कि उस समय तन्त्र साधना का विकास नहीं था। फिर भी कुछ लोगों ने वैदिक साहित्य से इसकी प्राचीनता का जोड़ने का प्रयास किया है। अथर्ववेद के सौभाग्य काण्ड में तन्त्र की उत्पत्ति की ओर संकेत मिलता है। कालीकुलार्णव तन्त्र में अथर्वन संहिता की चर्चा आयी है। रुद्रयामल में महादेवी अथर्ववेद शाखिनी का उल्लेख है। भाष्कराचार्य तन्त्र का सम्बन्ध उपनिषद, स्रवुलसूत्र और धर्मसंहिता से जोड़ते हैं। रुद्र उपनिषद और कौल उपनिषद का सीधा सम्बन्ध वेद और तन्त्र से बताया जाता है। यन्त्र चिन्तामणि में अथर्ववेद का उल्लेख है। वैष्णवों के पंचरात्र सिद्धान्त में किसी अज्ञात वैदिक शाखा की चर्चा है। कुलार्णव में तन्त्र की कौल क्रियाओं को वेद से जोड़ा गया है तथा वैदिक विचारों का उल्लेख इसकी पुष्टि के लिए किया गया है। आकृति बनाकर पूजा करने की विधि तैत्तिरीय आरण्यक में दी गयी है। इनसे स्पष्ट है कि वैदिक साहित्य का तान्त्रिक क्रियाओं से किसी न किसी प्रकार का सम्बन्ध अवश्य रहा होगा। वैदिक पूजा में सुरा का उपयोग सोमरस के नाम से सम्भवत: किया गया है जो तंत्र साधना का एक माध्यम है। कीथ (A. B. Keith) के अनुसार वैदिक पूजा में एक अस्पष्ट शब्द 'फट' का प्रयोग होना तन्त्र की ओर संकेत करता है। पशुवलि, मांसाहार, शिष्नदेवों की पूजा, षटकर्म का उल्लेख, शक्ति की उपासना, रोगों को भगाने के लिए मन्त्रों का प्रयोग, नशा उतारने के लिए मन्त्र, मारण और उच्चाटन की क्रियाएँ, वाजस्नेही संहिता को यामल स्रौतसूत्र और तैत्तिरीय आरण्यक में मिलता है। तैत्तिरीय संहिता में दूसरे को अपने वश में करने का उल्लेख है जो तांत्रिक क्रिया से सम्बन्धित है। अथर्ववेद में जादूटोना, तन्त्र-मन्त्र का उल्लेख तांत्रिक भावना को बल देता है। भूत-प्रेत, डाकिनी-पिशाचिनी की भी वहाँ चर्चा है। सुरक्षा के लिए ताबीजों का भी उल्लेख किया गया है।

बौद्ध काल

बौद्ध साहित्य में– बौद्ध ग्रन्थों से तन्त्र का ज्ञान मिलता है। पालि बौद्ध ग्रन्थों में कुछ ऐसी क्रियाओं का उल्लेख है जो पूर्णतया तांत्रिक हैं। बुद्ध ने भी पंच-काम-गुण, अर्थात् पंचमकार का उल्लेख किया है। लगता है उस समय भी यह प्रचलन में था। 'मज्झिम-निकाय' में कामवासना को बुरी दृष्टि से नहीं देखा गया है। ऐन्द्रिक सुख को धार्मिक क्रिया का अंग माना जाता था। 'कथावत्थु' में मैथुन को धर्म कहा गया है। 'चुल्ल-वग्ग' में मुण्डधारी भिक्षुओं का उल्लेख है जो कपाल लेकर भिक्षाटन के लिए जाया करते थे। यद्यपि लोग इसे देखकर आश्चर्य में रहते थे। श्मशान भूमि में भिक्षुओं के रहने का उल्लेख मज्झिम निकाय में है। जादुई क्रियायें भी इस समय प्रचलन में थी। 'तेवीजीय सूत्र' में ब्राह्मण और श्रमणों द्वारा जादू के प्रयोग का उल्लेख है। कुछ श्रमण और ब्राह्मण इनके द्वारा अनेक रोगों का निदान भी करते थे। 'ब्रह्मजाल सूत्र' में जादू के द्वारा लोगों के सौभाग्य और दुर्भाग्य की व्यवस्था का विवरण मिलता है। यहीं यह भी कहा गया है कि ऐन्द्रिक सुख से निर्वाण की प्राप्ति होती है।

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

जैन साहित्य में– जैन प्राकृत ग्रन्थों में तन्त्र का उल्लेख है। महावीर ने बताया है कि रहस्यवाद के मानने वाले कामुक होते हैं। यहाँ भी जादू के प्रयोग की चर्चा है।

मौर्य काल से पूर्व गुप्त काल तक

धर्मशास्त्रों और पुराणों में– धर्म शास्त्रों और संहिताओं में तांत्रिक क्रियाओं की भत्सर्ना की गई है। मनु, याज्ञवल्क्य एवं आपस्तम्ब धर्मशास्त्रों में इसका उल्लेख है। ब्रह्मसूत्र के अनुसार शैव धर्म और पांचरात्र सम्प्रदाय में तन्त्र का संकेत मिलता है। पातंजलि के योगसूत्र में भी मदिरा पीकर आराधना करने से साधना में सिद्धि प्राप्ति का वर्णन है। विभिन्न पुराणों में तांत्रिक क्रियाओं की चर्चा मिलती है। तांत्रिक पूजा से सम्बन्धित पुराण भी हैं देवी, कालिका, लिंग आदि। पद्म पुराण और कालिका पुराण में षटचक्र का व्यापक विवेचन है। किन्तु कुछ पुराणों में तन्त्रों की निन्दा भी की गयी है। इसमें प्रमुख रूप से उल्लेखनीय है कूर्मपुराण।

महाकाव्यों में तन्त्र– रामायण में कहीं-कहीं ऐसी क्रियाओं का वर्णन है जो तन्त्र से सम्बन्धित हैं। सीता जब राम के साथ वन गमन के समय गंगा पार कर रही थीं तो उन्होंने गंगा देवी से प्रार्थना किया था कि सकुशल लौट आने पर मांस और मदिरा से मैं आपकी पूजन करूँगी। महाभारत में भी इसी प्रकार के स्थल कहीं-कहीं मिलते हैं यद्यपि इन्हें प्रक्षिप्त कहा गया है। वहाँ शिवलिंग की पूजा तथा दूसरी तांत्रिक क्रियाओं का उल्लेख है।

साहित्य ग्रन्थों में– कौटिल्य के अर्थशास्त्र में अनेक प्रकार के सम्मोहन और तांत्रिक मंत्रों का उल्लेख है। कृष्णपक्ष की चतुर्दशी को श्मशान भूमि में बलि देने की चर्चा भी की गयी है। जिन देवताओं को बलि चढ़ाई जाती थी उनके नाम भी बड़े विचित्र हैं जैसे अमिल, किमिल, वापुजर आदि।

ललित बिस्तर में निगम शाखा के ज्ञान की महत्ता पर प्रकाश डाला गया है। यहाँ उपासना में तन्त्र, मदिरा और मांस के प्रयोग का उल्लेख है। निर्जन साधना की भी चर्चा की गयी है जिसे मोक्ष प्राप्त हो सके। श्मशान भूमि तथा चारागाहों में देवी-देवताओं के पूजन का भी उल्लेख है। भिक्षुओं द्वारा कपाल तथा खड्वांग धारण करने का भी ज्ञान मिलता है।

अश्वघोष ने बुद्ध के समय काली पूजा की चर्चा की है जो अपने हाथ में कपाल का प्याला लेकर शराब के नशे में कामुकता से उत्तेजित बोधिसत्व के सामने खड़ी हैं। बुद्ध पर मार विजय की चर्चा में मार के हाथ में त्रिशूल और खड्वांग के होने का उल्लेख है। इससे स्पष्ट है कि प्रथम शताब्दी में तांत्रिक देवी देवताओं का स्थान भी समाज में था।

गुप्त काल– गुप्त कालीन लिपि में तन्त्र ग्रन्थों की अनेक पाण्डुलिपियाँ प्राप्त हुई हैं। सर्वज्ञानोत्तर तन्त्र के कुछ अंश गुप्त लिपि में मिले हैं। कुब्जिका तन्त्र की पाण्डुलिपि भी गुप्त लिपि में है। निश्वास संहिता की पाण्डुलिपि परवर्ती गुप्त कालीन लिपि में है। सौर संहिता में गुप्त लिपि में तन्त्रों के अनेक सूत्र लिखे गए हैं।

गुप्तोत्तर काल– इस समय तन्त्र साहित्य की अनेक रचनाओं का ज्ञान मिलता है। छठीं शताब्दी ई. के बहुत से बौद्ध धर्म से सम्बन्धित तन्त्र ग्रन्थ उपलब्ध हैं तथा भारत में आने वाले विदेशी यात्रियों के विवरण से भी तन्त्र की प्रमुखता का ज्ञान मिलता है। बौद्ध भिक्षुणियों में तन्त्र की प्रधानता ज्ञात होती है। इसका उल्लेख फाह्यान ने किया है। ह्वेनसांग ने भी धारणी या विद्याधर

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

पिटकस की चर्चा की है जो तन्त्र से सम्बन्धित हैं। जापान में ताड़पत्र पर लिखित धारणी के अतिरिक्त पाँच तन्त्रों का उल्लेख है। अमोघवर्ष ने ७७ ग्रन्थों का अनुवाद किया था जिनमें कई तन्त्र के हैं। अतिशुदीपंकर चार प्रकार के तन्त्रों का विशिष्ट ज्ञाता था। तारानाथ ने भी अनेक तांत्रिकों का उल्लेख किया है जिनमें असंग का नाम भी लिया है। इसके अतिरिक्त बुद्धकपाल तन्त्र को सरह ने, योग निश्चर्या को लूपा ने, हेमराजतन्त्र को कम्बक ने, सम्पु तिलक को कृष्णाचार्य ने प्रारम्भ किया था। एक तांत्रिक देवी तारा का उल्लेख एक पुराने ग्रन्थ में हुआ है। इसकी प्रतिमायें भी पं. हीरानन्द शास्त्री (Pt. Hiranand Shastri) के अनुसार सातवीं शताब्दी के आस-पास की मिली हैं। कुलाचार सम्प्रदाय मत्सेन्द्र नाथ द्वारा स्थापित किया गया था। गोरखनाथ को भी तन्त्र सम्प्रदाय के कौलतन्त्र में सिद्धहस्त मानते थे।

इस प्रकार यह ज्ञात होता है कि ई. सन् के पूर्व ही से तंत्र समाज में विशेष व्यापक रूप में प्रचलित था। इसका सम्बन्ध वैष्णव, शैव, शाक्त और बौद्ध सम्प्रदायों से रहा है। आगम और निगम इसका प्रमुख शास्त्र है। आगम शिव से सम्बन्धित है और निगम देवी पार्वती से। इसलिए इसका प्रमुख पक्ष शैव और शाक्त दोनों ही हैं। वैष्णव तन्त्रों की भी चर्चा प्राप्त होती है जिसमें प्रधान विष्णु हैं तथा बौद्ध तन्त्रों में बुद्ध और बोधिसत्व को प्रधान माना गया है। कुछ ऋषियों से भी तन्त्र का सम्बन्ध जोड़ा गया है जैसे-दत्तात्रेय, अष्टवक्र, भारद्वाज, शरदकुमार आदि।

तांत्रिक देवता

तन्त्रों और पुराणों में मातृदेवियों की पूजा की चर्चा मिलती है। कुमारी पूजा की इसमें विशेष महत्ता है। इसके द्वारा सभी दुष्ट वृत्तियाँ समाप्त हो जाती हैं। इसमें बिना देवी के देवता की पूजा लाभकर नहीं होती इसलिए इसमें कुवांरी कन्याओं के खिलाने का चलन है। तन्त्रों में मंत्र का स्थान प्रमुख है। तब देवार्पण की सामग्री और फिर देवता का नाम आता है। अनेक क्रियाओं का प्रयोग इसमें किया जाता है। देवताओं को नम:, स्वाहा, स्वधा, वऊषट, निवेदयामि आदि शब्दों के द्वारा पूजित करते हैं। पूजा में आचमन, स्वस्तिवाचन और घटस्थापन की क्रिया की जाती है। आवश्यक नहीं की इसमें देवताओं की मूर्तियाँ बनायी ही जायं। इनके देवताओं को विभिन्न वर्गों में रखा जाता है।

गणेश की पूजा गणपति, महागणपति, वीरगणपति, शाक्तगणपति, हेरम्ब, हरिद्रा, एकदन्त आदि अनेक नामों से तन्त्रों में की जाती है। कहीं-कहीं पर इनके वाहन के स्थान पर मूषक की जगह सिंह का भी अंकन है। वीरगणपति के हाथ में मदिरा से भरा कपाल का प्याला भी प्रदर्शित है। सूर्य और चन्द्रमा की विभिन्न आकृतियों की पूजा भी यहाँ होती है। सूर्य को चतुभुजी, त्रिनेत्रधारी, अष्टमुखी और हाथ में कपाल लिये हुए प्रदर्शित किया गया है। चन्द्रमा को नीले बालों से युक्त दिखाया गया है। रक्त कमल पर बैठे हुए चतुर्भुजी सूर्य की पूजा होती है जिनके एक हाथ में कमल का फूल होता है। शिव की पूजा क्षेत्रपाल, भैरंव आदि विभिन्न रूपों में की जाती है। इसमें शिव का स्वरूप श्वेत, चन्द्र से सुशोभित, आभूषणों से युक्त तथा उनके हाथ में कुल्हाड़ी होती है। यह पंचमुखी और त्रिनेत्रिय होते हैं। क्षेत्रपाल एक स्थानीय देवता के रूप में पूजे जाते हैं। भैरव, असितांग रुद्र, महाकाल की पूजा काली के साथ यहाँ की जाती है। बटुक भैरव का भी उल्लेख है।

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

वैष्णव देवताओं में लक्ष्मी, वासुदेव, हरिहर, दधिवाहन, हयग्रीव, गोपाल की पूजा का भी ज्ञान मिलता है। शाक्त देवताओं में विद्या, नित्या, महाविद्या आदि का उल्लेख है। काली का नाम इसमें सर्वप्रथम है। कामाख्या, नील-सरस्वती, तारा, छिन्नमस्तका, महादुर्गा, शैलवासिनी, धूमावती, कमला, त्रिपुरा, चामुण्डा, कात्यायिनी, भुवनेश्वरी आदि का उल्लेख मिलता है। नवचक्रेश्वरी की भी चर्चा की गयी है। काली, दुर्गा और तारा की विशेष पूजा इसमें की जाती है। तारा के विभिन्न रूपों-नीलसरस्वती, उग्रतारा, एक जटा, विद्याराज्ञी, वागीश्वरी और सरस्वती आदि नामों से इनकी पूजा की जाती है। इनके अलग-अलग रूपों और गुणों की चर्चा तन्त्र साहित्य से प्राप्त होती है। इसी में बगलामुखी, कर्णपिशाची आदि का भी पूजन होता है। इनके अतिरिक्त कुछ सामान्य देवियों की भी पूजा होती है जैसे-काश्मीर की सारिका, नेपाल की कुब्जा, इन्द्रक्षिनी, रंकिनी आदि।

तांत्रिक सम्प्रदाय

तांत्रिक क्रियाओं और देवताओं के आधार पर यह अनेक सम्प्रदायों तथा उपसम्प्रदायों में बंटा हुआ है। इसके तीन प्रमुख सम्प्रदाय-शैव, शाक्त और वैष्णव हैं और दो सामान्य सम्प्रदाय सूर्य और गणपति हैं। इन मूल शाखाओं के अतिरिक्त कई उपशाखाओं का भी ज्ञान प्राप्त होता है जैसे-शक्ति संगम तन्त्र में वैष्णव, गाणपत्य, शैव, स्वयंभू, पाशुपत, चीन, जैन, कालामुख आदि सम्प्रदायों का उल्लेख है। वीरागम में शैवों के चार सम्प्रदायों का उल्लेख है : सामान्य शैव, पूर्व शैव, मिस्र शैव और शुद्ध शैव। अन्यत्र शैव, पाशुपत, काहणिक, सिद्धान्तिन और कापालिकों का वर्णन है। पुराणों में वाम, पाशुपत, सोम, लांगल, भैरव, कापाल और नाकुल सम्प्रदायों की चर्चा मिलती है। इन्हें अवैदिक सम्प्रदाय माना गया है। लांगल और नाकुल से नाकुलीश पाशुपत सिद्धान्त की उत्पत्ति बतायी गयी है। कापालिक छः मुद्राओं, दो उपमुद्राओं और अन्य सामान्य मुद्राओं के जानकार हैं। ये चार आभूषण यथा गला, कान, सिर पर लगा हुआ भस्म, जनेऊ और मुण्डमाला धारण करते हैं, कपाल में सुरा पीते हैं और मनुष्य की हड्डियों की माला पहनते हैं।

शैव सम्प्रदायों में कश्मीर का प्रतिभिज्ञा सम्प्रदाय, सिद्धान्त आगम, लिंगायत तथा वीर शैव विशेष महत्त्व के हैं। इनके अनुयायियों के दर्शन और कर्मकाण्ड भिन्न-भिन्न हैं। ये अपने साथ लिंग धारण किये रहते हैं।

शक्ति के साधक वीर, पशु, दक्षिण, वाम, चीन, कौल श्याम आदि का ज्ञान नहीं प्राप्त होता। पशु की पूजा तन्त्र में सामान्यतया नहीं होती है। कौल के सम्बन्ध में बड़ा विभेद है। कुछ लोगों के अनुसार कुल की परम्परागत उपासना विधि के कारण इसे कौल कहा जाता है और जो इसका पालन करते हैं, उसे कौलिक कहते हैं। कौल शास्त्र के अनुसार पूजा की सामग्रियों का ज्ञान पूजक और पुजारी दोनों को होता है। यहाँ शरीर एक प्रकार से कुल को सौंप देते हैं और जो इस रहस्य को जानते हैं उसे कौला कहते हैं। इसकी व्याख्या करते हुए बताया गया है कि कौल का सम्बन्ध आकुल (शिव) और कुल (=शक्ति) के सम्बन्ध से हुआ है। कौल सम्प्रदाय के उपासक पूर्व-कौल, उत्तर-कौल, कापालिक, दिगम्बर आदि सम्प्रदायों में बंटे हैं। ये पूजा के समय नंगे रहते हैं। ये कामाचारी क्रियाएँ करते हैं। तारा की पूजा में वामाचार का स्थान वहुत महत्वपूर्ण है।

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

महाचिन्नाचार कुलाचार की तरह का ही एक सम्प्रदाय है जिसमें पूजा के लिए शुद्धता का कोई बंधन नहीं है। इसी प्रकार का एक दूसरा सम्प्रदाय पांचरात्र है जो पाँच प्रकार के ज्ञानों से सम्बन्धित है। इसका शिव, देवी, गणेश, ब्राह्मण, ब्रह्मा और महाकाली आदि देवताओं से सम्बन्ध है।

तांत्रिक कर्मकाण्ड

कुछ लोगों ने तन्त्र के सम्बन्ध में कहा है कि यह लोगों में सामान्यतया भ्रष्टाचार पैदा करने के लिए बनाया गया है। यह तन्त्र के आवरण में धर्मशास्त्र नहीं बल्कि कामशास्त्र है। इसलिए देशी एवं विदेशी विचारकों ने तन्त्रशास्त्र की उपेक्षा की है। यही कारण है कि पहले संस्कृत साहित्य में तन्त्रशास्त्र का अध्ययन उपेक्षित था क्योंकि तांत्रिक क्रियाओं के ज्ञान के बिना इसके साहित्य की समुचित व्याख्या सम्भव नहीं है। अत: इसके सिद्धान्त और साहित्य के सम्बन्ध में अनेक भ्रान्तियाँ आज भी विद्यमान हैं। पर गहन अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि व्यक्तिगत आत्मा का परमात्मा से संयोग कराने के लिए यह एक सहायक साधन हैं। इसका पहला सिद्धान्त यह है कि जिस कल्पित देवता की आराधना की जाती है उसके साथ एकाकार किया जाता है। इस प्रकार अत्याचार और भावना दोनों का इसमें समन्वय होता है। अत: बाह्य उपासना और ध्यान का इसमें कोई विशेष स्थान नहीं है। इसमें भी ब्राह्मण धर्म की तरह पाँच तांत्रिक-दार्शनिक परम्पराओं की स्वीकृति है, परन्तु उनका एकीकरण एक ग्रन्थ में नहीं है और वेदान्त सूत्र की व्याख्या भी ये पाँचों दार्शनिक सूत्र अपनी दृष्टि से अलग नहीं मानते। ऐसी क्रियाओं से दूर रहते हैं जैसे-क्षत्रिय मदिरा नहीं पीते हैं। वे देवताओं को मात्र चढ़ाते हैं। कभी-कभी इनका लाक्षणिक प्रयोग भी स्वीकार किया गया है जैसे मदिरा से अभिप्राय लिया गया है वचन पर नियंत्रण करना। जो कुछ भी घृणित क्रियायें होती हैं वे कुछ ही लोगों द्वारा की जाती हैं और उनका धार्मिक प्रयोग नियंत्रित होता है जैसे प्राणानन्द सम्प्रदाय में पशुबलि का पूर्ण निषेध है। ऐन्द्रिक सुख के लिए इनका प्रयोग घृणित और निन्दित माना जाता है। कौल प्रकार की पूजा में पंचमकार को श्रेष्ठ विधि मानते हैं किन्तु इसे सबसे कठिन उपासना विधि माना गया है। अत: यह सामान्य जनता के लिए निषिद्ध है। इसकी अतिवादी क्रियाएँ केवल उन्हीं के लिए हैं जिन्होंने इन्द्रियों पर अधिकार पा लिया है तथा तन्त्र साधना में बहुत आगे हैं। वास्तविक कौल तो वह है जो किसी भी दैविक विपदा में विचलित नहीं होता। यह केवल उसी के लिए सम्भव है जो योग्य गुरु के निर्देशन में साधना करें।

इसलिए यह कहना कि तन्त्र साधना लम्पटता या कामशास्त्र को बढ़ावा देता है एक गलत धारणा है, बल्कि यह आत्मनियंत्रण को बल देता है। यह दु:खद है कि तन्त्र साधकों में बहुत अधिक अपने क्रिया व्यापार में इतनी अभद्रता और धर्म विरोधी क्रियाओं को करते हैं कि वे अपने लिए आलोचना के पात्र ही नहीं बनते बल्कि तन्त्र की महत्ता के लिए भी घातक सिद्ध होते हैं। कुछ चरित्रहीन लोगों द्वारा तांत्रिक क्रियाओं का दुष्प्रयोग भी किया जाता है तथा इसकी साधना में इतनी जटिलता है कि इसका उचित पालन लोग नहीं कर पाते हैं। कौलार्णव के अनुसार कौल मत को मानने वाले अज्ञानतावश परम्परागत क्रियाओं में भेद उत्पन्न करते हैं। वे तांत्रिक क्रियाओं के विरोधी कार्य करते हुए भी अपने को तांत्रिक बताते हैं। इस प्रकार दो तांत्रिक साधना प्रचलित है : एक वैदिक और दूसरा अवैदिक या एक प्रमाणिक और दूसरा अप्रमाणिक। लेकिन दूसरे धर्मों द्वारा आक्षेप करने के कारण इसे निन्दनीय नहीं कहा जा सकता है।

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

अध्याय-१४

जैन धर्म एवं दर्शन

[अ]
जैन धर्म

प्राचीनता

जैन धर्म विश्व के प्राचीन धर्मों में एक है। भारत का यह धर्म भारत की भूमि की ही सीमा तक विकसित, पल्लवित एवं पुष्पित नहीं हुआ बल्कि समुद्र पार सुदूर लंका तक इसका प्रचार एवं प्रसार हुआ। जहां एक ओर साहित्यिक साक्ष्य इसकी प्राचीनता की पुष्टि प्रथम नागरिक सभ्यता के विकास के पूर्व तथा ऋग्वैदिक काल अर्थात् ई.पू. १५०० के आस-पास करने में सफल प्रतीत होते हैं, तो दूसरी ओर पुरातात्विक साक्ष्यों के आधार पर डॉ. हीरा लाल जैन तथा मोहन लाल मेहता (Mohan Lal Mehta) ने जैन धर्म की प्राचीनता सैन्धव सभ्यता अर्थात् ३००० ई. पू. में प्रमाणित करने का तर्क दिया है। जैन धर्म की प्राचीनता के विषय में हमें निम्न साक्ष्यों से जानकारी प्राप्त होती है--

अ. साहित्यिक साक्ष्य

१. जैन पुराण
२. भागवत पुराण
३. ऋग्वेद
४. यजुर्वेद
५. महाभारत
६. बौद्ध साहित्य

ब. पुरातात्विक साक्ष्य

१. सिन्धु घाटी के अवशेष
२. लोहानीपुर (पटना) की मस्तकहीन यक्ष मूर्ति

अ. साहित्यिक साक्ष्य

साहित्यिक साक्ष्यों में जैन पुराण इस धर्म की प्राचीनता प्रथम नागरिक सभ्यता के विकास

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

के पूर्व सिद्ध करते हैं तो ऋग्वेद इसकी प्राचीनता १५०० ई.पू. सिद्ध करता है। इन साक्ष्यों का विवरण निम्न है–

१. जैन पुराण

जैन पुराणों में भारतवर्ष का वर्णन उसकी भौगोलिक स्थिति के साथ आरम्भ होता है। यह वर्णन निम्न है–

भारत जम्बूद्वीप के दक्षिण का भाग है। इसके उत्तर में हिमवान् पर्वत है और मध्य में विजयार्द्ध पर्वत। सिन्धु नदी पश्चिम में हिमवान् पर्वत से निकलकर बहती है। इसके पूर्व में गंगा नदी है। दक्षिण भारत के भी पूर्व, मध्य और पश्चिम तीन भाग हैं। भारत के इन्हीं छः खण्डों की विजय करके कोई चक्रवर्ती सम्राट की उपाधि प्राप्त किया जा सकता है। भारत के उस काल की अवस्था का यह वर्णन करता है जब नागरिक सभ्यता का विकास यहाँ नहीं हुआ था। उस समय पृथ्वी सघन वृक्षों से भरी हुई थी। तब वन्य पशु ही पाये जाते थे। मनुष्यों की वस्ती नहीं थी तथा कौटुम्बिक व्यवस्था भी पूर्ण अविकसित थी। इस काल में धर्म, पुण्य-पाप की भावना आदि का कोई विचार नहीं था। पुराणकारों द्वारा यह अवस्था भोग-भूमि थी क्योंकि इसमें आगे आने वाले कर्म से सम्बन्धित कृषि एवं उद्योग आदि की अवस्थाओं का अभाव था। उक्त अवस्था में परिवर्तन हुआ तथा कर्मभूमि का युग आया। इसमें चौदह महापुरुषों का विशेष योगदान रहा जिन्हें कुलकर या मनु कहा गया है। इन्होंने पशुओं से रक्षा के उपाय, भूमि पर वैयक्तिक स्वामित्व, कृषि द्वारा अन्न उत्पन्न करने की कला आदि सिखाई।

इनके पश्चात् जिन महापुरुषों ने सभ्यता के युग में धर्म के उपदेश व अपने चरित्र द्वारा अच्छे-बुरे की शिक्षा दी ऐसे तिरसट शलाका पुरुष (विशेष गणनीय पुरुष) हुए। उन्हीं का चरित्र जैन पुराणों में विशेष रूप से वर्णित पाया जाता है। उन तिरस शलका पुरुषों में चौबीस तीर्थकर बारह चक्रवर्ती, नौ बलभद्र, नौ नारायण और नौ प्रतिनारायण सम्मिलित हैं। ये तिरसठ शलाका पुरुष हुए जिनमें सबसे प्रथम जैनियों के आदि तीर्थकर ऋषभनाथ हैं, जिनसे जैन धर्म का प्रारम्भ माना जाता है। उनका जन्म उक्त कुलकरों में अन्तिम कुलकर नाभिराज और उनकी पत्नी मरुदेवी से हुआ था। जैन पुराणों में ऋषभ देव के जीवन व तपस्या तथा केवल ज्ञान प्राप्त करने के बाद धर्मोपदेश का वर्णन मिलता है। जैन धर्मानुयायी इसी काल से अपने धर्म की उत्पत्ति मानते हैं। डॉ. हीरालाल जैन के अनुसार ऋषभदेव के काल का अनुमान लगाना कठिन है।[१] पुराणों में वर्णित अवस्था के अनुसार जैन धर्म की प्राचीनता आधुनिक नागरिक सभ्यता के पूर्व प्रमाणित होती है।

२. भागवत पुराण

भागवत पुराण से जैन धर्म की प्राचीनता ऋषभदेव के काल से सिद्ध होती है। इसके वर्णन से ज्ञात होता है कि ऋषभदेव के चरित्र को सुनकर राजा अर्हन् कलयुग में अपनी इच्छा से इस धर्म का प्रचार करेगा। भागवत पुराण का यह वर्णन जैन तीर्थकर ऋषभदेव के वर्णन से मिलता है तथा प्रवर्तित धर्म का अभिप्राय जैन धर्म से। भागवत पुराण का कथन है–

---

१. जैन धर्म का उद्गम और विकास, डॉ. हीरा लाल जैन, पृ. ११

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

बर्हिषि तस्मिन्नेव विष्णुदत्त भगवान् परमर्षिभिः प्रसादितो नामः प्रियाचिकीर्षया तदवरोधायने मेरुदेव्यां धर्मान् दर्शयितुकामो वातरशनानां श्रमणानाम् ऋषीणाम् ऊर्ध्वमान्शिनां शुक्लया तन्वावततार।[१]

अर्थात् यज्ञ में श्रेष्ठ ऋषियों द्वारा प्रसन्न किये जाने पर, हे विष्णुदत्त, पारीक्षित, स्वयं श्री भगवान (विष्णु) महाराज की नाभि को प्रिय करने के लिए उनके रनिवास में महारानी मेरु देवी के गर्भ में आये। उन्होंने वातरशना श्रमण ऋषियों के धर्मों को प्रकट करने की इच्छा से इस पवित्र शरीर का अवतार ग्रहण किया।

इससे स्पष्टतः यह विदित होता है ऋषभदेव की मान्यता और पूजनीयता के सम्वन्ध में जैन और हिन्दूओं के बीच कोई मतभेद नहीं है। जैनी लोग ऋषभदेव को आदि तीर्थंकर मानते हैं तो हिन्दू उन्हें भगवान विष्णु का अवतार मानते हैं। उनके ईश्वर के अवतार होने की इसी दृढ़ मान्यता से शिव महापुराण में भी उन्हें शिव के अट्ठाईस योगावतारों में शामिल किया गया है।[२]

भागवत पुराण का यह अवतार प्राचीनता में राम और कृष्ण के अवतारों से पूर्व का लगता है। भागवत पुराण में इस अवतार का जो वर्णन है उससे श्रमण धर्म की परम्परा भारतीय साहित्य में वातरशना श्रमण ऋषियों के धर्म को प्रकट करती है। भागवत पुराण का कथन है-

"अयमेवतारो रजसोपप्लुत-कैवल्योपशिक्षणार्थ।"[३]

अर्थात् भगवान का यह अवतार रजोगुण से भरे हुए लोगों को कैवल्य की शिक्षा देने के लिए हुआ। किन्तु डॉ. जैन उक्त वाक्य का अर्थ यह लेते हैं कि यह अवतार रज से उपप्लुत अर्थात् रजोधारण (मलधारण) वृत्ति द्वारा कैवल्य प्राप्ति की शिक्षा देने के लिए हुआ था।[४] अतः वातरशना मुनियों के धर्मों की स्थापना करने तथा रजोजल्लिक वृत्ति द्वारा कैवल्य की प्राप्ति सिखलाने के लिए भगवान् का अवतार हुआ था।

वातरशना मुनियों के काल निर्धारण की विवेचना करने पर हम पाते हैं कि इनका साहित्य में इनका उल्लेख भारत के प्राचीनतम ग्रन्थ-वेदों में मिलता है। अतएव भागवत् पुराण से जैन धर्म की प्राचीनता ऋग्वैदिक कालीन अर्थात् १५०० ई.पू. सिद्ध होती है।

३. ऋग्वेद

जैसा कहा जा चुका है, ऋग्वेद से जैन धर्म की प्राचीनता १५०० ई.पू. ज्ञात होती है जैसा कहा जा चुका है। ऋग्वेद के अध्ययन से हमें वातरशना मुनियों के विषय में जो जानकारी प्राप्त होती है उसके विषय में कुछ ऋचायें निम्न हैं–

मुनियो वातरशनाः पुशंगा वसते मला।
वातस्यानु ध्राजिंयन्ति यद्देवासो अविक्षत।।
उन्मदिता मौनेयेन वातौं आतस्थिमा वयम्।
शरीरेदस्माकं यूयं मर्तासो अभिपश्यथ।।

---

१. भागवत पुराण - ५.३.२०
२. शिव पुराण ७.२.९.
३. भागवत पुराण ५.३.२०.
४. जैन धर्म का उद्गम और विकास, पृ. १३

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

सायण भाष्य के आधार पर से डॉ. जैन ने उपर्यंकित के संदर्भ में वातरशना मुनि की उपस्थिति ऋग्वैदिक काल में सिद्ध किया है। उनका कथन है कि वातरशना मुनि मल को धारण करने के कारण वे पिगल वर्ण दिखायी देते थे।

ऋग्वेद की उपर्युक्त ऋचाओं के साथ केशी की भी स्तुति की गयी है–

केश्यग्निं केशी विषं केशी विभर्ति रोदसी।
केशी विश्वं स्वर्दृशे केशीदं ज्योतिरुच्यते।।[१]

अर्थात् केशी अग्नि, जल तथा स्वर्ग और पृथ्वी को धारण करता है तथा समस्त विश्व के तत्त्वों का दर्शन कराता है। केशी प्रकाशमान (ज्ञान), ज्योति (केवल ज्ञानी) कहलाता है। केशी की यह स्तुति उक्त वातरशना मुनियों के वर्णन के प्रारम्भ में की गयी है जिससे प्रतीत होता है कि केशी वातरशना मुनियों में प्रधान थे। डॉ. जैन ने भी केशी को स्पष्टतः वातरशना मुनियोंका अधिनायक माना है जिनकी साधना में मलधारण, मौन वृत्ति और उन्माद भाव का विशेष उल्लेख है। सूक्त में आगे कहा गया है कि वे–

मुनिर्देवस्य देवस्य सौकृप्याय सखा हीतः।[२]

ऋग्वेद के उक्त केशी सम्बन्धी सूक्त तथा भागवत पुराण में वर्णित ऋषभदेव के चरित्र की विवेचना में समता मिलती है। जैन पुराणों में भी ऋषभ की जटाओं का वर्णन किया गया है–

वातोद्धता जटास्तस्य रेजुराकुलमूर्तयः।[३]

और हरिवंश पुराण का कथन है–

सप्रलम्बजटाभारभ्राजिष्णुः।[४]

इस प्रकार ऋग्वेद में वर्णित केशी और वातरशना मुनि, तथा भागवत पुराण में आये ऋषभ और वातरशना ऋषि एवं तीर्थकर ऋषभनाथ और उनका निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय एक ही सिद्ध होते हैं।

केशी और ऋषभ के एक ही व्यक्ति होने की पुष्टि ऋग्वेद की इस ऋचा से भी होती है जहाँ दोनों नाम साथ-साथ आया है–

ककर्दवे वृषभो युक्त आसीद्
अवावचीत् सारथिरस्य केशी[५]

इस प्रकार केशी और ऋषभ के एकत्व का स्वयं ऋग्वेद से हां पूण समर्थन हो जाता है। यहां उल्लिखित शश्नदेवों (नग्नदेवों) से भी इसकी स्थिति प्रमाणित होती है।

अतएव ऋग्वेद में उल्लिखित वातरशना मुनियों का निर्ग्रन्थ साधुओं तथा उनके नायक केशी ऋषभदेव के साथ एकीकरण हो जाने से जैनधर्म की प्राचीनता पर व्यापक प्रकाश पड़ता है। यह सत्य है कि वेदों के रचनाकाल के सम्वन्ध में बहुत मतभेद है। किन्तु आधुनिक पाश्चात्य

---

१. ऋग्वेद, १०.१३०.१.
२. ऋग्वेद, १०.१३६.४.
३. पद्मपुराण, ३.२८८.
४. हरिवंश पुराण, ९.२०४.
५. ऋग्वेद, १०.१०२.६.

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

एवं भारतीय विद्वानों ने ऋग्वेद का काल लगभग १५०० ई.पू. माना है। वेदों में सर्वाधिक प्राचीन ग्रंथ ऋग्वेद में वातरशना मुनियों तथा "केशी ऋषभदेव" का उल्लेख जैन धर्म की प्राचीनता १५०० ई. पू. में ले जाती है।

४. यजुर्वेद

यजुर्वेद में भी जैन धर्म के तीर्थंकर अजीतनाथ का उल्लेख है। इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि इस काल में भी जैन धर्म की स्थापना नहीं हुई बल्कि इसके पूर्व ही इसका प्रारम्भ हो चुका था क्योंकि जैन धर्म में अजीतनाथ को द्वितीय तीर्थंकर माना जाता है। अत: इसके पूर्व उसके प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव का काल ऋग्वैदिक साक्ष्यों के आधार पर स्वीकार किया जा सकता है। अतएव यजुर्वेद भी ऋग्वैदिक काल से ही जैन धर्म की प्राचीनता की पुष्टि करता है।

५. महाभारत

महाभारत से जैन धर्म की प्राचीनता ई.पू. १००० सिद्ध होती है। यहां जैन तीर्थंकर नेमिनाथ का उल्लेख हुआ है। नेमिनाथ जैनियों के बाईसों तीर्थंकर माने जाते हैं। इनका काल महाभारत के समय निर्धारित किया जाता है। नेमिनाथ महाभारत द्वारा शौरपुर के यादववंशी ज्ञात होते हैं। उनके विषय में निम्न वर्णन मिलता है– शौरीपुर के यादव वंशी राजा अंधक-वृष्णी के ज्येष्ठ पुत्र समुद्र विजय थे। उन्हीं के पुत्र नेमिनाथ हुए। अंधक-वृष्णी के छोटे पुत्र वासुदेव थे। इन्हीं के पुत्र वासुदेव-कृष्ण नाम से जाने जाते हैं। इस प्रकार नेमिनाथ और कृष्ण आपस में चचेरे भाई थे।

उस समय जरासंध का बड़ा आतंक था। इससे त्रस्त होकर शौरपुरी के यादव द्वारका में जा बसे। नेमिनाथ का विवाह वहीं गिरिनगर के राजा उग्रसेन की कन्या राजुलमती से तय हुआ था। बारात जाने पर उन्होंने बारातियों के भोजन में मांस पकाने के लिए वध हेतु लाये गये पशुओं को देखा और इससे द्रवित हो सन्यास का विचार लेकर तपस्या करने गिरनार पर्वत पर चले गये। वहाँ उन्हें कैवल्य ज्ञान प्राप्त हुआ। इसके बाद वे श्रमण परम्परा के प्रचार में जुट गये। डॉ. हीरालाल जैन के अनुसार नेमिनाथ की यह विशेष देन इस परम्परा को ज्ञात होती है-अहिंसा को धार्मिक वृत्ति का मूल मानकर उसे सैद्धांतिक रूप देना।[1]

महाभारत काल ई. पू. १००० के लगभग माना जाता है। डॉ. मेहता के अनुसार यही काल तीर्थंकर नेमिनाथ का मानना उचित प्रतीत होता है।

६. बौद्ध साहित्य

बौद्ध ग्रन्थ अंगुत्तरनिकाय का चतुक्कनिपात और उसकी अट्ठकथा, महावग्ग, दिघनिकाय आदि से यद्यपि जैन धर्म की प्राचीनता का स्पष्ट काल नहीं ज्ञात होता है किन्तु इसमें वर्णित अंशों के समीक्षात्मक अध्ययन से यह अवश्य प्रतीत हो जाता है कि जैन धर्म बौद्ध धर्म से अधिक प्राचीन था। बौद्ध ग्रन्थ अंगुत्तरनिकाय (चतुक्कनिपात, वग्ग. ५) और उसकी अट्ठकथा में वर्णित है कि गौतम बुद्ध को चाचा 'वाप्प शाक्य' निग्रन्थ श्रावक थे। डॉ. जैन के अनुसार पार्श्वपत्यों तथा निर्ग्रन्थ श्रावकों के इसी प्रकार के और भी अनेक उल्लेख मिलते हैं, जिनसे निर्ग्रन्थ धर्म की सत्ता बुद्ध से पूर्व भलीभाँति सिद्ध होती है।

---

१. डॉ. हीरालाल जैन पूर्वोक्त ग्रन्थ

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

पार्श्वनाथ तथा उनसे पूर्व के जैन तीर्थंकरों व जैन धर्म की स्थिति को पाश्चात्य विद्वान पहले स्वीकार नहीं करते थे। किन्तु जब हर्मन याकोबी (H. Yacobi) ने जैन व बौद्ध प्राचीन साहित्य के सूक्ष्म अध्ययन द्वारा महावीर से पूर्व निग्रन्थ सम्प्रदाय के अस्तित्व को सिद्ध किया तबसे पार्श्वनाथ की ऐतिहासिकता तथा जैन धर्म की प्राचीनता को भी स्वीकार किया जाने लगा। अब महावीर के निर्वाण से २५० वर्ष पूर्व पार्श्वनाथ को इस परम्परा में मान्यता देने लगे हैं।

डॉ. मोहन लाल मेहता ने बौद्धग्रन्थ में वर्णित निर्ग्रन्थों के चतुर्याम को निर्ग्रंथ नातपुत्त (महावीर) का धर्म माना है या नहीं इसकी विवेचना के लिए जब हम उनके मतों की समीक्षा करते हैं तो पाते हैं कि जहाँ डॉ. मोहन लाल मेहता ने "निगण्ढनाट पुत्ते" को महावीर माना है वहीं डॉ. हीरालाल जैन ने निर्गन्थों के चतुर्याम और निर्ग्रन्थ नातपुत्र (महावीर) के बीच एकता स्वीकार नहीं किया है बल्कि चतुर्याम का सम्बन्ध पार्श्वनाथ की परम्परा से जोड़ा है। उनका मत है कि जैन सम्प्रदाय में चतुर्याम का उल्लेख सदैव पार्श्वनाथ के साथ हुआ है न कि महावीर के साथ। बौद्ध धर्म में जो भी कुछ व्यवस्था निर्ग्रन्थों से लेकर इसमें स्वीकार की गयी है जैसे उपोसथ[१], वर्षावास[२] वे सभी पार्श्वनाथ की परम्परा से ही ली गयी हैं।

अतएव हम देखते हैं कि बौद्ध ग्रन्थ जैन धर्म को अपने धर्म के पूर्व सुसंगठित धर्म रूप में उल्लेख करते हैं। अतएव बौद्ध ग्रन्थ जैन धर्म को महात्मा बुद्ध से पूर्व का धर्म माना जाता हैं।

इन साहित्यिक साक्ष्यों के विश्लेषण से हम पाते हैं कि साहित्यिक प्रमाण जैन धर्म की प्राचीनता १५०० ई.पू. सिद्ध करते हैं।

ब. पुरातात्विक साक्ष्य

पुरातात्त्विक साक्ष्यों के अस्पष्ट एवं मतभेद युक्त समीकरण से जैन धर्म की प्राचीनता सैन्धव कालीन यानि ३००० ई.पू. प्रमाणित होती है। इन प्रमाणों की विवेचना निम्न है–

(i) सिन्धु घाटी के उत्खनन में प्राप्त त्रिशूल, नग्न मूर्तियों तथा यौगिक आसन में प्राप्त मुद्राओं के आधार पर विद्वानों ने जैन धर्म की प्राचीनता सैन्धव कालीन प्रमाणित करने का प्रयास किया है।

मोहनजोदड़ो की खुदाई से प्राप्त त्रिशूल के प्रतीक के आधार पर जैन विद्वानों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि उस काल में जैन परम्परा प्रचलित थी। उनका कहना है कि जैन परम्परा में त्रिशूल को रत्नत्रय का प्रतीक माना गया है। इसीसे कलिंग की जैन गुफाओं में हमें त्रिशूल का चिह्न मिला है। अतएव त्रिशूल जैन परम्परा का प्रतीक है।

इसकी आलोचना करते हुए शैव विद्वानों ने यह तर्क दिया है कि त्रिशूल का प्रतीक शिव के उपासक का बोधक है क्योंकि शिव का त्रिशूल से निकट सम्बन्ध है। शिव का तीन अक्षरों से अधिक सम्बन्ध है जैसे त्रिनेत्र, त्रिशूल आदि। अतएव कोई निश्चित मत इस दिशा में प्रतिपादित कर पाना असम्भव है। क्योंकि जैन एवं शैव दोनों धर्मों में त्रिशूल को प्रतीक रूप में स्वीकार किया गया है। उपर्युक्त किस धर्म से सम्बद्ध है सही रूप से नहीं कहा जा सकता।

---

१. महावग्ग २.१.१

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

२. महावग्ग ३.१.१

(ii) हड़प्पा उत्खनन से दो नग्न मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल ने उन्हें पुरुष और प्रकृति की मूर्ति माना है। पर दूसरी दृष्टि से इनको नग्न स्वरूपवाली जैन तीर्थंकर की मूर्तियाँ भी माना जाता है जो दिगम्बर सम्प्रदाय का आदि रूप रहा होगा। अतः यह मत प्रकट किया गया है कि उस काल में जैन धर्म प्रचलित था क्योंकि नग्नता जैन धर्म की एक सम्प्रदाय दिगम्बर की प्रमुख विशेषता है। जैन धर्म में कायोत्सर्ग (पूर्णतः नग्नता) पर विशेष बल दिया गया है।

(iii) यौगिक आसन में त्री सींग धारी आकृति के आधार पर जैन विद्वानों का यह विचार है कि यह मूर्ति जैन पद्मासन में बैठे संन्यासी से मिलती जुलती है। डॉ. हीरालाल जैन ने बताया है कि ध्यान का जितना सम्बन्ध श्रमण परम्परा से है उतना वैदिक परम्परा से नहीं है और श्रमण परम्परा की जितनी अधिक प्राचीनता जैन धर्म में पायी जाती है और उतनी बौद्ध धर्म में नहीं। अतएव हम देखते हैं कि जैन धर्म के अनेक प्रतीक सिन्धु घाटी के अवशेषों में प्राप्त हुए हैं जिससे जैन धर्म की प्राचीनता सैन्धव कालीन यानि ३००० ई.पू. निश्चित होती है।

(iv) लोहानीपुर की मस्तकहीन मूर्ति-पटना के लोहानीपुर मुहल्ले से ढ़ाई फीट ऊँची मिली है। इसका सिर तथा हाथ दोनों ही खण्डित हैं। मूर्ति का तंग वक्षस्थल, जैनतीर्थंकरों के तपस्यारत शरीर का नमूना है। मूर्ति पर चमकदार पालिश स्पष्टतः प्रमाणित करता है कि यह मूर्ति मौर्यकालीन है। ठीक इसी प्रकार की एक मानव मूर्ति जैसा ऊपर वर्णित है हड़प्पा के अवशेषों में प्राप्त हुई है जो पूर्णतः नग्न है। आकृति और भावाभिव्यंजन के आधार पर तुलनात्मक अध्ययन करने के बाद यह निष्कर्ष निकलता है कि पटना के लोहानीपुर से प्राप्त मस्तकहीन नग्नमूर्ति से इस सिन्धु घाटी की मूर्ति का काफी साम्य है। पूर्वोत्तर परम्परा के आधार पर हड़प्पा की यह मूर्ति वैदिक या बौद्ध प्रणाली से भिन्न एवं जैन प्रणाली से पूर्णतया सादृश्य रखती है। इस समीकरण को स्वीकार करने पर सिन्धुघाटी के काल की सभ्यता में जैन परम्परा का अस्तित्व किसी न किसी रूप में प्रमाणित होता है।

डॉ. मेहता के अनुसार कि मोहन जोदड़ो की नग्नमूर्तियों से यह स्पष्ट प्रमाणित होता है कि सिन्धु सभ्यता के लोग केवल योग की साधना ही नहीं करते थे अपितु योगियों की प्रतिमाओं की पूजा भी करते थे। अतएव लोहानीपुर की मस्तकहीन नग्न मूर्ति से भी जैन धर्म की प्राचीनता सैन्धव कालीन अर्थात् ३००० ई. पू. से अविच्छन्न प्रमाणित होती है।

इन आधारों पर यह देखते हैं कि साहित्यिक साक्ष्यों के आधार पर जैन धर्म को प्राचीनता जहां १५०० ई. पू. प्रमाणित होती है वहीं पुरातात्विक साक्ष्यों के आधार पर जैन धर्म की प्राचीनता ३००० ई. पू. प्रमाणित होती है। यह मान्यता अधिक सही लगती है।

तीर्थंकर परम्परा

महावीर ने अपने समय से जैन धर्म को संघटित स्वरूप प्रदान किया। यह इसके चौबीसवें तीर्थंकर थे। इनके पूर्व २३ तीर्थंकरों में से २३वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ के विषय में ही कुछ व्यवस्थित ज्ञान मिलता है। इसके प्रवर्तक प्रथम तीर्थंकर ऋषभनाथ थे जो अयोध्या के सूर्यवंशी शासकों की परम्परा में उत्पन्न हुए थे। किन्तु विस्तृत जानकारी इनके विषय में भी अप्राप्य है। इनके बाद पार्श्वनाथ के पूर्व तक तीर्थंकरों के विषय में प्रामाणिक ज्ञान का अभाव है।

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

१. पार्श्वनाथ का जीवन एवं उनका सिद्धान्त

जीवन

भारतीय दार्शनिक विचारधारा में जैन तीर्थंकर पार्श्वनाथ का महत्त्वपूर्ण योगदान है। जैन परम्परा में कुल २४ तीर्थंकर हुए हैं लेकिन पार्श्वनाथ ही प्रारम्भिक क्रम के तीर्थंकरों में ऐतिहासिक पुरुष माने जाते हैं। वैसे तो जैन अवधारणा में ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास नहीं किया जाता लेकिन तीर्थंकरों (जैन मत के प्रवर्तकों) की उपासना की जाती है। तीर्थंकर को जैन धर्म में मुक्त, सिद्ध, सर्वशक्तिमान तथा आनन्दमय माना जाता है। इसी प्रकार की अवधारणा पार्श्वनाथ के साथ भी जुटी है।

जैन धर्म के तेइसवें पार्श्वनाथ का जन्म महावीर से ढाई सौ वर्ष पूर्व वनारस के नागवंशीय राजा अश्वसेन और उनकी रानी वर्मला (वामा) देवी से हुआ था। युवा होने पर उनका विवाह कुंशस्थल (द्वारका) के राजा नरवर्मन की लड़की प्रभावती से हुआ। पार्श्वनाथ ने तीस वर्ष की अवस्था में गृह त्याग कर तपस्वी होकर सम्मेदशिखर पर्वत पर तपस्या किया। यह पर्वत आज तक उन्हीं के नाम की यादगार में पारसनाथ पर्वत (विहार में) नाम से सुविख्यात है। तिरासी दिन चिन्तन के बाद उन्होंने कैवल्य ज्ञान प्राप्त कर सत्तर वर्ष तक श्रमण धर्म का उपदेश और प्रचार किया। जैन तीर्थंकर पार्श्वनाथ के तपस्यारत जीवन का उल्लेख समन्तभद्र कृत "स्वयम्भू स्तोत्र" नामक जैन ग्रन्थ से प्राप्त होता है। इससे ज्ञात होता है कि जिस समय पार्श्वनाथ अपनी तपस्या में निश्चिन्त भाव से ध्यानावस्थित थे उस समय उनके पूर्वजन्म का शत्रु कामसुर नाना प्रकार के उपद्रवों द्वारा उनको तपस्या से भ्रष्ट करने का प्रयास किया। उसने प्रचण्ड वायु चलायी, घनघोर वृष्टि की, मेघों से वज्रपात कराया फिर भी पार्श्वनाथ ध्यान से विचलित नहीं हुए। उनकी इस कठिन तपस्या से प्रभावित होकर धरणेन्द्र नाग ने आकर अपना विशाल फण मण्डल उनके ऊपर फैलाकर उपद्रव से उनकी रक्षा की–

तमालनीलैः सथनुस्तिडद्गुणैः.............तडिदम्बुदो यथा।।

घोर तपस्या के पश्चात पार्श्वनाथ को कैवल्य ज्ञान प्राप्त हुआ। जिसके बाद उन्होंने श्रमण धर्म का उपदेश और प्रचार सौ वर्षों तक किया। जैन पुराणानुसार उनका निर्वाण भगवान महावीर के निर्वाण से २५० वर्ष पूर्व अर्थात् ई. पू. ५२७ + २५० =७७७ वर्ष में हुआ था। इनके बाद इनके शिष्य केशि ने इस सम्प्रदाय को विकसित किया।

जैन धर्म में पार्श्वनाथ का योगदान विशेष उल्लेखनीय है क्योंकि उन्होंने अपने सम्प्रदाय को संगठित किया। उनका सम्प्रदाय निर्ग्रन्थ कहलाया। उन्होंने स्त्री तथा पुरुष दोनों को ही अपना शिष्य बनाया। उन्होंने चार गणों की स्थापना की। उनके चार गणों में प्रत्येक गण का एक अध्यक्ष होता था जिसको गणधर कहते थे। इन्हीं के अनुयायियों द्वारा आगे चलकर श्वेताम्बर सम्प्रदाय का संघटन हुआ। ये श्वेत वस्त्र धारण करते थे इसीसे श्वेताम्बर कहलाए। इसके मानने वाले प्राचीन मतानुयायी कहलाये जबकि महावीर के सिद्धान्तों को मानने वाले नये मत के अनुयायी कहलाये। पर महावीर के समय तक दोनों में पूर्ण एकता थी। जब महावीर ने पीछे इसके सिद्धान्त में पाँचवां व्रत ब्रह्मचर्य और जोड़ा तो शंका उत्पन्न हुई कि दोनों में विभेद हो गया है। पर महावीर

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

के शिष्य गौतम ने यह कहकर इस संशय का समाधान किया कि यह चौथे व्रत में ही यह पहले से जुड़ा था पर स्पष्ट न होने के कारण स्पष्ट करने के लिए इसको अलग से जोड़ा गया।

सिद्धान्त

जैन ग्रन्थों में इस धर्म के तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ के सिद्धान्त के विषय में उल्लेख है कि उन्होंने अपने निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय के लिए चातुर्याम का सिद्धान्त प्रतिपादित किया। डॉ. हीरालाल जैन का मत है कि पार्श्वनाथ का श्रमण परम्परा पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा। इसके परिणामस्वरूप आज तक भी समाज में प्राय: पारसनाथ (पार्श्वनाथ) के अनुयाइयों को ही जैनी माना जाता है। पार्श्वनाथ ने अपने चतुर्याम में ऋषभनाथ की सर्वस्व त्याग रूप अकिंचन मुनिवृत्ति, नमि की निरीहता व नेमिनाथ की अहिंसा को समन्वित किया। चातुर्याम का उल्लेख निर्ग्रन्थों के सम्बन्ध में पालि ग्रन्थों में भी मिलता है और जैन आगमों में भी। किन्तु इनके चार याम क्या थे? इसके सम्बन्ध में मतभेद पाया जाता है। यही चातुर्याम का सिद्धान्त जैन धर्म में चार व्रतों के नाम से जाना जाता है। ये चार व्रत निम्न हैं–

१. अहिंसा अर्थात् हिंसा का त्याग
२. अमृषावाद अर्थात् झूठ न बोलना
३. अस्तेय अर्थात् चोरी न करना
४. अपरिग्रह अर्थात् सम्पत्ति का त्याग करना

१. अहिंसा– जीवों की हिंसा न करना ही जैन धर्म में अहिंसा कहा जाता है। जीव केवल गतिशील द्रव्यों में ही नहीं बल्कि वह वनस्पति, क्षिति, जल आदि में भी हैं। इन सभी जीवों की हिंसा करना जैन दार्शनिक विचारधारा में निषिद्ध कर्म माना जाता है। इसलिए पीछे चलकर जैन संन्यासियों द्वारा नाक और मुंह पर कपड़ा बाँधकर चलने की परम्परा चल पड़ी। अहिंसा के पालन के लिए जीवों की हिंसा न करने तक ही यह सीमित नहीं था बल्कि मन, वचन और कर्म तीनों से अहिंसा का पालन करना चाहिए, ऐसी मान्यता थी।

२. सत्य– जैन ग्रन्थों में मिथ्या वचन न बोलना ही सत्य नहीं माना गया है। ऐसा सत्य बोलना चाहिए जो सबका हित करने वाला और प्रिय हो। इस व्रत का पालन करने के लिए मनुष्य को लोक भय, क्रोध, मान आदि का परित्याग कर देना चाहिए। साथ ही किसी की हँसी नहीं करनी चाहिए।

३. अस्तेय– जैन ग्रन्थों में बिना वस्तु के स्वामी द्वारा किसी को कुछ दिये उसके धन को ग्रहण करना ही अस्तेय है। धन तथा सम्पत्ति मनुष्य का बाह्य जीवन है। अतएव किसी की सम्पत्ति को अपहृत करने का अर्थ है किसी के जीवन का अपहरण करना। धन जीवन के लिए आवश्यक है। अत: किसी के धन का अपहरण करने का निषेध किया गया है।

४. अपरिग्रह– विषयों के प्रति आसक्ति का त्याग ही अपरिग्रह है। वे सभी विषय जैन धर्म में त्यागने योग्य बताये गये हैं जिनसे कि इन्द्रिय सुखों की प्राप्ति हो सकती है जैसे शब्द, स्पर्श, रूप, स्वाद आदि सभी का त्याग इसके अन्तर्गत आता है।

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

जैन धर्म एवं जैन दर्शन में परम्परा तक इनके ये चार सिद्धान्त वैसे के वैसे ही बने रहे। महावीर स्वामी ने आगे चलकर इसमें एक और सिद्धान्त जोड़ दिया-ब्रह्मचर्य। पार्श्वनाथ का विश्वास वेदों में न था। वे वेदों के दर्शन से प्रभावित न थे। वह यज्ञ, देवता, वर्ण आदि के विरोधी थे। स्त्री-पुरुष, ऊँच-नीच सभी को उन्होंने मोक्ष का अधिकारी समझा। जैन धर्म के चौबीसवें तीर्थंकर महावीर के माता-पिता पार्श्वनाथ के अनुयायी थे। स्वयं महावीर को भी पार्श्वनाथ के कई समर्थकों से वाद-विवाद करना पड़ा था। इन्हें संतुष्ट करके ही वे उनको अपना समर्थक बना सके। पार्श्वनाथ के सिद्धान्त यथावत जैन धर्म में तो पूर्णरूपेण स्वीकार किये गये जिसे महावीर ने आगे चलकर और विकसित किया।

पार्श्वनाथ की दार्शनिक विचारधारा वैदिक दार्शनिक विचारधारा एवं मंत्रवाद से दूर थी। उन्होंने वैदिक यज्ञ, कर्मकाण्ड, देववाद, वर्ण व्यवस्था के प्रति विरोधी दृष्टिकोण अपनाकर अपने को युग-युग से उपेक्षित एवं वहुसंख्यक वर्ग का समर्थन प्राप्त करने में योग्य सावित किया। यज्ञों में चढ़ायी जाने वाली बलि की प्रथा एवं अनेक रूप में की जाने वाली हिंसा से जनमानस ऊब चुका था। ऐसी परिस्थिति में पार्श्वनाथ के चातुर्याम विचारधारा से भारतीय दर्शन एवं भारतीय जन-जीवन को नवचेतना मिली।

जैन आगमानुसार पार्श्वनाथ के चारयाम (चातुर्याम) इस प्रकार थे–

१. सर्वप्राणातिक्रम से विरमण
२. सर्वमृषावाद से विरमण
३. सर्वअदत्तादान से विरमण
४. सर्व बहिस्थादान से विरमण

डॉ. हीरालाल जैन का मत है कि पार्श्वनाथ का चातुर्याम का रूप महावीर के सामयिक धर्म से पूर्व ही प्रचलित था।[१] इस मत की पुष्टि दिगम्बर, श्वेताम्वर परम्परा के अतिरिक्त बौद्ध धर्म के साहित्यिक उल्लेखों से भी होती है।

जैन आगमों में पार्श्वनाथ के चातुर्याम का विस्तृत वर्णन निम्नवत है–

१. सर्वप्राणतिक्रम से विरमण

इसके अन्तर्गत निर्ग्रंथ मुनि को अहिंसा का व्रत का दृढ़ता पूर्वक पालन करने का आदेश दिया गया है। इसके लिए निम्न पाँच उपनियमों का परिपालन करने का आदेश है :

(i) इर्या समिति-इसके अन्तर्गत ऐसे मार्गों से चलने का आदेश दिया गया है जिसमें कीट-पतंगों तक का पैर से कुचलकर मरने का भय न हो।

(ii) भाषा समिति-इसके अन्तर्गत सदैव मधुर वाणी बोलने का निर्देश दिया गया है जिससे वाचिक हिंसा न हो।

(iii) एषणा समिति-भोजन द्वारा किसी भी प्रकार के कीट-कीटाणुओं की हिंसा नहीं करने का उपदेश दिया गया है।

---

१. जैन धर्म का उद्गम और विकास, डॉ. हीरालाल जैन पृष्ठ- २१

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

(iv) आदान-क्षेपक्षा समिति-इसके अन्तर्गत भिक्षुओं को आदेश दिया गया है कि वे अपनी सम्पूर्ण सामग्री का उपयोग करते समय देख लें कि कहीं उनके द्वारा किसी कीट-पतंग की हिंसा तो नहीं हो रही है।

(v) व्युत्सर्ग समिति-इसके अन्तर्गत ऐसे स्थानों पर मल-मूत्र त्यागने का निर्देश दिया गया है जहाँ इससे किसी भी कीट-कीटाणु की हिंसा न हो सके।

२. सर्वमृषावाद से विरमण

इसके अन्तर्गत श्रमण, निर्ग्रन्थ मुनियों को सदैव सत्य बोलने का आदेश दिया गया है। इसके लिए निम्न पाँच उपनियमों के पालन करने का आदेश है-

(i) अनुषिम भाषी-बिना सोचे-समझे नहीं बोलना चाहिए।

(ii) कोहं परिजानाति-निर्ग्रन्थ साधुओं को क्रोध आने पर मौन रहने का आदेश दिया गया है।

(iii) लोभं परिजानाति-इसमें लोभ की भावना जाग्रत होने पर मौन रहने का निर्देश दिया गया है।

(iv) भयं परिजानाति-निर्ग्रन्थ साधुओं को भय उत्पन्न होने पर भी असत्य नहीं बोलने का आदेश दिया गया है।

(v) हासं परिजानाति-निर्ग्रन्थ श्रमण भिक्षुओं को आदेश दिया गया है कि उन्हें कभी भी हँसी-मजाक में भी असत्य नहीं बोलना चाहिए।

३. सर्व अदत्तादान से विरमण

इसके अन्तर्गत अस्तेय व्रत का गम्भीरता पूर्वक परिपालन करने का आदेश दिया गया है। अस्तेय व्रत अर्थात् चोरी न करना या बिना अनुमति किसी की वस्तु न लेने के लिए भिक्षुओं का निम्न पाँच उपनियमों के परिपालन का उपदेश दिया गया है-

(i) बिना आज्ञा किसी के घर के भीतर नहीं जाना चाहिए।

(ii) गुरु की आज्ञा बिना भिक्षार्जित भोजन को ग्रहण नहीं करना चाहिए।

(iii) बिना अनुमति के किसी के घर में निवास नहीं करना चाहिए।

(iv) किसी के घर में रहते हुए बिना गृहस्वामी की आज्ञा के उसके किसी भी वस्तु का उपयोग नहीं करना चाहिए।

(v) यदि कोई भिक्षु किसी के घर में निवास कर रहा है तो उस समय भी गृहस्वामी की आज्ञा के बिना उसके घर में नहीं रहना चाहिए।

४. अपरिग्रह अर्थात् सर्व बहिस्थादान से विरमण

इसके अन्तर्गत अपरिग्रह व्रत का पालन करने का आदेश दिया गया है। इसके लिए निम्न पाँच उपनियमों का अनुसरण करना चाहिए-

(i) श्रोत्रेन्द्रिय के विषय शब्द के प्रति अनासक्त भाव रखना

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

(ii) चक्षुरिन्द्रिय के विषय रूप के प्रति अनासक्त भाव रखना

(iii) घ्राणेन्द्रिय के विषय गन्ध के प्रति अनासक्त भाव रखना
(iv) रसनेन्द्रिय के विषय रस के प्रति अनासक्त भाव रखना
(v) स्पर्शेन्द्रिय के विषय र्स्पश के प्रति अनासक्त भाव रखना

पार्श्वनाथ का यह चातुर्माय रूप सामायिक धर्म महावीर से पृर्व ही सुप्रचलित था। यह दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्परा के अतिरिक्त बौद्ध पालि साहित्य के उल्लेखों से भली भाँति सिद्ध हो जाता है। मूलाचार[1] के आधार पर डॉ. जैन ने यह निष्कर्ष निकाला है कि महावीर के पूर्व के तीर्थंकरों ने सामायिक संयम का उपदेश दिया था तथा केवल अपराध होने पर ही अतिक्रमण करना आवश्यक बतलाया था।

एक समय था जब पार्श्वनाथ तथा उनसे पूर्व के जैन तीर्थंकरों व जैन धर्म की सत्ता को पाश्चात्य विद्वान स्वीकार नहीं करते थे। किन्तु जब जर्मन विद्वान हर्मन याकोबी ने जैन व बौद्ध प्राचीन साहित्य के सूक्ष्म अध्ययन द्वारा महावीर से पूर्व निग्रंथ सम्प्रदाय के अस्तित्व को सिद्ध किया, तबसे विद्वत वर्ग पार्श्वनाथ की ऐतिहासिकता को स्वीकार करने लगे और महावीर के निर्वाण से २५० वर्ष पूर्व उनके निर्वाण प्राप्ति की जैन परम्परा को भी मान्यता देने लगे हैं।

बौद्ध ग्रन्थों में भी जैन ग्रन्थों के चातुर्याम का उल्लेख मिलता है और उसे निग्रंथ नातपुत्त (महावीर) का धर्म कहा गया है। किन्तु उसका सम्बंन्ध पार्श्वनाथ की परम्परा से स्वीकार किया जा सकता है। इसका कारण है कि जैन सम्प्रदाय में पार्श्वनाथ के साथ ही चातुर्माय का उल्लेख पाया गया है, महावीर के साथ कदापि नहीं। बौद्ध धर्म की निर्ग्रन्थ व्यवस्थायें जैसे उपोसथ[2], वर्षावास[3] आदि को भी पार्श्वनाथ परम्परा का ही माना जाता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन धर्म के तेइसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ का जैन धर्म में महत्वपूर्ण योगदान है तथा वे ऐतिहासिक पुरुष थे।

३. महावीर स्वामी – जीवन और सिद्धान्त

जीवन

जैन धर्म के चौबीसवें तीर्थंकर महावीर स्वामी का योगदान एवं उनकी शिक्षायें जैन धर्म क लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण एवं उल्लेखनीय हैं। महावीर स्वामी जैन धर्म में अन्तिम तीर्थंकर के रूप में स्वीकार किये गये हैं जिनके सफल नेतृत्व में प्राचीन जैन धर्म को नवजीवन मिला था। महावीर स्वामी जैन धर्म के संस्थापक नहीं थे। डॉ. पाण्डेय, डॉ. मेहता तथा डॉ. जैन ने महावीर स्वामी को जैन धर्म के सुधारक के रूप में माना है। उन्होंने प्राचीन जैन धर्म के सिद्धान्त में कुछ-कुछ संवधर्न और परिवर्तन करके उसे पुनः नए रूप में संगठित किया और अपनी योग्यता, संगठनशीलता और पुनीत प्रतिभा के द्वारा उसकी अभूतपूर्व उन्नति की। महावीर के पूर्व पार्श्वनाथ का चातुर्याम व्यापक रूप से सामयिक धर्म के रूप में प्रचलित था जिसको संशोधित एवं परिवर्द्धित कर महावीर ने पंचमहाव्रत रूप धर्म को प्रचलित किया। महावीर के पूर्व के तीर्थंकरों

---

१. मूलाचार - ७.३६-३८.
२. महावग्ग - २.१.१
३. महावग्ग - ३.१.१ CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

ने सामायिक संयम का उपदेश दिया था तथा केवल अपराध होने पर ही इनका अतिक्रमण करना आवश्यक बतलाया था किन्तु महावीर ने सामयिक धर्म के स्थान पर छेदोपस्थापना स्वयं निर्धारित किया और नियम से अतिक्रमण करने का उपदेश दिया। इसकी पुष्टि मूलाचार (१२९-१३३) भगवती, (२०, ८, ६७५, २५, ७, ७८५) उत्तराध्ययन आदि आगमों तथा तत्वार्थसूत्र (९, १८) की सिद्धसेन की टीका से होती है। महावीर ने अपने धर्म में ऋषभनाथ की सर्वस्व त्याग रूप, अकिंचन, मुनिवृत्त, नेमिनाथ की निरीहता, नेमिनाथ की अहिंसा तथा पार्श्वनाथ के चातुर्याम रूप-धर्म को स्थान दिया एवं इसमें ब्रह्मचर्य को जोड़ दिया। डॉ. हीरालाल जैन महावीर के धर्म की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि पार्श्वनाथ सम्प्रदाय को "चाउज्जाम" धर्म तथा वर्द्धमान के सम्प्रदाय को "पंचसिक्खिय" कहा गया। पार्श्वनाथ का धर्म "संतरोत्तर" तथा वर्द्धमान (महावीर) का "अचेलक" धर्म है।[१]

जैन धर्म के चौबीसवें तीर्थंकर महावीर के आरम्भिक जीवन एवं जन्म स्थान के विषय में हमें निम्न स्रोतों से जानकारी प्राप्त होती है अ. साहित्यिक स्रोत : दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदाय के ग्रन्थ तथा ब. पुरातात्विक स्रोत।

अ. साहित्यिक

जैन धर्म के चौबीसवें तीर्थंकर महावीर का जन्म ईसा से लगभग ६०० वर्ष पूर्व हुआ था। इनकी माता त्रिशला देवी तथा पिता सिद्धार्थ थे। इनके विषय में जैन आगम[२] से स्पष्टतः ज्ञात होता है कि वे जैन धर्म के तइसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ के सम्प्रदाय के अनुयायी थे। महावीर के पिता सिद्धार्थ कुंडपुर के ज्ञात्रिक नामक क्षत्रियों के गणराज्यके राजा थे और उनकी माता त्रिशला देवी लिच्छवी वंशीय राजा चेटक की पुत्री अथवा एक परम्परानुसार उनकी बहन थीं। महावीर का पैतृक गोत्र नाथ, नाध या नात (संस्कृत का ज्ञातृ) था। इसीसे उन्हें बौद्ध पाली ग्रन्थों में नातपुत्त के नाम से सम्बोधित किया गया है। भगवान् महावीर के जन्मस्थान कुंडपुर के सम्बन्ध में पाश्चात्य कालीन जैन परम्परा में भ्रांति उत्पन्न हो गई है। दिगम्बर सम्प्रदाय ने उनके जन्मस्थान कुंडपुर को नालन्दा के समीप स्थित कुंडसपुर माना है। किन्तु श्वेताम्बर सम्प्रदाय ने मुँगेर जिले के लघुआड़ के समीप स्थित क्षत्रिकुंड को उनकी जन्मभूमि होने का सम्मान दिया है। किन्तु जैन आगमों व पुराणों में उनकी जन्मभूमि के सम्बन्ध में जो वर्णन है वह उक्त दोनों स्थानों में घटित होता नहीं पाया जाता। हरिवंश पुराण (२, ४) एवं उत्तर पुराण (७४, २५१) से महावीर की जन्मभूमि कुंडपुर विदेह देश में ज्ञात होता है। इस मत के समर्थकों के अनुसार इसी से महावीर स्वामी को विदेहपुत्र, विदेहसुकुमार आदि उपनाम दिये गये हैं। उनके कुल का गोत्र कश्यप था। उनका विवाह कौण्डिन्य गोत्री राजकुमारी यशोदां के साथ हुआ था। इनसे उन्हें एक पुत्री अषोज्जा उत्पन्न हुई। इनके बड़े भाई का नाम नन्दिवर्धन था। महावीर के बचपन का नाम वधर्मान था।

महावीर ने बाल्यकाल के तीस वर्ष विदेह में ही व्यतीत किया। फिर भाई से आज्ञा लेकर १३ वर्षों तक उन्होंने घोर तपस्या की। एक शाल वृक्ष (साखू का पेड़) के नीचे उन्हें "कैवल्य" (निर्मल) ज्ञान प्राप्त हुआ। अब वे अर्हत (योग्य), निर्ग्रंथ (बंधनरहित), जिन (विजयी) और केवलिन (सर्वज्ञ) कहलाये। इसके बाद वे अपने ज्ञान के प्रचार में जुटे।

---

१. जैन धर्म का उद्गम और विकास, डॉ. हीरा लाल जैन, पृ. - २७
CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri
२. जैन आगम, आचारांग ३, भावचूलिका ३, सूत्र ४०१

उन्होंने अपने धर्म का प्रचार उत्तर भारत में ही किया। उत्तर प्रदेश के मल्ल, कोशल, काशी, अंग, मगध, वज्जि, विहार, राढ़सुह्म (बंगाल) आदि में पैदल घूम-घूमकर और शारीरिक यातना उठाकर इस धर्म का प्रचार किया। बौद्ध तथा दूसरे धर्मानुयायियों से वाद-विवाद करते हुए वे बहत्तर वर्ष की अवस्था में पावापुरी पहुँचे। यह स्थान अब देवरिया जनपद के कुशीनगर के समीप का आज फाजिलनगर है। यहीं इनका निर्वाण भी हुआ। यह बुद्ध के समसामयिक थे किन्तु उनसे अवस्था में बड़े थे।

डॉ. हीरालाल जैन ने विदेह की प्राचीनतम सीमा के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला है कि महावीर की जन्मभूमि माने जाने वाले दोनों स्थान कुंडपुर व क्षत्रियकुण्ड विदेह में नहीं बल्कि मगध देश की सीमा के भीतर कहीं रहा होगा। आगमों में अनेक स्थलों पर बेसालिय (वैशालीय)[1] उपाधि सहित महावीर स्वामी को उल्लिखित किया गया है। इसके आधार पर डॉ. हार्नले, जैकोबी आदि पाश्चात्य विद्वानों ने वैशाली को ही भगवान् महावीर की वास्तविक जन्मभूमि माना है।

ब. पुरातात्त्विक स्त्रोत

पुरातात्त्विक स्त्रोतों के आधार पर भगवान् महावीर स्वामी का जन्मस्थान वैशाली स्थित वासुकुण्ड को बताया जाता है। पुरातात्त्विक आधार पर यह प्रमाणित होता है कि प्राचीन वैशाली, आधुनिक तिरहुत मंडल के वैशाली जनपद के बसाढ़ नामक ग्राम के आस-पास ही बसी हुई थी जहाँ राजा विशाल का गढ़ नाम का स्थल अब भी विद्यमान है। जिस स्थल का उल्लेख महावीर की जन्मभूमि के सम्बन्ध में पाया जाता है तथा उसके विषय में जो वर्णित हैं वे सारी बातें इसी स्थल के आस-पास के क्षेत्र में उचित रूप से घटती हैं। यहीं समीप में आज भी गंडकी नदी बहती है जो प्राचीन काल में बसाढ़ के समीप बहती हुई बताई गई है। भगवान् महावीर ने प्रव्रजित होने के पश्चात् प्रथम रात्रि जिस कर्मार ग्राम में व्यतीत किया था, वह ग्राम अब यहीं कम्मन-छपरा के नाम से प्रसिद्ध है। जिस वाणिज्य ग्राम में भगवान् ने अनेक वर्ष या अपना प्रथम वर्षावास व्यतीत किया था, वही अब यहां का बनिया ग्राम है।

प्राचीन वैशाली के समीप एक वासुकुण्ड नामक ग्राम है जहाँ के निवासी परम्परा से एक स्थल को भगवान् की जन्मभूमि मानते आये हैं और उसी पूज्यभाव से उस पर कभी हल नहीं चलाया गया है। उसी के समीप ही एक विशाल कुण्ड है जो अब मिट्टी से भर गया है। यह खेत के रूप में जोता बोया जाता है। वैशाली की खुदाई में एक ऐसी प्राचीन मुद्रा मिली है जिसमें "वैशाली नाम कुण्डे" का उल्लेख है। इन सब प्रमाणों के आधार पर अधिकांश विद्वानों ने इसी वासुकुण्ड को प्राचीन कुण्डपुर या महावीर की वास्तविक जन्मभूमि स्वीकार किया है। इन प्रमाणों के आधार पर वहाँ के उक्त क्षेत्र को अधिग्रहीत कर बिहार राज्य ने वहाँ महावीर का स्मारक स्थापित किया है और वहाँ एक अर्द्धमागधी पद्यों में रचित शिलालेख द्वारा यह स्पष्ट घोषणा की गई है कि यहीं वह स्थल है जहाँ भगवान् महावीर का जन्म हुआ था।

अतएव पुरातात्विक एवं साहित्यिक साक्ष्यों के आधार पर महावीर का जन्म स्थान वैशाली के समीप स्थित वासुकुण्ड प्रमाणित होता है जो जैन ग्रन्थों में कुण्डपुर के नाम से उल्लिखित है।

---

१. सू. कृ. १२, उत्तरा ६

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

जैन धर्म के चौबीसवें तीर्थंकर महावीर ने पार्श्वनाथ के चातुर्याम सामयिक धर्म के स्थान पर पंचमहाव्रत रूप धर्म का उपदेश दिया। महावीर स्वामी ने अपने पंचमहाव्रत में ऋषभनाथ का सर्वस्व त्याग रूप अकिंचन मुनिवृत्ति, नमि की निरीहता या नेमिनाथ की अहिंसा एवं पार्श्वनाथ के चातुर्याम को स्थान दिया है। महावीर के पंचमहाव्रत निम्न हैं-

१. अहिंसा महाव्रत
२. सत्य महाव्रत
३. अस्तेय महाव्रत
४. अपरिग्रह महाव्रत
५. ब्रह्मचर्य महाव्रत

१. अहिंसा महाव्रत– महावीर के पंचमहाव्रतों में इसको प्रथम स्थान प्राप्त है। बौद्ध धर्म की भाँति जैन धर्म में भी अहिंसा को जैन धर्म का मूलभूत आधार माना गया है। जैन धर्म परम अहिंसावादी था। पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वनस्पतिकाय और त्रास-जीव (चलने-फिरने वाले) इन छ: प्रकार के जीवों के प्रति संयमपूर्ण व्यवहार ही अहिंसा है। डॉ. पाण्डेय का मत है कि अहिंसा की इस परिभाषा के अनुसार प्राणिमात्र के प्रति मन, वचन और कर्म से किया गया कोई असंयत आचरण हिंसा है। निश्चय ही यह बड़ी उदात्त परिभाषा है।

जीवों की हिंसा न करना ही जैन धर्म में अहिंसा कहा गया है। जीव केवल गतिशील द्रव्यों में ही नहीं बल्कि वनस्पति, क्षिति, जल आदि में भी होता है। इन सभी जीवों की हिंसा करना जैन दार्शनिक विचारधारा में बुरा काम माना जाता है। इसलिए जैन संन्यासियों में नाक पर कपड़ा बाँधकर चलने की (दस वैकालिक सूत्र ६.९) परम्परा चल पड़ी। जैन अनुयायियों की इन अतिवादी क्रियाओं को देखकर ही हॉपकिन्स ने कहा है– "A religion in which the chief points insisted upon are that one should deny God, worship man and nourish vermin."[f] —Hopkins

जैन धर्म की आलोचना अहिंसा की अतिवादिता को लेकर की गयी है। जैन धर्म में अहिंसा जीवों की हिंसा मात्र तक ही सीमित नहीं है बल्कि इसे मन, वचन और कर्म तीनों से परिपालित करने का उपदेश दिया गया है। इनका सम्यक रूप से पालन करने के लिए निम्नलिखित उपनियमों को पालन करना चाहिए-

(i) ईर्या समिति– इसके अन्तर्गत ऐसे मार्ग से चलने का आदेश दिया जाता है जहाँ कीट-कीटाणुओं का पैर से कुचलकर हिंसा का भय न हो।

(ii) भाषा समिति– इसके अन्तर्गत सदैव मधुर वाणी बोलने का निर्देश दिया गया है जिससे वाचिक हिंसा न हो।

(iii) एषणा समिति– भोजन द्वारा किसी भी प्रकार की कीट-कीटाणुओं की हिंसा न करने का उपदेश दिया गया है।

(iv) आदान-क्षेपक्षा-समिति– इसके अन्तर्गत भिक्षुओं को आदेश दिया गया है कि

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

f. The Religions of India., Hopkins, page-„‹‰

वे अपनी सम्पूर्ण सामग्री का उपभोग करते समय देख लें कि कहीं उनके द्वारा किसी कीट-पतंग की हिंसा तो नहीं हो रही है।

(v) व्युत्सर्ग समिति– इस समिति के अन्तर्गत ऐसे स्थानों पर मल-मूत्र त्यागने का निर्देश दिया गया है जहाँ किसी भी कीट-कीटाणुओं की हिंसा न हो।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन तीर्थकर महावीर ने किसी भी प्रकार की हिंसा नहीं करने का उपदेश दिया है।

२. सत्यमहाव्रत– इसमें असत् वचन बोलना अनृत, असत्य, मृषा या मूढ़ वचन छोड़ना होता है का आदेश है। असत् का अर्थ जो सत् अर्थात् वस्तु स्थिति के अनुकूल एवं हितकारी नहीं है। इसीलिए शास्त्र में कहा गया है-सत्यं ब्रूयात प्रियं ब्रूयातं न ब्रूयात सत्यमप्रियम् अर्थात् सत्य वोलो, प्रिय बोलो, सत्य को इस प्रकार मत बोलो कि वह दूसरे को अप्रिय हो जाये। सत्य महाव्रत में इसी को आधार माना गया है। जैन ग्रन्थों के अनुसार भाषण सदा सत्य होना चाहिए और साथ में मधुर भी। इस महाव्रत के साधक को निम्नलिखित पाँच उपनियमों का परिपालन करना चाहिए–

(i) अनुबिमभाषी– इसके अनुसार बिना सोचे समझे नहीं बोलना चाहिए।

(ii) कोहं परिजानाति– इसके अन्तर्गत निर्ग्रन्थ साधुओं को क्रोध आने पर मौन रहने का आदेश दिया गया है।

(iii) लोभं परिजानाति– इसके अनुसार साधक को लोभ की भावना जाग्रत होने पर मौन रहना चाहिए।

(iv) भयं परिजानाति– भय उत्पन्न होने पर मौन रहना चाहिए एवं असत्य नहीं बोलना चाहिए।

(v) हासं परिजानाति– हँसी मजाक में भी असत्य नहीं बोलना चाहिए।

३. अस्तेय महाव्रत– जैन धर्म में बिना किसी अनुमति के उसका वस्तु ग्रहण करना ही अस्तेय कहा गया है। अतएव इस धर्म में अनुमति बिना किसी अन्य की वस्तु न ग्रहण करना और न ग्रहण करने की इच्छा करने की बात कही गयी है। इसके लिए निम्न पाँच उपनियमों का परिपालन करना चाहिए–

(i) बिना आज्ञा किसी के घर के भीतर नहीं जाना चाहिए।

(ii) गुरु की आज्ञा बिना भिक्षार्जित भोजन को ग्रहण न करना चाहिए।

(iii) बिना अनुमति के किसी के घर में निवास नहीं करना चाहिए।

(iv) किसी के घर के भीतर रहते समय बिना गृहस्वामी की आज्ञा से उसकी किसी भी वस्तु का उपयोग न करना चाहिए।

(v) यदि कोई भिक्षु किसी घर में निवास कर रहा है तो उस समय भी गृहस्वामी की आज्ञा के बिना उसके घर में न रहना चाहिए।

४. अपरिग्रह महाव्रत– पंचमहाव्रतों में चौथा महाव्रत अपरिग्रह महाव्रत है। विषयों के प्रति आसक्ति को ही जैनधर्म अपरिग्रह कहा गया है। अतएव जैन भिक्षुओं को किसी भी प्रकार

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

का संग्रह नहीं करने का उपदेश दिया गया है क्योंकि उससे आसक्ति उत्पन्न होती है। धन्य-धान्य, वस्त्राभूषण सभी को यह धर्म परित्याग करने के लिए निर्देश देता है। इनके अतिरिक्त इन्द्रियों के विभिन्न रूप या विषयों में भी सर्वथा अनासक्ति भाव का होना आवश्यक बताया गया है। अपरिग्रह व्रत के साधक के लिए निम्न पाँच उपनियमों के परिपालन करने का उपदेश दिया गया है–

(i) श्रोत्रेन्द्रिय के विषय शब्द के प्रति अनासक्त भाव रखना
(ii) चक्षुरिन्द्रिय के विषय रूप के प्रति अनासक्त भाव रखना
(iii) घ्राणेन्द्रिय के विषय गन्ध के प्रति अनासक्त भाव रखना
(iv) रसनेन्द्रिय के विषय रस के प्रति अनासक्त भाव रखना
(v) स्पर्शेन्द्रिय के विषय र्स्पश के प्रति अनासक्त भाव रखना

५. ब्रह्मचर्य– पंचमहाव्रत का अन्तिम महाव्रत है-ब्रह्मचर्य। जैन धर्म के चौबीसवें तीर्थंकर महावीर के पूर्व जैन धर्म में ब्रह्मचर्य को कोई स्थान प्राप्त नहीं था। इन्होंने ब्रह्मचर्य को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया एवं साधकों को पूर्ण ब्रह्मचर्य के पालन करने का आदेश दिया। स्त्री-अनुराग व कामक्रीड़ा के परित्याग का नाम अव्यभिचार या ब्रह्मचर्य व्रत है। ब्रह्मचर्य की महत्ता सभी ग्रन्थों में स्वीकार की गयी है किन्तु जैनियों द्वारा इसे कठोरता से पालन करने के लिए कहा गया है। इसके लिए निम्न पाँच उपनियमों का पालन करना आवश्यक बताया गया है–

(i) किसी नारी से बात न करें।
(ii) किसी नारी को न देखें।
(iii) नारी संसर्ग का ध्यान न करें।
(iv) सरल एवं अल्प भोजन करें।
(v) जिस घर में नारी रहती है वहाँ न रहें।

ये पंचमहाव्रत जैन धर्म में भिक्षुओं के लिए प्रतिपादित किये गये हैं। यह सत्य है कि पंचमहाव्रत का पालन कर साधक संसार के मोह-बंधन एवं कामबंधन के पाश से अलग हो सकता है एवं संसार के प्रति अनासक्ति उत्पन्न हो सकती है। किन्तु कर्म बंधन से मुक्ति पाने अथवा मोक्ष प्राप्ति के लिए यह आवश्यक है कि मनुष्य अपने पूर्व जन्म के कर्मफल का नाश करे और इस जन्म में किसी प्रकार कर्मफल संगृहीत न करे। इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए जैन धर्म में त्रिरत्न का अनुशीलन और अभ्यास आवश्यक बताया गया है।

जैनधर्म के चौबीसवें तीर्थंकर महावीर स्वामी ने जैन साधक के लिए त्रिरत्न का अभ्यास आवश्यक बतलाया है। पूर्व जन्म के कर्मफल को नष्ट करने तथा इस जन्म के कर्मफल से बचने के लिए जैन धर्म में त्रिरत्नों के पालन करने का आदेश दिया गया है। ये त्रिरत्न हैं–

१. सम्यक् श्रद्धा या सम्यग् दर्शन
२. सम्यक् ज्ञान या सम्यग् ज्ञान
३. सम्यक् आचरण या सम्यक् चरित्र

१. सम्यक् श्रद्धा या सम्यग् दर्शन– "सत् में विश्वास सम्यक् श्रद्धा कहा गया है।"

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

जैन दर्शन में यथार्थ ज्ञान के प्रति श्रद्धा का होना ही सम्यक् श्रद्धा या सम्याग् दर्शन कहा जाता है। तत्वार्थ शास्त्र का प्रथम सूत्र है–

"सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग:"

धर्म के तीन अंग अन्तत: वैदिक परम्परा में भी श्रद्धा या भक्ति, ज्ञान और कर्म के नाम से स्वीकार किये गये हैं। मोक्ष मार्ग के प्रथम मार्ग के रूप में सम्यग् दर्शन का वर्णन किया गया है जिसका अर्थ है ऐसी दृष्टि की प्राप्ति जिसके द्वारा शास्त्रोक्त तत्वों के स्वरूप में सच्ची श्रद्धा उत्पन्न हो। इस सच्ची धार्मिक दृष्टि का मूल है अपनी आत्मा का शरीर से पृथक् सत्ता का भान। जब तक यह भान नहीं होता तब तक जीव मिथ्यात्वी है। इस मिथ्यात्व से छूटकर आत्मबोध रूप सम्यक्त्व का प्रादुर्भाव माना गया है।

जैन ग्रन्थों में कभी तीव्र वेदना (दु:ख) के कारण और कहीं धर्मोपदेश सुनकर अथवा धर्मोत्सव के दर्शन से सम्यक्त्व जागृत होने की बात कही गयी है। आत्म-श्रद्धा रूप सम्यक्त्व के उदय होने से मनुष्य के चरित्र में सद्भाव उत्पन्न होता है जिसका मुख्य लक्षण है-आस्तिवय। सम्यक्त्व प्राप्त साधक इस लोक के परे भी आत्मा के शाश्वतपन में विश्वास करता है एवं परमात्मत्व की ओर बढ़ने में भरोसा रखता हुआ, सच्चे देवशास्त्र व सच्चे गुरु के प्रति श्रद्धा रखता है। जैन धर्म में तीर्थकरों के प्रति श्रद्धा को ही सम्यगदर्शन कहा गया हे। यह श्रद्धा तीर्थकरों एवं सिद्धों की शिक्षाओं के प्रति होनी चाहिए। जैन धर्म में तीर्थकरों को सिद्धमुक्त एवं मोक्ष का वरण किया हुआ माना जाता है। अतएव जैन धर्म में तीर्थकरों की शिक्षाओं को आँख मूदकर स्वीकार करना चाहिए। सम्यग् ज्ञान अंधविश्वास नहीं बल्कि जैनमतयुक्त संगत है। सम्यग् दर्शन न केवल जैन धर्म में ही सर्वोत्कृष्ट बताया गया है बल्कि इसकी महत्ता मनुस्मृति में भी स्वीकार की गयी है–

सम्यग्दर्शनसम्पन्न: कर्मभिर्न बध्यते।
दर्शनेन विहीनस्तु संसारं प्रतिपद्यते।।

अतएव जैन साधक के लिए सम्यक् श्रद्धा अर्थात् सम्यग् दर्शन आवश्यक है।

२. सम्यक् ज्ञान या सम्यग् ज्ञान– सद्रूप का शंकाविहीन और वास्तविक ज्ञान ही जैन धर्म में सम्यक् ज्ञान कहा गया है। सम्यक्त्व के द्वारा शुद्ध दृष्टि की साधना हो जाने पर मोक्ष मार्ग पर बढ़ने के लिए जैन धर्म में दूसरी साधना ज्ञानोपासना बतायी गयी है। सम्यग् दर्शन द्वारा जिन जीवादि तत्त्वों में श्रद्धा उत्पन्न हुआ है उनकी विधिवत् यथार्थ जानकारी प्राप्त करना ही जैनधर्म में सम्यग् ज्ञान या सम्यक् ज्ञान कहा गया है। सम्यग् ज्ञान एवं दर्शन में सूक्ष्म विभेद यह है कि दर्शन का क्षेत्र है अन्तरंग और ज्ञान का क्षेत्र है बहिरंग। दर्शन आत्मा की सत्ता का भान कराता है और ज्ञान बाह्य पदार्थों का बोध करता है।

अतएव सम्यग् ज्ञान से जीव और अजीव से सम्बन्धित सभी प्रकार का ज्ञान प्राप्त हो जाता है। सम्यग् ज्ञान में किसी प्रकार की संदिग्धता और दोष नहीं होता। मोक्ष के लिए जैन धर्म में कर्मों का नाश आवश्यक है। कर्मों के पूर्णरूपेण नष्ट हो जाने के बाद केवल ज्ञान ही प्राप्त होता है। अतएव जैन धर्म में मोक्ष के वरण के लिए सम्यक् ज्ञान आवश्यक है।

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

३. सम्यक् आचरण या सम्यग् चरित्र– बाह्य जगत के विषयों के प्रति सम-सुख भाव से उदासीनता ही सम्यक् आचरण या सम्यग् चरित्र कहा गया है। सम्यक्त्व और ज्ञान की साधना के अतिरिक्त कर्मों के संवर व निर्जरा द्वारा मोक्ष सिद्धि के लिए सम्यक् चरित्र की आवश्यकता जैन धर्म में अनिवार्य है। सम्यकता साधक को अधार्मिकता के क्षेत्र से निकालकर धार्मिक क्षेत्र में लाती है तथा साधक में एक नयी चेतना उत्पन्न कराती है जिससे उसे भान होता है कि वह केवल शरीर के साथ मरने एवं जीने वाला नहीं है बल्कि वह एक अविनाशी तत्व है। इसके साथ ही सम्यक्त्वी को अपने आस-पास के जीवों में भी अपने समान आत्मतत्व के दर्शन होने लगते हैं जिससे उनके प्रति स्नेह, कारुण्य व सहानुभूति की भावना उत्पन्न हो जाती है और जिन वृत्तियों के कारण जीवों में संघर्ष पाया जाता है उनसे उसे विरक्ति होने लगती है। उसकी दृष्टि में अब एक ओर जीवन का अनुपम महात्म्य और दूसरी ओर जीवों में घोर दुःख उत्पन्न करने वाली प्रवृत्तियाँ स्पष्टतः सम्मुख आ जाती हैं। इस नयी दृष्टि के कारण उसकी अपनी वृत्ति में जो सम्यक्त्व के चार लक्षण प्रथम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य प्रगट होने लगते हैं। इससे बाधक के जीवन में एक नया मोड़ आ जाता है और वह दुराचरण छोड़कर सदाचारी बन जाता है। इससे साधक आत्महीन के समान परहित करता है। अपने समान दूसरों की रक्षा करता है अर्थात् सम्यक् चरित्र से परम कल्याण की भावना साधक में आ जाती है। स्वहित के समान परहित समझना सम्यक चरित्र है।

जैन धर्म में पंचमहाव्रत एवं त्रिरत्न या रत्नत्रय के पालन से मोक्ष की प्राप्ति की बात कही गयी है किन्तु महावीर ने जैन गृहस्थों के लिए निम्न पाँच व्रतों का प्रतिपादन किया–

१. अहिंसाणुव्रत
२. सत्याणुव्रत
३. अस्तेयाणुव्रत
४. ब्रह्मचर्याणुव्रत
५. अपरिग्रहाणुव्रत

ये पाँच व्रत अणु व्रत के नाम से प्रख्यात हैं। इनके आधारभूत सिद्धान्त पूर्वोल्लिखित महाव्रतों के समान ही हैं केवल उनकी कठोरता एवं अतिवादिता ही इनमें नहीं है। यह समझकर कि भिक्षुओं की भाँति गृहस्थों में अति कठोर व्रतों का पालन नहीं हो सकेगा इन अणुव्रतों की कठोरता बहुत कम कर दी गयी है।

अणुव्रत के अतिरिक्त महावीर ने कहा कि शीलव्रतों का पालन करना भी आवश्यक है। ये शील व्रत निम्न हैं–

क. शिक्षा व्रत-सामयिक, प्रोषधोपवास, भोगोपभोग परिमाण व्रत, अतिथि संविभाग।
ख. गुणव्रत-दिगव्रत, देशव्रत, अनर्थदण्डव्रत।

ऊपर वर्णित पाँच अणुव्रतों के अतिरिक्त गृहस्थों के लिए जिन अन्य व्रतों के विधान बनाये गये वे शीलव्रत कहलाये। उनका वर्णन निम्न है–

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

क. शिक्षाव्रत

शिक्षाव्रत से गृहस्थ के धार्मिक जीवन का शिक्षण व अभ्यास होता है। इसके द्वारा जीवन का परिशोधन करके गृहस्थों का भरण भी धार्मिक रीति से करने का ज्ञान प्राप्त होता है। ये निम्न हैं–

(i) सामायिक– सामायिक का अर्थ है समता भाव का आह्वान। मनकी साम्यावस्था यह है जिसमें हिंसा आदि समस्त पापवृत्तियों का शमन हो जाय। सामायिक की अपेक्षा समस्त व्रत एक ही कहे गये हैं और इसी पर महावीर से पूर्व के तीर्थकरों द्वारा जोर दिये जाने का उल्लेख मिलता है।

इस भावना के अभ्यास के लिए गृहस्थ को प्रतिदिन प्रभात, मध्याह्न अथवा सायंकाल किसी भी समय कम से कम एकबार एकान्त में शान्त एवं शुद्ध वातावरण में बैठकर, अपने मन को सांसारिक चिन्तन से निवृत्त करके, शुद्ध ध्यान अथवा धर्म चिन्तनमें लगाने का आदेश दिया गया है। इसे ही व्यवहार में जैन लोग संध्या कहते हैं।

(ii) प्रोषधोपवास– जैन धर्म में खान पान या गृह-व्यापारादि का त्यागकर देववंधन, पूजन तथा जप व शास्त्र-स्वाध्याय आदि धार्मिक क्रियाओं में ही दिन व्यतीत करना प्रोषधोपवास कहा गया है। जैन ग्रन्थों में इसे गृहस्थों को यथाशक्ति प्रत्येंक पक्ष की अष्टमी एवं चतुर्दशी को करने के लिए आदेश दिया गया है जिससे उनको भूख-प्यास की वेदना पर विजय प्राप्त करने की क्षमता का विकास हो सके।

(iii) भोगोपभोगपरिमाण– जैन धर्म में प्रतिदिन के आहार में से विशेष प्रकार के खट्टे-मीठे रसों का, फल-अन्नादि वस्तुओं का तथा वस्त्राभूषण, शयनासन व वाहनादि के उपयोग का त्याग करना व सीमा बाँधना ही भोगोपभोगपरिमाणव्रत कहा गया है।

(iv) अतिथि संविभाग व्रत– यह शिक्षा व्रत का अन्तिम व्रत है। इसके अन्तर्गत अपने गृह पर आये हुए मुनि आदि साधु जनों को सत्कारपूर्वक औषधि एवं आहार देने का निर्देश दिया गया है।

ख. गुणव्रत

जैन धर्म में गुणव्रतों के अभ्यास से मूलव्रतों के गुणों में वृद्धि होती है। ये चार गुणव्रत निम्न हैं–

(i) दिग्व्रत-जैन धर्म में चारों दिशाओं में गमनागमन, आयात-निर्यातादि की सीमा नियंत्रित करने को दिग्व्रत कहा गया है।

(ii) देश व्रत-अल्पकाल में मर्यादा सहित दिग्व्रत के भीतर समुद्र, नदी, पर्वत, पहाड़ी ग्राम व दूरी प्रमाण के अनुसार सीमाएँ बाँधकर अपना व्यापार चलाना चाहिए। यह देशव्रत कहा गया है।

(iii) अनर्थदण्ड-पापात्मक चिन्तन व उपदेश तथा दूसरों को अस्त्र-शस्त्र, विष, बंधन आदि ऐसी वस्तुओं का दान, जिनका वह स्वयं उपभोग एवं उपयोग नहीं करना चाहता उसे जैन धर्म में अनर्थदण्ड कहा गया है।

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

इन तीनों गुणव्रतों से साधक में तृष्णा व संचय की वृत्ति का नियंत्रण, इन्द्रिय लिप्सा का दमन और दानशीलता की प्रवृत्ति जाग्रत होती है।

समिति

इसके अतिरिक्त महावीर ने समिति को परिपालित करने का आदेश दिया जो निम्नवत है-

१. ईर्यासमिति– ईर्या समिति के अन्तर्गत ऐसे मार्ग से चलने का आदेश दिया जाता है जहाँ कीट-कीटाणुओं को पैर से कुचलकर मरने का भय न हो। इसके लिए अपने आगे पाँच हाथ पृथ्वी देख-देखकर चलने और अन्धकार में गमन नहीं करने का आदेश दिया गया है।

२. भाषा समिति– इसके अन्तर्गत सैदव मधुर एवं सत्य वाणी बोलने का आदेश दिया गया है। निन्दा व चापलूसी, हँसी तथा कटु वचन का परित्याग कर मुनि को सदैव संयत, नपी-तुली, सत्य, प्रिय एवं कल्याणकारी वाणी के प्रयोग का आदेश दिया गया है।

३. एषणा समिति– भोजन द्वारा किसी भी प्रकार के कीट-कीटाणुओं की हिंसा न करने का उपदेश दिया गया है। भिक्षा द्वारा केवल शुद्ध निरामिष आहार निर्लोभ भाव से ग्रहण करने का उपदेश दिया गया है।

४. आदान– क्षेपक्षा समिति-इसके अन्तर्गत भिक्षुओं को आदेश दिया गया है कि वे अपने सम्पूर्ण सामग्री का उपभोग करते समय देख लें कि कहीं उनके द्वारा किसी कीट-पतंग की हिंसा तो नहीं होती। ज्ञानोपाधि, संयमोपाधि और शौचोपाधि रखने व ग्रहण करने में भी जीव रक्षा निमित्त सावधानी रखनी आदान निक्षेप समिति या आदान क्षेपक्षा समिति कहलाती है।

५. व्युत्सर्ग समिति– व्युत्सर्ग समिति के अन्तर्गत ऐसे स्थानों पर मल-मूत्र त्यागने का निर्देश दिया गया है जहाँ किसी भी कीट-कीटाणु की हिंसा न हो। इसे प्रतिस्थापन समिति भी कहा गया है।

समिति के बाद जैन साधकों के लिए संयम पर बल दिया गया है। मन, वचन, कर्म के सम्यक् पालन को संयम कहा गया है।

परिषह

समता भाव को भग्न करने वाली परिस्थितियों को जैनधर्म में **परिषह** कहा गया है तथा ऐसा होने पर उसे बनाए रखने को जप कहा गया है। इनकी संख्या में २३ हैं जो निम्न हैं– **१. क्षुधा, २. तृषा, ३. शीत, ४. उष्ण, ५. डाँस-मच्छ।**

६. नग्नता– इससे क्लेश होना अनिवार्य है। इसे शान्तिपूर्वक सहना चाहिए।

७. अरति– एकान्त में रहने, भूख, प्यास आदि की बाधायें सहने तथा इन्द्रिय विषयों के अभाव से उसे मुनि अवस्था से कभी अरुचि उत्पन्न हो सकती है। इसे जैन धर्म में अरति कहा गया है।

८. स्त्री-परिषहग– भिक्षा के समय नगर व ग्राम में परिभ्रमण करते समय गृहस्थों के घरों में युवती स्त्रियों का हाव-भाव-विलासों का दर्शन सामान्यतः हो सकता है। इससे भिक्षु के मन में चंचलता उत्पन्न हो सकती है, जिसे स्त्री परिषह कहा गया है।

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

९. चर्या परिषह– वर्षाऋतु के अतिरिक्त अन्य ऋतुओं में परिभ्रमण सम्बन्धी कठिनाई उत्पन्न हो सकती है जिसे चर्या परिषह कहा गया है।

१०. निषाद्या परिषह– रहने के लिए मुनि को श्मशान, वन, उजड़े घर, पर्वत-गुफाओं आदि का विधान किया गया है जहाँ इन्हें अनेक बाधायें सहनी पड़ती हैं। इसे निषाद्या परिषह कहा गया है तथा इस पर विजय को निषाद्या-परिषह विजय।

११. शय्या परिषह– मुनि को किंचित् काल शयन के लिए खर, विषम शिलातल आदि ही मिलेंगे। इसका क्लेश शय्या-परिषह कहा जाता है तथा इस पर जय शय्या परिषह कहा गया है। जय का अर्थ करना है।

१२. आक्रोश परिषह– विरोधी जन मुनि को बहुधा गाली गलौज भी कर देते हैं जिसे जैन धर्म में आक्रोश परिषह कहा गया है तथा इस पर जय को आक्रोश परिषह जय कहा गया है।

१३. वध-परिषह– यदि विरोधी मारपीट कर बैठें तो उसे वध परिषह कहा जाता है तथा इस पर जय को जय वध-परिषह कहा जाता है। जय का अर्थ है सहन करना।

१४. औषध परिषह– मुनि को अपने आहार, वस्त्र, औषध आदि के लिए गृहस्थों से याचना करनी पड़ती है जिसे औषध परिषह कहा गया है।

१५. याचना परिषह– इस कार्य में अपने में दीनता भाव आने देने को याचना परिषह कहा गया है तथा इस कार्य में दीनता भाव न आने देने को याचना परिषह जय कहा गया है।

१६. अलाभ विजय– याचित वस्तु का लाभ न होने पर रुष्ट न होकर अलाभ से उसे अपनी तपस्या की वृद्धि में लाभ ही हुआ, ऐसा समझकर संतोष भाव रखने को अलाभ परिषह कहा जाता है।

१७. रोग विजय– यदि शरीर किसी रोग, व्याधि व पीड़ा के वशीभूत हो जाये तो उसे शान्तिपूर्वक सहने का नाम रोग विजय है।

१८. तृण स्पर्श विजय– चर्या, शैया व निषद्यादि के समय जो कुछ तृण, कांटा, कंकड़ आदि चुभने की पीड़ा हो सकती है, उसे सहना तृण स्पर्श विजय है!

१९. मल परिषह विजय– साधु को अपने शरीर से मोह छोड़ने के लिए स्नान न करने, दन्तादि अंग-प्रत्यगों को साफ न करने तथा शरीर का अन्य किसी प्रकार भी संस्कार न करने के कारण उत्पन्न होने वाली मलिनता से घृणा व खेद का भाव उत्पन्न न होने देने को मल-परिषह विजय कहा गया है।

२०. सत्कार पुरस्कार विजय– सामान्यतया व्यक्ति को विशेष सत्कार पुरस्कार मिलने से हर्ष और न मिलने से रोष व खेद का भाव उत्पन्न होता है किन्तु मुनि को उक्त दोनों अवस्थाओं में रोष-तोष की भावना से विचलित नहीं होना ही सत्कार पुरस्कार विजय है।

२१. प्रज्ञा विजय– विशेष ज्ञान के मद से मुक्त रहने को जैनधर्म में प्रज्ञा विजय कहा गया है।

२२. अज्ञान विजय– ज्ञान न होने पर उद्विग्न न होना जैन धर्म में अज्ञान विजय कहा गया है।

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

२३. अदर्शन विजय– दीर्घकालीन तपस्या के पश्चात् अवधि या मन: पर्ययज्ञानादि की प्राप्ति रूप ऋद्धि-सिद्धि उपलब्ध न होने पर मुनि की श्रद्धा विचलित हो सकती है तथा ऐसी भावना उत्पन्न हो सकती है कि ये सब सिद्धियाँ प्राप्य हैं या नहीं ? केवल ज्ञानी ऋषि, मुनि, तीर्थंकरादि हुए हैं या नहीं या यह सब तपस्या निरर्थक ही है ? ऐसी भावना उत्पन्न होना जैन धर्म में अदर्शन कहा गया है तथा इसकी विजय को अदर्शन विजय कहा गया है।

धर्म के लक्षण

इसके अलावा जैन धर्म में महावीर स्वामी ने धर्म के निम्न लक्षण बताये हैं-

१. उत्तम क्षमा– क्रोधोत्पादक गाली-गलौज, मारपीट, अपमान आदि परिस्थितियों में भी मन को कलुषित न होने देना उत्तम क्षमा कहा गया है।

२. उत्तम मार्दव– कुल, जाति, रूप, ज्ञान, तप, वैभव, प्रभुत्व एवं शील आदि सम्बन्धी अभिमान करना मद कहलाता है। इस मान कषाय को जीतकर मन में सदैव मृदुता भाव रखना मार्दव धर्म कहा गया है।

३. आर्जव धर्म– मन में कुछ और सोचना, वचन से कुछ और कहना तथा शरीर से करना कुछ और कुटिलता या मायाचारी कहलाती है। इस माया को जीत कर मन-वचन-काय की क्रिया में एकरूपता (ऋजुता) रखना आर्जव धर्म कहा गया है।

४. शौच धर्म– मन को मलिन बनाने वाली जितनी अनिष्टकारी दुर्भावनाएँ हैं उनमें लोभ सबसे प्रबल अनिष्टकारी है। इस लोभ के कषाय को जीतकर मन को पवित्र बनाना शौच धर्म है।

५. सत्यधर्म– असत्य वचन की प्रवृत्ति को रोककर सदैव यथार्थ हित-मित-प्रिय वचन बोलना सत्य धर्म है।

६. संयम धर्म– इन्द्रियों के विषयों की ओर मन की प्रवृत्ति को रोककर उसे सत्य प्रवृत्तियों में लगाना संयम धर्म है।

७. तप धर्म– विषयों व कषायों का निग्रह करके बारह प्रकार के तप में चित्त लगाना तप धर्म कहा गया है।

८. त्याग धर्म– बिना किसी प्रत्युपकार व स्वार्थ भावना के दूसरे के हित व कल्याण के लिए विद्या आदि का दान देना जैन धर्म में त्याग धर्म कहा गया है।

९. अकिंचन धर्म– घर-द्वार, धन-दौलत, बंधु-बांधव, शत्रु-मित्र सबसे ममत्व छोड़ना कि ये मेरे नहीं है, यहाँ तक कि शरीर भी सदा मेरे साथ रहने वाला नहीं है, ऐसी अनासक्ति बुद्धि उत्पन्न करना अकिंचन धर्म कहा गया है।

१०. ब्रह्मचर्य धर्म– रोगोत्पादक परिस्थितियों में भी मन को काम वेदना से विचलित न होने देना व उसे आत्म चिन्तन में लगाये रहना जैन धर्म में ब्रह्मचर्य धर्म कहा गया है।

पाप से बचने के निर्देश

जैन धर्म में यह स्वीकार किया गया है कि इन धर्मों के द्वारा मन के कषायों पर विजय प्राप्त किया जा सकता है। किन्तु इसके बावजूद भी आत्मा में पाप की भावनाओं का आ जाना

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

सम्भव है जिसके लिए जैन धर्म में पाप से बचने का अट्ठारह निर्देश दिया गया है। ये अट्ठारह पाप निम्नवत हैं–

१. प्रणातिपात हिंसा
२. झूठ
३. चोरी
४. मैथुन
५. द्रव्यमूर्च्छा (परिग्रह)
६. क्रोध
७. मान
८. माया
९. लोभ
१०. राग
११. द्वेष
१२. कलह
१३. दोषारोपण
१४. चुगली
१५. असंयम में रति और संयम में अरति (असुख)
१६. परपरिवाद निन्दा
१७. माया-मृषा (कपटपूर्ण मिथ्या)
१८. मिथ्या दर्शन रूपी शल्य।

आवश्यक सूत्र में कहा गया है कि इन पापों के भार से ही जीव भारी हो जाता है तथा वह नरक की ओर गिरता है। जब इन पापों का मूलोच्छेद हो जाता है तो जीव हलका हो जाता है और गगन तल की ओर ऊपर उठता है। इसे जैन धर्म में निर्वाण मार्ग पर अग्रसर होना कहा गया है।

तप

जैन धर्म में व्रत आदि की साधना को कर्मास्रव रूपी सम्बन्ध में बंधे हुए कर्मों के क्षय को निर्जरा करने वाला कहा गया है किन्तु कर्म-निर्जरा के लिए जैनधर्म में विशेषत: तप को उपयोगी साधना माना गया है। जिसके दो प्रमुख भेद हैं–

अ. बाह्य तप
ब. आभ्यन्तर तप

अ. बाह्य तप

१. अनशन, २. अवमौदर्य, ३. वृत्ति परिसंख्यान, ४. रस परित्याग, ५. विविक्तशय्यासन, ६. कायक्लेश

१. अनशन– जैन धर्म में सब प्रकार के आहार का परित्याग अनशन तप कहा गया है।

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

२. अवमौदर्य– अल्प आहार मात्र ग्रहण करना जैन धर्म में अवमौदर्य या ऊनोदर तप कहा गया है।

३. वृत्तिपरिसंख्यान– आहार सम्बन्धी परिस्थितियों पर नियंत्रण करना जैन धर्म में वृत्तिपरिसंख्यान तप कहा गया है।

४. रस परित्याग– घृतादि विशेष पौष्टिक एवं विकारी वस्तुओं का त्याग तथा मिष्ठानादि रसों का नियमन करना जैन धर्म को रस परित्याग कहा गया है।

५. विविक्त शय्यासन– शून्य गृहादि एकान्त स्थान में वास करना जैन धर्म में विविक्त शय्यासन कहा गया है।

६. कायक्लेश तप– धूप, शीत, वर्षा आदि बाधाओं को विशेष रूप से सहने का एवं आसन-विशेष पर लम्बे समय तक स्थिर रहने आदि का अभ्यास करना कायक्लेश तप कहा गया है।

ब. आभ्यन्तर तप

१. प्रायश्चित– प्रमाद वश उत्पन्न हुए दोषों के परिहार के लिए आलोचना, प्रतिक्रमण आदि चित्तशोधक क्रियाओं में प्रवृत्त होना ही प्रायश्चित तप कहा गया है।

२. विनय तप– ज्ञान, दर्शन, चरित्र व उपचार की साधना में विशेष रूप से प्रवृत्त होना विनय तप है।

३. वैयावृत्य तप– आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शिक्षारत, रोगी, गण, कुल, संघ, साधु तथा लोक सम्मत अन्य योग्यजनों की पीड़ा-बाधाओं को दूर करने के लिए सेवा में प्रवृत्त होना वैयावृत्य तप है।

४. स्वाध्याय तप– धर्मशास्त्रों का अध्ययन, शंकाओं पर पूछना, अनुचिन्तन, बार-बार आवृत्ति व धर्मोपदेश आदि स्वाध्याय तप कहा गया है।

५. व्युत्सर्ग तप– गृह, धन, धान्यादि बाह्ययोपाधियों तथा क्रोधादि अन्तरंगोपाधियों का त्याग करना जैन धर्म में व्युत्सर्ग तप कहा गया है।

६. ध्यान– इन्द्रियों तथा रागद्वेष भावों को निरोध करके उसे धार्मिक चिन्तन में लगाना धर्म ध्यान है।

जैन धर्म के चौबीसवें तीर्थकर महावीर द्वारा प्रतिपादित ये शिक्षायें हैं जिनका पालन करके साधक मोक्ष को वरण कर सकता है।

जैन धर्म के सम्प्रदाय : दिगम्बर तथा श्वेताम्बर

जैन ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि महावीर के निर्वाण से ६२ वर्ष पश्चात् जम्बू स्वामी का नायकत्व समाप्त होते ही संघ भेद आरम्भ हो गया। महावीर के निर्वाण के पश्चात् जैन संघ के नायकत्व का भार क्रमशः उनके प्रमुख तीन शिष्यों-गौतम, सुधर्म और जम्बू पर पड़ा। इनका काल क्रमशः १२, १२ व ३८ वर्ष=६२ वर्ष माना गया है। अब तक आचार्य परम्परा में कोई भेद नहीं पाया जाता था किन्तु इनके पश्चातकालीन आचार्य परम्परायें, दिगम्बर और श्वेताम्बर दो

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

सम्प्रदायों में पृथक-पृथक पायी जाती हैं जिससे प्रतीत होता है कि सम्प्रदाय भेद के बीज यहीं से प्रारम्भ हो गये थे।

कारण– सम्प्रदाय भेद के कारणों की विवेचना करने पर हम पाते हैं कि इसकी एक झलक उत्तराध्ययन सूत्र के "केसी-गोतम संवाद" नामक २३वें अध्ययन में मिलती है। इसके अनुसार ऐसा प्रतीत होता है कि जिस समय भगवान् महावीर ने अपना अचेलक या निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय स्थापित किया था उस समय पार्श्वनाथ का प्राचीन सम्प्रदाय प्रचलित था। महावीर के सम्प्रदाय के अधिनायक गौतम के समकालीन पार्श्वसम्प्रदाय के नायक केशी कुमार थे। इन दोनों गणधरों की भेंट श्रावस्तीपुरी में हुई और उन दोनों में विचार हुआ कि क्या कारण है कि यह सम्प्रदाय एक होने पर भी दो नामों से जाना जाता है : पार्श्वसम्प्रदाय "चाउज्जाम धर्म" तथा वर्द्धमान सम्प्रदाय "पचंसिक्खिय"। पार्श्व का धर्म 'संतरोत्तर" तथा वर्द्धमान का "अचेलक" धर्म कहलाता है। इस प्रकार एक धर्म के प्रवृत्त होने पर भी इन दोनों में अलग अलग विशेषताओं का कारण क्या है? केशी कुमार के इस सम्बन्ध में प्रश्न करने पर गौतम गणधर ने बताया कि पूर्वकाल में मनुष्य सरल किन्तु जड़ होते थे, पश्चातकाल में वक्र और ज़ड़ दोनों होते थे, किन्तु मध्य काल में लोग सरल और समझदार थे। अतएव पुरातन लोगों के लिए धर्म का शोध कठिन था। पश्चात् कालीन लोगों को उसका अनुपालन कठिन था। किन्तु मध्यकाल के लोगों के लिए धर्म संशोधन और पालन में सरल प्रतीत हुआ। इसी कारण एक ओर आदि व अन्तिम तीर्थकरों ने पंचव्रत रूप तथा मध्य के तीर्थकरों ने उसे चातुर्याम रूप से स्थापित किया। उसी प्रकार उन्होंने बतलाया कि अचेलक या संस्तर युक्त वेष तो केवल लोगों में पहचान आदि के लिए निर्धारित किये जाते हैं। यथार्थत: मोक्ष के कारणभूत तो ज्ञान, दर्शन और चरित्र हैं।

गौतम और केशी के बीच इस वार्तालाप का यह परिणाम हुआ है कि केशी ने महावीर का पंचमहाव्रत धर्म स्वीकार कर लिया। किन्तु उनके बीच वेष के सम्बन्ध में क्या निर्णय हुआ, यह स्पष्ट नहीं है। डॉ. हीरालाल जैन का अनुमान है कि इस सम्बन्ध में अचेलकत्व और इच्छानुसार ग्रहण की बात स्वीकार कर ली गयी, जिसके अनुसार हमें स्थविर कल्प और जिन कल्प के उल्लेख मिलते हैं। स्थविर कल्प पार्श्व-परम्परा का अल्पवस्त्र धारण करने वाला रूप मान लिया गया और जिसे कल्प में महावीर की परम्परा का सर्वथा अचेलक रूप माना गया।[1] किन्तु एक सम्प्रदाय में ऐसा द्विविध कल्प बहुत समय तक नहीं चल सका। अब यह प्रश्न उठ खड़ा हुआ कि यदि वस्त्र धारण करके ही महाव्रती बना जा सकता है और निर्वाण प्राप्त किया जा सकता है तो अचेलकता की आवश्यकता क्यों है? इस विरोधी विचार के संघर्ष के फलस्वरूप महावीर के निर्वाण से बासठ वर्ष पश्चात् जम्बू स्वामी का नायकत्व समाप्त होते ही संघ में भेद आरम्भ हो गया।

जैन धर्म के सम्प्रदाय में विभेद होने के विषय में स्थविरावली से भी प्रकाश पड़ता है। इससे ज्ञात होता है कि भगवान् महावीर स्वामी के ग्यारह गणधर थे। जैनधर्म के चौबीसवें तीर्थकर महावीर स्वामी की यह शिष्य परम्परा ३१७ ई. पूर्व तक चली। जैन संघ के कार्यों को सुचारू रूप से चलाने वाले महावीर स्वामी के शिष्यों में स्थूलभद्र के गुरु भद्रवाहु मुख्य थे। ३१७

१. जैनधर्म का उद्गम और विकास, डॉ. हीरालाल जैन, पृ. २५

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

ई. पूर्व में आचार्य भद्रबाहु ने संघ के कार्यों को अपने हाथों में ले लिया और सात वर्षों तक संघ का संचालन किया तथा उसके बाद संघ संचालन का कार्य अपने शिष्य स्थूलभद्र पर सौंप कर स्वयं दक्षिण भ्रमण के लिए चले गये। भद्रबाहु जिस समय दक्षिण भ्रमण को गये हुए थे उसी समय स्थूलभद्र ने पाटलिपुत्र में जैन साधुओं की एक सभा का आयोजन किया। इस सभा में जैनों के अंग ग्रन्थों का नये सिरे से संग्रह करने का आयोजन किया गया। भद्रबाहु जब यात्रा से वापस आये तो सभा में पारित यह प्रस्ताव अनुमोदन के लिए उनके सामने रखा गया। उन्होंने इस पर स्वीकृति देने से स्पष्ट इंकार कर दिया। आचार्य भद्रबाहु की अनुपस्थिति में एक घटना और घटी। आचार्य स्थूलभद्र की आज्ञा से जैन साधुओं ने वस्त्र पहनना आरम्भ कर दिया था। भद्रबाहु को यह अच्छा न लगा। अन्त में यह विवाद उग्ररूप धारण कर लिया। भद्रबाहु अपने कुछ विश्वासपात्र शिष्यों को साथ लेकर दूसरे स्थान पर चले गये और अपने पुराने सिद्धान्त पर ही अड़े रह गये। इस प्रकार जैन धर्म दो सम्प्रदायों में विभक्त हो गया : दिगम्बर तथा श्वेताम्वर।

जैन धर्म के दो सम्प्रदाय वेष यानी वस्त्र ग्रहण की बात को लेकर हैं किन्तु सिद्धान्तगत मतभेद के कारण जैन सम्प्रदाय में सात निन्हव है। डॉ. जैन के अनुसार महावीर निर्वाण के ६०९ वर्ष पश्चात् दिगम्बर संघ स्वरुपित हुआ किन्तु वि. सं. के १३६ वर्ष के उपरान्त श्वेताम्बर संघ भी प्रचलन में आया। श्वेताम्बर और दिगम्बर सम्प्रदाय की उत्पत्ति के काल में केवल ३ वर्षों का अन्तर ज्ञात होता है। अत: डॉ. मेहता आदि विद्वानों ने यह अनुभव किया है कि दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदायों का स्पष्ट रूप से भेद महावीर निर्वाण से ६०० वर्ष पश्चात् हुआ।

दिगम्बर तथा श्वेताम्बर सम्प्रदाय के विषय में उपलब्ध साहित्यिक साक्ष्यों के विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि इन दोनों सम्प्रदायों के बीच विभेद का कोई सैद्धान्तिक कारण नहीं है बल्कि इनके बीच विभेद का मूलभूत कारण वेष यानि अचेलकत्व एवं अल्पवस्त्रत्व को इच्छानुसार ग्रहण करने का विवाद था। इन दोनों सम्प्रदायों के बीच तात्विक दृष्टिकोण से कोई विभेद नहीं है। इनके सूक्ष्म निरीक्षण से ज्ञात होता है कि दिगम्बर सम्प्रदाय में धार्मिक नियमों की उग्रता है तो श्वेताम्बर सम्प्रदाय में मानवीय कमजोरियों को ध्यान में रखकर कुछ अंशों के कठोर नियमों में शिथिलता ला दी गयी है। दिगम्बरों का कहना है कि केवली भोजन नहीं करता, न स्त्रियों को मोक्ष प्राप्त हो सकता है। जिसकी पुष्टि सर्वदर्शन संग्रह के निम्न श्लोक से होती है–

भुंक्ते न केवली न स्त्री मोक्षमेति दिगम्बरः।
प्राहुरेषामयं भेदो महान् श्वेताम्बरैः सह।।

दिगम्बर एवं श्वेताम्वर सम्प्रदाय में अन्तर ये निम्न हैं–

१. दिगम्बर सम्प्रदाय में अचेलकत्व पर पूर्ण बल दिया जाता है तो दूसरी ओर श्वेताम्बर सम्प्रदाय में श्वेत वस्त्र ग्रहण करने पर। दिगम्बर सम्प्रदाय के आचार्य कुन्द-कुन्द का स्पष्ट कथन है कि यदि तीर्थकर वस्त्रधारी है तो उसे सिद्धी प्राप्त नहीं हो सकती। नग्नता यानि अचेलकत्व ही मोक्ष का मार्ग है, शेष सब उन्मार्ग है। इसकी पुष्टि में निम्न श्लोक है-

ण वि सिज्झइ वत्थधरों जिणसासणे जई वि होइ तित्थपरो।
पाग्गो विमोक्खमग्गो सेसा उमग्गया सव्वे।।

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

इस तरह दिगम्बरों में अचेलकत्व पर विशेष बल दिया गया है। इस पर श्वेताम्बरों का कथन है कि यदि वस्त्र पहनकर भी निर्वाण प्राप्त किया जा सकता है तो अचेलकत्व की क्या आवश्यकता है।

२. दिगम्बर सम्प्रदाय के आचार्यों का कथन है कि स्त्रीको तीर्थकर पद एवं मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता। अतएव उन्नीसवें तीर्थकर मल्लीनाथ को वे पुरुष ही मानते हैं। इसके विपरीत श्वेताम्बर सम्प्रदाय के आचार्य उन्नीसवें तीर्थकर "मल्ली" को स्त्री मानते हैं तथा उनका विश्वास है कि स्त्रियों को भी मोक्ष प्राप्त हो सकता है।

३. दिगम्बर सम्प्रदाय शूद्रों को भी मोक्ष का अधिकारी नहीं मानता किन्तु श्वेताम्बर शूद्रों को मोक्ष का अधिकारी मानता है।

४. दिगम्बर सम्प्रदाय के लोग स्थूलभद्र की जैन सभा को स्वीकार नहीं करते हैं किन्तु श्वेताम्बर इस जैन सभा में विश्वास करता है।

५. दिगम्बर सम्प्रदाय जैन धर्म के चौबीसवें तीर्थकर महावीर स्वामी को विवाहित नहीं मानता इसके विपरीत श्वेताम्बर सम्प्रदाय विवाहिता मानता है तथा यह भी स्वीकार करता है कि उन्हें एक पुत्री भी थी।

६. दिगम्बर सम्प्रदाय में तीर्थकरों की प्रतिमाओं को पूर्ण अचेलकत्व नग्न के रूप में प्रदर्शित किया गया है इसके विपरीत श्वेताम्बर सम्प्रदाय में प्रतिमाओं को परिधानों तथा आभूषणों से सुसज्जित दिखाया गया है। इनके परिधान के लिए श्वेतवस्त्र का ही प्रयोग किया गया है।

७. दिगम्बरों की मान्यता के अनुसार केवल ज्ञान प्राप्त करते समय साधु को भोजन ग्रहण नहीं करना चाहिए किन्तु इसके विपरीत श्वेताम्बरों के अनुसार इस समय भी भोजन ग्रहण किया जा सकता है।

८. दिगम्बर साधकों एवं साधुओं के लिए एकान्तवास आवश्यक है परन्तु श्वेताम्बर के लिए ऐसा आवश्यक नहीं है।

९. दिगम्बर सम्प्रदाय के अनुसार भिक्षुओं को किसी प्रकार का उपकरण नहीं रखना चाहिए किन्तु श्वेताम्बर सम्प्रदाय के अनुसार प्रत्येक भिक्षु को पात्र, पात्रबन्ध, पात्र स्थापन, पात्र प्रमार्जिनिका, पटल, रजस्त्राण, गुच्छक, दो चादरें, ऊनी वस्त्र, रजो हरण, मुख वस्त्र, मात्रक तथा चोलपट्टक इन चौदह उपकरणों को अपने पास रखना चाहिए।

१०. दिगम्बर सम्प्रदाय शूद्र के घर से आहार लेने का आदेश नहीं देता किन्तु श्वेताम्बर सम्प्रदाय इसे लेने की अनुमति देता है।

११. श्वेताम्बर सम्प्रदाय के अनुसार महावीर के निर्वाण से लगभग एक हजार वर्ष पश्चात् साधुओं की स्मृति के आधार पर ग्यारह अंगों का संकलन करके उन्हें सुव्यवस्थित किया गया था किन्तु दिगम्बर सम्प्रदाय इस बात को स्वीकार नहीं करता।

१२. दिगम्बर सम्प्रदाय चक्रवर्ती भरत के कैवल्य ज्ञान की प्राप्ति पर विश्वास नहीं करता किन्तु श्वेताम्बर सम्प्रदाय इस पर विश्वास करता है।

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

१३. तत्वार्थाधिगम सूत्र के रचयिता 'उमास्वामी' नाम के जैन विद्वान को दिगम्बर लोग 'उमास्वाती' कहते थे और श्वेताम्बर उन्हें 'उमास्वामी' कहते थे।

१४. दिगम्बरों तथा कतिपय श्वेताम्बरों का कथन है कि केवलियों में 'ज्ञान' और 'दर्शन' ये दोनों गुण एक ही साथ अभिव्यक्त होते हैं किन्तु 'श्वेताम्बरों' के मत में ये क्रमशः उत्पन्न होते हैं।

१५. दिगम्बरों के मतानुयायी यह विश्वास करते हैं कि राजा विक्रमादित्य १८७ ई. के बाद में जैनधर्म में दीक्षित हुए किन्तु श्वेताम्बर सम्प्रदाय के अनुसार उनकी दीक्षा ५७ ईसा पूर्व में हुई थी। उनको जैनधर्म में सिद्धसेन दिवाकर ने दीक्षित किया था।

१६. दिगम्बर सम्प्रदाय के अनुयायियों का कथन है कि पाटलिपुत्र में स्थूलभद्र ने जो सभा की थी और उसमें जिन जैन धर्मग्रन्थों का संग्रह किया था, वे सब किसी महत्त्व के नहीं हैं क्योंकि उसके बहुत पूर्व ही जैन धार्मिक ग्रन्थों का अर्थात् 'पुव्वो' और अंगों का नाश हो चुका था। 'श्वेताम्बर' इसे स्वीकार नहीं करते।

१७. दिगम्बरों तथा श्वेताम्बरों का साहित्य एक ही है पर इनके ग्रन्थों के नामों में भिन्नता है।

१८. श्वेताम्बरों के आचार्य भद्रबाहु प्रथम, उमास्वाती, कुन्दकुन्दाचार्य, सिद्धसेन दिवाकर, सिद्धसेन गणि, हरिभद्र सूरि, मल्लिषेण सूरि आदि हैं तथा दिगम्बर सम्प्रदाय के आचार्य ज्ञानचन्द्र, गुणरत्न सूरि, यशोविजय गणि, समन्तभद्र, विद्यानन्द, माणिक्यनन्दिन, प्रभाचन्द, अमृत चन्द्रसूरि, देवसेन भट्टारक, लघु-समन्त भद्र, अनन्तवीर्य आदि हैं।

वस्तुतः दिगम्बर तथा श्वेताम्बर सम्प्रदायों में ये अन्तर इन दोनों सम्प्रदायों में मुख्यतः गौण बातों को लेकर ही मतभेद को उजागर करते हैं। तात्विक दृष्टिकोण से इन दोनों सम्प्रदायों में कोई विभेदन नहीं है।

[ब]

जैन दर्शन

जीव और अजीव तत्त्व

सामान्य जगत् के पदार्थों को जैन धर्म में द्रव्य के नाम से पुकारा गया है। इसको निम्न दो प्रमुख भागों में विभाजित किया गया है–

१. जीव- जो चैतन्यस्वरूप हैं या जिसकी चैतन्य तत्त्व की संज्ञा है।

२. अजीव- जो अचेतन या भौतिक तत्त्व का नाम है।

१. जीव

अन्य दर्शनों में 'आत्मा' के समान ही जैन धर्म में 'जीव' की परिभाषा की गई है। चेतन द्रव्य को जैन धर्म में जीव कहा गया है। चैतन्य ही जीव का सामान्य लक्षण बताया गया है-

चेतनालक्षणो जीवः[१]

---

१. षड्दर्शन-समुच्चय, कारिका-४९

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

जैन धर्म का भौतिक तत्त्वों या सांसारिक बन्धन से आवृत होने पर जीव का यह लक्षण विनष्ट नहीं होता है। जीव का प्रमुख गुण व्यवहार है जो भौतिक माध्यम से व्यक्त होता है। जैन धर्म में जीव असंख्य बतलाये गये हैं तथा उनकी विशुद्ध अवस्था एक जैसी बतायी गयी है। प्रत्येक जीव नैसर्गिक रूप से अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त वीर्य आदि गुणों से सम्पन्न माना गया है। परन्तु जीवों के आवरनीय कर्मों के कारण इन स्वाभाविक धर्मों का उदय होना स्वीकार नहीं किया गया है। जीवों में सिद्ध आत्माओं का स्थान सर्वोपरि है।

चैतन्य, जीव का प्रमुख गुण है। व्यवहार में इस चैतन्य जीव की पहचान पाँच इन्द्रियों, मन, वचन व कायारूप तीनों बल, श्वासोच्छ्वास और आयु, इन दस प्राण रूप लक्षणों की सत्ता के द्वारा की जा सकती है–

पंच वि इंदियपाणा मनवचकायेसु तिष्णिबलपाणा।
आणप्पाणप्पाणा आउगपाणेण होंति दस पाणा।।[१]

जैन धर्म में जीव के अनेक गुण स्वीकार किये गये हैं। उसमें कर्म करने की शक्ति और उपभोग की क्षमता होती है। उसे जैनदर्शन में अमूर्त्त माना गया है तथा यह भी कहा गया है कि वह अपने रहने वाले शरीर के अंग-प्रत्यंगों को प्रभावित करता है।

जीवो उवओगमओ अमुत्ति कत्ता सदेह-परिमाणो।
भोत्ता संसारत्थो मुत्तो सो विस्ससोड्ढगई।।[२]

इस प्रकार जीवों की संख्या अनन्त मानी गयीं हैं। प्रत्येक शरीर में जीव विद्यमान हैं। उसका अस्तित्व स्वतंत्र है। चाहे वह संसार में रहे या मोक्ष की स्थिति को प्राप्त हो जाय उनका किसी भी अवस्था में विनाश नहीं होता। जीव सम्बन्धी जैन विचारधारा वेदान्त दर्शन से भिन्न है, वेदान्त के अनुसार ब्रह्म एक है और उसका दृश्यमान अनेकत्व सत्य नहीं माना जाता है।[३]

जैन दर्शन संसार में रहने वाले जीवों को दो वर्गों में विभक्त किया है-साधारण और प्रत्येक। प्रत्येक जीव हरेक शरीर में एक-एक रहता है। वे इन्द्रियों के भेद से पाँच प्रकार के होते हैं– **एकेन्द्रिय जीव** में एकमात्र स्पर्शेन्द्रिय होती है। इनके भी पाँच भेद है। स्पर्श और रसना युक्त जीवों को द्वीन्द्रिय, स्पर्श, रसना और घ्राण वाले त्रीन्द्रिय, स्पर्श, रसना, घ्राण के साथ-साथ नेत्रयुक्त प्राणी चतुरिन्द्रिय, तथा चार के अतिरिक्त श्रोत्रेन्द्रिय सहित जीव पंचेन्द्रिय कहे गये हैं। एकेन्द्रिय जीवों को स्थावर और सब जीवों को त्रस की संज्ञा दी गयी है। इन शरीरधारी समस्त प्राणियों में आहार, श्वासोच्छवास आदि जीवन क्रियायें सामान्य होती है। ऐसे सामान्य शरीर को जैन दर्शन में निगोद कहा गया है। प्रत्येक निगोद में एक साथ जीने व मरने वालों जीवों की संख्या अनन्त है–

एग-निगोद-सरीरे...........विढीढकालेण।[४]

---

१. गो. जी.-१२९

२. द्रव्य संग्रह, गा.-२

३. भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान, डॉ. हीरा लाल जैन

CC-0 In Public Domain. Digitized by eGangotri

४. गो. जी., १९४

इन पंचेन्द्रिय जीवों के भी दो भेद किये गये हैं–

संज्ञी (मन सहित) और दूसरे **असंज्ञी** (मन रहित)।

जैन धर्म में समस्त संसारी दृश्यमान जीवों की दो गतियाँ मानी गयी हैं-एक मनुष्य गति और दूसरी अन्य प्राणियों की तिर्यक गति। दो और गतियाँ हैं-एक देवगति और दूसरी नरकगति। मनुष्य और तिर्यक गति वाले जीव अपने कर्मों का सुफल भोगने के लिए देवगति प्राप्त करते हैं और दुष्कर्मों का दण्ड भोगने के लिए पापी नरक गति में जाते हैं। जो जीव पुण्य और पाप दोनों से रहित निस्पृह रूप से केवल ज्ञान प्राप्त कर लेता है वह संसार की इन चारों गतियों के बंधन में नहीं बंधता। वह सीधे मोक्ष प्राप्त करता है। मनुष्य और तिर्यकों का शरीर स्थूल होता है, जिसमें उसके जीवन के भीतर कोई विपरिवर्तन सम्भव नहीं होता किन्तु देवों और नरकवासी जीवों के शरीर में नाना प्रकार का विपरिवर्तन सम्भव है। इनके जीवों के दो और शरीर होते हैं-तैजस और कार्मण। ये सभी में सदैव विद्यमान रहते हैं। मरण के पश्चात् भी जीव से इनका संग नहीं छूटता। तैजस शरीर जीव और पुद्गल प्रदेशों में संयोग स्थापित किये रहते है, तथा कार्मण शरीर को जीव निरन्तर अपने मन-वचन-काय क्रिया के द्वारा संचित करता रहता है। इनके अतिरिक्त एक और माना गया है आहारक शरीर। इसे ऋद्धिधारी मुनि अपनी शंकाओं के निवारणार्थ विशेष ज्ञानियों के पास जाने के लिए अथवा तीर्थ, वन्दना के लिए करते हैं।

शरीरधारी कर्मानुसार भिन्न-भिन्न लिंगों के होते हैं। एकेन्द्रिय से लेकर चतुरिन्द्रिय तक के तिर्यक एवं नारकी जीव ही नपुंसक होते हैं। पर देवता नपुंसक नहीं होते। उनमें देव एवं देवियाँ दो ही भेद होते हैं।

जीवों के जन्म भी नानाप्रकार से होते हैं-गर्भ से या सम्मूर्धन से। जो प्राणी माता के गर्भ से उत्पन्न होते हैं, वे गर्भज हैं और जब गर्भ के बिना बाहरी संयोगों की अवस्थाओं में जीवों की उत्पत्ति होती है तो वह संमूर्छन कहा जाता है। देव और नारकीय जीवों की उत्पत्ति से भिन्न उपपाद रूप बतायी गयी है।

२. अजीव तत्त्व

जैन दर्शन में अचेतन या भौतिक तत्त्व को अजीव कहा गया है। अजीव द्रव्यों के जैन धर्म में निम्न पाँच भेद हैं–

(i) पुद्गल
(ii) धर्म
(iii) अधर्म
(iv) आकाश
(v) काल

(i) पुद्गल– सर्वदर्शन संग्रह में पुद्गल की परिभाषा किया गया है-"पुरयन्ति गलन्ति च" अर्थात् पुद्गल वह है जिसका संयोग और विभाजन हो सके। जैन दर्शन में जड़त्व को पुद्गल कहा गया है। डॉ. हीरालाल जैन रूपवान द्रव्य को पुद्गल स्वीकार करते हैं। जैनधर्म में विश्व के सभी मूर्तिमान, दृश्यमान पदार्थ को पुद्गल द्रव्य के विभिन्न रूपों में स्वीकार किया गया है।

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु-तत्त्व तथा जीवों और मनुष्यों के शरीर सभी पुद्गल ही माने गये हैं। पुद्गल का विशाल रूप पर्वत आदि हैं तो उसका सूक्ष्मतम रूप परमाणु है जो अत्यन्त लघु होने के कारण दिखाई नहीं देता। अनेक परमाणुओं के संयोग से उनमें परमाणु की उत्पत्ति मानी गयी है तथा उनमें स्पर्श, रस, गंध व वर्ण ये चार गुण हैं जो इन्द्रिय ग्राह्य होते हैं। शब्द, गंध, सूक्ष्मता, स्थूलता, संस्थान, अंधकार, छाया व प्रकाश ये सब पुद्गल के विकार माने गये हैं।

पुद्गलों का स्थूल रूप महान पर्वतों तथा पृथ्वीकाय रूप या पृथ्वी के रूप में दिखायी देता है। इनसे लेकर सूक्ष्मतम पुद्गल द्रव्य के असंख्य भेद और रूप माने गये हैं। पुद्गल का भेद और पारस्परिक सम्बन्ध बराबर होता रहता है। इसी पूरण (संयोग) व गलन (विभाजन) के कारण उनका नाम पुद्गल है। पुद्गल शब्द का उपयोग जैन ग्रन्थों के अतिरिक्त बौद्ध ग्रन्थों में भी पाया जाता है किन्तु वहाँ उसका अर्थ केवल शरीरी जीवों से है। पर डॉ. जैन का मत है कि जैन धर्म में अचेतन जड़ पदार्थों के लिए पुद्गल शब्द का प्रयोग नहीं पाया जाता।[१]

(ii) धर्मद्रव्य– धर्मद्रव्य जीव और पुद्गलों के स्थानान्तरण रूप गमनागमन का माध्यम माना गया है। इसे जैन धर्म में अरूपी और समस्त लोक में व्याप्त माना गया है। इसी द्रव्य की स्थिति के कारण जीवों व पुद्गलों का एक स्थान से दूसरे स्थान में चलना सम्भव होता है। मछली के लिए जिस प्रकार जल सहायक कारण है, उसी प्रकार जैन धर्म में जीव। इनकी गति के लिए धर्म की कल्पना की गयी है। धर्म जीव की गति की प्रेरणा में असमर्थ होकर भी उसकी गति के लिए सहायक होता है। जैन दर्शन में धर्म की यह कल्पना अन्य दर्शनों में नहीं है। जैन धर्म में 'धर्म' शब्द का प्रयोग शास्त्रीय है। यहां नैतिक आचरण आदि का अर्थ धर्म से लेना भ्रामक है।

(iii) अधर्म द्रव्य– इसकी कल्पना धर्म के ठीक विपरीत है। धर्म द्रव्य जहाँ जीव और पुद्गलों के गमनागमन में सहायक है, वहीं अधर्म द्रव्य चलायमान पदार्थ को रोकने में सहायक होता है जैसे कि वृक्ष की छाया में थका राही रुकने के लिए बाध्य होता है।

(iv) आकाश द्रव्य– सभी द्रव्यों को अवकाश प्रदान करने वाले को आकाश द्रव्य कहा जाता है। आकाश निःसीम और अनन्त है। इसकी सत्ता प्रत्यक्ष न होकर अनुमान पर अवलम्बित है। जीव, पुद्गल, धर्म तथा अधर्म पदार्थ बहुप्रदेश व्यापी हैं। अतः उनके विस्तार की सिद्धि के लिए प्रदेश पर्याय वाले आकाश द्रव्य की सत्ता मानना न्यायसंगत है। जितने आकाश में जीवादि अन्य द्रव्यों की सत्ता है वह लोकाकाश कहलाता है और वह सीमित है। इसके बाद जो अनन्त शुद्ध आकाश है, वही आलोकाकाश है। उसमें अन्य किसी द्रव्य का अस्तित्व नहीं होता, क्योंकि वहाँ गमनागमन के साधन धर्म द्रव्य का अभाव है। डॉ. जैन के अनुसार आकाश द्रव्य का अस्तित्व सभी दर्शनों तथा आधुनिक विज्ञान को भी मान्य है। किन्तु धर्म और द्रव्यों की कल्पना जैन दर्शन की अपनी विशेषता है।[२]

(v) द्रव्यकाल– जैन धर्म में पदार्थों की स्थिति की कल्पना के लिए कालद्रव्य की कल्पना की गयी है। काल की कल्पना अनुमान के आधार पर मानी गयी है। 'जगत के समस्त

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

१. भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान, डॉ. हीरा लाल जैन

२. भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान, डॉ. हीरा लाल जैन

द्रव्य परिणामशील कहे गये हैं। इस परिणाम के साधारण कारण के रूप में काल की सत्ता मानी गयी है। वर्तना, परिणाम, क्रिया, परत्व तथा अपरत्व-ये काल के पाँच 'उपकार' माने गये हैं। काल के अभाव में पदार्थ की अनेकक्षणव्यापी अवस्था की कल्पना नहीं की जा सकती। काल के अवयवों को विना माने स्थिति की कल्पना निराधार ही है। किसी वस्तु का परिणाम काल की सत्ता पर ही अवलम्बित है। कच्चे केला का पक जाना काल जन्य ही है। ज्येष्टता तथा कनिष्ठता की कल्पना काल का प्रमाण बताती है। लोकाकाश के एक-एक प्रदेश में अणुरूप काल की सत्ता रत्नों की राशि के समान मानी जाती है। रत्नों के ढेर में जिस प्रकार प्रत्येक रत्न पृथक् रूप से विद्यमान रहता है, उसी प्रकार लोकाकाश में काल अणुरूप से पृथक्-पृथक् स्थित रहते हैं। द्रव्यसंग्रह में काल के दो भेद माने गये हैं-

अ. व्यावहारिक काल

ब. पारमार्थिक काल या निश्चय काल

अ. व्यवहार या व्यावहारिक काल– द्रव्यों के परिणाम से अनुमित दण्ड, पल आदि अवयव से सम्पन्न काल को व्यवहार या व्यावहारिक काल कहा गया है।

ब. पारमार्थिक काल या निश्चय काल– यह काल अपनी द्रव्यात्मक सत्ता रखता है और वह धर्म और अधर्म द्रव्यों के समान समस्त लोकाकाश में व्याप्त है। यह काल नित्य निरवयव माना जाता है। वर्तना-पदार्थ की स्थिति इनका सामान्य लक्षण है। यह सतत विद्यमान रहता है।

बंधन एवम् मोक्ष

बंधन

प्रायः सभी भारतीय दर्शनों की भाँति जैन दर्शन में भी जीव का कारण शरीर धारण करने को ही उसका वन्ध बंधन माना गया है। तथापि इन दर्शनों में सिद्धान्तगत आत्मस्वरूप की व्याख्या में मतभेद के फलस्वरूप "बन्ध" की विवेचना में भी भेद हो गया है। जैन दर्शन में जीव को एक चेतन द्रव्य माना गया है जो स्वभाव से पूर्ण एवं अनन्त है। अपने पूर्व जन्मार्जित कर्मों के फलस्वरूप जीव अनेक योनियों से सम्बद्ध होकर अपने वास्तविक स्वरूप को भूल जाता है। जीव के इस कर्म सम्बन्ध को ही जैन दार्शनिक बंध कहता है–

द्वयोरपि जीवकर्मणोः सम्बन्धः संयोगसबन्धो नाम[१]

जैन धर्म का कहना है कि बन्धन का दुःख जीव को भोगना होता है। स्वभाव से पूर्ण अनन्त एवं चैतन्य जीव जब शरीर धारण कर लेता है तो उसके सामने अनेक बन्ध आ जाते हैं। जव ये बन्धनजनित बाधायें दूर हो जाती हैं तो यह अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त वीर्य और अनन्त आनन्द प्राप्त कर लेता है। जैसे कुंहासा और बादलों के हट जाने पर सूर्य अपने गुण को प्रसारित कर आलोक फैला देता है उसी प्रकार जीव जब बाधाओं को मिटा देता है तो अपने अन्दर निहित गुणों को प्रकट करने लगता है। बन्धन का मुख्य कारण "कर्म" है। बन्धन जीव के स्वाभाविक गुणों को ढँक लेता है, उस पर पर्दा डाल देता है। जीव अपने कर्मों के आधार पर

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

१. षड्दर्शन समूच्चय, पर गुणभद्र की टिका।

शरीर पाता है। पूर्व जन्मों के कर्मों के कारण जीव में वासनायें पैदा होती हैं। ये वासनाएँ तृप्त होना चाहती हैं और पुद्गल को अपने ओर खींचती हैं। इससे विशेष प्रकार का शरीर बनता है। जीव सदा ही अपने कर्मों के अनुसार शरीर पाता है। जीव शरीर का निमित्त कारण है और पुद्गल उसका उपादान कारण।

शरीर की सभी विशेषतायें कर्म के आधार पर होती हैं-कर्म के आधार पर जीव को शरीर, वंश, रूप, रंग, आकार, आयु, ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रियों की संख्या प्राप्त होती है। जैन आचार्यों का मत है कि कर्म कई प्रकार होते हैं-आयुकर्म, गोत्रकर्म, ज्ञान को नष्ट करने वाला कर्म आदि। बन्ध में डालने वाली कुप्रवृत्तियाँ, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि हैं। इनको जैन दर्शन में कषाय कहा गया है क्योंकि ये पुद्गल कणों को अपनी ओर आकृष्ट करती हैं। जीव के कर्म और वासना के आधार पर पुद्गल कण उसकी ओर आकृष्ट होते हैं। ये पुद्गल कण कर्म पुद्गल कहलाते हैं। जीव की ओर जिस कर्म पुद्गल का प्रवाह होता है उसे बंधन या आस्रव कहते हैं। अतः कषायों के कारण कर्म के अनुसार जीव का पुद्गल से बंध जाना ही बन्धन का मुख्य कारण है और पुद्गल का बंधन मनोभाव का परिणाम है। अतः जीव का पतन अथवा बंधन मानसिक प्रवृत्तियों के कारण है। बन्धन के दो भेद हैं–

१. मन में दूषित भावों का अस्तित्व-भाव वन्ध है।
२. जीव का पुद्गल से बंध जाना-द्रव्य बन्ध है।

बन्धन की दशा में जीव तथा पुद्गल एक दूसरे में प्रविष्ट हो जाते हैं। सजीव शरीर के हर भाग में पुद्गल तथा चैतन्य वर्तमान रहता है। इन दोनों का मिश्रण उसी प्रकार होता है जैसे दूध में पानी मिलकर एक हो जाता है।

मोक्ष

जीव और पुद्गल का जब संयोग होता है तो वह जीव के लिए बन्धन कहलाता है और जब जीव का पुद्गल से वियोग होता है तो वह जीव के लिए मोक्ष कहलाता है। जैन धर्मानुसार पुद्गल जीव से अलग तभी हो सकता है जब नये पुद्गल का बंधन बन्द हो जाय तथा जो पुद्गल पहले से ही जीव में प्रविष्ट है वे जीर्ण हो जाँय। पहले को संवर तथा दूसरे को निर्जरा कहते हैं। जीव में पुद्गल का प्रवेश जीव के अन्तर्निहित कषायों (दुर्वृत्तियों) के कारण होता है। इन कषायों का कारण अज्ञानता है। चूँकि मनुष्यों को आत्माओं और द्रव्यों का ज्ञान नहीं रहता इसलिए उनके मन में क्रोध, मान, माया, लोभ पैदा होता है। यह अज्ञान मोक्ष से दूर किया जा सकता है। यही इस दर्शन के अनुसार सच्चा सुख है। इसीको जीवन का अन्तिम लक्ष्य बताया गया है।

मोक्ष प्राप्ति के साधन– यहाँ इसको बताया गया है। हिन्दू धर्म ग्रन्थों मे भी इसी मान्यता की प्रधानता है। जैन धर्म में मोक्ष की प्राप्ति के लिए माध्यम शुद्ध दर्शन, ज्ञान और चरित्र को बताया गया है।

---

१. मनु २,१
२. भगवद् गीता - ४, ३९

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

तत्वार्थशास्त्र का प्रथम सूत्र है-

सम्यग्दर्शनज्ञानचरित्राणि मोक्षमार्गः।

अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चरित्र ही मोक्ष का मार्ग है। इन्हीं तीन को जैन धर्म में रत्नत्रय माना गया है और धर्म का स्वरूप इसी रत्नत्रय के भीतर गर्भित है। धर्म के ये तीन अंग अन्ततः वैदिक परम्परा में भी श्रद्धा या भक्ति, ज्ञान और कर्म के नाम से स्वीकार किये गये हैं। मनुस्मृति में उसी धर्म को प्रतिपादित करने की प्रतिज्ञा की गयी है जिसका पालन एवं प्रचार सच्चे (सम्यग्दृष्टि), विद्वान् (ज्ञानी), रागद्वेषरहित (सच्चरित्रवान) महापुरुषों ने किया है। गीता में भी कहा गया है कि श्रद्धावान् ही ज्ञान प्राप्त करता और उसके बाद ही वह संयमी बनता है। यथा–

विद्वद्भिः सेवितः सद्भिर्नित्यमद्वेषरागिभिः।
हृदयेनाभ्यनुज्ञातो यो धर्मस्तन्निबोधत।।[1]

श्रद्धावान् लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।[2]

मोक्ष के तीन साधन निम्न हैं–

(i) सम्यग्दर्शन

जैन धर्म में मोक्ष मार्ग में प्रवृत्त होने के लिए जो पहला चरण बताया गया है वह है- सम्यग्दर्शन जिसका अर्थ है ऐसी दृष्टि की प्राप्ति जिसके द्वारा शास्त्रोक्त तत्त्वों के स्वरूप में सच्ची श्रद्धा उत्पन्न हो। इस सच्ची धार्मिक दृष्टि का मूल है अपनी आत्मा को शरीर से पृथक सत्ता मानना। जब तक ऐसा नहीं माना जाता तब तक जीव एक मिथ्या तत्त्व है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन धर्म में सम्यग्दर्शन का अर्थ है यथार्थ ज्ञान के प्रति श्रद्धा रखना। यह श्रद्धा तीर्थंकरों और सिद्धों की शिक्षा के प्रति होनी चाहिए। अतएव मोक्ष मार्ग के साधक के लिए सर्वप्रथम सम्यग्दर्शन की आवश्यकता जैन धर्म में बतायी गयी है।

(ii) सम्यग्ज्ञान

इससे जीव और अजीव से सम्बन्धित सभीप्रकार का ज्ञान प्राप्त हो जाता है। सम्यग्दर्शन के द्वारा जिन जीवादि तत्वों के प्रति व्यक्ति श्रद्धा रखता है उनकी विधिवत् और यथार्थ जानकारी प्राप्त करना ही ज्ञान है। दर्शन और ज्ञान में सूक्ष्म भेद यह है कि दर्शन धर्म का आन्तरिक पक्ष है और ज्ञान का बाहरी। दर्शन से आत्मा के विषय में ज्ञान प्राप्त होता है और ज्ञान के द्वारा बाहरी पदार्थों का बोध होता है। दोनों में परस्पर सम्बन्ध है। पर यह कार्य-कारण का सम्बंध है।

सम्यग्ज्ञान में किसी प्रकार की संदिग्धता या दोष नहीं होता। मोक्ष के लिए कर्मों का नाश होना आवश्यक है। कर्मों के पूर्णरूपेण विनष्ट हो जाने के बाद ही कैवल ज्ञान प्राप्त होता है। वह जैन धर्म में पाँच प्रकार का बताया गया है-मति, श्रुति, अवधि, मनः पर्यय और कैवल ज्ञान। ज्ञेय पदार्थ और इन्द्रिय विशेष का सान्निध्य होने पर मन की सहायता से जो वस्तुबोध उत्पन्न होता है वह मतिज्ञान है। मतिज्ञान के आश्रय से युक्ति, तर्क, अनुमान व शब्दार्थ द्वारा जो परोक्ष पदार्थों की जानकारी होती है, वह श्रुतज्ञान है। आत्मा में एक ऐसी शक्ति का समावेश हो जाना जिसके

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

कारण इन्द्रियों के अगोचर, अति सूक्ष्म, तिरोहित व इन्द्रिय सन्निकर्ष के परे दूरस्थ पदार्थों का भी ज्ञान हो जाये-अवधि ज्ञान है। वह ज्ञान जिसके द्वारा दूसरे के मन में चिन्तित पदार्थों का बोध हो जाये वह मन: पर्यय ज्ञान कहलाता है। कैवल ज्ञान के द्वारा विश्वमात्र के समस्त रूपी-अरूपी द्रव्यों और उनके त्रिकालवर्ती पर्यायों का ज्ञान युगपत् होता है।

(iii) सम्यक्चरित्र

जैन धर्म में सम्यग्दर्शन एवं सम्यग्ज्ञान को चरितार्थ करने के लिए सम्यक्चरित्र की आवश्यकता पर बल दिया गया है। यहाँ अहितकारी कर्मों का वर्जन तथा हितकारी का आचरण करना ही यहाँ सम्यक्चरित्र कहा गया है। जैन साधकों का ऐसा विश्वास है कि सम्यक्चरित्र का आचरण करने से जीव को अपने कर्मों से मुक्ति मिल जाती है। चूँकि कर्मों के कारण ही बन्धन होता है अतएव नये कर्मों को रोकना और पुराने कर्मों को नष्ट करना ही मोक्ष का मार्ग है। सम्यक्चरित्र के लिए साधकों को निम्न बातों पर ध्यान देना चाहिए–

१. पंचमहाव्रत का पालन करना
२. चलने-फिरने, बोलने, मल-मूत्र त्याग में सतर्कता बरतना
३. मन, वंचन और कर्म में संयम बरतना
४. दस प्रकार के कर्मों का आचरण करना
५. जीव तथा संसार के यथार्थ तत्त्व के सम्बन्ध में भावना रखना
६. समता, निर्मलता, निर्लोभता और सच्चरित्रता प्राप्त करना

कुछ जैन दार्शनिक इनका पालन न करके केवल पंचमहाव्रतों का ही पालन सम्यक्चरित्र के लिए पर्याप्त मानते हैं। Dr. Radhakrishnan का मत है कि- 'So Moksha is said to be eternal upward movement.'[f] अतएव मोक्ष चिर शाश्वत उर्ध्वगामिनी गति है। इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन दर्शन में सूक्ष्म पुद्गल रूप कर्म से सर्वथा 'मुक्ति का नाम' ही मोक्ष है।

स्याद्वाद

स्याद्वाद जैन दर्शन का एक प्रमुख पक्ष है। इसमें कहने वाले की शैलीके उपयोग की एक ऐसी प्रणाली है, जिससे कथन का एक गुणात्मक अभिप्राय प्रगट होता है। साथ ही यह भी स्पष्ट होता है कि वह गुण मात्र ही उसमें नहीं है पर वह अन्य गुणों के सापेक्ष है। वक्ता अन्तिम व्यक्ति नहीं है जो सभी गुणों को जानता हो। इसलिए किसी भी विषय में वह इदं-इत्थं नहीं कह सकता। अत: वह अपनी बात को कहते हुए भी संभावना (स्यात्) का सहारा लेता है। इसके द्वारा वह असत्यता की स्थिति से बच जाता है।

वक्ता के अभिप्राय में एक ही वस्तु को कई रूपों में प्रकट किया जा सकता है। उसे है भी और नहीं भी कहा जा सकता है। दोनों अभिप्रायों के मेल से हाँ, ना या एक मिश्रित वचन का ज्ञान भी हो सकता है। इसी कारण उस गुण को अवक्तव्य भी कह सकते हैं। इसी प्रकार के कथनों के लिए कथन के पूर्व 'स्यात्' शब्द का प्रयोग किया जाता है जिसका अर्थ है-शायद।

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

f. Indian Philosophy, Dr. Radhakrishnan (Page. ....)

व्याकरण की दृष्टि से स्यात्, अस् धातु का विधि लिङ्, अन्य पुरुष, एक वचन का रूप है। इसका अर्थ होता है-"ऐसा हो" "एक सम्भावना यह भी है।" जैन न्याय में इस पद को सापेक्ष वाचक बनाकर अपनी अनेकान्तक विचार शैली को प्रकट करने का साधन बनाया गया है।

जैन दर्शन में एक अवधारणा है कि मात्र केवली ही कैवल ज्ञान से वस्तुओं के अनन्त धर्मों का अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त कर सकता है। किन्तु साधारण मनुष्य एक वस्तु को एक ही दृष्टि से देख सकता है। एक समय में किसी भी वस्तु का केवल एक ही धर्म मालूम कर सकता है। यह विषय सम्बन्धी वक्ता का आंशिक ज्ञान होता है। इस आंशिक ज्ञान को जैन दार्शनिक 'नय' कहते हैं। इसे दर्शन में भी नय कहा गया है–

नयति प्रापयति संवेदनम् आरोहयतीति नयः
प्रमाण प्रवृत्तेरुत्तरविषयकालभावी परामर्शः

किसी भी विषय पर हम अपना जो भी परामर्श देते हैं वह हर दृष्टि से सही नहीं होता है। उसकी सत्यता उसके नय (आंशिक ज्ञान) पर ही आधारित होती है। जिस दृष्टि एवं विचार से हम किसी विषय पर परामर्श देंगे उसकी सत्यता उसी विचार और दृष्टि से होगी। आखिर विचारों में मतभेद का कारण क्या है? जैन दर्शन के दृष्टिकोण से इस पर विचार करने को सत्य मानने लगते हैं। नय को भूलकर विचार करने से इस प्रकार का वैचारिक भेद उत्पन्न हो जाता है। यह एक उदाहरण से स्पष्ट होता है– जैसे कुछ अंधे लोग किसी हाथी का स्पर्श कर हरे हैं, कोई उसकी पूँछ, कोई कान और कोई सूँढ़ या पैर पकड़ रहा है। अब इन अंधों से हाथी के आकार के सम्बन्ध में पूछा जाय तो उनके वर्णन में सर्वथा मतभेद ही मिलेगा। यदि उन्हें बता दिया जाय कि सभी अंधों ने हाथी के एक ही अंग का स्पर्श किया है तो इनका सारा मतभेद दूर हो जायेगा।

इसी मतभेद को दूर करने के लिए जैन दार्शनिक 'स्यात्' शब्द का प्रयोग करते हैं। ये प्रत्येक नय (आंशिक ज्ञान) के आरम्भ में स्यात् शब्द जोड़ते हैं। इसमें प्रयुक्त स्यात् शब्द से संकेत मिलता है कि इसके साथ प्रयुक्त वाक्य की सत्यता प्रसंग विशेष पर ही निर्भर करती है। अतएव अन्य प्रसंगों में यह मिथ्या भी हो सकती है। ऊपर के उदाहरण में एक अंधे के आधार पर यह कह देना कि हाथी खम्वे के समान है अथवा सूप के समान है, उचित नहीं होगा। बल्कि यह कहना ठीक होगा कि "स्यात् हाथी का आकार खम्भे के समान है।" इससे यह बोध हो जाता है कि वह एक दृष्टि से खंभे के समान है। अतएव अपने एकान्तिक विचार को दोष से बचाने के लिए स्यात् का प्रयोग जैन दार्शनिक करते हैं। इस दोष के परिहारार्थ स्यात् का प्रयोग जैन साधकों को भी करने की अनुमति है। घर के भीतर किसी काले रंग के घड़े को देखकर हमें यह नहीं कहना चाहिए कि घड़ा है, बल्कि यह कहना चाहिए कि स्यात् घड़ा है। स्यात् से इस बात का ज्ञान होता है कि घड़ा का अस्तित्व काल विशेष, स्थान विशेष तथा गुण विशेष के अनुसार है। स्यात् शब्द के प्रयोग से यह भ्रम नहीं होता कि घड़ा नित्य है तथा सर्वव्यापी है। केवल घड़ा कहने से अनके प्रकार की भ्रान्तियाँ उत्पन्न हो सकती हैं किन्तु स्यात् घड़ा कहने से नहीं।

जैन धर्म के अनुसार भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से देखे जाने के कारण प्रत्येक ज्ञान भी भिन्न-भिन्न हो सकता है। स्याद्वाद का विश्लेषण करते हुए डॉ. जैन ने कहा है - स्याद्वाद कोई

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

अद्वितीय वस्तु नहीं है, क्योंकि व्यवहार में हम बिना स्यात् शब्द का प्रयोग किए भी कुछ दूर सापेक्ष-भाव का ध्यान रखते ही हैं। तथापि शास्त्रार्थ में कभी-कभी किसी बात की सापेक्षता की ओर ध्यान न दिए जाने से बड़े-बड़े विरोध और मतभेद उपस्थित हो जाते हैं, जिनमें सामंजस्य वैठाना कठिन प्रतीत होने लगता है। संभवत: इस स्याद्वाद प्रणाली द्वारा ऐसे विरोधों एवं मतभेदों को पनपने न देने का प्रयत्न किया गया है। जहाँ परस्पर विरोध दिखायी दे वहाँ स्यात् पद से उसे सुलझाने और सामंजस्य वैठाने की कुंजी भी दी गयी है।

सप्तभंगीनय

किसी वस्तु या विषय के आंशिक ज्ञान को जैन दर्शन में नय कहा जाता है। वक्ता के अभिप्राय में वह सामग्री एक वस्तु है और नहीं भी है कहा जा सकता है। दोनों अभिप्रायों के मेल से हाँ और ना एक मिश्रित वचन बनता है। इसी कारण उसे अव्यक्त भी कह सकते हैं। वह यह भी कह सकता है कि प्रस्तुत वस्तु का स्वरूप है भी और फिर भी अवक्तव्य है, नहीं है और फिर भी अवक्तव्य है, अथवा है भी और नहीं भी है और फिर भी अवक्तव्य है। इन्हीं सात सम्भावनात्मक विचारों के अनुसार सात प्रमाणभंगियाँ मानी गयी हैं–

१. स्याद् अस्ति
२. स्याद् नास्ति
३. स्याद् अस्ति नास्ति
४. स्याद् अवक्तव्यम्
५. स्याद् अस्ति अवक्तव्यम्
६. स्याद् नास्ति अवक्तव्यम्
७. स्याद् अस्ति नास्ति अवक्तव्यम्

सप्तभंगी नय को निम्न उदाहरण से स्पष्ट किया जा सकता है– जैसे किसी ने पूछा कि क्या आप ज्ञानी हैं ? इसके उत्तर में इस भाव से कि मैं कुछ न कुछ तो अवश्य ही जानता हूँ – मैं कह सकता हूँ कि "मैं स्याद् ज्ञानी हूँ।" सम्भव है मुझे अपने ज्ञान की अपेक्षा अज्ञान का भान अधिक हो और उस अपेक्षा से मैं कहूँ कि "मैं स्याद् अज्ञानी हूँ।" कितनी बातों का ज्ञान है और कितनी बातों का नहीं है, अतएव यदि मैं कहूँ कि कि "मैं स्याद् ज्ञानी हूँ भी और नहीं भी", तो भी अनुचित न होगा और यदि इसी दुविधा के कारण इतना ही कहूँ कि "मैं कह नहीं सकता कि मैं ज्ञानी हूँ या नहीं' तो भी मेरा वचन असत्य न होगा। इन्हीं आधारों पर मैं सत्यता के साथ यह भी कह सकता हूँ कि "मुझे कुछ ज्ञान तो है फिर भी कह नहीं सकता कि आप जो बात मुझसे जानना चाहते हैं, उसपर मैं प्रकाश डाल सकता हूँ अथवा नहीं।" इसी बात को दसरे प्रकार से यों भी कह सकता हूँ कि "मैं कुछ ज्ञानी हूँ भी, कुछ नहीं भी हूँ, अतएव कहा नहीं जा सकता कि प्रकृत के विषय का मुझे ज्ञान है या नहीं।" ये समस्त वचन प्रणालियाँ अपनी-अपनी सार्थकता रखती हैं, तथापि पृथक्-पृथक् रूप में वस्तुस्थिति के एक अंश को ही प्रकट करती हैं, उसके पूर्णस्वरूप को नहीं। इसीलिए जैन न्याय इस बात पर जोर देता है कि पूर्वोक्त में से अपने अभिप्रायानुसार वक्ता चाहे जिस वचन प्रणाली का उपयोग करे, किन्तु उसके साथ स्यात् पद अवश्य जोड़ दे, जिससे यह स्पष्ट प्रकट होता रहे कि वस्तुस्थिति में अन्य सम्भावनाएँ भी साथ हैं।

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

जैन आचार मीमांसा

जैन भिक्षुओं के आचरण करने के लिए तीर्थंकरों द्वारा नियम प्रतिपादित किए गए हैं। ये जैन धर्म में स्वीकृत किए गए हैं। इन नियमों को जैन आचार मीमांसा के सिद्धान्त नाम से जैन धर्म में जाना जाता है। इन सिद्धान्तों के द्वारा आचरण करने पर जैन साधक बन्धन से मुक्त होकर मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं। ये निम्न हैं–

(i) कषायों का उन्मूलन– जैन आचार मीमांसा के अनुसार सर्वप्रथम जैन साधक को चार तत्वों से दर रहना चाहिए – क्रोध, मान, माया और लोभ। ये जैन धर्म में कषायों (दुष्प्रवृत्तियों) के नाम से जाने जाते हैं। इन कषायों को जैन धर्म में बुराई की ओर ले जाने वाला कहा गया है। ये सुख में दु:ख बनकर तथा तपस्या में रोग बनकर आने वाले पाप हैं। जिस प्रकार काले कपड़े पर दूसरा रंग नहीं चढ़ता है, उसी प्रकार जिसकी आत्मा दुष्प्रवृत्तियों से कलुषित होती है उसके अन्त:करण में धर्म की बात नहीं उतरती है। जिस प्रकार दावानल में वन के सभी वृक्ष जलकर राख हो जाते हैं, वैसे ही कषायों के वश में जीव जन्म-जन्मान्तर के कर्मों को नष्ट कर देता है। अत: धर्म की रक्षा के लिए कषायों का उन्मूलन आवश्यक है।

इसके लिए संयम की आवश्यकता बतलायी गयी है। संयम सदाचार के द्वारा प्राप्त होता है। शरीर तथा आत्मा की शुद्धि के लिए राग, द्वेष, मोह, क्रोध, मान, लोभ, धर्म में संयम, सदाचार अथवा सम्यक् चरित्र कहे गए हैं।

(ii) पंचमहाव्रत

सदाचार या सम्यक् चरित्र के लिए यहाँ पंचमहाव्रत को व्यवस्था की गयी है। ये पंचमहाव्रत निम्न हैं :

(१) अहिंसा महाव्रत- जाने या अनजाने में किसी भी प्रकार से हिंसा न करने का निर्देश दिया गया है। इसके लिए निम्न नियमों के पालन पर वल दिया गया है–

(i) ईर्या समिति- इसके अन्तर्गत ऐसे मार्गों से चलने का आदेश दिया जाता है जहाँ कीट-पतंग का पैर से कुचलकर मरने का भय न हो।

(ii) भाषा समिति- इसमें सदैव मधुर वाणी बालेने का निर्देश दिया जाता है जिससे वाचिक हिंसा न हो।

(iii) एषणा समिति- भोजन द्वारा किसी भी प्रकार के कीट-पतंग की हिंसा नहीं करने का उपदेश दिया गया है।

(iv)आदान-क्षेपक्षा समिति- भिक्षुओं को आदेश दिय। गया है कि वे अपने सम्पूर्ण सामग्री का उपयोग करते समय देख ले कि कहीं उनके द्वारा किसी कीट-पतंग की हिंसा तो नहीं होती।

(v) व्युत्सर्ग समिति- इसके अन्तर्गत ऐसे स्थानों पर मल-मूत्र त्यागने का निर्देश है जहाँ किसी भी कीटाणु की हिंसा न हो।

(२) असत्य त्याग महाव्रत – इसके अनुसार भाषण सादा और मधुर होना चाहिए। इसमें निम्नलिखित पाँच बातों पर ध्यान देना चाहिए

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

(i) **अनुबिमभाषी**- बिना सोचे समझे नहीं बोला चाहिए।
(ii) **कोहं परिजानाति**- क्रोध आने पर मौन रहना चाहिए।
(iii) **लोभं परिजानाति**- लोभ जाग्रत होने पर मौन रहना चाहिए।
(iv) **भयं परिजानाति**- भय उत्पन्न होने पर भी असत्य नहीं बोलना चाहिए।
(v) **हास्सं परिजानाति**- हँसी-मजाक में भी असत्य नहीं बोलना चाहिए।

(३) अस्तेय महाव्रत– जैन धर्म के अनुसार अनुमति के बिना किसी की वस्तु ग्रहण करना ही अस्तेय (चोरी) कहा गया है। अतएव इस धर्म में अनुमति के बिना किसी अन्य की वस्तु को न ग्रहण करने की इच्छा करने की बात कही गयी है। इसके लिए भी पाँच बातें ध्यान में रखने योग्य बताई गई हैं –

(i) बिना आज्ञा किसी के घर के भीतर नहीं जाना चाहिए!
(ii) गुरु की आज्ञा बिना भिक्षा से अर्जित भोजन को ग्रहण नहीं करना चाहिए।
(iii) बिना अनुमति के किसी के घर में निवास नहीं करना चाहिए।
(iv) किसी के घर में रहते समय बिना गृहस्वामी की आज्ञा के उसके किसी भी वस्तु का उपयोग नही करना चाहिए।
(v) यदि कोई भिक्षु किसी के घर में निवास कर रहा है तो उसे भी गृहस्वामी की आज्ञा बिना उसके घर में नहीं रहना चाहिए।

(४) ब्रह्मचर्य– पंचमहाव्रत का चौथा महाव्रत है, इसकी महत्ता सभी धर्मों में स्वीकार की गयी है किन्तु जैनियों से इसे कठोरता से पालन करने के लिए कहा गया है। जैन साधक को पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करने का आदेश दिया गया है। इस विषय में भी पाँच बातें ध्यान में रखने का निर्देश है –

(i) किसी नारी से बात न करें।
(ii) किसी नारी को न देखें।
(iii) नारी संसर्ग का ध्यान न करें।
(iv) सरल एवं अल्पभोजन करें।
(v) जिस घर में कोई नारी रहती है वही न रहे।

(५) अपरिग्रह– अन्तिम महाव्रत अपरिग्रह महाव्रत है। विषयों के प्रति आसक्ति न रखने को ही यहाँ अपरिग्रह कहा गया है। अतएव जैनभिक्षुओं को किसी भी प्रकार का संग्रह नहीं करने का आदेश है क्योंकि इससे आसक्ति उत्पन्न होती है। धन-धान्य, वस्त्राभरण सभी परित्याज्य हैं। इनके अतिरिक्त इन्द्रियों के विभिन्न रूप या विषयों में भी सर्वथा अनासक्तिभाव का होना आवश्यक बताया गया है। ये पंचमहाव्रत भिक्षुओं के लिए प्रतिपादित किए गए है।

(iii) पंच अणुव्रत

किन्तु गृहस्थों के लिए भी कुछ नियम बनाए गए हैं जिन्हें **'अणुव्रत'** की संज्ञा दी गयी है। वे नियम पंचमहाव्रत के ही नियम हैं किन्तु इनमें इतनी कठोरता नहीं जितनी भिक्षुओं के लिए पंचमहाव्रतों में है। ये अणुव्रत निम्न हैं –

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

(i) अहिंसाणुव्रत

(ii) सत्याणुव्रत
(iii) अस्तेयाणुव्रत
(iv) ब्रह्मचर्याणुव्रत
(v) अपरिग्रहाणुव्रत

इनके आधारभूत सिद्धान्त पूर्वोल्लिखित महाव्रतों के समान हैं किन्तु उनकी कठोरता एवं अतिवादिता इन में नहीं है।

(iv) अनुप्रेक्षाएँ

इन सबके अतिरिक्त जीव के मुक्ति ने के लिए निम्न बारह अनुप्रेक्षाओं से अर्थात् भावनाओं से मुक्त रहना आवश्यक है। ये हैं–

(१) **असत्य भावना**- संसार में कुछ भी अमर नहीं, सब कुछ क्षण-भंगुर है।
(२) **अशरण भावना**- इस संसार में जीवन का कोई सहारा नहीं है। जो जैसा कर्म करता है वह वैसा फल पाता है।
(३) **संस्कृति भावना**- पिछले जन्मों में हमने अनेक प्रकार के दु:खों को भोगा है अब इस जन्म में अच्छे कर्म करके छुटकारा पाना है।
(४) **एकत्व भावना**- संसार में अकेला हूँ। सम्बन्ध के सारे बन्धन व्यर्थ हैं।
(५) **अन्यत्व भावना**- संसार की सभी वस्तुयें मुझसे भिन्न हैं, उनसे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है।
(६) **अशुचि भावना**- इस अपवित्र शरीर पर अभिमान करना व्यर्थ है।
(७) **आस्रव भावना**- जिन बातों से सत्कर्म हो उन्हें सोचते रहना।
(८) **संवर भावना**- नवीन कर्मों से आत्मा बँध न जाए ऐसे उपायों को सोचते रहना।
(९) **निर्जरा भावना**- कर्मों के बन्धन को क्षीण करने के लिएं उपाय को सोचते रहना।
(१०) **लोक भावना**- संसार किन-किन द्रव्यों से बना है तथा इसके तत्त्व क्या हैं? इसके विषय में त्न्तिन करते रहना चाहिए।
(११) **बोधि दुर्लभ भावना**- सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चरित्र ये त्रिरत्न दुर्लभ हैं, इनके अतिरिक्त संसार की सभी वस्तुयें सुलभ हैं।
(१२) **धर्म की भावना**- ये रत्न ही संसार के सभी प्रकर के सुखों को देने वाले धर्म हैं, ऐसा विचार करते रहना चाहिए।

(v) कर्मों का परित्याग

जीव को अपने कर्मों का फल स्वयं भोगना पड़ता है अतएव इनसे छुटकारा पाने के लिए मनुष्य को अच्छे कर्म करने चाहिए। ये ही आचार मीमांसा के सिद्धान्त हैं।

जैन ज्ञान मीमांसा

सम्यग्दर्शन के द्वारा जिन जीवादि तत्त्वों में श्रद्धा हो जाती है उनकी विधिवत् यथार्थ जानकारी प्राप्त करना ही जैन धर्म में ज्ञान कहलाता है। दर्शन एवं ज्ञान में सूक्ष्म भेद की रख यह है कि दर्शन का क्षेत्र अन्तरंग है और ज्ञान बाह्य पदार्थ का बोध उत्पन्न कराता है।

जैन धर्म में जीव या आत्मा का स्वरूप चैतन्य माना गया है। जीव या आत्मा सूर्य के समान है। जैसे सूर्य अन्य चीजों को प्रकाशित करता है तथा साथ ही साथ अपने को भी प्रकाशित

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

करता है उसी प्रकार जीव या आत्मा अपने को प्रकाशित करने के साथ-साथ अन्य वस्तुओं को भी प्रकाशित करता है। बादल या कुहरा से ढ़ँक जाने के कारण जैसे सूर्य प्रकाश नहीं दे पाता ठीक उसी प्रकार आत्मा भी बन्धन में पड़ जाने के कारण प्रकाश नहीं दे पाती। बन्धन के दूर हो जाने पर आत्मा या जीव ज्ञानमय हो जाता है। जीव या आत्मा में ज्ञान की अनन्त शक्ति है।

जैन धर्म में प्राप्त ज्ञान भेदों का विश्लेषण करने पर हमें ज्ञान के मुख्यत: दो भेद (१) प्रत्यक्ष एवं (२) परोक्ष, ज्ञात होते हैं। प्रसिद्ध जैन दार्शनिक उमास्वाती का कहना है कि वह यथार्थ ज्ञान, जिसे जीव बिना किसी की सहायता के स्वयं प्राप्त करता है, 'प्रत्यक्ष-ज्ञान' है। इससे यह स्पष्ट है कि प्रत्यक्ष-प्रमाण "स्वत: प्रमाण" है अर्थात् प्रत्यक्ष-प्रमाण में ज्ञान बिना किसी अन्य की सहायता से स्वत: प्रामाण्य है। इसमें जीव स्वतन्त्र रूप से साक्षात् ज्ञान को प्राप्त करता है।

जैन धर्म में प्रत्यक्ष-ज्ञान को भी पुन: दो भेदों : 'पारमार्थिक' तथा 'व्यावहारिक' में विभक्त किया गया है। जो कर्म के प्रभाव से मुक्त हो तथा स्वतन्त्र रूप से अपने को प्रकाशित करे वह पारमार्थितक प्रत्यक्ष है। इसके द्वारा जगत् के सभी विषय सर्वदा भासित होते हैं। वास्तविक प्रत्यक्ष भी यही है। किन्तु जिस ज्ञान के लिए जीव को इन्द्रियों की चेष्टाओं तथा मन पर निर्भर रहना पड़ता है, उसे जैन दर्शन में 'व्यावहारिक प्रत्यक्ष' कहा गया है। व्यावहारिक प्रत्यक्ष भी दो प्रकार का हैं –(१) जिसमें इन्द्रियाँ स्वतन्त्र रूप से असाधारण कारण हों तथा (२) जिसमें मन स्वतन्त्र रूप से कारण हो। जैन मन को इन्द्रिय नहीं मानते हैं। बाद के जैन दार्शनिकों ने व्यावहारिक दृष्टि में 'मति' और 'श्रुत' को भी प्रत्यक्ष प्रमाण के अन्तर्गत माना और इन्द्रियों तथा मन के द्वारा जो ज्ञान जीव को प्राप्त होता है उसे भी प्रत्यक्ष ज्ञान माना है। इनसे भिन्न ज्ञान को परोक्ष ज्ञान माना गया है।

(अ) व्यावहारिक प्रत्यक्ष ज्ञान

(१) मतिज्ञान

ज्ञेय पदार्थ और इन्द्रिय-विशेष का सन्निकर्ष होने पर मन की सहायता से जो वस्तुबोध होता है वह मतिज्ञान कहलाता है। मतिज्ञान निम्न प्रकार के होते हैं –

(i) **अवग्रह**–पदार्थ और इन्द्रिय का सन्निकर्ष होने पर मन की चेतन अवस्था में जो 'कुछ है' ऐसा बोध होता है, वह अवग्रह कहलाता है, अर्थात् इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न प्रथम अवस्था के ज्ञान को सम्मुग्ध, आलोचन, ग्रहण, अवधारण आदि भी कहते हैं।

(ii) **ईहा**– मतिज्ञान के द्वारा उत्पन्न अस्पष्ट वस्तुबोध के सम्बन्ध में विशेष जानने की इच्छा-'ईहा' कहलाती है। यह प्रत्यक्ष ज्ञान के क्रमिक विकास के द्वितीय क्षण में उत्पन्न हाने वाला ज्ञान है। इस अवस्था में जीव को दृश्य विषय के गुणों के जानने की इच्छा होती है।

(iii) **अवाय**– दृश्य वस्तु का निश्चित रूप से प्राप्त ज्ञान अवाय कहलाता है।

(iv) **धारण**– प्रत्यक्ष ज्ञान की यह अन्तिम अवस्था है। इसमें दृश्य वस्तु का पूर्णज्ञान होता है, जिसका संस्कार जीव के अन्त:करण पर पड़ जाता है।

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

(२) श्रुतज्ञान

आगमों के द्वारा तथा आलोचकों से जो ज्ञान प्राप्त होता है उसे 'श्रुतिज्ञान' कहा जाता है। मतिज्ञान होने के पश्चात ही श्रुतज्ञान होता है। इसकी पुष्टि डा. हीरालाल जैन के इस कथन से भी होती है कि – 'मतिज्ञान' के आश्रय से युक्ति, तर्क, अनुमान व शब्दार्थ द्वारा जिन परोक्ष पदार्थों की जानकारी होती है, वह श्रुतज्ञान है। श्रुतज्ञान के दो भेद हैं – अंगबाह्य अर्थात् जिसका उल्लेख जैनागम में न हो तथा अंगप्रविष्ट अर्थात् जिसका उल्लेख अंगों में हो।

मति और श्रुत में भेद– 'मति' और 'श्रुत' में निम्न भेद हैं –

(१) मतिज्ञान में प्रत्यक्ष में विषय की उपस्थिति आवश्यक है, किन्तु 'श्रुतज्ञान' में भूत, वर्तमान में तथा भविष्य सभी काल के विषय रहते हैं।

(२) जैनागम से सम्बद्ध होने के कारण 'श्रुतज्ञान', 'मतिज्ञान' की अपेक्षा श्रेष्ठ माना जाता है।

(३) 'मतिज्ञान' में परिणाम का प्रभाव रहता है किन्तु 'श्रुतज्ञान' तो आप्त वचन होने के कारण परिणाम से परे और विशुद्ध होता है।

(ब) पारमार्थिक प्रत्यक्षज्ञान

आत्मा के स्वाभाविक गुणों को अवरुद्ध करने वाले 'घातीय' तथा 'अघातीय' कर्मों के प्रभाव के हट जाने के पश्चात् जीव स्वयं बिना किसी इन्द्रिय तथा मन के सहयोग के ज्ञान प्राप्त करता है। वही ज्ञान 'पारमार्थिक प्रत्यक्ष ज्ञान' कहलाता है। इसके दो भेद हैं –

(१) केवलज्ञान– यह ज्ञान की वह अवस्था है जिसमें 'घातीय' तथा 'अघातीय' कर्मों का प्रभाव दूर हो जाता है, जीव सम्यक् दर्शन का अनुभव करने लगता है तथा समस्त जगत् के कार्यों को साक्षात् देखता है। राग-द्वेष तथा मोह से रहित अर्हतों का ज्ञान होता है।

(२) विकलज्ञान– इसमें सीमित तथा विषय के एक अंश का ही ज्ञान रहता है। इसके दो भेद हैं–

(i) अवधिज्ञान– ज्ञान के आवरणों के हट जाने पर जो ज्ञान 'स्वभाव' से ही देवताओं तथा नारकीय लोगों में हो एवं मनुष्य तथा निम्न स्तर के जीवों में 'प्रयत्न' से हो तथा जो सम्यक् दर्शन जन्य हो, वही अवधिज्ञान कहा जाता है।

(ii) मनःपर्यायज्ञान– सम्यक् चरित्र के द्वारा ज्ञान के आवरणों को दूर करने पर जो ज्ञान उत्पन्न हो तथा जो अन्य पुरुषों के मन में वर्तमान सीमित आकार की वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त करे वही मनः पर्यायज्ञान है। यह ज्ञान साधुओं को ही प्राप्त होता है। अवधिज्ञान तो सभी को हो सकता है। मनः पर्यायज्ञान परिशुद्ध तथा सूक्ष्म है।

(३) परोक्ष ज्ञान या परोक्ष प्रमाण– जैन धर्म में दूसरा प्रमाण है – परोक्ष। हेतु के द्वारा साध्य वस्तु के ज्ञान को परोक्ष तथा उस ज्ञान की प्रक्रिया को अनुमान कहा जाता है। स्वार्थ तथा परार्थ के भेद से अनुमान दो प्रकार का माना गया है। अनके दृष्टान्तों को देखकर अपने मन में अपने को समझने के लिए किए गए अनुमान को स्वार्थानुमान कहते हैं। जैसे, अनेक स्थानों में धूम को अग्नि के साथ सदा देखकर देखने वाला मन में निश्चय करता है कि जहाँ-जहाँ धूम है वहाँ आग है। इस नियतरूप में हेतु और आग इन दोनों के एक साथ रहने को व्याप्ति कहते

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

हैं। बाद में कहीं जाते हुए एक पर्वत में धूम को देखकर यह निर्णय करना कि पर्वत में वह्नि है - स्वार्थानुमान है। इस प्रक्रिया में पर्वत पक्ष है तथा पर्वत में रहने वाला धूम पक्षधर्म है।

पञ्चावयव परार्थानुमान– जब यही बात दूसरों को समझाने के लिए कही जाती है तो, उसे परार्थानुमान कहा जाता है। इसमें जिन पाँच वाक्यों के द्वारा निर्णय किया जाता है, उन वाक्यों के अनुमान को अवयव कहते हैं। जैसे–

(i) **प्रतिज्ञा**- पर्वत में वह्नि है।

(ii) **हेतु**- क्योंकि (पर्वत में) धूम है।

(iii) **दृष्टान्त**- जहाँ धूम है वहाँ वह्नि है।

(iv) **उपनय**- जो धूम बिना वह्नि के नहीं रहता, वह पर्वत में है।

(v) **निगमन**- इसलिए पर्वत में वह्नि है।

दशवयव परार्थानुमान– भद्रबाहु ने दशवैकालिक निर्युक्ति में दश-अवयव वाले अनुमान का उल्लेख किया है, जिसका स्वरूप निम्न है –

(१) **प्रतिज्ञा**– हिंसा निरोध सवसे बड़ा पुण्य है।

(२) **प्रतिज्ञा विभक्ति**– हिंसा निरोध जैन तीर्थंकरों के मत में सवसे बड़ा पुण्य है।

(३) **हेतु**– हिंसा निरोध सबसे बड़ा पुण्य है, क्योंकि जो हिंसा का निरोध करता है, वह देवताओं का प्रियपात्र होता है और उनका आदर करना मनुष्यों के लिए धार्मिक कार्य है।

(४) **हेतु विभक्ति**– हिंसा के निरोध करने वालों के अतिरिक्त अन्य कोई भी पुण्य-लोकों में रहने की आज्ञा नहीं पाते।

(५) **विपक्ष**– परन्तु जो जैन तीर्थंकरों से घृणा करते हैं और हिंसा करते हैं वे देवताओं के प्रिय हैं और उनका आदर करना मनुष्यों के लिए धार्मिक कार्य है। यज्ञों में हिंसा करने वाले स्वर्ग में रहते हैं।

(६) **विपक्ष प्रतिषेध**– हिंसा करने वालों की जैन तीर्थंकर निन्दा करते हैं। वे उनके आदर पात्र नहीं है और न तो वे देवताओं के ही प्रिय पात्र हैं।

(७) **दृष्टान्त**– अर्हत एवं जैन साधु लोग स्वयं अपना भोजन नहीं बनाते कि कहीं उसमें हिंसा न हो जाय, तो व लोग गृहस्थों के लिए यह कार्य छोड़ देते हैं तथा गृहस्थों के यहाँ स्वयं भोजन करते हैं।

(८) **आशंका**– दृष्टान्त की सत्यता में संदेह होना आशंका है। गृहस्थ जो भोजन बनाते हैं वह अर्हत तथा जैन साधु लोगों के लिए भी बनाते हैं। फिर उसमें जीव हिंसा होने से उन गृहस्थों को तथा अर्हत एवं जैन साधुओं को भी उस पाप का भागी होना पड़ेगा। इसलिए उपर्युक्त दृष्टान्त ठीक नहीं है।

(९) **आशंका प्रतिरोध**– अर्हत एवं जैन साधु भिक्षा के लिए अपने आने की सूचना गृहस्थों को नहीं देत और न तो वे कभी किसी नियत समय में उनके यहाँ भिक्षा के लिए जाते हैं। अतएव उनके लिए गृहस्थ भोजन बनाते हैं, ऐसा कहना ठीक नहीं है। अतः उस पाप से अर्हत एवं साधुओं का कोई भी सम्बन्ध नहीं है।

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

(१०) **निगमन**– हिंसानिरोध सबसे बड़ा पुण्य है। 'परोक्षप्रमाण' के अन्तर्गत 'शब्द प्रमाण' भी एक प्रमाण है। प्रत्यक्ष के विरुद्ध न होकर जो ज्ञान शब्द के द्वारा उत्पन्न हो, वह 'शब्द-प्रमाण' है। इसके भेद दो प्रकार के हैं : लौकिक तथा शास्त्रीय।

इन्हीं प्रमाणों के द्वारा जैन धर्म में अविद्या का नाश तथा ज्ञान एवं आनन्द की प्राप्ति माना गया है।

(स) जैन धर्म की समीक्षा

(क) जैनधर्म के ह्रास के कारण

जैन धर्म जिस वेग से बढ़ा उसमें पीछे यह गति न रही। यह धीरे-धीरे अपनी जन्मभूमि भारत में सिमटता गया। इसके लिए निम्न कारण उत्तरदायी हैं:

१. पार्श्वनाथ के चतुर्याम के स्थान महावीर स्वामी के पंच व्रत सिद्धान्त के कारण लोगो के मन में शंका उत्पन्न होने लगी कि क्या इनमें विभेद प्रारम्भ हो गया है। उन्हें शंका होने लगी कि क्या पार्श्वनाथ का चार व्रत वाले में कौन सत्य है महावीर का पांच व्रत वाले मत और महावीर के अनुयायी गौतम ने यह कहकर इसका समाधान किया कि महावीर का पांचवां व्रत पार्श्वनाथ के चौथे व्रत में अन्तरनिहि था, पर उसका अन्तरभाव समझ में नहीं आता है। इसी से यह निश्चित किया गया, पर शंका बनी रही।
२. पार्श्व और महावीर के बीच जो समय का लम्बा अन्तराल आया उसमें भिक्षुओं की नैतिकता का ह्रास हुआ।
३. ऊपर दोनों आचार्यों के उपदेश के सम्बन्ध में उठी शंकाओं के विषय में यह कहा गया कि 'धर्मपरायण व्यक्तियों के बाहरी लिङ्ग या चिन्ह मोक्ष के साधक नहीं होते केवल ज्ञान, दर्शन और चरित्र से ही मोक्ष मिलता है। इससे लगता है कि महावीर के समय में ही जैन धर्म दो सम्प्रदायों में बंटने लगा था- एक पार्श्वनाथ का प्राचीनतम तथा दूसरे महावीर का नवीनतम मत।
४. इस सम्प्रदाय में भेद के कारण दोनों तीर्थांकरों के अनुयायियों में वस्त्र सम्बन्धी भेद ने इसको पुष्ट करना शुरु किया। पार्श्वनाथ के अनुयायी श्वेतवस्त्र पहनने से श्वेताम्बर कहलाते थे तथा महावीर के अनुयायी नंगे रहने से दिगम्बर (दिशाएं ही जिसका वस्त्र हैं- नंगा) कहलाते थे। यह सीधी विभेदक रेखा बन गई। फिर बिखराव स्वाभाविक था।
५. 'मज्झिम निकाय' नामक बौद्ध ग्रंथ में वर्णन है कि निगंठपुत्र सच्चक ने नातपुत्र को शास्त्रार्थ में हराया। अतः बुद्ध के समय दोनों सम्प्रदायों का विरोध आरम्भ हो गया था।
६. जैन धर्म में अहिंसा और कायाक्लेश पर विशेष बल दिया जाता था। ये यहां तक मानने लगे कि जड़ प्रकृति भी प्राणयुक्त और जीवित है। अतः उसके प्रति भी अहिंसा के दृष्टिकोण ने इसे अव्यवहारिक बनाना शुरू किया। उसंके प्रति इतनी उदात्त भावना रखना जनमानस के लिए सम्भव नहीं था।
७. कायाक्लेश पर जैन जोर देते हैं तथा नंगे रहना और पायोपवेशन (उपवास रखकर शरीर त्यागना) अच्छा मानते हैं जबकि उसी समय प्रचारित बौद्ध धर्म में मज्झिम प्रतिपदा का प्रचार हो रहा था। अतः स्वाभाविक था कि जनमानस अतिवाद की अपेक्षा मध्यम मार्ग की ओर अधिक आकृष्ट हुआ।

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

८. विरोध की आग महावीर के बाद धीरे-धीरे सुलगती रही। उनके बाद यद्यपि बहुत दिनों तक कोई ऐतिहासिक घटना नहीं हुई पर विद्रोह की चिनगारी जलती रही। यह फूट उनके जीवनकाल में शुरू हो गयी थी। उनके भानजे और जमाता ने कुछ विरोध शुरू किया था। बाद में तिसगुत्र नामक भिक्षु ने इसमें सहयोग दिया। इससे उनके मरने के बाद विरोध प्रत्यक्ष होने लगा। जब चुन्द ने आनन्द को महावीर की मृत्यु का संदेश दिया तो आनन्द ने कहा-'मित्रचुन्द, भगवान के सम्मुख चर्चा चलाने का यह अच्छा विषय है।'

९. संघ के संचालन में कठिनाई आई क्योंकि महावीर के ग्यारह मठघरों में सुधर्मा और गौतम को छोड़ सभी मर चुके थे। गौतम महावीर के निर्वाण के दिन ही 'केवली' हुए थे। इसीसे महावीर के बाद सुधर्मा प्रमुख बने। अब आगे १५० वर्षों तक जैन धर्म का इतिहास घटना से रहित रहा। उचित नायकत्व की कमी ने इसके विकास को रोक दिया।

१०. राजकीय सहयोग भी इसे भरपूर न मिल सका। मगध का शासक उदायिन यद्यपि इस धर्म का समर्थक था पर उसके भिक्षु वेष धारण करने के कारण एक राजकुमार ने उसकी हत्या कर दी। फिर नन्द राजा भी इसके प्रति आस्थावान था। पर वह कुछ कर नहीं सका क्योंकि अपनी समस्याओं में ही सदा उलझा रहा। कलिंग का क्षेत्रीय शासक खारवेल जैन धर्मानुयायी था। उसने इसे बहुत समर्थन दिया पर उसके साथ ही उस वंश का इतिहास लुप्त हो गया।

११. जैन संघ में नन्द राजा के समय फूट पड़ गई इसमें अब दो-दो अध्यक्ष हो गए। ये थे सम्भूति विजय और भद्रबाहु।

१२. जैन संघ के अस्थिर गति होने से इसकी गति को बड़ा धक्का लगा। मगध में बारह वर्षों का घोर अकाल पड़ा। इसके क्षति से संघ की रक्षा के लिए भद्रबाहु संघ को लेकर दक्षिण चला गया और श्रवणबेलगोला में संघ के साथ बस गया। अकाल की समाप्ति पर ये फिर वहाँ से लौटकर उत्तर भारत आए तो संघ का प्रमुख स्थूलभद्र को बनाकर स्वयं नैपाल चला गया। ये भिक्षु जो दक्षिण से पुनः लौटे थे उनकी पकड़ अब यहाँ संघ पर दृढ़ नहीं रही। इसीसे उन्होंने मगध में रहने वाले स्थायी भिक्षुओं को विनय नियमों को तोड़ने वाला तथा कार्य के प्रति अविश्वास रखने वाला कहा। इसका कारण था कि जो दिगम्बर पहले वस्त्र नहीं पहनते थे, अब श्वेतवस्त्र पहनने लगे।

१३. पाटलिपुत्र में चन्द्रगुप्त के मरने के बाद जो सभा बुलाई गई थी उसमें दक्षिण से लौटे भिक्षुओं ने भाग नहीं लिया। इससे विरोध और गहरा हो गया।

१४. धार्मिक साहित्य के ह्रास ने भी इसके पतन में सहयोग दिया। मठघरों ने धर्म के बारह अंग बनाये थे। उसके बारहवें अंग के चौदह पूर्णभाग केवल भद्रबाहु को ही याद था। उनसे संकलित करने के लिए जब भिक्षु नैपाल गए तो उन्होंने केवल १० पूर्व ही बताया और उसी के पालन की अनुमति दिया। दक्षिण भारत से लौटे जैन भिक्षुओं के अपने को धर्मगुरु कहा और यह उद्घोषित किया कि वास्तविक आगम सदा के लिए समाप्त हो गया है।

१५. जैन धर्म का केन्द्र केवल पश्चिम भारत में सीमित रहने से यह शेषभाग से कटने लगा था। अशोक के दूसरे पौत्र सम्प्रति जो इसका आश्रयदाता था। उज्जैन का शासक था। इससे

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

इनका एक केन्द्र उज्जैन बना तथा दूसरे केन्द्र मथुरा बना क्योंकि वहां से प्राप्त लेखों में इस धर्म का या इसके फलने-फूलने का ज्ञान मिलता हैं। महागण छोटी-छोटी शाखाओं, कुल, गण आदि में बंटा था जिससे इसकी एकता को क्षति पहुंची है।

१६. प्रचलित भाषा तब पालि नहीं थी पर जैन ग्रंथों की भाषा प्राकृत थी। इससे भी इसकी व्यापकता को धक्का लगा।

(ख) भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान– भारत के प्राचीनतम धर्मों में जैन धर्म का महत्त्वपूर्ण स्थान है। जैन पुराणों में वर्णित भारत की स्थिति की विवेचना से ज्ञात होता है कि आदि काल से ही जैन धर्म भारतीय संस्कृति को सुसंस्कृत, सुपल्लवित एवं सुपुष्पित करता रहा है। जैन पुराणों में भारत का इतिहास उस समय से आरम्भ होता है जब आधुनिक नागरिक सभ्यता का विकास नहीं हुआ था। उस समय भूमि घास और सघन वृक्षों से भरी हुई थी। भिन्न-भिन्न प्रकार के हिंसक एवं अहिंसक वन्य-पशु स्वतन्त्रतापूर्वक विचरण करते थे। मनुष्य ग्राम व नगरों में नहीं बसते थे और कौटुम्बिक व्यवस्था का भी विकास नहीं हो पाया था। खान-पान, वस्त्र आदि की आवश्यकताएँ वृक्षों से ही पूरी कर ली जाती थी। यह कल्पवृक्ष का काल था। भाई बहन भी पति-पत्नी रूप में रहने लगे थे। इस समय धर्म-साधना, पुण्य-पाप की भावना आदि का कोई विचार या विवेक नहीं था। इस काल को पुराणकारों ने योगभूमि-व्यवस्था कहा है। इस तरह की संस्कृति में सुधार लाने का प्रथम श्रेय जैन धर्म के साधकों एवं तीर्थंकरों को है। अतएव भारतीय संस्कृति को जैन धर्म का महत्त्वपूर्ण निम्न योगदान है –

(१) असभ्य असंस्कृत लोगों को सभ्यता का पाठ पढ़ाना – आदि काल के असभ्य एवं असंस्कृत लोगों को सभ्यता का पाठ पढ़ाने वालों में चौदह कुलकारों एवं त्रेसठ शलाका पुरुषों का विशेष योगदान है। भोगभूमि-व्यवस्था से कर्मभूमि व्यवस्था में युग का विकास करने वाले पुरुषों में चौदह महापुरुषों का विशेष स्थान है। इन लोगों को कुलकर या मनु कहा गया है। इन्होंने क्रमशः अपने-अपने काल में लोगों को हिंस्र पशुओं से अपनी रक्षा करने के उपाय बताये। भूमि व वृक्षों के वैयक्तिक स्वामित्व की सीमाएँ निर्धारित कीं। पशुपालन, बच्चों के पालन-पोषण, प्रकृति के प्रकोपों से रक्षा, निर्माण, कृषि कर्म, व्यापार, उद्योग आदि का पाठ पढ़ाया। इसके चलते यह भूमि, योगभूमि से कर्म भूमि बन गयी। इन चौदह लोगों के बाद जो लोग हुए उन्होंने धर्मोपदेश, चरित्र, अच्छे-बुरे का ज्ञान सिखाया। इन्हें शलाका पुरुष कहा जाता है।

इन त्रेसठ शलाका पुरुषों में चौबीस तीर्थंकर भी सम्मिलित थे। अतः सांस्कृतिक उन्नयन में चौबीस तीर्थंकरों का विशेष स्थान है। इन तीर्थंकरों ने समय-समय पर भारतीयों को अपने विचार और ज्ञान के प्रचार द्वारा मोक्ष का मार्ग बताया।

जैन धर्म और भारतीय संस्कृति के विकास के साथ जैन धर्म की प्राचीनता भी सिद्ध होती है। वेदों की रचना के काल के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। कुछ लोगों ने उसे ५००० वर्ष व इससे भी अधिक पूर्व का रचित माना है। आधुनिक पाश्चात्य व भारतीय विद्वान इसका रचनाकाल १५०० ई० पू० के लगभग मानते हैं। सबसे प्राचीन ग्रन्थ ऋग्वेद की ऋचाओं में वातरसना मुनियों तथा केशी ऋषभदेव का उल्लेख है। अतः इनके उल्लेखों से स्पष्ट होता है कि

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

जैन धर्म १५०० ई॰ पू॰ में प्रचलित था। इसलिए भारतीय संस्कृति के विकास में जैन धर्म एक प्रमुख सांस्कृतिक स्रोत रहा है। भारतीय संस्कृति में अवतारवाद पर विश्वास है। ऋषभदेव, एक जैन तीर्थंकर थे किन्तु इनकी मान्यता एवं पूज्यता के सम्बन्ध में जैन एवं हिन्दुओं में मतभेद नहीं है। जैसे वे जैनियों के आदि तीर्थंकर हैं उसी प्रकार वे हिन्दुओं के लिए साक्षात् विष्णु के अवतार हैं। उनके ईश्वरावतार होने की बात शिवपुराण में भी वर्णित है।

(२) व्यापक सांस्कृतिक दृष्टिकोण– जैन धर्म ने भारतीय संस्कृति को व्यापक दृष्टिकोण अपनाने का योगदान दिया। यों तो भारतीय संस्कृति का दृष्टिकोण अत्यन्त व्यापक और वसुधैव कुटुम्बकम् का है पर जैन धर्म का भी दृष्टिकोण अत्यन्त व्यापक है। इसकी दृष्टि ने उदारता की सीमा को स्पर्श कर दिया है। जैन धर्म अपनी विचार व जीवन सवन्धी व्यवस्थाओं के विकास में कभी किसी संकुचित दृष्टिकोण का शिकार नहीं बना। उसकी भूमिका राष्ट्रीय दृष्टि से सदैव उदार और उदात्त रही है। उसका यदि कभी कहीं अन्य धर्मों से संघर्ष हुआ है तो केवल इसी उदार नीति की रक्षा के लिए होना प्रतीत होता है। जैनियों ने अपने देश के मात्र किसी एक भाग को भी अपनी भक्ति का विषय नहीं बनने दिया। यदि जैन धर्म के अंतिम तीर्थंकर भगवान महावीर विदेह (उत्तर विहार) में पैदा हुए थे, तो उन्होंने अपने उपदेश एवं निर्वाण का क्षेत्र बनाया भारत के पश्चिमी प्रदेश काठियावाड़ को। सबसे प्रथम तीर्थंकर आदिनाथ का जन्म हुआ अयोध्या में और तपस्या करने गए कैलाश पर्वत पर। इस प्रकार जैनियों की पवित्र भूमि का विस्तार उत्तर में हिमालय, पूर्व में मगध और पश्चिम में काटियावाड़ तक था। इस क्षेत्र के प्रत्येक भाग को जैन आचार्यों ने अपनी श्रद्धा और भक्ति का आधार बनाया। जैनी न तो प्रचार के लिए और न तपस्या के लिए देश के बाहर कभी गए। दुर्भिक्ष के दिनों में भी वे इस के बाहर न जाकर उत्तर से दक्षिण भारत में रहे। तमिल के सुदूरवर्ती प्रदेश में भी उनके अनेक बड़े-बड़े आचार्य हुए जिन्होंने ग्रन्थों की रचना की। दक्षिण भारत के अनेक स्थानों पर उनके जैन मन्दिरों के ध्वंसावशेष आज भी इसकी पुष्टि कर रहे हैं।

(३) लोक भावनाओं के विकास में योगदान– जैन धर्म में लोकभावनाओं को उपेक्षित नहीं किया गया। जैनियों ने लोक भावनाओं के सम्बन्ध में भी अपनी वही उदार नीति रखी है। उनकी यह नीति भाषा के प्रश्न से भी स्पष्ट हो जाएगी। वैदिक परम्परा में संस्कृत भाषा का बड़ा आदर रहा है और इसे देवभाषा मानकर सैदव उसी में साहित्य की रचना की गयी है। किन्तु भिन्न प्रदेशीय लोक-भाषाओं का उसमें कोई प्रतिनिधित्व नहीं हो पाया। बुद्ध ने लोक भाषा को अपनाया अवश्य किन्तु वे भी पालि भाषा के मोह में पड़ गए। जैन धर्म के चौबीसवें तीर्थंकर महावीर ने लोकोपकार की भावना से उस समय की सुवोधवाणी अर्द्धमागधी का उपयोग किया। उनके गणधरों ने भी इसी भाषा में उपदेश का संकलन किया। जैन आचार्य जहाँ-जहाँ उपदेश देने गए वहाँ की लोक-भाषा में उन्होंने उपदेश दिया। इसकी पुष्टि जैन साहित्य के द्वारा शौरसेनी, महाराष्ट्री, अपभ्रंश, प्राकृत भाषाओं के पूर्ण प्रतिनिधित्व से भी होती है। हिन्दी, गुजराती आदि आधुनिक भाषाओं का प्राचीन साहित्य जैनियों का ही मिलता है। दक्षिण भारत की तमिल, कन्नड़ भाषाओं को भी साहित्य में उतारने का श्रेय जैनियों को ही है। जैन धर्म में कभी भी एक प्रान्तीय भाषा का पक्षपात नहीं किया गया।

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

धार्मिक लोक-मान्यताओं की भी जैन धर्म में उपेक्षा नहीं की गयी, किन्तु उनका आदर करते हुए उन्हें विधिवत अपनी परम्परा में यथास्थान सम्मिलित कर लिया गया है। राम, लक्ष्मण, कृष्ण तथा बलदेव के प्रति जनता का सदा पूज्य भाव रहा है व उन्हें अवतारीपुरुष माना गया है। जैन तीर्थंकरों के साथ-साथ इन्हें भी त्रेसठ शलाका पुरुषों में सम्मानित स्थान देकर जैन पुराणों में उनके जीवन चरित्र का वर्णन किया गया है।

(४) कलाकृतियों के क्षेत्र में योगदान– कला के क्षेत्र में भी जैनधर्म का योगदान महत्त्वपूर्ण है। जैन कला-कृतियों का ध्येय जीवन का उत्कर्ष रहा है। जैन कलाकार कभी भी प्रकृति के यथार्थ चित्रण मात्र से संतुष्ट नहीं हुआ। उसका सदैव यह प्रयत्न रहा कि उसकी कलाकृति के द्वारा मनुष्य की भावना का परिष्कार तथा उत्कर्षण हो। उसकी कृति में कुछ न कुछ व कहीं न कहीं धर्म एवं नीति का उपदेश छुपा या प्रकट रहता ही है। प्राचीनतम जैन आगमों में बालकों को उनके शिक्षण-कला में शिल्पों और कलाओं की शिक्षा पर जोर दिया गया है और उन्हें सिखाने वाले कलाचार्यों का अलग-अलग उल्लेख मिलता है। भारत के अनेक स्थानों पर मन्दिरों में सुरक्षित मूर्तियाँ आज भी जैन कलाकृति के गौरवशाली उदाहरण हैं। दक्षिण भारत के कर्नाटक प्रान्त के श्रावणबेलगोला तथा कारकल से प्राप्त बाहुबली की विशाल कलापूर्ण मूर्तियाँ आज भी देश की सांस्कृतिक धरोहर के रूप में सुरक्षित हैं तथा इस देश के गौरव को बढ़ा रही हैं। इसके अतिरिक्त गुफाओं, स्तूपों, मन्द्रिरों, मूर्तियों तथा चित्रों आदि ललित कला के प्रकारों द्वारा भी जैन धर्म ने केवल लोक का आध्यात्मिक और नैतिक स्तर उठाने का ही प्रयत्न नहीं किया वरन् समस्त देश के भिन्न-भिन्न भागों को कला से सजाया है। इनके दर्शन से हृदय विशुद्ध एवं आनन्द विभोर हो जाता है। भारतीय संस्कृति की निधि एलोरा की गुफाओं में जैन गुफायें अत्यन्त सुन्दर हैं। इनमें छोटा कैलाश, इन्द्रसभा, जगन्नाथसभा देखने योग्य है। इनमें गोमतेश्वर की सुन्दर एवं भव्य मूर्तियां बनी हैं। ये मूर्तियां उनकी ध्यानावस्थित मुद्रा की प्रतीक हैं क्योंकि उनके पैरों में लतायें लिपटी हुई दिखायी गई हैं। ये इतने ध्यानमग्न हो गये हैं कि उन्हें अपने पैरों में लताओं के लिपटने का तनिक भी ध्यान न रहा। इसी प्रकार स्तूप वाला आयागपट, मथुरा का जिन मूर्तियुक्त अयागपट, दुमंजिली सनी गुम्फा, उदयपुर के रानी गुम्फा के तोरणद्वार पर त्रिरथ एवं अशोक वृक्ष, रानी गुम्फा का भित्तिचित्र, इसका विन्यास व स्तम्भ, खजुराहो के पार्श्वनाथ मंदिर के भित्तिचित्र, सोनागिरि के जैन मंदिर, आबू का जैन मंदिर, लोहानीपुर की मस्तक विहीन जिन मूर्ति, सिंधु घाटी की नंगी जिनमूर्ति (?) ऋषभ की खंगासन में धातु प्रतिमा, तेरापुर गुफा में पद्मासन में पार्श्वनाथ, देवगढ़ की पद्मासन में जिन मूर्ति प्रतिमा, पार्श्वनाथ की पद्मासन मूर्ति, बाहुबली की प्रतिमायें भारतीय संस्कृति के अक्षय सौन्दर्य कोश हैं।

(५) अहिंसात्मक भावनाओं की वृद्धि में योगदान- भोग-भूमि व्यवस्था के बाद कर्मभूमि व्यवस्था में जैन साधकों ने अहिंसात्मक भावनाओं का बीजारोपण किया। जीव-जगत में एक मर्यादा तक अहिंसा की प्रवृत्ति स्वाभाविक है। भारतीय सामाजिक जीवन में श्रमण परम्परा एवं वैदिक परम्परा में अहिंसा की नीति को लेकर सदैव विरोध रहा। धार्मिक विधियों में नरबलि की प्रथा पहले मन्द पड़ गयी थी किन्तु पशुबलि यज्ञ क्रियाओं का एक सामान्य अंग बना रहा। इसका श्रमण साधु सदैव विरोध करते रहे। आगे चलकर श्रमणों के दो विभाग जैन एवं बौद्ध हुए।

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

उन दोनों ने अहिंसा के सिद्धान्त पर जोर दिया। जैन धर्म अहिंसा की भावना का प्रथम उद्घोषक है। इस धर्म ने अहिंसा के पर अधिकाधिक जोर दिया। संसार में अनन्त प्राणी हैं और सब में जीव विद्यमान है, सबमें परमात्मा को प्राप्त करने की योग्यता है1 अतएव वे इनकी हिंसा पर निरोध लगाते हैं। यही कारण है कि जैन धर्म परम अहिंसावादी है। पृथ्वीकाय, जलकाय, वायुकाय, अग्निकाय, वनस्पतिकाय, और त्रास जीव (चलने फिरने वाले) इन छः प्रकार के जीवन के प्रति संयमपूर्ण व्यवहार ही जैनधर्म में अहिंसा कहा गया है। जैन धर्म ने अहिंसा के इस उपदेश से भारतीय संस्कृति में पशुओं के द्वारा होने वाले योगदान को प्रोत्साहित किया। हिंसात्मक भावनाओं को प्रेरणा न मिली तथा मानव-मानव में प्रेम का भाव बढ़ गया।

(६) भारतीय दर्शनों का तत्त्व चिन्तन में योगदान- वेदान्त दर्शन में केवल एक चिदात्मक तत्त्व ही स्वीकार किया गया है, जिसे ब्रह्म कहा गया है और शेष दृश्यमान जगत् के पदार्थों को असत् व माया जाल रूप बतलाया गया है। एक अन्य दर्शन में केवल भौतिक तत्त्वो की सत्ता ही स्वीकार की गई है और उन्हीं के मेल-जोल से चैतन्यगुण की उत्पत्ति मानी गयी है। इस मत को चार्वाक दर्शन कहा गया है। जैन दर्शन जीव और अजीव रूप में से दोनो तत्त्वों को स्वीकार करता है। उसमें मौलिक तत्त्व एक नहीं किन्तु छह द्रव्यों को माना गया है। द्रव्य वह है जिसमें सत्ता गुण हो। सत्ता स्वयं त्रिगुणात्मक है। इसके तीन गुण हैं उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य। तात्पर्य यह कि न तो वेदान्त में द्रव्यों की पूरी सत्ता का निरूपण किया जाता है और न चार्वाक दर्शन में। द्रव्यों में वेदान्त सम्मत कूटस्थ नित्यता भी सिद्ध नहीं होती और न बौद्ध सिद्धान्त की क्षण-ध्वंसता मात्र। संसार में चैतन्य गुणयुक्त आत्मतत्त्व भी है और चैतन्य हीन मूर्तिमान, भौतिक पदार्थ तथा अमूर्तिक काल, आकाश आदि तत्त्व भी। ये सभी द्रव्य गुण पर्यायात्मक हैं। अपनी गुणात्मक अवस्था के कारण उनमें उत्पत्ति-विनाश रूप अवस्थायें भी विद्यमान हैं। जैन धर्म के इस दार्शनिक तत्त्वज्ञान में ही उसकी व्यापक दृष्टि पायी जाती है। इसी व्यापक दृष्टि से वस्तु विचार के लिए उसने अपना स्याद्वाद व अनेकान्त रूप न्याय स्थापित किया है। इस प्रकार जैन धर्म ने एक तत्त्व चिन्तन की शैली भारतीय दर्शन को दी। जैन धर्म की इन योग्यताओं से हमारी संस्कृति समृद्ध हुई जिसके अध्ययन के बिना भारतीय संस्कृति का अध्ययन अपूर्ण रह जाता है।

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

अध्याय-१५

बौद्ध धर्म एवं दर्शन

(अ) बौद्ध धर्म

बौद्ध धर्म भारत का ही नहीं अपितु विश्व के मान्य धर्मों में एक है। बौद्ध धर्म की उत्पत्ति आकस्मिक नहीं बल्कि वैदिक युग से अब तक के पूँजीभूत विश्वासों के सत्यान्वेषण का प्रतिफल था। यह धर्म ऐसे काल में उद्भूत हुआ जिसमें मनुष्य की जिज्ञासा युग पुरातन के संचित विश्वासों के आवरण को चीर कर प्रत्येक वस्तु की वास्तविकता को देखना चाहती थी। मनुष्य की उद्भूत तर्क शीलता एवं सत्यान्वेषी दृष्टि के समक्ष अन्धविश्वास की प्राचीनता काँप रही थी, कर्मकाण्ड की विशाल दीवारें जर्जरित हो रही थीं और अन्धविश्वासों पर संरोपित पुरातन मान्यतायें अब मानव के सम्मुख निराश सी दिखायी देने लगी थी। यह सत्य है कि बौद्ध धर्म ब्राह्मण धर्म के घोर कर्मकाण्ड की बलवती प्रतिक्रिया थी। लेकिन वास्तव में इसका एक नहीं कई कारण थे।

बौद्ध धर्म की उत्पत्ति के कारण

१. आर्य-अनार्य विचारधाराओं का संघर्ष– आर्य एवं अनार्य विचारधाराओं का संघर्ष बौद्ध धर्म की उत्पत्ति में सर्वप्रथम उत्तरदायी लगता है। आर्य सभ्यता ऋग्वैदिक काल से ही नितान्त प्रवृत्तिमार्गी थी। संसार त्याग, वैराग्य अथवा काया-क्लेश के सिद्धान्त के लिए उसमें कोई स्थान न था जबकि अनार्य सभ्यता निवृत्ति मूलक थी। इन दोनों का सम्पर्क एवं संघर्ष हुआ। दीर्घ कालीन संघर्ष एवं सहवास के परिणामस्वरूप एक विचारधारा बहुत प्राचीन काल से भीतर ही भीतर वृत्तिमूलक आर्य संस्कृति का विरोध कर रही थी। इस संघर्ष का सबसे प्रबल केन्द्र बना मगध जो ई.पू. छठी शताब्दी तक पूर्ण रूप से आर्य संस्कृति के प्रभाव में न आ सका था। अतः इसी प्रदेश में वैदिक आर्य धर्म के विरुद्ध विद्रोह हुआ और यह विद्रोह निवृत्ति मूलक था। जैन और बौद्ध धर्म ही प्राचीन ब्राह्मण धर्म की प्रवृत्ति-मूलक प्रधानता की विरोधी थी। बौद्ध धर्म की निवृत्तिपरायणता अनार्य धर्म का ही प्रच्छन्न प्रभाव था।

२. ब्राह्मण-क्षत्रिय-संघर्ष– अपने साधनामय जीवन और ज्ञान के कारण वैदिक काल में ब्राह्मण वर्ण की सर्वोपरि मान्यता समाज में स्थापित थी। वह समाज का मस्तिष्क था और पठन-पाठन तथा यजन-याजन के द्वारा समाज की बौद्धिक एवं धार्मिक आवश्यकताओं की पूर्ति करता था। इन्हीं उदात्त कर्मों के कारण उसे सम्पूर्ण समाज अनन्य श्रद्धा-भक्ति और दया-दान का

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

अधिकारी समझता था। द्वितीय वर्ग क्षत्रियों का था जो शासक थे। वह समाज का रक्षक था किन्तु उसे ब्राह्मणों की तरह प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं थी। उन्हें ब्राह्मणों की यह प्रतिष्ठा खटकने लगी। एक समय ऐसा आया जब इन दोनों वर्णों के बीच संघर्ष की ज्वाला प्रदीप्त हो उठी। क्षत्रियों ने जमकर ब्राह्मणों का विरोध किया। पुरोहित और ब्राह्मणों की वरिष्ठता को इस संक्रमण काल में बड़ा धक्का लगा। उनके दुरूह एवं व्यय साध्य याज्ञिक अनुष्ठानों से जनता का एक बहुत बड़ा भाग भी क्षत्रियों के साथ था। इन ब्राह्मण विराधियों ने अब नवीन धर्मों का बीजारोपण किया। ब्राह्मणों से ऊबे वर्ग ने इन धर्मों को प्रोत्साहन दिया। ये धर्म संयोग से दोनों प्रचारक क्षत्रिय थे। इस प्रकार इन धर्मों के उत्कर्ष में ब्राह्मण-क्षत्रिय संघर्ष विशेष साधक रहा।

३. ब्राह्मणों का नैतिक पतन– प्राचीन काल से ही साधनामय जीवन एवं पवित्र कर्मों के फलस्वरूप ब्राह्मणों को समाज में उच्च पद प्राप्त था किन्तु वे अपने इस पद की प्रतिष्ठा सम्हाल न सके। वे अच्छे कर्मों को छोड़कर बुरे कर्मों की ओर झुक गये। वे साधनामय एवं आध्यात्मिक जीवन को छोड़कर भौतिकता एवं लोकिकता के प्रवाह में डूब गये। उनमें भोग-विलास का अंधकार धर करने लगा। इनके इस पतन को देखकर समाज उनके प्रतिष्ठित पद को घृणा की दृष्टि से देखने लगा। समाज में उनके खिलाफ क्षोभ व्याप्त हो गया। ऐसी परिस्थिति में ब्राह्मणों के सिद्धान्तों के खिलाफ क्रान्ति होना स्वाभाविक था।

४. भारत की स्वतंत्र चिन्तनशीलता– भारत की स्वतंत्र चिन्तनशीलता ने प्रत्येक युग में पनपने वाली बुराईयों को समूल नष्ट किया था। वैदिक यज्ञ व्ययसाध्य और हिंसा प्रधान थे। कर्मकाण्डों का आडम्बर आकाश छू रहा था। अत: वैदिक कर्मकाण्ड और जीव हिंसा के विरुद्ध जो विचारधारा इस काल में पनपी उसने समाज को अत्यधिक प्रभावित किया। कर्मकाण्ड की जटिलता के स्थान पर अब ब्रह्म की उपासना, उपनिषदों के आत्मा-परमात्मा जैसे गूढ़ विषयों का चिन्तन समाज के विचारशील व्यक्तियों को अधिक मान्य हुआ। अब अध्यातिमक चिन्तन के क्षेत्र में लोग अग्रसर हुए। यहाँ तक कि वे ब्राह्मण जो तत्त्व ज्ञान की शिक्षा देते थे उनका चिन्तन काँप उठा।

५. धार्मिक असंतोष– ई.पू. छटी शताब्दी तक आते-आते समाज के एक बड़े भाग में ब्राह्मण धर्म के विरोध में घोर असंतोष फैल गया था। उस समय तक ब्राह्मण धर्म अपनी पूर्व वैदिक कालीन सरलता छोड़कर नितान्त जटिल एवं यांत्रिक बन गया था। उसमें शुद्ध आधार अथवा आत्म निवेदन के स्थान पर कर्मकाण्ड की अधिकता थी। कर्मकाण्ड की क्रियाएँ इतनी जटिल थीं कि उन्हें सम्पादित करने के लिए पुरोहित वर्ग की आवश्यकता अनिवार्य हो गई। इस प्रकार आराधक और आराध्य का सम्बन्ध प्रत्यक्ष नहीं रह गया। उनके बीच में पुरोहितों की मध्यस्थता आ गई। बहुधा अपनी आस्था और कभी-कभी अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए इस वर्ग के प्रति समाज में जो धार्मिक मान्यताएँ स्थापित थी उन्हें समाज का एक बड़ा भाग असत्य और अनिष्टकर समझता था। ब्राह्मण धर्म के विरुद्ध व्याप्त असंतोष निम्न क्षेत्रों में थे-

(i) वेदवाद– वेद ब्राह्मण धर्म की आधारशिला थे। ब्राह्मणों की दृष्टि में ये सम्पूर्ण मानवी-ज्ञान के अक्षय आगार थे। इन्हीं से उनकी सारी मान्यताएँ निकली थी। उनके सभी ग्रन्थ इन्हीं वेदों पर आधारित थे। उनकी दृष्टि में वेद, अपौरुषेय, अनादि तथा पूर्ण थे, वे ईश्वरप्रदत्त

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

अथवा ईश्वर के मुख से निकलते थे। तात्विक दृष्टि से ब्राह्मणों के उपर्युक्त विचार में कोई दोष नहीं था। वेद का अर्थ ज्ञान है और ज्ञान परम सत्ता की भाँति ही अनादि, अक्षय और पूर्ण होता है। किन्तु समाज में एक ऐसा वर्ग उत्पन्न हुआ जो वेदों की पूर्ण अथवा उनके द्रष्टा ऋषियों को सर्वज्ञ मानने के लिए तैयार न था। उनकी दृष्टि में वैदिक ज्ञान भी सीमित और त्रुटिपूर्ण था। एकमात्र वेदों में आस्था और मन्त्र पाठ मानवी उत्कर्ष के लिए पर्याप्त न था। अतएव इनके विरुद्ध विद्रोह आवश्यक था। महात्मा बुद्ध का कहना था कि तृष्णा और वासना के अन्त होने पर मानव निर्वाण प्राप्त कर सकता है। इसकी प्राप्ति के लिए महात्मा बुद्ध ने वैदिक कर्मकाण्डों एवं वेदों को अस्वीकार किया तथा अष्टांगिक मार्ग को प्रतिपादित किया।

"Budha refused to allow the Vedas any independent authority, whatever, and he constituted the fundamental difference between the two philosophies."

(ii) बहुदेववाद– श्रमण धर्म के पूर्व भारत में बहुदेववाद का प्रचलन था। ब्राह्मण धर्म नितान्त दैवतमय था। उसमें बहुसंख्यक देवी-देवताओं की प्रतिष्ठा हो चुकी थी। सृष्टि का कोई ऐसा भाग नहीं था जिसकी अधिष्ठात्री कोई न कोई देवी अथवा देवता न हो। मनुष्य के बाह्य एवं आन्तरिक जगत् सभी देवाच्छन्न थे। इनमें कुछ देवता प्रकृति की, कुछ वानस्पतिक जगत् की, कुछ पार्श्वजगत् की भिन्न-भिन्न शक्तियों के रूप थे, कुछ अतिमानव और दैवीकृत मानव थे तथा कुछ मनुष्य की मानसिक प्रवृत्तियों के साकार स्वरूप थे। बौद्ध एवं जैन ग्रन्थों के अतिरिक्त उस समय की ब्राह्मण ग्रन्थों में बहुदेववाद का स्पष्ट चित्रण समक्ष उभर आता है तथा एक के बाद एक देवता के प्रतिष्ठा स्थापित होती जाती है अब शंका होने लगी कि कौन सर्वशक्तिमान एवं सर्वश्रेष्ठ है। इन देवताओं की प्रसन्नता हेतु जनता अनेक प्रकार के यज्ञ, होम, उपासना, आराधना, जप-तप आदि करती थी। ब्राह्मण धर्म प्रमुखतया लौकिक एवं कर्मकाण्डीय बन गया था। अतः उसमें यह बहुदेववाद अधिक प्रचलित था।

ऋग्वैदिक काल में ही आर्यों ने एकेश्वरवाद के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के नाना रूपों के भीतर वे एक अखण्ड सत्ता का अस्तित्व स्वीकार करते थे किन्तु इतना होते हुए भी समाज में एकेश्वरवाद का सिद्धान्त कभी भी लोकप्रिय न हो सका। सामान्य जनता जहाँ बहुदेववाद में अपनी आस्था बनाये रखी वहीं चिन्तनशील वर्ग अति प्राचीन काल से ही बहुदेववाद की निस्सारता का प्रतिपादन करता था। उपनिषद् कालीन ऋषियों ने यह घोषणा की थी कि जब ब्रह्म की अवधारणा व्याप्त है तो फिर विभिन्न देवी-देवताओं की उपासना व्यर्थ है।

समाज का एक ऐसा वर्ग था जो मानव की स्वतंत्र गरिमा की स्थापना का पक्षपाती था। वह मनुष्य को बहुसंख्यक देवी-देवताओं की अधीनता से मुक्त करना चाहता था। उसका विचार था कि विशुद्ध मानव देवता के ऊपर है। ऐसी ही परिस्थितियों में महात्मा बुद्ध का प्रादुर्भाव हुआ। वे सत्ता सम्बन्धी प्रश्नों पर विचार नहीं किये तथापि ब्राह्मण धर्म में प्रतिपादित बहुदेववाद को मानवी उत्कर्ष के लिए निरर्थक बताये। अतएव समाज के ऐसे वर्ग के लोग जो बहुदेववाद से ऊब चुके थे इस प्रतिक्रियात्मक बौद्ध-धर्म के उत्कर्ष में अपना पूर्ण सहयोग दिया।

(iii) यज्ञवाद– यजन-याजन ब्राह्मण धर्म का एक प्रमुख अंग था। ब्राह्मणों की दृष्टि में यही श्रेय एवं अभीष्ट दाता था। अपने अनेक देवी-देवताओं की संतुष्टि के लिए ब्राह्मण

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

धर्म में जिन यज्ञों, होमों, एवं धार्मिक क्रियाओं की कल्पना की गई थी उसने सम्पूर्ण धर्म को कर्मकाण्ड एवं यज्ञवादी बना दिया। यज्ञ का आरम्भिक रूप जटिल न था। ऋत्विक के द्वारा देवता के स्तुतिपरक मन्त्र पढ़े जाते थे और धान्य अथवा गोरस से निर्मित अन्न, पशु अथवा सोमरस अर्पित किये जाते थे। जिसकी पुष्टि निम्न श्लोक से होती है-

यदन्नः पुरुषो लोके तदन्नास्तस्य देवताः।

किन्तु ब्राह्मणों ने यज्ञ प्रथा को अतिजटिल बना दिया एवं सम्पूर्ण धर्म को कर्मकाण्डमय कर दिया। कर्मकाण्ड के कारण समाज में एक प्रबल पौरोहित्य व्यवस्था को जन्म दिया। शतपथ ब्राह्मण (२.२.२.६; २.४.३.१४) से ज्ञात होता है कि पुरोहितों की महत्ता इतनी बढ़ी कि वे भी देवताओं के समान समझे जाने लगे। यज्ञों की संख्या एवं जटिलता में विपुल वृद्धि हुई। यज्ञ में भाग लेने वाले एक पुरोहित के स्थान पर सात तथा फिर सत्रह पुरोहित लगने लगे। होतृ और उसके तीन सहायक-उदगातृ और उसके तीन सहायक-अध्वर्यु और उसके तीन सहायक ब्राह्मण और उसके भी तीन सहायक तथा ऋत्विक इन सत्रह-सत्रह व्यक्तियों के द्वारा किये जाने वाले यज्ञ कितने जटिल दीर्घ कालीन और अपव्ययात्मक होते होंगे, इसका सहज अनुमान इससे लगाया जा सकता है कि कोई-कोई यज्ञ कई वर्षों तक चलते रहते थे। ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ, मनुष्ययज्ञ, पितृयज्ञ नामक पंचमहायज्ञों के अतिरिक्त अग्न्याधेय दर्शपूर्ण मास, पिण्डपितृयज्ञ, चातुर्मास्य, वैश्वदेव आदि अनेक यज्ञ प्रचलित थे। यज्ञों के साथ-साथ नाना प्रकार के होम, तर्पण एवं धार्मिक क्रियायें भी जुड़ी थीं। बौद्ध साहित्य में भी अग्नि, हवन, दर्वीहोम, तुषहोम, कजहोम, तण्डुलहोम, घृतहोम, मुख में घी लेकर कुल्ले से होम और रुधिर होम के उल्लेख मिलते हैं। इन वर्णनों से स्पष्ट होता है कि ई.पू. छठी शताब्दी तक आते-आते ब्राह्मण धर्मावलम्बी ऋग्वैदिक यज्ञों की सरलता, शुभ्रता और उदारता को छोड़ चुके थे। ऐसी परिस्थिति में बौद्ध धर्मावलम्बियों के उत्कर्ष में ऐसे यज्ञों से ऊबे हुए लोगों ने काफी सहयोग दिया।

इस प्रकार ई. पू. छठीं शताब्दी में ब्राह्मण धर्म के कर्मकाण्डों की बढ़ती पकड़ से समाज का एक बड़ा वर्ग ऊब चुका था तथा वह उत्सुकता से ऐसे धर्म प्रचारक की प्रतीक्षा में था जो उन्हें इन कर्मकाण्डों के जाल से मुक्त करा सके। ऐसी ही परिस्थिति में महात्मा बुद्ध ने बौद्ध धर्म का प्रसार किया जो ऐसे वर्ग को संतुष्ट करने में पूर्ण सक्षम था। अतएव उसके विकास में इस वर्ग से काफी सहायता मिली।

(६) यक्ष यक्षिणियाँ एवं गन्धर्वों की पूजा– बौद्ध धर्म की उत्पत्ति के पूर्व एवं उसके समसामयिक काल में भारतीय समाज में बहुदेववाद के अतिरिक्त यक्ष, यक्षिणियों एवं गन्धर्वों की पूजा प्रचलित थी। भारतीय समाज में सदैव अनेक सांस्कृतिक स्तर संग्रहीत रहे हैं तथा उसके अनुरूप धार्मिक निष्ठा भी रही है। भगवद्गीता में कहा गया है-

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः।।

यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः।
प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः।।[१]

---

१. भगवद्गीता- १७, ३-४

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

डॉ. पाण्डेय का मत है कि देवपूजा वैदिक थी जिसे यहाँ सात्विक कही गयी है। यक्ष-पूजा जिसे यहाँ राजस कहा गया है, साधारण जनता में सुप्रचलित थी। यक्ष-पूजा ने समाज में अनेक प्रकार के अंधविश्वासों को उत्पन्न कर दिया था। यक्ष शब्द प्राय: देवता के समान ही अर्थ रखता था और यक्ष-पूजा को अनेकांश मे आर्य-धर्म के प्रचलित परिवर्तन एवं परिवर्तित रूप में माना जा सकता है। यक्षों को अलौकिक सत्त्व माना जाता था जो प्राय: वृक्षों में निवास करते थे और प्रसन्न होने पर नाना सांसारिक कामनाओं की पूर्ति का वर देते थे। वे प्राय: स्थान देवता अथवा कुल देवता के रूप में प्रतिष्ठित थे। यम और शुक्र के साथ उनका विशेष सम्बन्ध था। कभी वे अनिष्टकारी भी हो सकते थे तथा आवेष का कारण भी बन जाते थे। यक्षिणियों में अप्सराओं का सादृश्य देखा जा सकता है जो कभी पुरुषों को प्रलोभित करती मिलती हैं। कुछ यक्ष बाद में ब्राह्मण एवं बौद्ध धर्म में देवताओं में रूपान्तरित पाये जाते हैं तथा उनका प्रभाव कुछ अंशों में प्रतिमा-विधान की परम्परा तथा तांत्रिक पद्धतियों पर देखने को मिलता है।

यक्षों की पूजा के अतिरिक्त अनेक प्रकार के भूत-प्रेत, प्रेतात्माओं, पशुओं की तामसिक पूजा के साथ-साथ किन्नर एवं गन्धर्वों की भी पूजा समाज में प्रचलित थी। इनमें से इन्द्र, स्कन्द, रुद्र, मुकुन्द, यक्ष, प्रेत, नाग आदि के अनेक उत्सव मनाये जाते थे तथा इन अवसरों पर ब्राह्मणों, श्रमणों, दरिद्रों, भिखारियों आदि को दान दिया जाता तथा खिलाया जाता था। इन उत्सवों में जन-संमर्द और मद्यपान सुप्रचलित थे।

(७) श्रमण-मुण्डकों का योगदान– बौद्ध धर्म की उत्पत्ति के पूर्व भारतीय समाज में श्रमण-मुण्डकों एवं मुनि-श्रमणों का उपदेश भी लोगों के बीच आदर्श उपस्थित कर रहा था। साधनामय जीवन को ठुकरा कर भोग-विलास एवं लौकिकता के प्रवाह में डूबे हुए ब्राह्मणों के आध्यात्मिक उपदेश एवं दर्शन चिन्तनशील वर्गों के बीच अमान्य सिद्ध होते जा रहे थे तथा भोग-विलास एवं लौकिकता के प्रवाह से दूर रहने वाले श्रमण-मुण्डकों एवं मुनि-श्रमणों के निवृत्तिमूलक उपदेश एवं दर्शन को मान्य ठहराया जा रहा था। ब्राह्मणों का प्रवृत्तिमूलक उपदेश अग्राह्य होता जा रहा था। अतएव ब्राह्मण धर्म के प्रवृत्तिवादी, दैववादी, ऐहिक और आकस्मिक सुख तथा यज्ञात्मक कर्मप्रधान साधनावादी दृष्टिकोण के खिलाफ समाज में एक बहुत बड़ा वर्ग तैयार हो गया जो श्रमण-मुण्डकों एवं मुनि-श्रमणों के ब्रह्मचर्य, तपस्या, योग आदि निवृत्तिपरक क्रियाओं को उपादेय समझने लगा था। इस तरह के वातावरण तैयार करने में इन श्रमण-मुण्डकों एवं मुनि-श्रमणों का काफी योगदान था।

इन छोटे-बड़े अनेक कारणों से ई.पू. छठी शताब्दी में धार्मिक क्रान्ति हुई जिसके बीज ब्राह्मण ग्रन्थों में ही विद्यमान थे। आरण्यक वासी मनीषियों ने अपने आत्मचिन्तन से उन बीजों को अंकुरित किया। कालान्तर में औपनिषद् काल की महनीय तत्त्व जिज्ञासा ने उन अंकुरों को पल्लवित करना भी प्रारम्भ कर दिया था। इस प्रकार उपनिषद् काल ने ई.पू. छठी शताब्दी की धार्मिक क्रान्ति के आगमन हेतु पहले से ही मार्ग प्रशस्त कर दिया था। उन्हीं पुरातन तन्तुओं को अपनी बुद्धि एवं आवश्यकता के अनुसार परिगृहीत, संशोधित, संवर्धित एवं परिव्यक्त कर नवीन धर्माचार्यों ने अपने-अपने मतों का ताना-बाना तैयार किया जिसकी परिणति बौद्ध धर्म उसके अंग

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

के रूप में सामने आई। इसकी पुष्टि डॉ. राधाकृष्णन के इस कथन से होती है- "The code of duties of the Upanishads and early Buddhism are not different in essentials."[f]

इन विविध कारणों से संत्रस्त जनमानस के समक्ष एक नवीन धर्म की आवश्यकता थी जो जनमानस को ब्राह्मण धर्म के जटिल कर्मकाण्डों एवं यज्ञों के जाल से मुक्ति दिलाकर सरल एवं मुक्त जीवन प्रदान कर सके। ऐसे ही समय में महात्मा बुद्ध ने अपना मध्यम मार्ग वाला धर्म प्रतिपादित किया जिससे समाज के क्षुब्ध एवं चिन्तनशील वर्ग का भी सहारा मिला। अतएव बौद्ध धर्म भारत में ही नहीं वरन् विदेशों में भी प्रसारित हुआ।

महात्मा बुद्ध का जीवन

ई. पू. छठी शताब्दी में धार्मिक कर्मकाण्डों, यज्ञवाद, बहुदेववाद के जाल एवं प्रवृत्तिवादी तथा दैवतवादी दृष्टिकोण से संत्रस्त जनमानस को मुक्ति दिलाकर सरल, निवृत्तिमार्गी तथा मध्यममार्गी आध्यात्मिक पथ एवं चिन्तन की ओर प्रवृत्त करने वाले थे। सिद्धार्थ जो पीछे महात्मा बुद्ध कहलाये। ई.पू. ५६३ में शाक्य गणराज्य की राजधानी कपिलवस्तु, उत्तर प्रदेश के आज का सिद्धार्थ नगर जनपद जो पहले बस्ती जिले का तिलौराकोट था, के निकट नेपाल की तराई में लुम्बनी, आज का रुमिन देई, के वन में सिद्धार्थ ने जन्म ग्रहण किया। यहाँ पर अशोक का एक लघु स्तम्भ लेख मिला है जिसमें लिखा है 'हिद बुद्धे जातेति' (यहीं बुद्ध का जन्म हुआ था)। इससे यहाँ पर बुद्ध के जन्म की पुष्टि होती है। बुद्ध के पिता का नाम शुद्धोदन तथा माता का नाम माया था। इनके पिता कपिलवस्तु के शाक्यों के गण-मुख्य थे। इनकी माता देवदह गण के राजा अर्जन की लड़की थी। देवदह की पहचान गोरखपुर जिले में निचलौल के पास के एक स्थान से की गई है। शाक्य लोग सूर्यवंशीय क्षत्रिय थे। महाप्रजापति गौतमी को जिनका विनय और अन्य निकायों में अनेक बार उल्लेख मिलता है सिद्धार्थ की मौसी थीं। चूँकि बुद्ध की माँ बाल्यकाल में ही मर गयी थीं, अत: इन्होंने ही उनका लालन-पालन किया था। इसी से उनके जीवन से इनका घनिष्ट सम्बन्ध रहा है।

बुद्ध के बचपन का नाम सिद्धार्थ था। बड़े होने पर इन्होंने बुद्धत्व (ज्ञान Enlightenment) प्राप्त किया तो बुद्ध कहलाये। यह गौतम गोत्रीय क्षत्रिय परिवार के थे। इसलिए गौतम गोत्र में ज्ञानी होने के कारण इन्हें गौतम बुद्ध कहा गया। इसके अतिरिक्त इनका नाम तथागत (जो वस्तुओं के वास्तविक रूप को जानता है) तथा अर्हत् (योग्य worthy) भी दिया गया है।

इनकी माँ माया ने एक रात स्वप्न में अपने उदर में प्रवेश करते हुए श्वेत हाथी को देखा था। इसकी व्याख्या करते हुए देवल नामक तपस्वी ने कहा था कि यह बालक होने का चिह्न है। यह बालक आगे चलकर बुद्ध होगा। यही बात दूसरे भविष्यवक्ता कौण्डिन्य नामक ब्राह्मण ने भी की थी। यह वास्तव में सही निकली। बचपन से ही यह एकान्तवासी, मननशील तथा विरक्त प्रवृत्ति के थे। पढ़ने पर ज्ञान की प्राप्ति उन्हें शीघ्र हो गई। पर इसी उम्र में उनके चिन्तन की प्रवृत्ति से उनके पिता बड़े दुखी रहते थे। अत: बुद्ध को सांसारिकता में बांधने के लिए उन्होंने इनका विवाह किया।

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

f. Indian Philosophy, Radhakrishnan, p. †„‹

इनका विवाह सोलह वर्ष की अवस्था में रामग्राम के कोलिय गणराज्य की राजकुमारी यशोधरा से हुआ था। पर यह उनको सांसारिक बंधन में न बांध सकी। वह बारह वर्षों तक गृहस्थ जीवन का निर्वाह किये। पर उनका मन उजड़ा ही रहता था। इसी बीच उनको एक लड़का पैदा हुआ। उसका नाम राहुल रखा गया। उसके जन्म का समाचार सुनकर सिद्धार्थ को प्रसन्नता नहीं हुई, अपितु उन्होंने दुःखी स्वर में कहा, 'आज मेरे बंधन की शृंखला में एक कड़ी और जुड़ गई।'

महात्मा बुद्ध के जन्म के विषय में अनेक गाथायें मिलती हैं जिनकी आलोचना करते हुए डॉ. गोविन्द चन्द पाण्डेय कहते हैं कि बुद्ध के जन्म कालीन आश्चर्याद्भुत धर्मों की कथाओं को प्राचीन नहीं माना जा सकता। महात्मा बुद्ध के बचपन का नाम सिद्धार्थ था और उनके बचपन और शिक्षा के विषय में भी कोई प्रमाणिक प्राचीन सामग्री उपलब्ध नहीं होती और न ही उनकी अपने अथवा पत्नियों के विषय में ही। बुद्धवंश के अनुसार उनकी पत्नी का नाम 'मछकच्छा' था। परन्तु जातक टीका और महावदान सुत्त में उसे 'विम्बा' के नाम से सम्बोधित किया गया है। ललित विस्तर में उसका नाम 'गोथा' बतलाया गया है। परन्तु सर्वाधिक बहुचर्चित लोकविदित नाम यशोधरा ही है और पुत्र का नाम राहुल।

गौतम बुद्ध के जन्म पर जो भविष्यवाणी हुई थी उससे उनके जीवन में आने वाले सन्यास से संशकित होकर राजा शुद्धोदन ने सिद्धार्थ के लिए तीन ऋतुओं के लिए तीन राजप्रासाद बनवाये किन्तु माज्झिम निकाय से ज्ञात होता है कि एक दिन इन महलों से जब नगर भ्रमणार्थ सिद्धार्थ निकले तो उन्होंने एक रोगी, एक वृद्ध, एक शव तथा एक साधु को देखा था। उनके लिए ये अपने कृत्रिम संसार से परे की वस्तु थी तथा नया दृश्य भी था। जब उन्होंने इनके विषय में अपने सारथी से पूछा तो ज्ञात हुआ कि रोग, दुख, जरा और मृत्यु सभी जीवों के सामान्य अनुभव हैं और सबको भोगने पड़ते हैं। जीवन के इन दारुण सत्यों ने सत्यान्वेषी गौतम को अपने कृत्रिम संसार से विरक्ति उत्पन्न करा दी। प्राचीन संदर्भ देखने से प्रतीत होता है कि जरा, मृत्यु, रोग आदि पर चिन्तन से बोधिसत्व ने संसार की दुःखमयता की ओर मुक्ति का पद खोजने का निश्चय किया। किन्तु आरम्भ से सिद्धार्थ की चिन्तनशील प्रवृत्ति, सांसारिक सुखों से विरक्ति, मानव जीवन के दुखों से दुखित होकर चिन्तामग्न हो जाना, जम्बु वृक्ष के नीचे बैठकर ध्यान करना अथवा योग करना आदि अनेक बौद्ध ग्रन्थों पर आधारित उल्लेखों के आधार पर कोसम्बी का यह मत मान्य प्रतीत होता है कि सिद्धार्थ रोहिणी नदी के पानी के विषय पर होने वाले कोलिय संध से युद्ध के नेतृत्व के भय से गृह त्याग दिये। सरल हृदय एवं पीड़ित मानवता के उद्धारक गौतम बुद्ध ने मानवता के दुःख को दूर करने के लिए गृह त्याग किया था। नरसू (P. L. Narsu) के अनुसार– "For twenty-five years Siddhartha saw only the beautiful and pleasant. About this time the sorrows and sufferings of mankind effected him deeply and made him reflect on the problem of life. Impelled by a strong desire to find the origin of suffering and sorrow and the means of exirpating them he renounced at the age of twenty nine all families and retired to the forest, as was the want in his day."

गौतम बुद्ध ने उन्तीस वर्ष की अवस्था में पारिवारिक बंधनों को तोड़कर पीड़ित मानवता के दुःख के कारणों की खोज एवं निदान के लिए गृह त्याग दिया। एक रात पत्नी यशोधरा और

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

पुत्र राहुल का, जो नर्तकियों के बीच सो रहे थे, अन्तिम बार दीपक के प्रकाश में उनका मुख देखकर महल से बारह निकल पड़े। अपने घोड़े कंथक तथा सारथी छंदक के साथ राजमहल छोड़कर ज्ञान की प्राप्ति की खोज में चल पड़े, जिसे महाभिनिष्क्रमण (महान व्यक्ति का गृह त्याग) कहा जाता है। प्रात: होने पर शाक्य जनपद पारकर अनोमा नदी (गोरखपुर की आमी नदी) के किनारे से सिद्धार्थ ने उनको लौटा दिया तथा अपने राजसी वस्त्रों को एक सन्यासी को देकर उस सन्यासी के वस्त्र पहनकर तथा अपने कृपाण से अपना बाल काटकर कृपाण को नदी में फेंक ज्ञान की पिपासा में जंगल की ओर चल पड़े।

उन्तीस वर्ष की अवस्था में अपने महाभिनिष्क्रमण के पश्चात् गौतम बुद्ध को अनेक पूर्व जन्मों के अर्जित पुण्य से अभिसंस्कृत बोधिसत्व के चिन्तन में जरा-मृत्यु आदि पर चिन्ता से जीवन की अनित्य और निस्सारता प्रकट हो गयी तथा तीव्र वैराग्य और जिज्ञासा से प्रेरित होकर उन्होंने "आर्यपर्येषणा" में चरण रखे–

'किं कुसलगवेसी अनुत्तरं सन्तिवरपदं परये समानो'

ललित विस्तर से ज्ञात होता है कि वे कुशल की खोज में शान्ति की दिशा में संलग्न थे। नाना स्थानों में घूमते हुए, प्रसिद्ध आचार्यों से ज्ञान प्राप्त करते हुए, विविध साधन और तपश्चर्या में संलग्न अन्तत: गया में ध्यान के अभ्यास से बोधिसत्व ने सम्बोधि प्राप्त किया। इस अवधि में उन्होंने जिन आचार्यों से आध्यात्मिक शिक्षा पायी थी वे हैं आलार कलाम और उद्रक रामपुत्र। कलाम के विषय में सूचना मिलती है कि उन्होंने बोधिसत्व को 'आकिञ्चन्यायतन' नाम की 'अरूप समापत्ति' की शिक्षा दी थी। किन्तु बोधिसत्व ने इस मत को यह कहकर अस्वीकार कर दिया कि जब तक क्षेत्रज्ञ के रूप में आत्मा शेष है तब तक पुन: संसार की प्रवृत्ति सम्भव है। उद्रक रामपुत्र ने 'नैवसञ्ज्ञानासञ्ज्ञायतन' का उपदेश बोधिसत्व को दिया। उन्हें कर्म के सिद्धान्त पर विश्वास हुआ किन्तु आत्मा के वर्तमान रहने तथा परिवर्तन में विश्वास नहीं हुआ – 'The Bodhisattva saw the truth in the doctrine of Karma but he could not bring himself the believe in the existence of soul or its transmigration.' — (L. Narsu).

यहाँ से पाँच भद्रवर्गीय भिक्षु उनके साथ हो लिए। गया में विचरते हुए बोधिसत्व को यह सूझा कि जैसे गीली लकड़ियों के मन्थन से अग्नि उत्पन्न नहीं किया जा सकता, ऐसे ही भोगों में आकर्षण और तृष्णा रहते हुए तपश्चर्या के द्वारा आर्य ज्ञान की प्राप्ति नहीं की जा सकती, किन्तु असंग और वैराग्य रहने पर तप से ज्ञान की आशा की जा सकती है। इस दृष्टि से उन्होंने गया के पास बिल्व के निकट सेनापति ग्राम में निरञ्जना नदी के किनारे उरुवेला नामक रमणीक प्रदेश में पाँच साथियों के साथ तपश्चर्या का निश्चय किया। उन्होंने दाँतों से दाँत और तालु से जिह्वा सटाकर इतना घोर तपस्या किया कि कड़ाके के जाड़े भी उन्हें पसीना छूटता था। किन्तु इससे यदि उत्साह और जागरूकता बढ़ती थी तथा देह अशान्त होता जाता था-

विरियं होति असल्लीनं, उपट्ठिता सति असम्मुट्ठा,
सारद्धो च पन म कायो होति अप्प टिपस्सद्धो।

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

इसके पश्चात् उन्होंने आश्वास-प्रश्वास रोककर अप्राणक ध्यान का अभ्यास किया–

सो खो अहं मुखतो चो नासतो च
अस्सास पस्सासे उपरुन्धिं।

किन्तु इस प्राणायाम के अभ्यास से सिद्धार्थ को तीव्र वेदना और जलन का अनुभव हुआ। बहुतों ने प्रखर तप से निश्चेष्ट पड़े हुए उनको देखकर समझा कि उनकी मृत्यु हो गयी है। इसके अनन्तर उन्होंने आहार छोड़ने का अभ्यास किया। फलत: उनका शरीर कृश तथा क्षीण हो गया और उनका शरीर काला पड़ गया। इस स्थिति में दुष्कर चर्या की व्यर्थता स्पष्ट दीखने लगी। गौतम बुद्ध ने महसूस किया कि भूख, प्यास और थकान में मन स्वच्छ और एकाग्र नहीं रहता और न 'ध्यानयोग' में प्रवृत्त होता है। अतएव बोधिसत्व ने अब केवल उपवास का त्याग किया। इस प्रकार छ: साल के कठोर तप का अन्त हुआ। उनके ऐसा निश्चय करने पर उनके साथ के पाँचों साथी उन्हें ठग कहकर उनका साथ छोड़कर चले गये। इसके बाद उन्होंने नगर की श्रेष्ठी की लड़की सुजाता की खीर खायी जो पुत्र की प्राप्ति पर प्रतिज्ञानुसार वृक्ष देवता को खिलाने के लिए लाई थी और वृक्ष के नीचे बैठे इनके कंकालवत शरीर को देखकर उसने वृक्ष देवता समझ इनकी ओर सोने के कटोरे में खीर बढ़ायी। तपस्या का त्याग करने वाले बुद्ध ने उसको ग्रहण कर लिया और कटोरा निरंजना नदी में फेंक दिया। फिर नदी पार कर गया के रास्ते चले। वहाँ पीपल के वृक्ष के नीचे गया से थोड़ी दूर ध्यानावस्थित हुए।

उत्तर कालीन बौद्ध परम्परा के अनुसार ध्यानमग्न बोधिसत्व को मार और उसकी सेना का सामना करना पड़ा। इस संकटमय स्थिति को सहन करते हुए भी गौतम बुद्ध ध्यान में संलग्न रहे साधारण तौर से चतुर्थ ध्यान में स्थित रहने से उन्हें 'वृहत्फल' नामक देवताओं के लोक की प्राप्ति होती थी तथा इस ध्यान की संज्ञा का अतिक्रमण करने पर सूक्ष्मतर 'आकाशानन्त्यायतन' की प्राप्ति होती थी। किन्तु अतिशय पुण्यात्मा त्रैधातुकाविरक्त, अनुत्तर, शान्ति-पद-गवेषी बोधिसत्व चतुर्थ ध्यान में अपने विशुद्ध और निश्चल चित्त के द्वारा रात्रि के तीन यामों मे तीन विद्याएँ प्राप्त कर प्रात: सर्वज्ञ सम्बुद्ध हो गये।

रात्रि के प्रथम याम में उन्होंने पूर्वजन्मों की स्मृति रूपी पहली विद्या प्राप्त की। रात्रि के मध्यम याम में उन्होंने दिव्यचक्षु प्राप्त किया और उसके द्वारा समस्त लोक को अपने कर्मों का फल अनुभव करते देखा। रात्रि के तृतीय याम में उन्होंने प्रतीत्यसमुत्पाद का ज्ञान प्राप्त किया जिससे उन्होंने सत्य को दो पक्षों में विभक्त देखा-एक ओर अनित्य, परतंत्र और सापेक्ष संसार तथा दूसरी ओर चिरशान्त निर्वाण। एक मत से यह 'त्रैविद्यता' ही बुद्ध की सर्वज्ञता थी। मतान्तर से प्रतीत्यसमुत्पाद से समानान्तर उनमें सम्बोधि का भान हुआ। इस सम्यक् सम्बुद्ध ने धर्म प्राप्ति के बाद शोकमगन संसार को देखा जिसकी पुष्टि इस कथन से होती है-

से ले यथा पब्बतमुद्धनिट्ठितो यथापि वस्से जनतं समन्ततो
तथूपमं धम्ममयं सुमेध पोसादमारुम्ह समन्तचकखु।
सोकावतिण्णं जनतं अपेत सोको अवेक्खस्सुजातिजराभिभूतं।।

(मज्झिम निकाय)

अर्थात् जिस प्रकार पहाड़ की चोटी से कोई नीचे देखे ऐसे ही सम्यक् सम्बुद्ध ने धर्ममय प्रासाद से शोकमग्न संसार को देखा। सम्बोधि के बाद युद्ध के प्रथम वचन के विषय में बौद्ध

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

परम्परा एकमत नहीं है। महावग्ग और उदान में इस गाथा को बुद्ध का प्रथम उदान बताया गया है यदा हवे पातुभवन्ति...........सहेतु धम्मं।।

किन्तु दीघमाणक और बुद्धघोष के अनुसार बुद्ध के प्रथम वचन धम्मपद की इन गाथाओं के अनुरूप हैं-

अनेक जातिसंसार संधाविस्सं अनिब्बिसं,
गहकारकं गवेसन्दो जाति पुनप्पुनं,
गहकारक दिट्ठोसि पुन गेहं न का हासि,
सब्बा ते फासुका भग्गा गहकूटं विसङ्खितं,
विसंङ्खारगतें चित्तं तण्हौ स्वयग्झगा।।

ललित विस्तर में पहला उदान इस प्रकार दिया है-

छिन्नवर्त्मोपशान्नजा:....... उच्चयते।

तिब्बती विनय में एक और उदान हुआ है। इस परम्परागत वैमत्य से स्पष्ट हो जाता है कि सम्बुद्ध की प्रथमोक्त का उत्तर काल में यथावत् स्वरूप शेष नहीं रह गया।

सम्बुद्ध होने के अनन्तर महात्मा बुद्ध ने क्या किया? यह विवादास्पद है। विनय के अनुसार सम्बोधि के अनन्तर चार सप्ताह तक बुद्ध विमुक्ति सुख का भोगी होकर बद्धासन में बैठे रहे। कुछ परवर्ती ग्रन्थों के अनुसार यह समय एक सप्ताह का था। महावग्ग में इस विमुक्ति के आनन्द के अनन्तर तपुस्स और मल्लिक नामक दो व्यापारियों के सर्वप्रथम उपासक बनने का उल्लेख है। इसके अनन्तर ब्रह्मयाचन का वर्णन है। किन्तु मज्झिम निकाय के सुत्तों में सम्बोधि के साथ-साथ ही ब्रह्मयाचन उल्लिखित है, बीच में विमुक्ति-सुख का भोग तथा तपस्स और मल्लिक का उल्लेख नहीं है। इसके बाद लक्ष्मी नरस् के अनुसार- "उन्होंने यह निश्चय किया कि वे विभिन्न राष्ट्रों में जायेंगे और वह मार्ग बताएंगे जो मृत्यु की ओर नहीं ले जाता है। जिन्हें सुनने के कान हैं वे मुक्ति की चर्चा सुनकर उसका मनन करें।"

इस दृढ़ निश्चय के साथ महात्मा बुद्ध अपने धर्म के प्रचार के लिए आगे बढ़े। बुद्ध ने पहला ज्ञान देने के लिए आलारकलाम और उद्रक रामपुत्र को चुना और यह निश्चय किया कि ज्ञान का प्रथम उपदेश वह उन्हीं को देंगे। किन्तु उनका देहान्त इससे पूर्व हो गया था ऐसा उन्हें ध्यान में अनुभव हुआ। उसके बाद दूसरी श्रेणी में बुद्ध ने उन पंचवर्गीय भिक्षुओं को रखा जो उन्हें तपस्या के बाद छोड़कर चले गये थे। इन भिक्षुओं से मिलने बुद्ध वाराणसी गये। उनको दूर से आता देख पहले पाँचों सन्यासी इनकी निन्दा करने लगे तथा इनके समीप न जाने का निश्चय किया पर जैसे-जैसे बुद्ध उनके समीप पहुँचते गये वे स्वत: उनकी ओर बढ़े और श्रद्धापूर्वक उनका स्वागत किये। फिर इन पंचवर्गीय भिक्षुओं के बीच वहाँ ऋषिपत्तन (मृगदाव, सारनाथ) में उन्होंने पहला धर्मोपदेश कर धर्म-चक्र-प्रवर्तन किया। धर्म-चक्र-प्रवर्तन का अभिप्राय है धर्म को चक्रानुक्रम में चलाकर धर्म का साम्राज्य स्थापित करना। बुद्ध के उपदेश से पंचवर्गीय भिक्षुओं ने अर्हत्त्व प्राप्त किया और इस प्रकार लोक में अब बुद्ध को लेकर छ: अर्हत हुए।

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

वाराणसी में यश नाम के श्रेष्ठिपुत्र की प्रव्रज्या (धर्म में प्रवेश) भी इसके तत्काल बाद सम्पन्न होने का उल्लेख महावग्ग से प्राप्त होता है। इसके पश्चात् यश के सम्बन्धियों और मित्रों ने नये धर्म को स्वीकार किया और वाराणसी में अनेक लोग बुद्ध के उपासक और भिक्षु बन गये। इस प्रकार बुद्ध के अतिरिक्त साठ अर्हत हुए। इनका बुद्ध ने संघ बनाया। यह विश्व के किसी भी धर्म के पहले संघ की स्थापना है। फिर इन्हें बुद्ध ने उपदेश दिया। "भिक्षुओं अब तुम लोगों के हित और कल्याण के लिए घूमो पर दो एक साथ मत घूमो। लोगों में उस धर्म का प्रचार करो जो आदि-मंगल, मध्य-मंगल और अन्त-मंगल है।" इनको बुद्ध ने अनेक दिशाओं में धर्म प्रचार के लिए भेज दिया और स्वयं उरुवेला के सेनानिगाम की ओर प्रस्थान किया। मार्ग में उन्होंने तीस श्रेष्ठ कुमारों को धर्म का उपदेश दिया। उरुवेला में उन्होंने तीन जटिल कश्यपों को और उनके एक सहस्त्र अनुयायियों को धर्मोपदेश के द्वारा बौद्ध धर्म में प्रविष्ट कराया। इसके अनन्तर बुद्ध राजगृह गये और वहाँ उन्होंने राजा बिम्बिसार को धर्म का उपदेश दिया। बिम्बिसार ने भिक्षुसंघ को वेणुवन उद्यान का उपहार दिया। राजगृह में संजय नाम के परिव्राजक आचार्य के दो शिष्य थे जो पीछे सारिपुत्र और मौद्गल्यायन के नाम से प्रसिद्ध हुए। ये दोनों ने अश्वजित् से धर्म–

ये धम्मा हेतु प्पभ्भवा तेस हेतुं तथागतो आह।
तेसं च यो निरोधा एवंवादी महासमर्णो।।

सुनकर पहले सारिपुत्र धर्म में प्रविष्ट हुए। उनसे यह गाथा मौद्गल्लयमन ने सुनी और दोनों ने बुद्ध का शिष्यत्व स्वीकार किया। वे आजीवन अंग, मगध, वज्जि, मल्ल, कोलिय, वत्स, शाक्य, काशी आदि जनपदों में घूमते रहे। मल्ल जनपद में उनके प्रचार के समय शाक्य जनपद से उपालि, देवदत्त, आनन्द आदि ने आकर इनका शिष्यत्व ग्रहण किया। श्रावस्ती में अनाथ पिण्डक ने इनका शिष्य होकर उनके वर्षावास के लिए जेतवन महाविहार का दान किया था। शाक्यों में उपेदश के समय उनके पुत्र राहुल, सौतेले भाई नन्द भी इनके शिष्य हो गए। ये एकबार भिक्षाटन करते हुए वह कपिलवस्तु भी गये थे। उनकी विमाता भिक्षु संघ में सम्मिलित होना चाहती थीं। पर बुद्ध ने पहल मना किया। आनन्द के आग्रह पर इनको संघ में सम्मिलित किया गया। पर इस समय बुद्ध ने कहा था कि नारियों के प्रवेश के कारण अब संघ की उम्र आधी हो गई जो पीछे सत्य सिद्ध हुआ। सम्बोधि-प्राप्ति के पश्चात् ८० वर्ष की आयु तक बुद्ध धर्म का प्रचार करते हुए उत्तर प्रदेश और बिहार के जनपदों में घूमते रहे। सबसे अधिक समय तक उनका निवास श्रावस्ती में हुआ और उसके बाद राजगृह, वैशाली और कपिलवस्तु में। समाज के अनेक वर्ग उनके अनुयायी बने और उपासकों और उपासिकाओं, भिक्षुओं और भिक्षुणियों में धर्म का प्रभाव बढ़ता गया। इस प्रकार समाज के विभिन्न वर्गों के लोगों ने बौद्ध धर्म ग्रहण कर लिया। इससे अनेक दुःखी आत्माओं को शांति प्राप्त हुई। इस संघ में अनेक वर्ग के लोग सम्मिलित हुए।

बौद्ध संघ के विषय में ज्ञात होता है कि डाकू अंगुलिमाल और गणिका आम्रपाली ने भी बुद्ध की शरण पकड़ी। इससे स्पष्ट है कि भिक्षु संघ में बुद्ध के समय किसी भी जाति तथा वर्ग के लोग प्रवेश पा सकते थे। ऊँच-नीच, धनी-निर्धन, ज्ञानी-मूर्ख, ब्राह्मण-चाण्डाल, जैन-आजीवक, गृहस्थ-संन्यासी, पुरुष-स्त्री आदि। इससे संघ में सांघिकों की भीड़ रहती थी। बौद्ध धर्म को कोशल राजा प्रसेनजित, वाराणसी के कपिल महाकात्यायन के पंचसिक्ख, कौशाम्बी शासक उदयन, मगध शासक बिम्बिसार आदि स्वीकार करने वाले प्रमुख थे।

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

महापरिनिब्बान सुत्त का परवर्ती भाग, बुद्ध के परिनिर्वाण की कथा का वर्णन करता है। महात्मा बुद्ध एक बार राजगृह में उस समय थे जब अजातशत्रु वज्जियों पर आक्रमण करना चाहता था। मगध के महामात्य ब्राह्मण वर्षाकर के प्रश्न पर महात्मा बुद्ध ने आनन्द से इस विषय पर राय लिया। बुद्ध ने वज्जियों के सात "अपरिहाणीय धम्म" बताये जिनके रहते वे अपराजेय थे। राजगृह से बुद्ध पाटलिग्राम होते हुए गंगा पार कर वैशाली पहुँचे। इस समय परिनिर्वाण के तीन मास शेष थे। वैशाली में आम्रपाली गणिका ने भिक्षुसंघ के साथ तथागत को भोजन कराया। भगवान् ने वह वर्षावास समीप के बेलग्राम में व्यतीत किया। यहाँ वे अत्यधिक रुग्ण हो गये तथा उनके शरीर पर जरा के समस्त लक्षण प्रकट हो गए जिसकी पुष्टि जरा सुत से होती है। बुद्ध के परमप्रिय शिष्य आनन्द ने उस समय कहा- "भगवान के चमड़े का रंग उतना परिशुद्ध, उतना पर्यवदात्त नहीं है। गात्र शिथिल है। सम्पूर्ण शरीर पर झुर्रियां पड़ी हुई हैं। शरीर आगे की ओर झुका है। इन्द्रियों में भी विकार दिखायी पड़ता है।"

आनन्द की इस आशंका पर कि कहीं भिक्षु-संघ से कहे बिना ही भगवान का परिनिर्वाण न हो जाए, उन्होंने रुग्णावस्था में कहा- "किं पनानद्व भिक्खु संघी मयि पच्चासी सति? देसितो आनन्द मया धम्मो अनन्तरं अबहिरं करित्वा। नत्थानन्द तथागतस्स धम्मेसु आचारियभुट्ठि। यस्स नून आनन्द स्वमस्स 'अहं भिक्खु संघ परिहरिस्साभीति व मुभुद्देसिको भिक्खु संघोति वा सो नून आनन्द भिक्खु संघ आरम्भ किञ्देव उदारेप्य। तथागतस्स खो आनन्द न होति .... अहं खो ... एतरहि जिण्णो बुद्धो .... असीतको में बयो वत्तति। सेप्य सापि आनन्द जज्जरसकंहं... तस्माति हानन्द अत्तदीपा विहरथ अत्तसरणा अनञ्सरणा, धम्म दीपा धम्मसरणा अनञ्जसरणा (अनञ्जसरणा)" अर्थात् "आनन्द भिक्षु संघ, मुझसे अब और क्या चाहता है ? मैने धर्म का स्वरूप जानकर सब उपदेश किया है। तथागत को धर्म में आचार्य की आवश्यकता नहीं है, जिसके मन में हो। मैं संघ्र का नेतृत्व करूँ, संघ मेरी ओर आकृष्ट हो, वह संघ के लिए कुछ प्रयास करे। तथागत के मन में ऐसा नहीं है.... मैं अब जीर्ण बृद्ध हूँ.... ८० वर्ष की मेरी आयु है... जैसे जर्जर शकट हो.... अतएव आनन्द आत्मदीप, आत्मशरण, अनन्यशरण, धर्मदीप, धर्मशरण बनकर तुमलोग विहरो।"

इस अत्यन्त मार्मिक वचन में बुद्ध का व्यक्तित्व अद्‌भुत रूप में सजीव हो उठता है। पीड़ित मानवता के उद्धारक वास्तव में मानव के उत्थान के लिए, मानव के दुःख के निदान के लिए सम्बोधि प्राप्ति के बाद ८० वर्ष की अवस्था तक अनवरत चार आर्य सत्यों, अष्टांगिक मार्गों एवं निर्वाण ऐसे जटिल, असाध्य एवं अप्राप्य को सरल, सुगम एवं प्राप्य बनाकर उपदेश देते रहे तथा समाज के दलित, कुख्यात डाकू, राजा, रंक, अमीर, गरीब, नर नारी को जीवन के दारुण दुःख से मुक्त कराकर आध्यात्मिक पथ पर अग्रसारित करते रहे।

वे वैशाली से मण्डग्राम और भोगनगर होते हुए पावा पहुँचे जहाँ उन्होंने चुन्द नामक कम्भार का आतिथ्य स्वीकार किया और उसके 'सूकरमद्दव' खाने से उन्हें यन्त्रणामय रक्तातिसार उत्पन्न हो गया। ऐसी अवस्था में उन्होंने कुशीनगर की ओर प्रस्थान किया और हिरण्यवती नदी पार कर शालवन में दो शाल वृक्षों के बीच लेट गए। सुभद्र नामक परिव्राजक को उन्होंने उपदेश किया और भिक्षुओं से कहा कि उनके बाद धर्म ही शास्ता रहेगा। शिक्षापदों में परिवर्तन की अनुमति

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

उन्होंने भिक्षुसंघ को दी। छन्न पर ब्रह्मदण्ड का विधान किया और पालि परम्परा के अनुसार-**वयधम्मा सखारा अधमादेन सम्पादेया** यह कहकर परिनिर्वाण की स्थिति में प्रवेश किया।

अन्तिम क्षणों में उनके पास समुद्र भिक्षु आया। उनको उन्होंने अष्टांगिक मार्ग की शिक्षा दी तथा उसे "धम्म" में सम्मिलित किया। उनके अन्तिम संदेश थे-'अवनति प्रत्येक जटिलता में हाती है। अतः ज्ञान को खोजो और कुशलतापूर्वक निर्वाण के लिए प्रयत्नशील रहो।'

सूकर-मद्दव के भोजन ग्रहण करने तथा उससे रुग्ण होने पर कई विचार प्रस्तुत किए गये हैं लक्ष्मी नरसू के अनुसार बुद्ध के शरीर त्याग के दो कारण थे वृद्धावस्था तथा सूकर भद्दव के कारण उत्पन्न अतिसार। कुछ लोगों की धारणा है कि सूकर भद्दक भोजन में उनके प्रिय शिष्य चुन्द द्वारा नये वन्य सूकर के रसीले भाग से बना था एक रसायन से रूप में प्रारम्भिक अतिसार के उपचारार्थ। दूसरों का कहना है कि सूकर-भद्दक मशरूम के लिए प्रयुक्त है जो एक भोज्य पदार्थ रहा होगा। कुछ लोग इसका अभिप्राय शकरकन्द नामक एक जड़ से लेते हैं जो एक निरामिष खाद्य है। जो भी हो फ्लीट (Fleet) के अनुसार उनका १३ अक्टूबर ४८३ ई.पू. को निधन हो गया। उनकी मृत्यु को 'महापरिनिर्वाण' कहते हैं।

उनके निर्वाण पर उनकी राख के लिए गणराज्यों में परस्पर युद्ध हुआ। पीछे इसे शान्त किया गया और उसे आठ भागों में बांटकर विभिन्न क्षेत्रों में स्तूप बना। मुख्य स्तूप शालव में बना जहाँ उन्होंने शरीर त्यागा था। कुशीनगर के राम संभार सरोवर के तट पर उनका दाह-संस्कार हुआ।

गौतम बुद्ध की शिक्षायें

चार आर्य सत्य

महात्मा बुद्ध स्वयं संसार से विरक्त होकर शान्ति की खोज में घर से निकले थे और सम्बोधि के अनन्तर शोकाकुल जनता के अवलोकन से करुणार्द्र होकर उन्होंने सम्बोधि की प्राप्ति पर धर्म के उपदेश का भार अपनाया था। संसार से निर्वाण तक ले जाना वाला उनका धर्म करुणा का एक सेतु था। जीवन के अपरिहार्य दुख के दर्शन से उनका धर्म आरम्भ होता है। दुःख की प्रवृत्ति समझकर उससे छुटकारा पाने के लिए प्रयत्न ही धर्म-चर्या है, जो कि ज्ञान प्राप्ति में चरमता को प्राप्त होती है और अनुत्तर शान्ति पद को ले जाती है। पीड़ित मानवता के इन दुखों से व्यथित होकर महात्मा बुद्ध ने चार आर्य सत्यों का प्रतिपादन किया। ऋषिपत्तन (सारनाथ) में इन्हीं सत्यों का तथागत ने धर्म-चक्र प्रवर्तित किया था। ये चार आर्य सत्य निम्न हैं–

१. दुःख
२. दुःख समुदय
३. दुःख निरोध
४. दुःख निरोधगामिनी प्रतिपदा।

चार आर्य सत्यों के विषय में न्यायवार्तिककार का कहना है कि– "ये चार आर्य-पद सब अध्यात्मविद्याओं में सब आचार्यों द्वारा वर्णित होते हैं।" योग भाष्यकार की उक्ति है "जैसे चिकित्सा शास्त्र चतुर्व्यूह है, रोग, रोग-हेतु, आरोग्य और भैषज्य, ऐसे ही यह शास्त्र भी चतुर्व्यूह है, यथा-संसार, संसार हेतु, मोक्ष और मोक्षोपाय।" सांख्य प्रवचन भाष्य में भी चतुर्व्यूह चिकित्सा

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

शास्त्र से मोक्ष शास्त्र की समानता बतायी गई है रोग, आरोग्य, रोगनिदान और भैषज्य। इसी के समान ही मोक्षशास्त्र के चार व्यूह हैं हेय, हान, हेय-हेतु और हानोपाय। अभिधम्म कोश की व्याख्या में एक 'व्याधिसूत्र' उद्धृत किया गया है जिसमें तथागत की तुलना भिषक से की गयी है तथा आर्य सत्यों का वैद्यक के चार अंगों से। मोक्ष शास्त्रों में इस चतुष्टयी का रूपान्तरित उपयोग सबसे पहले सद्धर्म में देखा जाता है। अतएव सम्भव है कि तथागत ने ही अध्यात्म-विद्या में इस परम्परा का प्रवर्तन किया हो।

१. दुःख– बुद्ध द्वारा बताये गये चार आर्य सत्यों में प्रथम आर्य सत्य दुःख है। बौद्ध धर्म का आरम्भ दुखवाद को लेकर होता है। बुद्ध ने सारी मानव जाति को दुःखी देखा। चारों ओर दुःख ही दुःख है 'सर्व-दुःखं दुखं'। स्वयं बुद्ध के शब्द में "जन्म भी दुःख है, जरा भी दुःख है, व्याधि भी दुःख है, मरण भी दुःख है, अप्रिय-मिलन भी दुःख है, प्रिय वियोग भी दुःख है, इच्छित वस्तु की अप्राप्ति भी दुःख है।" तथागत ने उपदेश देते हुए अपने भिक्षुओं से कहा कि "भिक्षुओं, मनुष्यों ने चिरकाल तक माता के मरने का दुःख सहा है, पिता के मरने का दुःख सहा है, लड़के के मरने का दुःख सहा है, लड़की के मरने का दुःख सहा है, रिश्तेदारों के मरने का दुःख सहा है, सम्पत्ति के विनाश का दुःख सहा है, रोगी होने का दुःख सहा है। उन माता के मरने का दुःख सहने वालों ने, पिता के मरने का दुःख सहने वालों ने, पुत्र के मरने का दुःख सहने वालों ने, सम्पत्ति के विनाश का दुःख सहने वालों ने, रोगी होने का दुःख सहने वालों ने, संसार में बार-बार जन्म लेकर प्रिय के वियोग और अप्रिय के संयोग में रो पीटकर जो आँसू बहाये हैं, वे ही अधिक हैं, इन चारों महासमुद्रों का जल नहीं।"

इस पर आपत्ति है कि कुछ अनुभूतियाँ सुखात्मक भी होती हैं। अतः संसार को दुःखात्मक कहना उचित नहीं है। इस पर बुद्ध ने बताया कि उन सुखों की प्राप्ति के लिये कष्ट (दुःख) उठाना पड़ता है तथा वे क्षणिक होते हैं। उनके समाप्त होते ही मनुष्य दुःख में डूब जाता है। इस प्रकार सुख, दुःख में कोई अन्तर नहीं है। भले ही कोई चीज सुखकर लगे पर वह दुःख का कारण पीछे बनेगी ही।

विनय और निकायों में पहले सत्य के अन्दर दुःख को व्यापक अर्थ में ग्रहण किया गया है, दूसरे सत्य में प्रतीत्यसमुत्पाद अथवा निदानों का उल्लेख किया गया है, तीसरे सत्य में निर्वाण अथवा निरोध का और चौथे में अनेक बौद्ध धर्म के पक्षों का विशेषतः अष्टांगिक मार्ग का। दुःख की प्रधानता सर्वविदित है और उसका निरोध नहीं किया जा सकता, किन्तु लौकिक दृष्टि से दुःख ही जीवन के अनेक तत्त्वों में एक है। यद्यपि साधारण जीव दुःख को आगन्तुक मान कर ही चलता है पर दुःख ही जीवन का सत्य है। इसीलिए बुद्ध ने कहा है कि "सारा संसार अग्नि में जल रहा है, चाहे वह जिस प्रकार की हो फिर सुख कहाँ है?"

इसी से कुछ विचारक बौद्ध धर्म को निराशावादी धर्म कहते हैं। पर पहला आर्य सत्य भले ही निराशा देता है किन्तु तीसरा और चौथा उससे निकालने का मार्ग देता है। अतः इसे निराशावादी कहना भूल है। अतः निराशा इस धर्म का प्रारम्भ है पर अन्त नहीं।

२. दुःख समुदय– संसार में चतुर्दिक दिखायी पड़ने वाले दुःख का क्या कारण है? इसे बुद्ध ने दुःख समुदाय के अन्तर्गत बताया। उनकी दृष्टि में दुःख का मूल कारण तृष्णा है। "यह

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

है, हे भिक्षुओं! दुःख समुदय आर्य सत्य। जो यह तृष्णा पुनर्भव को करने वाली, आसक्ति और राग के साथ चलने वाली, यत्र-तत्र रमण करने वाली है, वह जैसे कि काम-तृष्णा, भव तृष्णा, विभवतृष्णा।" परन्तु यह तृष्णा कहाँ उत्पन्न होती है? बुद्ध ने बताया कि रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्पर्श तथा मानसिक वितर्क और विचारों में मनुष्य आसक्ति करने लगता है। यहीं तृष्णा का जन्म होता है। ये ही इसके उपादान कारण हैं जैसे संसार जन्म ग्रहण करने का उपादान कारण है। यह चक्रवत चलता रहता है-तृष्णा से दुःख फिर दुःख निवारण की तृष्णा। इसके पीछे मूल कारण है 'अविद्या' या अज्ञान। यही संसार चक्र को चलाता रहता है। यही जन्म-मरण चक्र है। संयुक्त से ज्ञात होता है कि तृष्णा से घिरा मनुष्य कभी भी दुःख से उद्धार नहीं पा सकता।

इस पर दो आक्षेप किये गये हैं- (i) अविद्या का कारण क्या हैं? (ii) इसकी चक्रवत किया उपनिषदों के ब्रह्म-चक्र की नकल है। इन दोनों आक्षेपों का कोई उत्तर बौद्ध धर्म में नहीं है।

३. दुःख निरोध– जिस प्रकार संसार में दुःख और दुःख समुदय है, उसी प्रकार दुःखों का अन्त-दुःख निरोध भी सम्भव है। यह कैसे हो? जिस दुःख का कारण तृष्णा है उसी के अन्त से दुःख-निरोध सम्भव है। महात्मा बुद्ध स्वयं कहते हैं "यह है, हे भिक्षुओं! दुःख-निरोध आर्य सत्य जो इसे तृष्णा का ही अशेष विराम, निरोध, त्याग, प्रतिनिस्सर्ग और छोड़ना।" अतः भिक्षुओं को उनका उपदेश था कि, "संसार में जो कुछ भी प्रिय लगता है, संसार की जिस वस्तु में रस मिलता है, उसे जो भी श्रमण-ब्राह्मण दुःख रूप समझेंगे, रोग रूप समझेंगे, उससे डरेंगे, वही तृष्णा को छोड़ सकेंगे। उन्होंने भिक्षुओं को फिर समझाया कि रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान का निरोध ही दुःख निरोध है। नरसू ने कहा है- "The entire essence of man seems to be an unquenchable thirst for a thousand wants. How else could he get rid of sorrow but by abandoning this thirst."[f]

इसी को बुद्ध ने 'निर्वाण' कहा है। बुद्ध ने निर्वाण की कहीं व्याख्या नहीं की है। इसलिए इसके अर्थ अनेक लगाये गये हैं। राहुल जी के शब्दों में इसका अर्थ है जलते-जलते बुझ जाना। बुझने का अर्थ है आसक्ति का बुझना। संसार में रहते हुए भी व्यक्ति राग, द्वेष आदि आसक्ति की क्रियाओं से ऊपर होकर इन राग, द्वेषों को छोड़ अनासक्ति भाव से जब कार्य करता है तो वही 'निर्वाण' है। अनासक्त कर्म ही दुःख के बंधन को तोड़ते हैं। जैसा मुना बीज पौधा नहीं उगा सकता वैसे ही ये कर्म बंधन नहीं बन सकते। अतः यह कहना कि निर्वाण जीवन का अन्त है गलत है क्योंकि वहाँ क्रियाएँ बनी रहती हैं। इसी से पालि ग्रन्थों में-निब्बानं परमं सुखं कहा गया है। क्योंकि दुःख के निरोध होने से जीवन सुखी होता है। सुख की तरह निर्वाण के अनिर्वचनीय होने से बुद्ध से जब इसके विषय में पूछा जाता था तो मौन रह जाते थे। इस प्रकार स्पष्ट है कि दुःखों का निरोध किया जा सकता है।

४. दुःख-निरोध-मार्ग– यह समस्या है कि दुःख निरोध गामिनी-प्रतिपदा-तृष्णा एवं अन्यान्य दूषित मनोवृत्तियों एवं संस्कारों का निरोध कैसे किया जाय? इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए महात्मा बुद्ध ने जो मार्ग बताया है वह 'अष्टांगिक मार्ग' 'दुःख-निरोध गामिनी प्रतिपदा' के नाम से प्रख्यात है।

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

f. The Essence of Buddhism by Narasu. Page No. *f*„Š

५. आर्य अष्टांगिक मार्ग

बौद्ध धर्म में निर्वाण प्राप्ति एवं तृष्णा तथा अन्यान्य दूषित मनोवृत्तियों एव संस्कारों के निरोध के लिए मार्ग बताया गया है यह आर्य अष्टांगिक मार्ग निम्न आठ अंगों का संघीभूत है।

(i) सम्मा दिट्ठि=सम्यक् दृष्टि — प्रज्ञा-स्कन्ध में
(ii) सम्मा संकल्प=सम्यक् संकल्प
(iii) सम्मा वाचा=सम्यक् वाणी
(iv) सम्मा कम्मन्तों=सम्यक् कर्म — शील-स्कन्ध में
(v) सम्मा आजीवो=सम्यक् जीविका
(vi) सम्मा वायाम=सम्यक् व्यायाम
(vii) सम्मा सति=सम्यक् चिन्तन — समाधि स्कन्ध में
(viii) सम्मा समाधि=सम्यक् समाधि

बौद्ध धर्म के अनुसार चार आर्य सत्यों को ग्रहण करके मनुष्य प्रपंच से मुक्त हो सकता है। किन्तु आर्य अष्टांगिक मार्ग के अनुसरण से मनुष्य निर्वाण प्राप्त कर सकता है। बौद्ध विद्वानों ने आर्य अष्टांगिक मार्ग को प्रज्ञा, शील और समाधि स्कन्ध कहा है। कोरा ज्ञान जड़ता का द्योतक हो सकता है परन्तु श्रद्धा और भावना से युक्त होने पर वह अति कल्याणकर होता है। प्रज्ञा ज्ञान विशेष का पर्यायवाची है। शील चारित्रिक उत्कृष्टता और सदाचारिता का नाम है। समाधि चित्त की एकाग्रता को कहते हैं।

संयुक्त निकाय के अनुसार बुद्ध का विचार था-"जिस प्रकार भिक्षुओं! गंगा, यमुना, अचिरावती, सरयू और महानदियाँ पूरब की ओर बहने वाली समुद्र की ओर मुड़ जाती हैं, उसी प्रकार भिक्षुओं! अभ्यास करने पर आर्य अष्टांगिक मार्ग निर्वाण की ओर ले जाने वाला है।"

तथागत ने वाराणसी में जीवन की दो उनतियों की ओर संकेत किया था– एक अतिआनन्द तथा आत्मशुद्धि के लिए अति कष्टकर साधना। पर उनकी दृष्टि में इन दोनों के बीच का मध्यम मार्ग (मज्झिम मग) ही श्रेयस्कर है जो ज्ञान, शांति और निर्वाण की ओर ले जाता है। यही मध्यम मार्ग ही अष्टांगिक मार्ग है।

नितान्त शुद्ध आचार तत्त्वों से निर्मित आर्य अष्टांगिक मार्ग निम्न हैं-

(i) सम्मा दिठ्ठि (सम्यक् दृष्टि)– आर्य अष्टांगिक मार्ग के प्रज्ञा स्कन्ध में सर्वप्रथम सम्मा दिठ्टि अर्थात् सम्यक दृष्टि का उल्लेख है। यह प्रथम सोपान है जिसे क्षीर-नीर-विवेक या सम्यक् दृष्टि कहा गया है। संसार अथवा आत्मा के सम्बन्ध में अज्ञान के कारण हमें मिथ्या दृष्टि उत्पन्न होती है जिसके कारण हम अनित्य, दुःखद तथा अनात्म वस्तु को नित्य, सुखकारी और आत्मरूप समझ लेते हैं। इसलिए शरीर, मन तथा वाणी से वस्तुओं का यथार्थ रूप में ज्ञान प्राप्त करना ही सम्यक् दृष्टि है। हिंसा, चोरी और व्यभिचार ये कायिका दुष्कर्म हैं। मिथ्याभाषण, चुगुली, कडुवा बोलना तथा व्यर्थ बोलना ये वाचिक दुष्कर्म हैं। लोभ, मोह, प्रतिहिंसा तथा असत्य धारणा ये मानसिक दुष्कर्म हैं। इन्हीं अच्छे बुरे कर्मों का ज्ञान प्राप्त कर समुचित मार्ग को अपनाना ही दृष्टि है। सम्यक् दृष्टि वाले साधक को क्षीर-नीर विवेक की CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri
दृष्टि प्राप्त हो जाती है। सम्यक् दृष्टि ही साधक के अन्धकार और भय के पथ में प्रकाश फैलाने

का कार्य करती है। अतः सम्यक् दृष्टि से सही मार्ग प्रकाशित होता है। वह चार आर्य सत्यों को ठीक से समझता है जो निर्वाण के हेतु हैं।

(ii) सम्मा संकल्प (सम्यक् संकल्प)– यह प्रज्ञा स्कन्ध में वर्णित दूसरा सोपान है। सम्मा दिठ्ठि से प्राप्त आर्य सत्यों के ज्ञान का अनुसरण से जीवन बिताने के लिए दृढ़ इच्छा रखना ही सम्यक् संकल्प है। इसमें निर्वाण प्राप्त करने की आसक्ति, दूसरों के प्रति द्वेष तथा हिंसा की भावना का परित्याग करने का संकल्प लेना चाहिए। राग, हिंसा और प्रतिहिंसा का परित्याग कामना और हिंसा से मुक्त संकल्प ही सम्यक् संकल्प है। इसमें परोपकार समाहित होता है। यहाँ आर्त मानव से अपने को भिन्न मानने की भावना का अभाव होता है। उनके लिए त्याग ही इसका ध्येय है।

सम्यक् संकल्प सम्यक् वाणी, सम्यक् कर्म तथा सम्यक् आजीवो में होना चाहिए। सम्यक् संकल्प प्रतिहिंसा एवं प्रतिद्वन्द्वता से परे धर्म के सिद्धान्तों के प्रति होना चाहिए। सत्य के लिए किसी वस्तु की स्थापना सत्य भाषण, सत्य क्रिया और सत्य जीवन से किया जाना चाहिए।

(iii) सम्मा वाचा (सम्यक् वाणी)– शील स्कन्ध में इसका यह तृतीय सोपान है। सम्मा संकल्प का बाहरी सम्मा वाचा या व्यक्त रूप सम्यक् वाणी में होना चाहिए तथा इसकी चरितार्थता सदा सत्य वाणी द्वारा होती है। सम्यक् संकल्प का यह कार्य रूप में परिणति है। वचन का नियंत्रण ही सम्मा वाचा या सम्यक् वाणी है। मिथ्यावादिता, अप्रिय वचन तथा वाचालता से बचना चाहिए। सदा सत्य और मृदुवाणी बोलनी चाहिए। इसका अभिप्राय है अनुचित न करना, चुगली न करना, कठोर शब्दों का प्रयोग न करना और निरर्थक एवं अप्रासंगिक बातों को न कहना।

सांसारिक जीवन में अपनी मर्यादा या प्रतिष्ठा स्थापित करने के लिए परनिन्दा, असत्य भाषण आदि को अपनाना व्यर्थ है। जीवन की उच्चता प्राप्त करने के लिए सम्मा वाचा अति आवश्यक है। बौद्ध साधक को सहृदय, स्पष्ट, सत्य, प्रेरणादायक, भावनायुक्त पर अभिमान, कटुता, दुर्वृत्तियों से रहित एवं मांस, मदिरा, सुगंधि, स्निग्द्ध आसन, स्त्री, योद्धा, अर्द्धदेव, भविष्यवाणी, गड़ी सम्पत्ति, भूत-प्रेत की कथाएँ नहीं कहनी चाहिए।

ऐसे व्यक्ति, जो मृदु वाणी बोलते हैं किन्तु उनके हृदय में पाप हो उनको ललित विस्तर निन्दित मानता है।

(iv) सम्मा कम्मन्तो (सम्यक कर्म)– यह शील स्कन्ध का चौथा सोपान है। सम्यक् संकल्प एवं सम्यक् वाणी सम्यक् कर्म पर आधारित है। सम्यक् संकल्प को केवल बचन में ही नहीं बल्कि कर्म में भी उतारना चाहिए।

इसका अभिप्राय है बुरे कर्मों-हिंसा, अस्तेय और इन्द्रिय भोग का त्याग। इनके स्थान अहिंसा, अस्तेय (चोरी न करना) और इन्द्रिय संयम के पालन का निर्देश है। साथ ही अलग-अलग वर्गों के लिए बुद्ध ने अलग-अलग कर्म करने का निर्देश दिया है। स्पष्ट है यह उच्च जीवन की ओर बढ़ने में आने वाली बाधाओं का विरोध करता है और जो अच्छा है उसे मान्यता देता है। कर्मकाण्ड, बलि, पूजा आदि का इसमें कोई महत्व नहीं है।

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

ब्राह्मण धर्म की भाँति बौद्ध धर्म कर्म की महानता स्वीकार करता है। किन्तु बौद्ध धर्म में कर्म आत्म संयम से विशेषत: सम्बन्धित है। बौद्ध धर्म में धार्मिक कर्मकाण्डों, बलि, अनेक प्रकार की पूजा तथा उपवास को कोई स्थान नहीं है। इसीसे बौद्ध धर्म में व्रत उपवास का कोई विधान नहीं है। यह "भोजन और चिन्तन" पर बल देता है।

इस प्रकार अहिंसा, अस्तेय, तथा इन्द्रिय संयम ही सम्यक् कर्म माने जाते हैं।

(v) सम्मा आजीवो (सम्यक् जीविका)– शील स्कन्ध में यह पाँचवां सोपान है। मानव जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए जीविका आवश्यक है जिससे आर्थिक लाभ तथा आवश्यकताओं की पूर्ति हो जाय। बौद्ध धर्म बुरे वचन एवं बुरे कर्म के परित्याग करने के साथ-साथ मनुष्य को जीविकोपार्जन के अशुद्ध एवं बुरे उपायों के भी परित्याग पर बल देता है। जीविकोपार्जन के लिए उचित रास्ते को अपनाने तथा निषिद्ध रास्ते को छोड़ने की बात कही गयी है इस काल के शासकों की शोषक नीति को देखकर बुद्ध ने कहा था-प्रतिहिंसा, युद्ध, प्राणी का व्यापार, मद्य व्यापार, मांस व्यापार और विष व्यापार करके इनके द्वारा जीवन निर्वाह करना झूठी जीविका है। इसका परित्याग करके जीविका की कामना ही सच्ची जीविका है। सम्मा कम्मन्त की आधारशिला सम्यक् आजीविका है। सम्यक् आजीविका के अभाव में सम्यक् कर्म की कल्पना नहीं की जा सकती क्योंकि सही काम सही जीवन में ही हो सकता है। कुछ लोगों ने सम्यक् जीविका को सम्यक् कर्म की पुनरावृत्ति माना है। पर यह गलत है क्योंकि जीविका के लिए कर्म करना होता है। अत: ये दो अलग-अलग हैं। इसीसे वह कभी-कभी जीविका के लिए अनुचित कर्म भी करता है। अत: दोनों का अलग-अलग उचित होना आवश्यक है।

(vi) सम्मा वायाम (सम्यक् व्यायाम)– समाधि स्कन्ध में सम्मा वायाम (सम्यक् व्यायाम या सम्यक् प्रयत्न) छठा सोपान है। सम्मा दिट्ठि (सम्यक् दृष्टि), सम्मा संकल्प (सम्यक् संकल्प), सम्मा वाचा (सम्यक् वचन) सम्मा कम्मन्तों (सम्यक् कर्म), सम्मा आजीवो (सम्यक् जीविका) के अनुसार चलने पर भी साधक पुराने जड़ मूलक संस्कारों तथा मन में बुरे भावों की उत्पत्ति के कारण उचित मार्ग से विचलित हो जाता है। अत: सतत नियंत्रण की आवश्यकता है। इसलिए प्रयास करना चाहिए कि–

(i) पुराने बुरे भावों का विनाश हो जाए।
(ii) नवीन बुरे भाव पैदा न हो।
(iii) मन को सदा अच्छे विचारों से पूर्ण रखा जाए।
(iv) अच्छे विचारों को धारण करने का प्रयत्न किया जाय।

धर्म के मार्गों पर आगे बढ़ने के लिए इन सम्यक् प्रत्यनों की महत्ता होती है। अतएव आर्य अष्टांगिक मार्ग के साधक के लिए अत्यन्त आवश्यक है कि वह दूषित विचारों का परित्याग करके हृदय को धर्म विषयक भावनाओं से परिपूर्ण करे। इस प्रकार की साधना को बौद्ध धर्म में निर्वाण की प्राप्ति तथा दु:खों के विनाश एवं जीवन की पवित्रता के लिए सम्यक् व्यायाम आवश्यक है।

सम्यक् व्यायाम से परिपक्व इच्छाओं का निर्माण होता है जिनमें नियंत्रण की शक्ति होती है। इसके मुख्य उद्देश्य की विवेचना की गई है कि– "The chief aim of right effort is

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

to cultivate a highly developed will as such namely, the capacity of control. विकसित इच्छा एवं भावनाओं की व्याख्या करते हुए प्रो. सूले (Prof. Sully) ने कहा है– "Mature will employ the enhilation of certain nerve centre by others.......a repression of action when confilicting motives arise......the attaining of a definite purpose beyond the movement and the persistent concentration of mind on this."

सम्मा व्यायाम के द्वारा इच्छाशक्ति को व्यवस्थित और नियंत्रित किया जाता है। यही व्याख्या ग्राह्य प्रतीत होती है।

(vii) सम्मा सति (सम्यक् चिन्तन)– सम्मा सति अर्थात् सम्यक् स्मृति या चिन्तन समाधि स्कन्ध का सातवां सोपान है। निर्वाण के लिए सम्यक् दृष्टि एवं सम्यक् संकल्प के साथ सम्यक् स्मृति भी उपयोगी है क्योंकि प्राप्त वास्तविक ज्ञान का वह सदा स्मरण करता रहे। यद्यपि सम्यक् दृष्टि के कारण साधक को संसार की निस्सारता, क्षणभंगुरता आदि का ज्ञान हो जाता है तथापि वह स्वभाव वश पुनः लौकिक प्रपंचों में फँस जाता है। अतएव शरीर को शरीर, चित्त को चित्त, मानसिक अवस्था को मानसिक अवस्था के रूप में चिन्तन करते रहने की आवश्यकता है। इनमें से किसी के भी सम्बन्ध में नहीं कहना चाहिए कि "यह मैं हूँ" या "यह मेरा है"। किसी वस्तु को स्वाभाविक रूप में आँकना तो सरल है किन्तु यथार्थ रूप में देखना आसान नहीं है। बौद्ध धर्म में शरीर, चित्त, वेदना और मन की अवस्था को सर्वस्व मानना ही दुःख का कारण है। इनके प्रति अनासक्ति ही निर्वाण का मार्ग है। यदि इनको यथार्थ रूप में ग्रहण किया जाय तो इसके प्रति आसक्ति न होगी। ..... बन्धन और दुःख नष्ट हो जाएंगे।

यह आवश्यक है जितना जीवन के लिए श्वास। इससे चित्त की परिशुद्धता, बुद्धि परिपक्वता, सही दिशा में बढ़ता साधक दूषित मनोवृत्तियों का परित्याग कर निर्वाण की ओर अभिमुख होता है। चित्त की महत्ता प्रायः सभी धर्मों में पायी जाती है। चित्त के अधीन धर्म है तथा धर्म के अधीन बोधि है– **"चित्ताधीनो धर्मः धर्माधीनो बोधिः।** बुद्धि पर धर्म का व्यवहार और धर्म के व्यवहार पर ही बोधि की प्राप्ति निर्भर है। अतः आवश्यक है कि बुरे विचारों को रोक मनुष्य सही विचार का अनुसरण करे। उसे आभास होना चाहिए कि क्या त्याज्य है और क्या ग्राह्य है।

इस प्रकार चित्त की परिशुद्धि से प्रज्ञा की प्राप्ति होती है। प्रज्ञा एवं सम्यक् स्मृति साधक को विशुद्धि मार्ग पर चलने की दृढ़ता प्रदान करते हैं। प्रज्ञा उचित समझने की शक्ति देती है। अन्तर्दृष्टि ग्रहण की शक्ति तथा सभी तत्वों के नियंत्रण की भावना के लिए अत्यन्त आवश्यक है। कार्य और कारण के सम्बन्ध को समझना ही ज्ञान है। इस प्रकार सम्यक् स्मृति बोधिसत्व की प्राप्ति के लिए परमावश्यक है।

(viii) सम्मा समाधि (सम्यक् समाधि)– समाधि स्कन्ध का यह आठवां सोपान है। निर्वाण के लिए सम्यक् समाधि या चित्त की एकाग्रता आवश्यक है। एकाग्रचित्त होकर ही साधक परम शान्ति अथवा निर्वाण की अवस्था को प्राप्त होता है। इसके लिए बौद्ध धर्म में ध्यान का महत्व अधिक है। यह जीवन के प्रति उच्चतम दृष्टि से चिन्तन करता है।

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

सम्यक् समाधि में ध्यान के द्वारा चित्त की मनोवृत्तियाँ दूर की जाती है। सम्यक् समाधि की चार अवस्थायें मानी गयी हैं–

१. प्रथम अवस्था में वह विचारों में निमग्न होकर विरक्ति की अनुभूति करता है।
२. द्वितीय अवस्था में विचार तथा वितर्कों का जंजाल समाप्त हो जाता है तब आनन्द के साथ शांति का भी अनुभव होता है।
३. तृतीय अवस्था में मनुष्य आनन्द से भी उदासीन हो उठता है।
४. चतुर्थ अवस्था में दैहिक सुख और ध्यान के आनन्द में से किसी का भी अनुभव नहीं रह जाता। यह भाव विरोध, चित्तवृत्ति निरोध तथा पूर्ण शांति की अवस्था होती है।

अब दुःखों का पूर्ण विनाश हो जाता है। यही अवस्था अर्हत अथवा निर्वाण की अवस्था है। इसमें जरा-मरण आदि का विनाश हो जाता है। ध्यान, सम्यक् समाधि की आधारशिला है। बौद्ध धर्म का ध्यान एवं ब्राह्मण धर्म का ध्यान दोनों अलग हैं क्योंकि इनमें साधक अलग-अलग विधि से अपने लक्ष्य की प्राप्ति करते हैं।

'बौद्ध ध्यान' को अनुत्तर-योग कहा जाता है, 'ब्राह्मण ध्यान' को ब्राह्मण योग। ब्राह्मण योग मुख्यतः भौतिक और जादुई शक्ति होता है जो व्यक्तिगत कल्पना से उपचारात्मक विक्षिप्तता द्वारा उत्पन्न होता है। बौद्ध ध्यान का भी मौलिक और स्वच्छता मूलक पक्ष होता है। भले ही ध्यान में मौलिक स्वच्छता मूलक तथ्य हो पर यहाँ मूलतः नैतिक पक्ष प्रधान होता है। इसका मूल उद्देश्य चेतन की मूल प्रकृति का ज्ञान प्राप्त करना होता है और अन्ततः मनुष्य बौद्ध धर्म में योग की पराकाष्ठा दयालु बोधिसत्व में देखती है जो छः पारमिताओं की साधना करते हैं।"

बौद्ध योगी एवं ब्राह्मण योगी में निम्न अन्तर है- जहाँ कि ब्राह्मण योगी विश्वरूप ब्रह्म में अपने को समाहित करने का प्रयास करता है वहीं बोधिसत्व चिन्तन के द्वारा प्रत्येक वस्तुओं में अपनत्व की प्रवृत्ति के त्याग का प्रयास करता है। (सर्वधर्म अनुपालना चन पति। चुनयत करुणाकर अभिन्दम् बोधि चित्तम्।) उसका दृष्टिकोण विश्वजनीन करुणा का होता है। व्यक्तिगत भावना का नहीं।

अष्टांगिक मार्ग के महत्व के प्रति बुद्ध ने कहा, "हे भिक्षुगण! हे परिव्राजक! जिसने संसार को त्याग दिया है उसे दो अन्तों का सेवन नहीं करना चाहिए। एक जो काम्य पदार्थों में अर्थात् विषय भोग में सुख की इच्छा से लगे रहना। यह अत्यन्त हीन, ग्राम्य, आध्यात्मिकता से पृथक करने वाला, अनार्य तथा लाभ रहित है। दूसरा अन्त है-शरीर को क्लेश देना। यह भी दुःख, भय, अनार्य एवं अलाभदायक है। हे भिक्षुगण! इन दोनों अन्तों को छोड़कर मैंने मध्यमा प्रतिपदा नामक बीच के मार्ग से ज्ञान प्राप्त किया है। यह मध्यमा प्रतिपदा चक्षु प्रदान करने वाली है, अर्थात् बुद्धि को देने वाली है। यह चित्त को शांति प्रदान करती है तथा पूर्ण ज्ञान, सम्बोध एवं निर्वाण को प्राप्त कराती है।"

धम्म पद में अष्टांगिक मार्ग की श्रेष्ठता निम्न शब्दों में बताई गई है-

मग्गानां ठंगि को सेट्ठो स्वचानं चतुरो पदा।
विरागो सेट्ठो धम्मानं दिपदानं च चक्खुमा ।।

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

अर्थात् निर्वाणगामी मार्गों में अष्टांग मार्ग श्रेष्ठ है। लोक में पावन सत्य धर्म है। उनमें चार आर्य सत्य श्रेष्ठ हैं। धर्मों में वैराग्य श्रेष्ठ है और मनुष्यों में सर्वज्ञानी बुद्ध भगवान ही श्रेष्ठ हैं।

इस प्रकार अष्टांगिक मार्ग पर चलकर मनुष्य बोधिसत्व को प्राप्त कर सकता है। बोधिसत्व प्राप्त व्यक्ति का अहम् मिट जाता है। प्रज्ञा की प्राप्ति होती है जिससे ध्यान का विकास होकर बोधि की प्राप्ति होती है। बोधि प्राप्त व्यक्ति की विशेषता है– जिसने बोधि को प्राप्त कर लिया है अपने को दो गुणों में समाहित कर लेता है जिनका लक्ष्य एक ही है। ये गुण है: प्रज्ञापारमिता: ज्ञान और आत्मबोध तथा चित्तपारमिता नैतिकता आदि। ज्ञान की प्राप्ति के द्वारा दया, करुणा, समर्पण और नैतिकता से पुण्य की प्राप्ति हो जाती है। गुणों के आधार पर ही मनुष्य अपने मन को नियंत्रित कर विवेकशील बन सकता है जिससे भिक्षु जीवन के आकर्षण द्वारा प्रवंचित नहीं हो सकता। पृथ्वी की तरह मनुष्य का यही आधार तथा सद्गुणों की जड़ है। बुद्ध के उपदेशों का प्रारम्भिक बिन्दु गुण अर्थात् ज्ञान पर ही सारा कल्याण निर्भर है। इस प्रकार आर्य अष्टांगिक मार्ग से ही बौद्ध भिक्षु जीवन के परम लक्ष्य निर्वाण को प्राप्त कर सकता है।

अन्य शिक्षाएँ

इनके अतिरिक्त बुद्ध ने निर्वाण के समय भिक्षुओं को बोधिपक्षीय धर्म का उपदेश किया। इसका उद्देश्य था साधना के द्वारा निर्वाण की प्राप्ति करना। यह मध्यम मार्ग द्वारा मुक्ति की प्राप्ति पर बल देते हैं जिसमें अत्यन्त शारीरिक सुख या दु:ख का कोई स्थान न हो। इन शुद्ध आचार तत्त्वों के पालन को 'मज्झिम मग' मध्यम मार्ग कहता है। इसी को पालि में 'मज्झिम मग' कहा गया है। इस बोधिपक्षीय धर्म को उन्होंने सात भागों में विभक्त कर कुल सैंतीस धर्मों का उपदेश किया। इसका उद्देश्य था मुक्ति प्राप्त करना। उन्होंने यह भी कहा कि भले सभी का जीवन में पालन न किया जा सके पर एक या दो वर्गों के पालन से मुक्ति होनी ही है। उन्होंने यह भी कहा कि धर्म के विषय में चाहे कितने भी विरोध हों पर इन बोधिपक्षीय के विषय में सबको सहमत होना ही है। यही सधम्म के पर्य्याय है–

१. चार स्मृति उपस्थान

इसको स्मृति प्रस्थान या प्रधान भी कहते हैं। कर्म प्रधान धर्म होने के कारण साधना के निम्न चार प्रधान को सदा स्मृति में रखने और पालन करने का निर्देश है :

(i) काय-स्मृति-प्रधान : काय (शरीर) में दोषपूर्ण संस्कारों को उत्पन्न होने के प्रति स्मृति (ध्यान) रखना।

(ii) वेदना-स्मृति-प्रधान : जो दोषपूर्ण संस्कार आ गये है स्मृति (ध्यान) रखना कि उनका विनाश हो जिसमें वेदना न हो।

(iii) चित्त-स्मृति-प्रधान : स्मृति रखना कि उचित संस्कार ही उत्पन्न हों।

(iv) धर्म-स्मृति-प्रधान : स्मृति रखना कि जो धर्म (उचित) संस्कार बन गये हैं वे नष्ट न हों।

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

२. चार ऋद्धिपाद

ऋद्धिपाद का तात्पर्य है दैवीय शक्ति की प्राप्ति। इसके चार साधन बताये गये हैं :

(i) **छन्द** = प्रबल इच्छा
(ii) **वीर्य** =पराक्रम
(iii) **चित्त** = चेतनता
(iv) **मीमांसा** = विमर्श

३. चार सम्यक् प्रहाण

सम्यक् प्रहाण का अर्थ है सम्यक् व्यायाम जो चार प्रकार से साधा जा सकता है :

(i) वर्तमान दुराचारों को दूर करना
(ii) नये विकारों को मन में उत्पन्न न होने देना
(iii) उचित संस्कारों की रक्षा
(iv) बुद्धि द्वारा इसके लिए रास्ता तय करना

४. पाँच इन्द्रियाँ

इन्द्रियों से अभिप्राय ज्ञानेन्द्रिय या कर्मेन्द्रिय से न होकर 'शक्ति' से है। इनसे आध्यात्मिक विकास सम्भव होता है। ये पाँच शक्तियाँ हैं :

(i) श्रद्धा-बुद्ध, धम्म और संघ के प्रति श्रद्धा

(ii) वीर्य-इसका अर्थ पुरुषार्थ है जिससे पाप का नाश करके पुण्य को अर्जित तथा उसकी रक्षा एवं वृद्धि करना है।

(iii) स्मृति-इससे अतीत के कृत्यों को स्मरण करना है।

(iv) समाधि-इससे ध्यान में एकाग्रता द्वारा उच्चतर अवस्था प्राप्त करना है।

(v) प्रज्ञा-इसके द्वारा चार आर्य सत्यों का सहृदयतापूर्वक अनुभव करना है।

५. पाँच बल

ऊपर की पाँच इन्द्रियाँ ही पाँच बल हैं जिनकी क्रियाशीलता के कारण ये पाँच बल स्थायित्व ग्रहण कर बंधन मुक्त करके शरीरी के निर्वाण प्राप्ति में सहायक होते हैं।

६. सात बोध्यांग

बोध्यांग (बोधिय=ज्ञान + अंग=स्रोत) से अभिप्राय है ज्ञान के स्रोत से ये सात है :

(i) स्मृति
(ii) धर्म-विनिश्चय
(iii) वीर्य
(iv) प्रीति
(v) प्रशान्ति
(vi) समाधि
(vii) उपेक्षा

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

इनके द्वारा भव (संसार), काम (वासना) तथा दृष्टि (दोष) को त्यागकर विद्या और विमुक्ति द्वारा साधक अर्हत पद प्राप्त करता है।

७. अष्टांगिक मार्ग

इसके सम्बन्ध में आगे पीछे विवेचन किया गया हो।

(ब)

बौद्ध दर्शन

बुद्ध ईश्वर, लोक, जीव मृत्यु आदि के पश्चात किसी सत्ता सम्बन्धी विवेचन में उलझना नहीं चाहते थे। इसी से उन्होंने ऐसे किसी प्रश्न पर कुछ भी नहीं कहता। वह मौन हो जाते थे जिससे उनका धर्म पक्ष और विपक्ष के विवेचन के थपेड़ों में घूमता न रहे। उन्होंने कहा था-'भिक्षुओं! इसे कहते हैं मतों का दिखावा, फन्दा, बंधन आदि। जिसने इन मतों से बंधकर सधर्म को सुना वह जन्म, बुढ़ापा तथा मृत्यु से मुक्त नहीं होता। वह दु:ख से पार नहीं होता।' अत: जिसे आज बौद्ध दर्शन कहते है उस प्रकार का कोई चिन्तन बुद्ध का नहीं था। यह दार्शनिक चिन्तन बुद्ध के बाद की देन है। उनकी दृष्टि में 'धर्म ही मनुष्यों में श्रेष्ठ है, इस जन्म में और पर जन्म में भी।'

क्षणिकवाद

धम्मपद में कहा गया है 'जो नित्य तथा स्थायी लगता है वह नाशवान है। जो महान लगता है उसका भी पतन होगा।' इस प्रकार संसार में सभी कुछ जड़-चेतन है अनित्य है, सागर के जल की तरह चलायमान है, परिवर्तनशील है। उसमें कार्य-कारण सम्बन्ध है। तभी बुद्ध ने कहा था कि 'जो नाशवान है उसका नाश अवश्य होगा।' उन्होंने न किसी वस्तु को न केवल स्थायी 'सत' माना न केवल नाशवान- 'असत्'। बल्कि इन्हें परिवर्तनशील कहकर दोनों अतियों का समन्वय किया। इसी परिवर्तनशीलता या अनित्यवादी बुद्ध के विचार को क्षणिकवाद कहा गया है।

यहाँ अनित्यता से भी अधिक भारी शब्दों में सभी वस्तुओं को क्षणिक माना गया। अत: सभी संसारी वस्तुएँ क्षणभंगुर हैं। वे क्षण-क्षण में रूप बदलती हैं। जो वस्तु एक समय एक कार्य करता है वह दूसरे समय दूसरा कार्य करता है। इस प्रकार पहले वस्तु का अस्तित्व समाप्त हो जाता है जैसे बीज, मिट्टी में डालने पर उससे पौधा निकलता है जो प्रतिक्षण बदलता जाता है। इसी प्रकार संसार भी प्रतिक्षण बदलता है। यही क्षणिकवाद है। इस तर्क को 'अर्थ-क्रिया-कारित्व' अर्थात् 'किसी कार्य को उत्पन्न करने की शक्ति' कहते हैं जो सभी वस्तुओं में होती है। कोई भी वस्तु इस आधार पर दो क्षणों में एक समान नहीं रहती। पर इसकी निम्न आलोचनाएँ की गई है :

(i) यदि कोई वस्तु क्षणमात्र ही रहेगी फिर बदल जायेगी तो कार्य कैसे करेगी। फिर कार्य-कारण सम्बन्ध वहाँ कैसे होगा। फिर कार्य को शून्य से उत्पन्न मानना पड़ेगा जो कार्य-कारण संबंध का खंडन करता है।

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

(ii) कर्म का सिद्धान्त इससे खण्डित होता है क्योंकि कर्म का फल मिलता है। पर यहाँ कर्ता जब कर्म करते ही बदल जाता है तो फल कैसे और कौन प्राप्त करेगा?

(iii) इससे निर्वाण का सिद्धान्त खण्डित होता है। दु:ख से छुटकारा निर्वाण है। प्रयासरत व्यक्ति जब दूसरे क्षण बदल जायेगा तो किसका और कैसे छुटकारा या निर्वाण होगा।

(vi) स्मृति और प्रतिभिज्ञा की व्याख्या भी इसके कारण खण्डित होती है क्योंकि क्षणिकवाद में स्मरणकर्ता और पहचाना जाने वाला व्यक्ति कार्य पूर्ण होने के पहले ही बदल जायेगा।

अनात्मवाद

बुद्ध का मत है कि 'विश्व में न कोई आत्मा है और न आत्मा, की तरह कोई और वस्तु। पाँचों ज्ञानेन्द्रिय, मन तथा मन की वेदनाएँ आत्मा से रहित हैं।' यही बुद्ध का अनात्मवाद है।

पर दूसरे दार्शनिक आत्मा को नित्य, स्थायी मानते हैं जो एक शरीर से दूसरे शरीर में मरने पर चली जाती है। वह मरती नहीं। यही पुनर्जन्म का सिद्धान्त है।

बुद्ध ने आत्मा को अस्थायी, मात्र, कल्पना और हास्यास्पद विचार कहा है। उन्होंने इसे विज्ञान का प्रवाह कहा है जैसे प्रवाहित जल के बूंद में एकमयता होने पर भी वह बदलता रहता है। बौद्ध दार्शनिक नागसेन ने कहा कि शारीरिक पाँच स्कन्धों से अलग कुछ नहीं है। आत्मा कोई अलग तत्त्व नहीं है जैसे रथ जो पहिया, आसन, घोड़ा आदि के मिलने पर उसे रथ कहते हैं इससे अलग रथ कुछ नहीं है।

बुद्ध ने भी सारनाथ में पंचवग्गीय भिक्षुओं को उपदेश के समय बताया कि पाँचों स्कन्ध- रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान में से कोई आत्मा नहीं है क्योंकि ये नश्वर तथा रोगाधीन हैं। फिर अमर आत्मा कैसे होगी। इसी से उन्होंने आत्मा विषय पर विचार करने को मना किया तथा अपने धर्म को 'अमनसिकरणीय' धर्म बताया। ऐसा सोचने का कारण था कि यदि आत्मा की स्थिति बताते तो लोगों में अपने प्रति आसक्ति होती जो दु:ख का कारण है। यदि न बताते तो जीवन से निराशा होती कि अपना कुछ नहीं है। इसी से वह इस झगड़े से बचने के लिये स्वयं मौन हो गये।

इसकी आलोचना की गई है-

(i) बुद्ध ने अपने अनुयायियों को ऐसा आदेश फिर क्यों दिया- 'आत्मदीप होकर विहार करो, आत्मशरण, अनन्यशरण हो।' डॉ. राधाकृष्णन ने इस आधार पर माना है कि बुद्ध का आत्मा में विश्वास था। पर ऐसा नहीं है। यहाँ आत्मा का प्रयोग लौकिक भाषा में किया गया है। 'आत्मदीप' का अभिप्राय है अपने पर निर्भर हो।

(ii) इसके मानने पर पुनर्जन्म की व्याख्या कैसे होगी जिसे बुद्ध मानते हैं। यहाँ पुनर्जन्म से अभिप्राय है आत्मा का एक शरीर से दूसरे में प्रवेश करना नहीं बल्कि विज्ञान प्रवाह की तरह एक प्रवाह की समाप्ति पर दूसरे का प्रारम्भ। जैसे एक दीपक से दूसरा दीपक जलता है वैसे ही इस जीवन की समाप्ति पर दूसरे जीवन का प्रारम्भ होता है।

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

अनीश्वरवाद

बुद्ध ने सृष्टिकर्ता ईश्वर को मानना अनुचित बताया है। उनकी दृष्टि में यह संसार अनित्य है, परिवर्तनशील है तो फिर एक ऐसी सत्ता को इसका कर्ता कैसे बताया जा सकता है जिसे कहा जाता है कि वह नित्य और अनश्वर है। अतः यह सृष्टि उत्पत्ति और विनाश के नियम पर आधारित है। ईश्वर स्वयं पूर्ण माना जाता है फिर उसकी सृष्टि कैसे अपूर्ण है तथा जब वह सच्चिदानन्द है तो उसकी सृष्टि में पाँच पाप, दुःख, अशुभ आदि का स्थान क्यों हैं? ईश्वर को विश्व की सृष्टि करने के लिए क्या आवश्यकता थी? यदि इसके बिना वह काम नहीं कर सकता था तो वह अपूर्ण है। यदि वह पूर्ण होकर भी निष्प्रयोजन संसार की रचना करता है तो पागल है।

इसी से उन्होंने माना कि सृष्टि की रचना ईश्वर द्वारा नहीं, कार्य-कारण के नियम द्वारा हुई है। कार्य-कारण का संचालक अगर ईश्वर को माना जाय तो स्पष्ट है कि ईश्वर अपूर्ण है जिसकी पूर्ति के लिए कार्य-कारण का संचालन करता है। इसी से वह ईश्वर की सत्ता को प्रभावित नहीं करते है। तभी उन्होंने अनुयायी भिक्षुओं को उपदेश दिया कि ईश्वर पर निर्भर न रहकर स्वयं अपना मार्ग खोजो-'आत्मदीपो भव'। पर इसकी आलोचना हुई है –

(i) अधिकांश विचारकों ने बुद्ध को अनीश्वरवादी कहा है। पर बुद्ध ने कहीं भी ऐसा नहीं कहा है कि ईश्वर हैं ही नहीं। वह कर्मवादी होने के कारण चूंकि कर्म पर विश्वास करते थे अतः ईश्वर विषयक प्रश्न पर मौन हो जाते थे।

(ii) कुछ मानते हैं कि वह अनीश्वरवादी नहीं थे। कर्मवाद के समर्थक होने के कारण मात्र ईश्वर को स्रष्टा, कर्ता हर्ता आदि छोटे-कार्यों से ऊपर की सत्ता मानते थे।

उनके लिए ईश्वर अनिर्वचनीय था। उनका धर्म परमतत्त्व को मानने के कारण ईश्वर की सत्ता का विरोधी नहीं कहा जाता। परमतत्त्व स्वतः परोक्ष रूप से ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करता है, पर उसके परम रूप को। इससे बुद्ध को अनीश्वरवादी नहीं कह सकते।

निर्वाण

बौद्ध धर्म के अनुसार "निर्वाण" का अर्थ है "दुःखों का अन्त"। "निर्वाण" अभावात्मक नहीं बल्कि भावात्मक है। "निर्वाण" का अर्थ जीवन निरोध नहीं बल्कि मनोभाव निरोध तथा चित्तवृत्ति निरोध है। अतएव बौद्ध धर्म के अनुसार निर्वाण का अर्थ जीवन का नाश नहीं अपितु दुःखों का अन्त है।

बौद्ध धर्म में निर्वाण को धर्म का सर्वोच्चपद कहा गया है-**निब्बानं पदमच्चुतम्**। यह भय रहित है- **निब्बानं अकुतोभयम्**। यह यहाँ तथा वहाँ दोनों स्थानों पर सुख प्रदान करता है-**इधनन्दति पेंच्चनन्दति**। अतः यह सुख की अवस्था है। यह परमानन्द की अवस्था है-**निब्बानं परमं सुखम्**।

सम्बोधि के सन्दर्भ में "निर्वाण" को अतर्क्य धर्म कहा गया है और उसका वर्णन किया गया है- 'सर्व-संस्कार-शमथ, सर्वोपधि प्रति-सिसर्ण, तृष्णाक्षय, विराग, निरोध। "संसार जात, मृत, समुत्पन्न, कृत, संस्कृत और अध्रुव है। उसका "निस्सरण है शान्त, अतर्कावचर, ध्रुव, अज्ञान,

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

असमुत्पन्न, अशोक, विरजपद।" संसार अनित्य होने के कारण मिथ्या है, निर्वाण नित्य और सत्य है-**तंहि मुसा यं मो सधम्मं तं सच्चं यं अमोसधम्मं निब्बानं।** इसी बात को नागार्जुन और चन्द्रकीर्ति ने कहा है-"एतद्धिखलु मिक्षवः परमं सत्यं यदिदम मोषधर्म निर्वाणं सर्व संस्कारास्य मृषा मोषधर्माण इति।" "शंकर वेदान्त" में निर्विकारता सत्य का लक्षण माना गया है। अतएव निर्वाण परम सत्य है, अनन्यथाभावि, अच्युत, अमृत, अत्यन्त, अप्रमाण, अचिन्त्य। अनन्त और अचिन्त्य अमृत पद उपनिषदों में प्रयोग किया गया है-**यो वै भूमा तदमृतं यदल्पं तन्मर्त्यम्।** अनेक प्राचीन सन्दर्भों में निर्वाण को अप्रपञ्च, निष्प्रपञ्च, प्रपञ्चनिरोध, अथवा प्रपञ्चव्युपशम कहा गया है। प्रपञ्च शब्द उपनिषदों में मिलता है, किन्तु कम है। इसके अर्थ प्रायः नाम-रूप के सदृश थे। निर्वाण में समस्त प्रपञ्च का अतिक्रमण हो जाता है-

यत्थ आपो च पठवी तेजो वायो न गाधति पमुच्चति।

यह समस्त लोक से निराली अपने से जानने की अवस्था उपनिषदों में वर्णित आत्मज्ञान अथवा अपने के जानने से तुलनीय है। "न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं, नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमाग्निः।" यह अवस्था अनिर्वचनीय है। "एत्थ नामं च रूपं च असेसमुपरूज्झति"। ऐसी ही तैत्तिरीय उपनिषद् की उक्ति है- "यतो वाचो निवर्तन्ते" अर्थात् जहाँ से वाणी निवृत्त हो जाती है। उपनिषदों एवं ब्राह्मण दर्शनों में निर्वाण की व्याख्या करते हुए कहा गया है-

"We come across such terms as Amrita, Moksha, Mukti, Nihsreyasa, Kaivalya, Apavarga as Sanskrit equivalents for salvation, but it is only in the anicient Pali and Sanskrit works on Buddhism that the word Nirvana is frequently employed to mean salvation."

निर्वाण अशेष साधना का लक्ष्य है।"अमतोगाधा सब्बे धम्मा", "निब्बानोगाधं ब्रह्मचरियं" निर्वाण को "साक्षातकर्तव्य" कहा गया है। वह अनुत्तर, उत्तम, परम है। वस्तुतः वह इच्छित है, वही वास्तविक प्रयोजन है। इसीलिए निर्वाण को अर्थ, निपुणार्थ, परमार्थ, उत्तमार्थ कहा गया है। यह स्मरणीय है कि उपनिषदों में भी निःश्रेयस के लिए अनेक शब्द का प्रयोग मिलता है, यथा "हीयतेऽर्थाद्य उप्रेयो वृणीते" (कठ.) कृतार्थोभवते वीतशोकः (श्वेत.)। निर्वाण को सतत योगक्षेम कहा गया है (भाज्झिम इत्यादि)। उपनिषदों में ऐसी उपमा अनेक बार आयी है शोकस्य पारं (छ. १०७. १३), तमसः पारं, अमयस्यीपारं, अभयं तितोर्षतां पारं, (मुण्डक. २.२.५) आदि। निर्वाण को बहुधा संसार का दूसरा घाट कहा गया है, इत्यादि।

बौद्ध ग्रन्थ मज्झिम निकाय में निर्वाण को साक्षात् सर्वोत्तम स्थायी सुख कहा गया है- **एतं रवो परमं ञाणं एतं सुखभवुन्तमम्।** इससे निरर्थक संस्कारों का शमन हो जाता है और इस कारण उसे शान्त अथवा शान्ति पद कहा गया है। इसे स्थायी सुख कहा गया है। विभाषा में एक सूत्र है कि मार्ग सुख से निर्वाण सुख प्राप्त होता है। महायानी आचार्यों ने भी निर्वाण को सुख ही माना है-"अनपायसुखैकरसं शिवम्।" किन्तु इसे सुख वेदना न समझना चाहिए। भगवान ने केवल सुख की तीव्रता को ही सुखमय नहीं बताया है, अपितु जहाँ-जहाँ सुख उपलब्ध होता है सबको सुखमय बताया है। इस विलक्षण सुख की चर्चा उपनिषदों में भी है, यथा- **तदेतदिति मन्यतेऽनिर्देश्यपरमं सुखम्।**

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

पूसें कहते हैं कि यह विचित्र सुख है जहाँ कोई कष्ट नहीं होता है, जो पाश्चात्य जिज्ञासुओं के लिए पूर्णतया अज्ञात है। किन्तु पश्चिम में भी ज्ञान से प्राप्त शान्ति की बात होती रही है।

ज्ञान के द्वारा चित्त को विमुक्ति का लाभ होता है। "जन्मक्षीण हो गया, ब्रह्मचर्य पूरा हो गया, कर्त्तव्य कर लिया अब और संसार में क्या करना शेष है," ऐसा समझ लेता है। ज्ञान के द्वारा सभी प्रकार के पापों के क्षीण होने पर विमुक्ति प्राप्त होती है। यही अर्हत्त्व का लाभ है। विमुक्ति की अवस्था राग, द्वेष और मोह के क्षय होने पर आती है जिसे अमृतत्व कहा गया है। यहाँ सारे बन्धन टूट जाते हैं। अत: विमुक्ति को विद्या का उद्देश्य कहा गया है और निर्वाण को विमुक्ति का लक्ष्य।

निर्वाण में बुराईयाँ, इच्छाएँ, राग-द्वेष-मोह, वासना, तृष्णा, कर्म, भाव, नाम रूप, संस्कार, उपाधि, आदि, अन्त का निरोध हो जाता है। इस प्रकार जन्म-मरण की परम्परा अविद्या, क्लेश और कर्म पर आधारित है। विद्या से क्लेश क्षीण हो जाता है। इस प्रकार संसार चक्र का निरोध हो जाता है। बौद्ध ग्रन्थों में इसे ही निर्वाण कहा गया है।

चन्द्रकीर्ति के शब्दों में तथागत का शासन और उसके धर्मानुधर्म की प्रतिपत्तिपूर्वक जिन पुरुषों ने ब्रह्मचर्य का पालन किया है उनको भगवान् ने दो प्रकार का निर्वाण बताया है। सोपधिषेश और निरुपधिशेष। अविद्या, राग आदि क्लेश-समुदाय के अन्त से सोपधिशेष निर्वाण होता है क्योंकि इसके बाद भी कुछ शेष रह जाता है। जिस निर्वाण में लेश मात्र भी शेष नहीं रहता सब कुछ का अन्त हो जाता है वह निरुपधिशेष निर्वाण है।

निर्वाण के विषय में कहा गया है कि **निर्वान्ति धीरा यथायं प्रदीपो** अर्थात् जिस प्रकार दीपक मे डाले गये तेल के समाप्त हो जाने पर वह बुझ जाता है, उसी प्रकार काम, क्रोध, भोग आदि के नष्ट हो जाने पर आवागमन नष्ट हो जाता है। अत: तृष्णा आदि के नष्ट हो जाने पर ही मनुष्य को निर्वाण की प्राप्ति होती है। अत: बुद्ध के सम्बन्ध में निर्वाण का अर्थ है इस ज्योति शिखा के जलते-जलते बुझ जाना अर्थात् निर्वाण में जीवन ज्योति जलते-जलते बुझ जाती है। इसका शाब्दिक अर्थ भिक्षुओं के लिए चाहे जो रहा हो पर बुद्ध के जीवन के सन्दर्भ में निर्वाण संसार के त्याग का बोधक है।

निर्वाण की प्राप्ति जीवन काल में ही की जा सकती है। राग-द्वेषों पर विजय पाकर शुद्ध तथा शील के साथ आर्य सत्यों का निरन्तर ध्यान रखते हुए यदि कोई विवेक द्वारा ज्ञान प्राप्त कर ले तो उसका चित्त लोभ, मोह, राग, द्वेष आदि से मुक्त हो जाता है। ऐसे व्यक्ति को काम, रूप, अरूप किसी प्रकार की तृष्णा नहीं रहती और वह आध्यात्मिक मार्ग पर विजय प्राप्त कर लेता है।

इस प्रकार व्यक्ति सर्वथा मुक्त हो कर मोक्ष पा जाता है, वह अर्हत हो जाता हैं। मोक्ष को ही बौद्ध धर्म में निर्वाण कहा गया है। यह राग-द्वेष से उत्पन्न दु:ख के नाश की अवस्था है।

निर्वाण कर्म के त्याग अथवा निष्क्रियता की अवस्था नहीं है। आर्यसत्यों के सम्यक् ज्ञान के लिए मन को बाहरी वस्तुओं से हटाना होता है तथा मन कों आर्यसत्यों पर ही मोड़ करके उनका निरन्तर विचार तथा मनन करना होता है। लेकिन बराबर अभ्यास के द्वारा जब स्थायी रूप

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

से ज्ञान प्राप्त हो जाता है तब सदा अभ्यास करने की जरूरत नहीं होती। तब जीवन में कर्मों से केवल विरत रहने की ही आवश्यकता पड़ती है। महात्मा बुद्ध निर्वाण प्राप्त करने के बाद भी अपने कर्मों के साथ धर्म प्रचार आदि करने में लगे रहे। महात्मा बुद्ध ने दो प्रकार के कर्म बताये हैं- १. प्रथम कर्म-राग, द्वेष तथा मोह के कारण होता है २. दूसरे प्रकार का कर्म-बिना राग, द्वेष तथा मोह के होता है। पहले कर्म से हमारी अनुरक्ति विषयों में बढ़ती है तथा ऐसे संस्कार उत्पन्न होते हैं कि जिनके कारण हमें दूसरा जन्म लेना ही पड़ता है किन्तु दूसरे प्रकार का कर्म के प्रति बिना आसक्ति से किया जाता है। इसके कारण फिर जन्म लेने की आवश्यकता नहीं पड़ती है। उदाहरणार्थ यदि बीज को धरती में बो दिया जाता है तो वह अवश्य जमता है लेकिन उसे यदि भूनकर बोया जाय तो कदापि नहीं जम सकता। यद्यपि निर्वाण प्राप्त करने के बाद बुद्ध की भी इच्छा हुई थी कि निष्क्रिय रहें। दूसरे को निर्वाण का रास्ता वे बताना ही नहीं चाहते थे लेकिन दुःख के समुद्र में डूबते हुए मनुष्यों के प्रति उनमें दया का संचार हुआ और वे लोक कल्याण में लग गये। बुद्ध ने संसार के दुःखसागर को जिस नाव से पार किया था उसे नष्ट नहीं किया बल्कि उसे उन्होंने जीवों के कल्याण में प्रयोग किया।

निर्वाण का स्वरूप तर्कयुक्त होते हुए भी उसकी सत्ता निर्विवाद है। निर्वाण में दुःखों का अन्त हो जाता है किन्तु सबकुछ का अन्त नहीं होता। उपनिषदों में ब्रह्म को प्रायः सद्रूप कहा गया है। दूसरी ओर निर्वाण अभाव रूप नहीं होते हुए भी भाव रूप है, नहीं कहा जा सकता। उपनिषदों में ब्रह्म को जगत का कारण बताया गया है। निर्वाण को केवल जगत के लक्ष्य के रूप में ही संकेतित किया गया है। किन्तु यहाँ पर भी प्राचीन उपनिषदों एवं बौद्ध संदर्भों में जगत का मिथ्यारूप शुद्ध से ज्ञात होने पर भी स्पष्ट कहा नहीं जा सकता है। इसलिए उपनिषदों में जगत का कारण ब्रह्म इसे केवल प्रपंचों के पशन रूप में निर्वाण से विभाजित करता हैं।

अनेक इतिहासकारों ने निर्वाण की अवधारणा की आलोचना की है। कुछ मानते हैं कि निर्वाण में व्यक्तिगत आत्मा विश्वात्मा में समाहित हो जाती है जैसा वेदान्त दर्शन में। दूसरे इसे चित्तवृत्ति निरोध की अवस्था मानते हैं जहाँ जीवन, प्रेम आदि सभी कुछ समाप्त हो जाता है। पर पहले के विषय में कह सकते हैं कि यह बौद्ध विचारों से भिन्न है क्योंकि बुद्ध आत्मा और ब्रह्म के विषय में मूक हैं। दूसरे के संदर्भ में कह सकते हैं कि ऊपर देखा गया है कि निर्वाण क्रियाओं का अन्त नहीं है।

आचार्य नरेन्द्रदेव ने 'बौद्ध-दर्शन' में निर्वाण विषय पर कहा है कि "निर्वाण एक अदृश्य स्थान है, जहाँ आर्य तिरोहित हो जाते हैं। उदान (८/१०) में बुद्ध कहते हैं कि जैसे हम यह नहीं जानते कि निर्वापित अग्नि कहाँ जाती है, उसी प्रकार हम नहीं कह सकते कि वह विमुक्त आर्य कहाँ जाते हैं, जिन्होंने तृष्णारूपी ओघ का समतिक्रम किया है और जिन्होंने अकोप्य क्षेम का लाभ किया है। निर्वापित होने पर अग्नि अदृश्य हो जाती है, अर्थात् अग्नि नहीं रहती। इसी प्रकार परिनिर्वृत आर्य जीव, पुद्गल, चित्त नहीं रह जाता। अभाव के जितने परिचित आकार हैं या जिनकी कल्पना हो सकती है, उनका अतिक्रमण करना ही मोक्ष है। यह अभाव नहीं है।" आचार्य जी यहाँ बहुत कुछ वेदान्त-दर्शन से प्रभावित लगते हैं।

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

बौद्ध धर्म के चारों निकाय-वैभाषिक, सौत्रान्तिक, योगाचार तथा माध्यमिक सभी निर्वाण

को मनुष्य का परम लक्ष्य मानते हैं किन्तु सभी के मत भिन्न है। यद्यपि सभी मानते हैं कि निर्वाण अमृत है, निरोध, परम क्षेम तथा विराग है। उसमें सभी दुःखों का निरोध है। वह परम शान्ति है। किन्तु इन सभी में इतना मतैक्य होते हुए भी भिन्नता है। वैभाषिकों के अनुसार निर्वाण परम, प्रतिवेद्य, विद्या-प्रेम प्रणीत और मुक्ति है। उसको उपलब्ध करने वालों का ज्ञान शुद्ध स्वभाव और प्रत्यक्ष है। शुद्ध निर्वाण में केवल धार्मिकता शेष रहती है। ये निर्वाण शाश्वत और वास्तविक मानते हैं।

सौत्रांतिक मत में निर्वाण निरोध मात्र है। यद्यपि इनमें कुछ निर्वाण में एक सूक्ष्म, किन्तु सर्वथा कुंठित चेतना की स्थिति स्वीकार करते है।

विज्ञानवादियों के अनुसार बोधिसत्व आध्यात्मिक वृत्ति के द्वारा महापरिनिर्वाण की प्राप्ति करता है। निर्वाण स्वभावत: विशुद्ध है किन्तु अविद्या से उसका स्वस्थ मार्ग ज्ञान के द्वारा ही सम्भव है। विज्ञप्तिमात्रता सिद्धि में चार प्रकार के निर्वाण कहे गये हैं : अनादिकालिक-प्रकृतिबद्ध-निर्वाण, सोपधिशेष-निर्वाण, निरुपधिशेष निर्वाण, अप्रतिष्ठित निर्वाण। इनमें पहला निर्वाण शान्त प्रकृति का है। शेष तीन आध्यात्मिक विकास में समता के क्रमिक प्रकाश हैं। निर्वाण परमार्थ और शुद्ध लक्षण है। वही विशुद्ध धर्म केन्द्र है। निर्वाण और संसार में कोई आत्यंतिक भेद नहीं है। जहाँ अविद्या के द्वारा आरोपित परतंत्रलक्षण संसार है वहीं प्रज्ञा के द्वारा प्रकट उपशान्त-लक्षण निर्वाण है। निर्वाण से सबकी मुक्ति होती है। यह परमात्मत्व की ओर जाता है तथा प्रपंचों का नाश करता है।

माध्यमिकों में भी निर्वाण और संसार में भेद नहीं माना जाता। निर्वाण को वे भावाभाव-निर्मुक्त, शून्य-स्वरूप कहते हैं। समस्त स्वस्थ्य धर्म वस्तुतः पृथक्-पृथक् स्वभावों से रहित है। स्वभाव-शून्यता अथवा ईश्वर के साथ अद्वैत होना ही निर्वाण है।

अतएव वैभाषिक निर्वाण को द्रव्य पद या भाव मानते हैं। सौत्रान्तिक निर्वाण को अभाव मानते हैं। योगाचार इसे भाव और अभाव दोनों बताते है। माध्यमिकों के अनुसार संकुचित दृष्टि से जो संसार है वही व्यापक दृष्टि से निर्वाण है।

हीनयानी का मत है कि निर्वाण अर्हत्त्व है। प्रत्येक मनुष्य को अपना निर्वाण स्वयं प्राप्त करना है। एक के निर्वाण से दूसरे को निर्वाण नहीं मिलता। किन्तु महायान के अनुसार यह निर्वाण स्वार्थ मूलक तथा हीनतर है। वे कहते है कि जिस निर्वाण में जीवमात्र को ही शान्ति मिले उससे क्या लाभ?

लेकिन इस प्रकार की शंका व्यर्थ है। वास्तव में निर्वाण से दो लाभ हैं-१. निर्वाण प्राप्त कर लेने से पुनर्जन्म और उससे उत्पन्न दुःख सम्भव नहीं होता। २. जिसे निर्वाण मिल जाता है उसका जीवन मृत्युपर्यन्त शान्ति और पूर्ण ज्ञान के साथ व्यतीत होता है। प्रसिद्ध बौद्ध धर्मोपदेशक नागसेन ने निर्वाण की अवस्था का वर्णन इस प्रकार किया है-'निर्वाण समुद्र की तरह गहरा, पर्वत की तरह ऊँचा तथा मधु की तरह मधुर है। जिन्हें निर्वाण का अनुभव नहीं वे किन्हीं भी उपमाओं से इसे व्यक्त नहीं कर सकते। अंधे को भला रंग का ज्ञान कैसे कराया जा सकता है। जिस प्रकार ब्रह्म अकथनीय है, उसी प्रकार निर्वाण अकथनीय है। इसका केवल अनुभव किया जा सकत्ता है।

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

अत: निर्वाण उपाधि रहित अवस्था है। इसका वर्णन असम्भव है। यह उपनिषदों की तुरीयावस्था की भाँति है।" बौद्ध ग्रन्थ में कहा गया है कि "स्वास्थ्य की प्राप्ति का बड़ा लाभ हैं, संतोष ही सबसे बड़ा धन है, विश्वास ही सबसे बड़ा सम्बन्धी है और निर्वाण ही परम सुख है-

अरोग्या परमा लाभा सन्तुष्टि परमं धनम्।
विस्सामं परमा जाति निब्बानं परमं सुखम्।।

अतएव निर्वाण भावात्मक है, यह पूर्णता का लक्ष्य है, शून्यता का नहीं। "Nirvana is our eternal condition of being, for it is not a samskara or what is made or put together which is impermanent. It continues while its expressions change. This is what lies behind the skandhas, which are subject to birth and decay-Buddha does not attempt to define it. Since it is the root principle of all and so it is indefinable."

इनसे स्पष्ट है कि बौद्ध ग्रन्थों में निर्वाण को नित्य और शान्त माना गया है-जो सत्य है। निर्वाण कार्य-कारण-परिधि के बाहर है एवं विशिष्ट होने के कारण वाणी से अगोचर है। उसका केवल अनुभव सम्भव है। इस प्रकार अवर्णनीय होते हुए भी वह जीवन का परम लक्ष्य है। निर्वाण का साक्षात्कार सम्बोधि में होता है और उसकी प्राप्ति के साथ ही क्लेश, कर्म और दुःख से मुक्ति हो जाती है, अहंकार नष्ट हो जाता है और मृत्यु उतनी ही निरर्थक होती है जितना जन्म। निर्वाण में संसारी का परम अन्त सत्ता में वैसे ही हो जाता है जैसे अग्निशिखा को अपने मूल में।

स्पष्ट लौकिक चेतना के परिचित शब्दों में निर्वाण का वर्णन किया जा सकता है। उसकी अनन्तता का सर्वोत्तम संकेत मौन के द्वारा हो सकता है। श्री अरविन्दो ने इस अवस्था का वर्णन करते हुए कहा है कि-"एक असंग परमार्थ ने समस्त का निषेध कर दिया, सम्मूढ जगत् को अपने अद्वैत से मिटा दिया और आत्मा को अपनी शाश्वत शान्ति में डूबा दिया।"

शून्यवाद

यह बौद्ध दर्शन का एक मुख्य सम्प्रदाय है जिसके प्रवर्तक नागार्जुन माने जाते हैं। पर डॉ. चन्द्रधर शर्मा तथा डॉ. वि. एस. भट्टाचार्या इन्हें प्रवर्तक नहीं वरन् क्रमबद्ध रूप में उपस्थित कर्ता मानते हैं क्योंकि नागार्जुन के पहले महायान-सूत्र में शून्यवाद का उल्लेख है जिसे नागार्जुन ने जनता के सम्मुख उचित रूप से रखा और प्रसारित किया।

शून्यवाद बौद्ध धर्म-दर्शन में भौतिक पदार्थों को व्यक्त करने की एक ऐसी विधि है जिसमें सभी भौतिक तत्त्वों को अन्त में शून्य में अन्तर्निहित कर लिया जाता है। इस धर्म-दर्शन में प्रयुक्त शून्य का शाब्दिक अर्थ "सम्पूर्ण सत्ता का निषेध।" कुछ लोग मानकर इसे सर्ववैनाशिकवाद भी कहते हैं। पर यह भ्रामक है क्योंकि ऐसा नहीं है कि शून्यवाद किसी वस्तु का अस्तित्व नहीं मानता। व्यवहार में शून्य का अर्थ "रिक्त" एवं "शून्यता" को भी बौद्ध दर्शन में स्वीकार नहीं किया गया है।

वस्तुत: बौद्ध धर्म-दर्शन में शून्यवाद का प्रयोग मात्र भौतिक पदार्थों के निर्णय के लिए किया गया है। पर यह परमतत्त्व के निर्णय के लिए प्रयुक्त नहीं किया गया है। परमतत्त्व तो मन

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

तथा वाणी से परे अनिर्वचनीय माना गया है। यह "अनिर्वचनीय तत्त्व" ही शून्यवाद का "शून्य" है जबकि इस परमतत्त्व को अद्वैत वेदान्त में केवल सत् और असत् से विमुक्त माना गया है।

शून्यवादियों के अनुसार किसी भी वस्तु का स्वरूप चार प्रकार से बताया जा सकता है- (i) अस्ति (ii) नास्ति (iii) अस्ति च नास्ति च (iv) न अस्ति न च नास्ति। अर्थात् (i) वस्तु है (ii) वस्तु नहीं है (iii) वस्तु है और नहीं भी है (iv) वस्तु न है और न नहीं है। बौद्ध धर्म दर्शन का सर्वाधिक विवाद का विषय यही शून्यवाद है। नागार्जुन से प्राचीन हीनयानी सम्प्रदायों में भी शून्यता एवं नैरात्म्य को एक सीमित अर्थ में ग्रहण किया गया था। मनुष्य एक प्रकार का 'संघात' एवं संतान है, एक प्रवाहगत समूह। उसके विभिन्न "स्कन्धों" में किसी स्थिर आत्मा अथवा जीव की कल्पना नहीं करनी चाहिए। देह, इन्द्रियाँ अथवा मन पृथक्-पृथक् सत्ता हैं जिनकी समष्टि ही लोक प्रचलित आत्मा अथवा अहं की प्रतीति का आधार है। इसे बौद्ध धर्म में पुद्गल नैरात्म्य कहा गया है। स्कन्ध, धातु, आयतन, आदि में किसी जीव अथवा पुद्गल का अभाव ही तद्गत की शून्यता है। इस प्रकार यह विचार है कि हीनयान में शून्यता अथवा नैरात्म्य का अर्थ प्रायः जीव अथवा आत्मा का अभाव मात्र माना गया है।

प्रज्ञापारमिता-सूत्रों में शून्यता अथवा नैरात्म्य की इस धारणा का विस्तार किया गया है। किसी भी पदार्थ का अपना कोई स्वभाव नहीं है। यह स्वभाव शून्यता ही वास्तविक शून्यता अथवा नैरात्म्य शून्यता माना गया है। इस प्रकार के विस्तृत अर्थ में न केवल जीव अथवा आत्मा का अपितु समस्त पदार्थों का लोप हो जाता है। इस प्रकार जहाँ प्रज्ञापारमिता सूत्रों में एक ओर अभावात्मक शून्यता का यह सर्वांगीण विराट रूप प्रदर्शित किया गया है वहीं दूसरी ओर शून्यता की प्रज्ञापारमिता से अभिन्नता प्रतिपादित किया गया है। प्रज्ञापारमिता वस्तुतः निर्विकल्पक साक्षात्कारात्मक ज्ञान है। जिसमें समस्त भेद, द्वैत, प्रमेयता एवं अभिधेयता समाहित हो जाती है-**निर्विकल्पे नमस्तुभ्यं प्रज्ञापारमितेऽमिते।**

प्रज्ञापारमिता सूत्रों में अनेक स्थलों पर १८ प्रकार की शून्यता का उल्लेख है-अध्यात्म-शून्यता, वहिर्धा-शून्यता, अध्यात्म वहिर्धा-शून्यता, शून्यता-शून्यता, महाशून्यता, परमार्थ-शून्यता, संस्कृत-शून्यता, असंस्कृत-शून्यता, अत्यन्त-शून्यता, स्वलक्षण-शून्यता, अनवराग-शून्यता, अनवकार-शून्यता, प्रकृति-शून्यता, सर्वधर्म-शून्यता, अनुपलम्भ-शून्यता, अभाव-शून्यता, सर्वभाव-शून्यता, एवं अभाव-स्वभाव-शून्यता। शून्यता के ये विभिन्न प्रकार शून्यता के अन्दर किसी प्रकार का वास्तविक वर्गीकरण उपस्थित नहीं करते। इस प्रकार यदि शून्यता को यदि केवल अभाव कहा जाय तो प्रश्न उठता है कि "किसका अभाव?" इसके उत्तर में नाना पदार्थों का परिगणन कर उनका अभाव बताया जा सकता है। इससे प्रतीत होता है कि भाव-जगत् की छाया के समान एक अभाव जगत की भी कल्पना है। किन्तु माध्यमिकों ने इसे न अभाव की पदार्थता माना है, न भाव की। विभिन्न भाव-पदार्थों के अभाव को शून्यता से अभिन्न मानते हैं। यदि किसी पूर्व स्वभाव के बिना केवल विशुद्ध अभाव निरर्थक है तो यह भी मानना होगा कि स्वभाव का निर्धारण बिना अभाव के आवरण के असम्भव है। स्वभाव-परिच्छेद स्वयं प्रतिषेधपूर्वक है।

असत्ता की रेखा से बचे हुए सत्तामय जगत् का चित्र आरेखित होता है। यह स्वभावशून्यता पारमार्थिक शून्यता है। इससे निष्कर्ष निकलता है कि शून्यता सचमुच अग्नि की तरह सर्वग्रासिनी है। यहाँ तक कि आत्मग्रासिनी भी है और उसका निष्कर्ष मौन में ही हो सकता है।

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

किन्तु शून्यता के सिद्धान्त का नियमबद्ध दार्शनिक प्रतिपादन सर्वप्रथम नागार्जुन ने किया। उन्होंने अपने तर्क से ही इसका खण्डन किया तथा शून्यता को प्रतीत्य समुत्पाद से अभिन्न बताया। उनके शब्दों में–

यः प्रतीत्यसमुत्पादः शून्यतां तां प्रचक्ष्महे।
सा प्रज्ञप्तिरुपादाय प्रतिपत्सैव मध्यमा।।

आचार्य नरेन्द्र देव का विचार है कि-"जो स्वभाव से शून्यतावादी हैं उनके लिए किसी कार्य को बाधा नहीं पहुँचती, क्योंकि जो प्रतीत्य-समुत्पाद है, वही शून्यता है अर्थात् स्वभाव से भावों का अनुत्पाद है।" इसकी पुष्टि में वे भगवान् बुद्ध के इस कथन का प्रमाण देते हैं–

यः प्रत्ययैर्जायति सह्यजातो न तस्य उत्पादु स्वभावतोऽस्ति।
यः प्रत्ययाधीनु स शून्य उक्तो यः शून्यतो जानति सोऽप्रमत्तः।।

अर्थात् जिसकी उत्पत्ति प्रत्ययवश (कारणानुसार) है, वह अजात है, उसका उत्पाद स्वभाव से नहीं है। जो प्रत्यय के अधीन है, वह शून्य है। जो शून्यता को जानता है, वह प्रमाद नहीं करता।

माध्यमिक सूत्र में नागार्जुन कहते हैं कि शून्यता, अर्थात् धर्मता चित्त और वाणी का विषय नहीं है। यह निर्वाण सदृश अनुत्पन्न और अनिरुद्ध है। इसकी पुष्टि निम्न कथन से होती है–

निवृत्तमभिधातव्यं निवृत्ते चित्तगोचरे।
अनुत्पन्नानिरुद्धा हि निर्वाणमिव धर्मता।।

किन्तु नागार्जुन के समय "शून्यता" पर तर्क ही नहीं किया जा सकता था क्योंकि शून्यवादी किसी भी पक्ष को अपना लेता तो शून्यता की हानि हो जाती। जव "प्रतिज्ञा" ही नहीं की जा सकती तो मुक्ति के द्वारा उसका साधन दूर की बात है। डॉ. पाण्डेय का मत है कि 'वस्तुतः शून्यता का उपदेश सब "दृष्टियों" से छुटकारे के लिए है।

माध्यमिक सूत्र के "तथागत परीक्षा" नामक प्रकरण में नागार्जुन का कथन है कि निष्प्रपंच तथागत के सम्बन्ध में कोई भी कल्पना सम्भव नहीं है। तथागत न शून्य है, न अशून्य, न उभय और अनुभय। जो प्रपंची लोग तथागत के सम्बन्ध में विविध प्रकार की परिकल्पना करते हैं, वे मूढ़पुरुष तथागत की गुणसमृद्धि से दूर हैं। जिस प्रकार जन्मान्ध सूर्य को नहीं देखता, उसी प्रकार वे बुद्ध को नहीं देखते। नागार्जुन कहते हैं कि तथागत का जो स्वभाव है, वही स्वभाव इस जगत् का है। जैसे तथागत निःस्वभाव है उसी प्रकार यह जगत् भी निःस्वभाव है। प्रज्ञापारमिता में कहा गया है कि सर्वधर्म मायामुक्त हैं, सम्यक् सम्बुद्ध भी मायामुक्त है, निर्वाण भी मायामुक्त है और निर्वाण से भी विशिष्टतर यदि कोई धर्म हो तो वह भी माया से ऊपर है। माया और निर्वाण एक हैं। माध्यमिकवृति के एक सूत्र में कहा गया है-तथागत अनास्रव कुशलधर्म के प्रतिबिम्ब है, न तथ है, न तथागत, सब लोकों में विम्ब ही दृश्यमान है। इस तरह यह ज्ञात होता है कि शून्यतावादी के मत में बुद्ध निःस्वभाव हैं अर्थात् वस्तु के बंधन से मुक्त हैं, परमार्थ सत्य की दृष्टि से तथागत और जगत् का यही वास्तविक रूप है।

विज्ञानवादियों के अनुसार शून्यता में लक्षणों का अभाव है और तत्त्वतः यह एक अलक्षण "वस्तु" हैं क्योंकि शून्यता की सम्भावना के लिए दो बातों का होना परमावश्यक है-१. उस

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

आश्रय का अस्तित्व जो शून्य है और २. किसी वस्तु का अभाव जिसके कारण हम कह सकते हैं कि यह शून्य है। पर यदि इन दोनों का अस्तित्व न माना जाय तो शून्यता असम्भव है। शून्यता को विज्ञानवादी "वस्तुमात्र" मानते हैं। "वस्तुमात्र" चित्तविज्ञान या आलयविज्ञान है, जिसमें सास्त्रव-बीज एवं अनास्त्रव बीज का संग्रह रहता है। सास्त्रव बीज प्रवृत्ति धर्मों का और अनास्त्रव बीज निवृत्ति-धर्मों का कारण है। जो कुछ है वह चित्त का ही आकार है। जगत् चित्तमात्र है। चित्त के अतिरिक्त अन्य का अभ्युदय विज्ञानवादियों को मान्य नहीं है। प्रत्येक वस्तु का स्वभाव शाश्वत और लक्षण रहित है। जो लक्षण मुक्त हो जाता है, तो उसे माया कहते हैं और जब वह अलक्षण है तब वह शून्य के समान है।

"विग्रहव्यार्वतनी" नाम के लघु ग्रन्थ में नागार्जुन ने शून्यवाद की न्याययुक्त विवेचना पर विचार किया है। प्रारम्भ में ही उन्होंने अपने विरोध में दी गयी प्रधान उक्ति का उल्लेख किया है-"यदि सभी पदार्थों में अपना स्वभाव अविद्यमान है तो तुम्हारे शब्द भी स्वभावहीन होने के कारण स्वभाव के खण्डन में असमर्थ है, और दूसरी ओर यदि तुम्हारी बात स्वभावयुक्त है तो तुम्हारी पिछली प्रतिज्ञा खण्डित हो जाती है।" चन्द्रकीर्ति ने भी इस शंका को इस प्रकार प्रस्तुत किया है-सब पदार्थों के अनुत्पाद का सिद्धान्त प्रमाण जन्य है अथवा अप्रमाण जन्य? पहले विकल्प में प्रमाणों के लक्षण आदि प्रस्तुत करना चाहिए। दूसरे विकल्प में "सिद्धान्त" का खण्डन किया जाता है।

इस कठिनाई का उत्तर देते हुए नागार्जुन कहते है कि शून्यवादी के अपने वचन की शून्यता उचित है किन्तु उसके वचन और अन्य पदार्थ हेतु प्रत्यय सामग्री की अपेक्षा रखते हुए समान कोटि के हैं। सभी समान रूप से शून्य हैं। वस्तुतः विरोधियों ने शून्यता का सिद्धान्त ठीक नहीं समझा। पदार्थों का प्रतीत्य समुत्पाद ही शून्यता है, क्योंकि जिसकी सत्ता परतंत्र अथवा दूसरे पर निर्भर होती है उसका न अपना वास्तविक स्वभाव रहता है और न इसे स्वीकार ही किया जा सकता है। यदि पदार्थों का वास्तविक स्वभाव रहता हो तो उन्हें किसी दूसरे आधार की आवश्यकता न होती। उनकी यह निःस्वभावता ही शून्य है। शून्यवादी का वचन भी प्रतीत्यसमुत्पन्न है और उसी प्रकार शून्य है जैसे कि अन्य पदार्थ। रथ, पट, घट आदि पदार्थ प्रतीत्य-समुत्पन्न होने के कारण जल हटाने आदि का अपना-अपना कार्य करते हैं। ऐसे ही शून्यवादी की उक्ति भी साधन में अपना कार्य करती है। जिस प्रकार जादू का बनाया हुआ एक आदमी वैसे ही बने दूसरे व्यक्ति का निषेध करे ऐसे ही शून्यवादी के द्वारा पदार्थों के स्वभाव का निषेध हैं।

बौद्ध धर्म का शून्यवादी दर्शन विनाशवादी नहीं है बल्कि यह इन्द्रियों से देखे जाने वाले जगत को असत्य मानता है। प्रत्यक्ष से परे अदृश्य सत्य को सत्ता कहा गया है लेकिन उसे अवर्णनीय बताया गया है। उसे मानसिक अथवा बाह्य वस्तु भी नहीं कहा गया है। अवर्णनीय होने के कारण ही उसे शून्य कहा गया है। अतएव शून्यवाद की दार्शनिक पृष्ठभूमि भावात्मक है, अभावात्मक नहीं। चूँकि शून्यवाद में वस्तु-सत्ता को "अस्ति" (है) और "नास्ति" (नही है). "शुद्ध" "अशुद्ध" इन दोनों सीमाओं से भिन्न माना गया है अतएव इस दर्शन को माध्यमिक दर्शन कहा गया है। बुद्ध की "मध्यमा प्रतिपत्ति" के समान इस मत के तत्त्व को दोनों सीमाओं से स्वतंत्र रखा गया है। इसकी महत्ता को सिद्ध करने के लिए प्रतीतसमुत्पाद की सहायता ली

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

गयी है। नागार्जुन के अनुसार शून्यवाद का ही सिद्धान्त प्रतीत्य समुत्पाद है। वस्तुओं के सभी गुणों की उत्पत्ति दूसरों पर निर्भर होती है। जितने गुण हैं सभी शून्य हैं। अतएव वस्तुओं के अस्तित्व का दूसरे पर निर्भर होना तथा उसकी निरन्तर परिवर्तनशीलता तथा अवर्णनीयता को शून्य कहा गया है।

शून्यवाद में एकान्तिक मतों को स्थान नहीं प्राप्त है। अत: शून्यवाद को इसके आधार पर भी मध्यम मार्ग कहा गया है। यह वस्तुओं को न पूरा निरपेक्ष मानता है और न उसे आकारहीन मानता है। बल्कि यह मानता है कि वस्तुओं का अस्तित्व दूसरे पर निर्भर रहता है। अतएव इसी के कारण ही वस्तुओं का स्वरूप अवर्णनीय माना गया है। यह नहीं कहा जा सकता कि वह सत्य है अथवा असत्य। अतएव यह प्रतीत्यसमुत्पाद से उत्पन्न सिद्धान्त है इसीलिए इसको माध्यमिक भी कहा गया है। ये माध्यमिक वस्तु जगत के साथ हीसाथ परमार्थिक सत्ता पर भी विचार करते हैं। प्रतीत्य समुत्पाद का नियम तो केवल व्यवहारिक जगत के लिए ही स्वीकार किया गया है किन्तु इसके अनुसार तभी धातुओं को अनित्य माना गया है। इन्द्रियों द्वारा दीखने वाला जगत् का ज्ञान प्राप्त होता है। यह प्राप्त ज्ञान अनुभूति कहा गया है। अनुभूति को ही शून्यवाद में पारमार्थिक कहा गया है। पारमार्थिक बौद्ध धर्म में दृश्यमान जगत् से परे, नित्य, निरपेक्ष और लौकिक धर्म से भी परे बताया गया है। अतएव हम देखते हैं कि माध्यमिकवादी सापेक्ष-निरपेक्ष, नित्य तथा अनित्य दोनों सत्यों को स्वीकार करते हैं। अतएव नागार्जुन का कहना है कि "दो प्रकार के सत्य हैं जिन पर बुद्ध के धर्म सम्बन्धी उपदेश निर्भर हैं १. एक संवृत्ति सत्य है-जो सांसारिक एवं साधारण वस्तुओं के लिए प्रयुक्त हुआ है। २. दूसरा पारमार्थिक सत्य-जो बुद्धि से परे अवर्णनीय एवं निस्स्वभाव है।"

(१) संवृत्तिसत्य- चन्द्रकीर्ति के अनुसार "सुवृत्ति सत्य" का अभिप्राय लोक व्यवहार की ओर है। इस "सत्य" के अन्तर्गत सम्पूर्ण व्यावहारिक जगत् का जिसमें अभिधान-अभिधेय, ज्ञान-ज्ञेय आदि भेद को माना जाता है-का समावेश किया जाता है। चूँकि माध्यमिक दर्शन में "अज्ञान" को व्यावहारिक जगत् का एक मात्र कारण माना गया है अतएव "संवृत्ति सत्य" को "अज्ञान मात्र स्थापित" सत्य भी कहा गया है। जानने योग्य सम्पूर्ण जगत को "संवृत्ति सत्य" के अन्तर्गत स्वीकार किया गया है।

(२) पारमार्थिक सत्य- पारमार्थिक सत्य बुद्धि से परे, अवर्णनीय एवं निस्स्वभाव माना गया है। इस अवस्था में ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय आदि के भेद का पूर्ण लोप रहता है जिसके कारण उसे शब्द से, अवर्णनीय माना गया है। यह एक ऐसी काल्पनिक अवस्था है जिसका कोई पूर्व कारण नहीं है, जिसमें भेद का कोई स्थान नहीं है। यह प्रपंचरहित, शान्त एवं कल्याणकारी रूप है- **प्रपंचोपशमं शिवं।**

वास्तव में पारमार्थिक सत्य निर्वाण रूप ही है। इस सत्य को माध्यमिक दर्शन में "शून्यता", "तथता", "भूतिकोटि", "धर्मधातु" आदि भिन्न-भिन्न नामों से सम्बोधित किया गया है। नागार्जुन के अनुसार बिना व्यवहार की सहायता के परमार्थ का ज्ञान असम्भव है। निर्वाण की प्राप्ति केवल पारमार्थिक सत्य के ज्ञान से ही होती है। नागार्जुन ने स्पष्ट कहा है-

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

व्यवहारमनाश्रित्य परमार्थो न देश्यते।
परमार्थमनागम्य निर्वाणं नाधिगभ्यते।।

अर्थात् व्यवहार का सहारा लिए बिना परमार्थ का उपदेश नहीं दिया जा सकता है। परमार्थ को न समझने पर निर्वाण नहीं प्राप्त हो सकता है। निर्वाण की अवस्था असाधारण है। यह हमारे लिए कल्पनातीत है। उसका वर्णन केवल नकारात्मक ही किया गया है। नागार्जुन ने कई नकारात्मक शब्दों के द्वारा निर्वाण का वर्णन किया है यथा-जो अज्ञात है, जिसका विनाश नहीं है, जो नित्य भी नहीं, जो विरुद्ध नहीं है, जो उत्पन्न भी नहीं है, उसका नाम निर्वाण है। निर्वाण के तथास्थित स्वरूप को जानने वाले का नाम तथागत कहा गया है। इस तथागत के स्वरूप का वर्णन करना बौद्ध धर्म में असम्भव माना गया है। नागार्जुन ने कहा है कि "शून्यता प्रतीत्य समुत्पाद है। यह सापेक्ष वाद का सिद्धान्त है। यह मध्यमार्ग है जो भाव और अभाव दोनों के बीच है तथा दोनों से परे भी।"

नागार्जुन के शून्यवाद में "शून्य" ही एकमात्र तत्त्व माना गया है। इसी के सम्बन्ध में नागार्जुन ने कहा है–

न सन्नासन्न सदसन्न चाप्यनुभयात्मकम्।
चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं तत्त्वं माध्यमिका विदुः।।

कि वह न सत् है, न असत् है, न सत् और सत दोनों है, न दोनों से भिन्न ही है। इस प्रकार इन चारों सम्भावित कोटियों से विलक्षण ही एक तत्त्व है जिसे माध्यमिकों ने अपना परमतत्त्व कहा है।

समस्त शून्यवाद का विकल्प ढूंढना तर्कबुद्धि को सत्य के क्षेत्र से बाहर रख देता है। अतएव नागार्जुन शून्यता की सिद्धि तर्क बुद्धि एवं उसके स्वीकृत सिद्धान्त के ही द्वारा करते हैं। किसी भी वस्तु की सत्यता स्वीकार नहीं की जा सकती क्योंकि उसे स्वीकार करने पर अपरिहार्य रूप से विरोध प्रबल हो जाता है। इस प्रकार के तर्क को नागार्जुन और उनके अनुयायी "प्रसंगापादन" अथवा "प्रासंगिक" कहते थे। आधुनिक परिवेष में नागार्जुन की प्रणाली डायलेक्टिकल (Dialectical) है। उद्योतकर आदि ने माध्यमिक सम्मत इस प्रकार की तर्क प्रणाली को केवल "नास्तिक वितंडा" कहकर उसका खण्डन किया है।

प्रतीत्य समुत्पाद

बौद्ध-धर्म-दर्शन में प्रतीत्य समुत्पाद दुःख समुदय के प्रश्न को समाधान करने के साधन के रूप में वर्णित किया गया है। दुःख-निरोध के लिए दुःख की उत्पत्ति के कारण के यथारूप का ज्ञान बौद्ध धर्म में आवश्यक बताया गया है। इस क्रम को आचार्य नरेन्द्रदेव ने प्रतीत्य समुत्पाद यानि हेतुफल परम्परा के रूप में बताया है। वसतुतः दुख के कारण को प्राचीन दर्शनों में अज्ञान इच्छा और कर्म स्वीकार किया जाता था। किन्तु इसकी कारणता का क्या स्वरूप है? एवं इनका स्वयं क्या स्वरूप है? इस विषय में एक विलक्षण दृष्टिकोण को बौद्ध धर्म-दर्शन के अन्दर प्रतीत्य समुत्पाद के रूप में माना गया है। आदेर और फ्रैंके (Ader and Frank) ने इसे मूल उपदेश में उत्तरकालीन प्रक्षेप ठहराया है। श्रीमती रीज डेविड्स ने तो कार्य-कारण सिद्धान्त के मूल उपदेशक का नाम भी खोज निकाला है। उनका कहना है कि तथागत नहीं, कपिल इसके

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

आविष्कारक थे। किन्तु इनका मत मान्य नहीं है। वस्तुतः बीज रूप में प्रतीत्य समुत्पाद अवश्य ही मूल स्वरूप का अंग बन गया था।

प्रतीत्य समुत्पाद में प्रतीत्य एवं समुत्पाद दो शब्द संयुक्त हैं- प्रतीत्य = किसी वस्तु की प्राप्ति होने पर + समुत्पाद=अन्य वस्तु की उत्पत्ति होना।

प्रतित्य-समुत्पाद बौद्ध मत का कारणवाद है। इसके अनुसार एक वस्तु से दूसरी वस्तु की उत्पत्ति होती है-**अस्मिन सति, इदं भवति।**

भगवान बुद्ध ने कहा था- "आदि और अन्त का विचार निरर्थक है, मैं धम्म का उपदेश देना चाहता हूँ। ऐसा होने पर ऐसा होता है।" अर्थात् इसके आने से इसकी उत्पत्ति होती है इसके न रहने से यह नहीं होता। जो प्रतीत्य समुत्पाद को समझता है, वह धम्म को समझता है और जो धम्म को समझता है वह प्रतीत्य समुत्पाद को भी समझता है। जिस पर चढ़कर कोई भी व्यक्ति बुद्ध की दृष्टि से इस संसार को देख सकता है।

इस प्रकार प्रतीत्य-समुत्पाद का मुख्य अभिप्राय दुःख की उत्पत्ति समझना था, अथवा कार्यकारण नियम का समान्यतः प्रतिपादन था। पर इस पर भी मतभेद है। यह अक्सर माना गया है कि चिन्तन के इतिहास में प्रतीत्य समुत्पाद कार्यकारण भाव का व्यापक रूप में सर्वप्रथम प्रतिपाद है और इसका महत्त्व इसी पर अवलम्बित है। किन्तु यह कहना कठिन प्रतीत होता है कि कार्य कारण सम्बन्ध का बुद्ध के समय में अथवा उससे पहले प्रतिपादन नहीं हुआ था। यदि यह सत्य है कि चिकित्सा शास्त्र के चतुर्व्यूह का अध्यात्म विद्या में अनुकरण किया गया तो स्पष्ट ही कार्य कारण-सम्बन्ध का नियम चिकित्सा शास्त्र में पहले से प्रचलित मानना होगा। वस्तुतः समस्त कर्म जगत् कार्यकारण नियम के परतन्त्र है और उसमें सत्कर्म से सुख और असत्कर्म से दुःख प्राप्त होता है। तथापि कार्य कारण नियम के आश्रित कर्म- मात्र से, चाहे सत्कर्म से हो, परमार्थलाभ नहीं हो सकता। यही अध्यात्म के क्षेत्र में वैज्ञानिक दृष्टिकोण की सीमा मानी गयी है। कारण के परतन्त्र व्यावहारिक जगत् को ही यथावत् समझ लेने से हम अपने को उससे भिन्न एवं स्वतंत्र समझ लेते है। इस प्रकार कार्य-कारण नियम की व्यापकता का बोध, अनात्म-तत्त्व का साक्षात् और आत्म-तत्त्व को परम्परागत बोध प्रदान करने में समर्थ है। अतः प्रतीत्य समुत्पाद केवल कार्य-कारण-नियम की सर्वत्र व्याप्ति का उपदेश है। किन्तु यदि इस उपदेश का प्रयोजन मात्र सत्कर्म में सहायता अथवा नैरात्म का बोध करना था तो यह समझ में नहीं आता कि सुविदित कार्य-कारण-नियम की आवृत्ति पर इतना ध्यान क्यों दिया गया और उसके द्वारा यथार्थ में प्रतिपादनीय अभीष्ट अर्थ पर इतना कम क्यों?

वस्तुतः दुःख का अर्थ द्विभावी है। एक ओर दुःख का अर्थ है दुःखात्मक अनुभव, दूसरी ओर उसका कारण स्वरूप यह अनित्य जगत् है। दुःख के इन दोनों मुख्य और गौण अर्थों के अनुरूप ही प्रतीत्य सुत्पाद के भी दो रूप हैं- एक व्यपक रूप, जिसमें कि दुःख की परमकारणता उभर आती है और दूसरा सीमित रूप जो कि पुनर्जन्म और दुःख संवेदना के मूल कारणों का निर्देश करते हुए पहले का एक विशिष्ट उपयोग है। एक ओर प्रतीत्य समुत्पाद दुखमय संसार को परमार्थ की भूमि से संयुक्त करता है, दूसरी ओर व्यवहार के अन्तर्गत कार्य प्रणाली की ओर संकेत देता है।

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

दुःख का मूल आधार अविद्या है और प्रतीत्य समुत्पाद वस्तुतः अविद्या का स्वरूप प्रकट करता हुआ परमार्थ की ओर संकेत करता है। अविद्या इस जगत् के अन्दर ही कार्य-कारण-नियम का व्यापार करती रहती है और प्रतीत्य समुत्पाद का गौण रूप अविद्यायुक्त जीवन के अन्दर दुःख का चक्राकार विकास प्रदर्शित करता है। प्रतीत्य समुत्पाद के प्रचलित धारणा में एक बड़ी भ्रान्ति यह है कि वह अविद्या को भी ठीक उसी प्रकार कारण मानता है जैसे कि अन्य निदानों को। इस प्रकार कार्य-कारण-नियम को अविद्यायुक्त मानने के स्थान पर स्वयं अविद्या को तृष्णा आदि के साथ कार्य-कारण-नियम से युक्त मानता है अर्थात् कार्य-कारण-नियम अविद्या के अधीन है और व्यावहारिक होने के स्थान पर स्वयं पारमार्थिक बन जाता है।

सम्बोधि एवं ब्रह्मयाचन के संदर्भों में वर्णित निर्वाण और प्रतीत्य समुत्पाद की व्याख्या करते हुए महायानियों का मत है कि प्रतीत्य-समुत्पाद एवं निर्वाण को भिन्न नहीं माना जाता है। पालि संदर्भ में भी द्वैत स्पष्ट नहीं है। ऐसा लगता है कि निर्वाण और प्रतीत्य समुत्पाद का सम्बन्ध कुछ इसी प्रकार का है जैसे कि शंकर दर्शन में ब्रह्म और माया का। परवर्ती काल में कुछ शासक प्रतीत्य समुत्पाद का असंस्कृत मानते थे जबकि स्थविरवादी और सर्वास्तिवादी प्रतीत्य समुत्पाद को संस्कृत धर्म मानते थे। माध्यमिक आचार्य प्रतीत्य समुत्पाद को सम्वृत्ति और परमार्थ, दोनों का ही संकेत स्वीकार करते थे। इस विविध विकास से मूल सिद्धान्त की जटिलता और सूक्ष्मता स्पष्ट है।

अतएव यह ज्ञात होता है कि प्रतीत्य समुत्पाद का वास्तविक रहस्य तर्क आधारित न होकर समाधि के ज्ञान द्वारा साक्षात्कार किया जा सकता है।

प्रतीत्य-समुत्पाद का स्पष्ट निरूपण "मध्यम धर्म" के रूप में प्राप्त होता है और संयुक्तनिकाय के कुछ सूत्रों में प्रतीत्य समुत्पाद का मध्यम धर्म (मज्झेन धम्मो) के रूप में प्राचीनकाल से वर्णन है। संयुक्त निकाय में बुद्ध ने कात्यायन से कहा है कि मध्यमा प्रतिपद् अस्तिता और नास्तिता के दोनों से बचती है, जिनमें कि लोक आसक्त है। नागार्जुन ने कात्यायन के इस विचार का उल्लेख किया है और इसको शून्यता के सिद्धान्त का प्राचीन स्वरूप माना है। चन्द्रकीर्ति का कहना है कि यह सूत्र सब सम्प्रदायों में पढ़ा जाता है- "दोनों अन्तों का मध्य है, अरुच्य, अनिदर्शन, अप्रतिष्ठ, अनायास, अनिकेतन और अविज्ञप्तिक"। इसी को, काश्यप ने मध्यम प्रतिपद् कहा है। संयुक्त निकाय में बुद्ध काश्यप को बताते हैं कि दुःख न स्वयं किया गया होता है न दूसरे द्वारा उत्पन्न होता है। किन्तु शाश्वत और विनाश के अन्तों से बचने के लिए मध्यमा प्रतिपद का सहारा लेना चाहिए ओर वहीं प्रतीत्य समुत्पाद है। तिंबरुक परिव्राजक से कहा गया है कि सुख और दुःख के सवेदन न तो संवेदक से भिन्न हैं न उससे जुटे हैं क्योंकि भिन्न होने पर वे दूसरे द्वारा उत्पन्न हो जाते हैं तथा अभिन्न होने पर स्वयंकृत होते हैं। इसी से प्रतीत्य समुत्पाद में संवेदन को न स्वतंत्र माना जाता है न परतन्त्र। वहीं कहा गया है कि बुद्ध का धर्म जीव और शरीर के भेद और अभेद के विषय में अन्तपरिवर्जन करता है। एक सूत्र में कहा गया है कि "न यह शरीर तुम्हारा है न औरों का।" श्वेताश्वतर उपनिषद का यह कथन-"न सत् है, न असत् है, केवल शिव है", यही दृष्टि प्रतीत्य समुत्पाद अथवा मध्यमा प्रतिपदा में विकसित पायी जाती है।

संस्कृत जगत् के विषय में प्रतीत्य समुत्पाद से वस्तुओं का अहेतुत्व एवं एकहेतुत्व, विषमहेतुत्व अथवा स्वपरोभयकृतत्व का निराकरण होता है। इस दृष्टिकोण से विचार करने पर

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

लगता है कि प्रतीत्य समुत्पाद संस्कृत धर्मों से अभिन्न है। समस्त संस्कृत धर्म हेतु प्रत्यय-सापेक्ष अनादि में पड़े हुए हैं। प्रतीत्य समुत्पाद का व्यावहारिक पक्ष इसी ओर संकेत करता है। प्रतीत्य-समुत्पाद में न कार्य को कारण का परिणाम माना जाता है; न असत् से उत्पन्न। कारण न कार्य का उपादान है न आरम्भ। किन्तु कारण की सत्ता में सापेक्षता है। यही परिणामवाद, आरम्भवाद आदि से विलक्षण बौद्ध हेतुवाद का सिद्धान्त है।

इसका फल यह है कि प्रतीत्य समुत्पाद का एक पारमार्थिक पक्ष है जो परमार्थ को सत् और असत् से परे बताता है और एक व्यावहारिक पक्ष है जो संसार में कार्य-कारण-नियम का विशिष्ट प्रतिपादन करता है। इससे एक ओर यह विदित होता है कि दुख का मूल कारण संसार को सत् अथवा असत् समझ लेना है। यही अविद्या है। दूसरी ओर अविद्याग्रस्त चित के लिए दुखात्मक संसार चक्र निरन्तर तृष्णा आदि का सहारा लेकर चलता रहता है। विभिन्न उपदेशों में उल्लिखित कुछ समान और कुछ असमान कारणों का पीछे संग्रह और विकास हुआ तथा उनके नामों में समान रुपता का आरोपण किया गया। इस प्रकार दुःख के नाना निदानों में से बारह निदानों की शृंखला को विकसित की गई।

दुःखवाद कर्मवाद पर बुद्ध के समय आधारित था। दुःख की उत्पत्ति का प्रधान कारण कर्म माना जाता था। निर्विवाद है कि संसार में कर्म की प्रमुखता सर्व सम्मत रही। निकायों के प्रमुख वाक्य का कथन है कि "कर्म ही जीवों का अपना है, कर्म ही उनकी विरासत है, कर्म उनका प्रभाव है, कर्म उनका वन्धु और कर्म ही उनका सहारा है"।..... 'कर्म ही जोवों को बाँटता है, उन्हें हीन और उत्तम बनाता है। "मैं चेतनापूर्वक किये हुए और संचित कर्मों के फल का प्रतिसंवेदन किये बिना उनके और दुःख का अन्त नहीं बताता हूँ। प्रत्येक के लिए दुःख का अन्त समझ बूझकर किये गये कर्मों के क्षीण होने पर ही समभव है।" इस प्रकार हम देखते हैं कि प्राचीन बौद्धों ने भी कर्म को ही संसार का मूल कारण माना है। यद्यपि कुछ स्थानों पर कर्म के अतिरिक्त दुःख के साथ अन्य कारणों का वर्णन किया गया है जो निम्नलिखित है-पित्त, श्लेषमा, वात, सन्निपात, ऋतु, विषम-उपक्रम और कर्म विपाक। कुछ स्थलों में कर्म के चार विभाग किये गये हैं-कृष्ण, शुक्ल, कृष्ण-शुक्ल और अकृष्ण-अशुक्ल। अभिधर्म में तीन प्रकार के उल्लेख हैं-कुशल, अकुशल एवं अव्याकृत।

कर्म का मूल है तृष्णा और तृष्णा एक ओर अविद्या पर आश्रित है, दूसरी ओर सुख के अनुभव पर। संयुक्त निकाय में कहा गया है-"भिक्षुओं संसार अनादि है। अविद्या से घिरे और तृष्णा से बँधे हुए एक जन्म से दूसरे जन्म को दौड़ते हुए जीवों के पूर्व कोटि (जन्म) का पता नहीं चलता।"

इस प्रकार हमलोग देखते हैं कि दुःख का कारण इच्छा, सुख, काम, तृष्णा, अहंकार, संकल्प, स्पर्श और संज्ञा कहा गया है। यह प्रतीत्य समुत्पाद के विकास की पहली अवस्था है। दूसरी अवस्था में विभिन्न दुःखों को निदानों से जोड़कर कारणों की श्रृंखलाएँ प्रस्तुत की गयी हैं। अभिधर्म कोश में कहीं बारह निदानों का वर्णन है, कहीं ग्यारह का, कहीं दस का, कहीं नव का और कहीं आठ का। संघभद्र ने इस आधार को माना है कि प्रतीत्य समुत्पाद केवल द्वादशांश नहीं है किन्तु यह तीसरी अवस्था उसके द्वादश निदानों की श्रृंखला के रूप में सम्पन्न हुई।

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

द्वादश निदान के अनुसार निम्न हैं– (i) अविद्या (ii) संस्कार (iii) विज्ञान (iv) नामरूप (v) षडायतन (vi) स्पर्श (vii) वेदना (viii) तृष्णा (ix) उपादान (x) भव (xi) जाति (xii) जरा-मरण-शोक-परिदेव-दुख-दौर्मनस्य-उपायास।

(i) अविद्या– अभिधर्म कोश में अविद्या को मोह और "तमः स्कन्ध" कहा गया है। बौद्ध धर्म में अविद्या चार आर्य सत्यों के ज्ञान का अभाव बताया गया है। वस्तुतः अविद्या बुद्धि का भ्रान्त रूप अथवा मिथ्या अवस्था नहीं है, प्रत्युत दर्शन का अनादि स्वरूप है। अनित्य, दुखात्मक और अनात्मिक भौतिक जगत् में अहंकार से सुख की खोज में लगे रहने के हमारे प्रयास में यह एक आवरण है जो कि चित्त की स्वाभाविक अवस्था को ढके रहता है। इसकी निवृत्ति प्रतीत्य समुत्पाद के साक्षात्कार से ही होती है। आचार्य भदन्त श्रीलाभ के मत में "अविद्या सब क्लेशों की सामान्य-संज्ञा है, रागादि क्लेशों से अलग कोई अविद्या नहीं है।" आचार्य नरेन्द्रदेव अविद्या को पूर्व जन्म की क्लेश दशा मानते हैं। अविद्या से न केवल अविद्या और न क्लेश समुदाय अपितु पूर्व जन्म के क्लेशावस्था की सन्तति की बात भी जुड़ी हैं। वस्तुतः सर्वक्लेश अविद्या के सहचारी हैं। इसीसे उनका समुदाय बनता है।

(ii) संस्कार– प्रतीत्य-समुत्पाद के प्रसंग में "संस्कार" कर्म का ही सूक्ष्म मानसिक रूप है।

(iii) विज्ञान– प्रतीत्य-समुत्पाद के संदर्भ में विज्ञान प्रतिसन्धि-स्कन्ध है।

(iv) नामरूप– विज्ञान क्षण से षडायतन की उत्पत्ति तक की अवस्था है। बौद्ध धर्म में प्रतीत्य समुत्पाद विज्ञान और नाम रूप को अन्योन्याश्रित एवं आदिम निदान मानकर हुआ है।

(v) षडायतन– षडायतन को स्पर्श, ज्ञान, के पूर्व के पाँच स्कन्धों के रूप में स्वीकार किया गया है। इन्द्रियों के प्रादुर्भाव-काल से इन्द्रिय, विषय और विज्ञान के अन्तिम काल तक को षडायतन कहा गया है। पर महानिदान सुत्त में षडायतन का उल्लेख नहीं है।

(vi) स्पर्श– साधारण अर्थ में स्पर्श इन्द्रिय अथवा मन का अपने विषय के साथ 'समीपता' है। उससे उत्पन्न होने वाला सुख दुःख का अनुभव ही वेदना है। अतएव ज्ञान की शक्ति के उत्पन्न से पूर्व की अवस्था स्पर्श, सुख, दुखादि है। जब तक बालक सुख-दुखादि का अनुभव करने में समर्थ नहीं होता, तब-तक की अवस्था स्पर्श कहलाती है।

(vii) वेदना– स्पर्श से उत्पन्न होने वाले सुख-दुःख के अनुभव को वेदना कहा गया है। अनेक प्रकार से वेदनाओं का वर्गीकरण किया जाता है जैसे तृष्णा के तीन प्रकार बताये गये हैं-काम तृष्णा, भवतृष्णा एवं विभवतृष्णा।

किन्तु आचार्य नरेन्द्र देव के मत में वेदना मैथुन-राग के समुदाचार के पूर्व की अवस्था है क्योंकि वहाँ वेदना के कारणों का प्रतिसंवेदन होता है।

(viii) तृष्णा– बौद्ध-धर्म-ग्रन्थों में तृष्णा को 'पौनर्भविकी', 'नन्दिराग-सहगता' तथा 'तत्रभिनान्दिनी' के रूप में स्वीकार कियागया है तथा उसके तीन विभेद माने गये हैं-काम-तृष्णा, भव-तृष्णा एवं विभव-तृष्णा। तृष्णा मूलतः सुख की खोज और उसमें आसक्ति है। उसका जन्म प्रिय रूप में बताया गया है। तृष्णा में बँधे होने के कारण मनुष्य संसार के पार नहीं जा पाता।

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

बुद्धघोष का कहना है कि अविद्या तथा तृष्णा को मूल मानकर भगवान बुद्ध संसार की उत्पत्ति बताते है। दोनों ही अनादि है, यद्यपि दोनों ही कारण से बँधे हुए हैं। अविद्या और तृष्णा के योग से ही दु:ख की उत्पत्ति होती है। तृष्णा का छन्द के साथ घनिष्ट सम्बन्ध है। तृष्णा केवल इच्छा नहीं है। छन्द का अर्थ व्यापक है और उसमें समस्त संकल्प और एषणाएँ समाहित हैं : धर्मच्छन्द भी और कामच्छन्द भी। पर डॉ. पाण्डेय के मत में तृष्णा केवल कामच्छन्द को ही कहना चाहिए। पूर्व शैली के सम्प्रदाय में यह माना जाता था कि धर्म--तृष्णा अप्रभावक है और दु:ख का कारण नहीं। मज्झिम निकाय में भी धर्म-राग एवं धर्म-नन्दी का उल्लेख मिलता है। नागार्जुन ने धर्म छन्द का भी निषेध किया है। प्राय: प्राचीन संदर्भों में तृष्णा को रोग, छन्द, प्रेम, पिपासा और परिदाह के साथ समान अर्थ वाला माना गया है।

आचार्य नरेन्द्र देव ने तृष्णा को भोग और मैथुन की कामना करने वाले पुद्गल की अवस्था स्वीकार किया है। यह उस पुद्गल की अवस्था है, जो भोगों की ओर दौड़ता है।

(ix) उपादान– उपादान तृष्णा के विषय को अभिनिवेश पूर्वक ग्रहण और उसमें आसक्ति है। उपादान का तृष्णा से भेद है। यह उस पुद्गल की अवस्था है जो भोगों की सीमा में दौड़ता है अथवा चतुर्धि क्लेश है। इस प्रकार उपादान इस चतुर्विध क्लेश की स्थिति है।

(x) भव– बौद्ध धर्म में कर्म करने के फल को अनागत भव कहा गया है। आचार्य नरेन्द्र देव इस कर्म भव को स्वीकार करते हैं क्योंकि उसके कारण भव होता है। भोगों की सीमा में कृत और उपचित कर्म पौनर्भविक हैं। जिस अवस्था में पुद्गल कर्म करता है, वह भव है।

(xi) जाति– जाति को प्रतिसन्धि माना गया है। मरण के अनन्तर प्रतिसन्धि काल के पाँच स्कन्ध जातियाँ हैं। ऐसा मानते हैं कि प्रत्युत्पन्न की समीक्षा में जिसे विज्ञान का नाम दिया जाता है, उसे अनागत भव की समीक्षा में जाति की संज्ञा दी गयी है।

(xii) जरा– मरण-शोक-परिदेव दुख-दौर्मनस्य-उपायास-जाति से वेदना तक जरा-मरण है। प्रत्युत्पन्न भव के चार अंग-नामरूप, षडायतन, स्पर्श और वेदना-अनागत भव के सम्बन्ध में जरा-मरण कहलाते हैं।

आगे चलकर प्रतीत्य समुत्पाद की विभिन्न व्याख्याएँ हुईं। स्थविरवादी अभिधर्म में प्रतीत्य समुत्पाद के अन्तर्गत कार्यकरण सम्बन्ध के द्वारा एक नवीन और अतिसूक्ष्म कारण प्रत्ययवाद का प्रतिपादन हुआ। परवर्ती अभिधम्मत्थ संग्रह के शब्दों में प्रतीत्य समुत्पाद नय-तद्भाव-भावि-भावाकर मात्रोपलक्षित है। जबकि प्रस्थाननय प्रत्यास्थिति को दृष्टि में रखकर प्रवृत्त होता है। प्रतीत्य समुत्पाद के विषय में यह निर्धारित किया गया कि अविद्या, तृष्णा, उपादान, संस्कार और कर्म कर्मभव के अन्तर्गत हैं जबकि विज्ञान, नामरूप, षडायतन, स्पर्श और वेदना उपपत्तिभाव के अन्तर्गत है। प्रतीत्य-समुत्पाद के अनुसार एक जन्म का कर्मभव दूसरे जन्म के उपपत्तिभव को व्यवस्थित करता है। पूर्व जन्म के कर्मभव के केवल दो अंग बारह निदानों में कहे गये हैं। वर्तमान जन्म के कर्मभव के पाँच अंग कहे गये हैं। अगले जन्म के उपपत्तिभव की सूचना केवल जाति और जरामरण के उल्लेख में मिलती है। अविद्या को सम्यग्दृष्टि का आवरण बताया गया है। संस्कार को 'चेतना' अथवा संकल्प विज्ञान को इन्द्रियों से और मन से उत्पन्न उस विषय का ज्ञान एवं नाम रूप के शेष चार स्कन्धभव को द्विविध कहा गया–**कर्मभव और उपपत्तिभव।**

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

बौद्ध धर्म प्रतीत्य-समुत्पाद चार प्रकार के हैं- (i) क्षणिक (ii) प्राकर्षिक (iii) साम्बन्धिक (iv) आवस्थिक।

(i) क्षणिक– जिस क्षण क्लेश-पर्यावस्थित पुद्गल प्राणातिपात करता है– उस क्षण में द्वादश अंग परिपूर्ण होते हैं– (१) उसका मोह अविद्या है, (२) उसकी चेतना संस्कार है, (३) उसका आलम्बन विशेष का स्पष्ट विज्ञान है, (४) विज्ञान-समूह चार संस्कार नामरूप है, (५) नामरूप में व्यवस्थित इन्द्रिय षडायतन है, (६) षडायतन का अभिनिपात स्पर्श है, (७) स्पर्श का अनुभव वेदना है, (८) राग तृष्णा है, (९) तृष्णा-सम्प्रयुक्त पर्यावरण उपादान है, (१०) वेदना या तृष्णा से सम्बन्धित काय या वाक्-कर्मभव है (११) इन सब धर्मों का मिलाजुला उत्पाद जाति है, (१२) इनका अन्त जरा है, इनका भंग मरण है।

(ii) प्राकर्षिक– तीन निरन्तर जन्मों में सम्बद्ध होने से यह प्राकर्षिक भी है।

(iii) साम्बन्धिक– हेतु-फल-सम्बन्ध से युक्त होने के कारण साम्बन्धिक कहा गया है।

(iv) आवस्थिक– पाँच स्कन्ध की अवस्थाओं की परम्परा होने के कारण इसे आवस्थिक कहा जाता है।

संघभद्र के अनुसार अभिधर्म के आचार्यों का मत था कि बुद्ध भगवान् ने प्रतीत्य समुत्पाद का इस अनित्य रूप में ही उपदेश किया था।

हीनयान तथा महायान में प्रतीत्य समुत्पाद का विकास भिन्न दिशाओं में हुआ। हीनयान में प्रतीत्य समुत्पाद के व्यावहारिक पक्ष का विश्लेषण हुआ जिसे एक नवीन हेतु-प्रत्युयवाद ने क्रमश: उसको स्थानच्युत कर दिया। महायान में प्रतीत्य समुत्पाद के पारमार्थिक पक्ष को प्रधानता दी गयी। शालिस्तम्ब सूत्र में इस द्वादशनिदानात्मक प्रतीत्य समुत्पाद की विस्तृत आलोचना की गयी है। किन्तु साथ ही महायान की दृष्टि का भी समावेश है।

इस प्रकार यह विवेचन प्रतीत्य समुत्पाद के माहायानिक विकास का पूर्व रूप है। नागार्जुन के माध्यमक-शास्त्र में यह विकास का पूर्ण रूप देखने में आता है जहाँ कि प्रतीत्य समुत्पाद का धर्म और अनुत्तर धर्म शरीर बुद्ध से अभिन्न माना गया है और प्रतीत्य समुत्पाद को द्विविध बताया गया है– बाह्य और आध्यात्मिक। एक विभाग भी प्रस्तुत किया गया है – हेतुपनिबन्ध और प्रत्यगोपनिबन्ध। हेतुपनिबन्ध बाह्य प्रतीत्य समुत्पाद इस प्रकार है– "जैसे बीज से अंकुर, अंकुर से पत्र, पत्र से कांड, कांड से नाल, नाल से गंड, गंड से गर्भ, गर्भ से शुक्र, शुक्र से पुष्प और पुष्प से फल होता है। पर बीज न होने पर अंकुर नहीं होता, यहाँ तक कि फूल न होने पर फल नहीं होता। बीज के होने पर अंकुर का निकलना स्वभाविक होता है – ऐसे ही फूल के रहने पर फल का। बीज नहीं सोचता कि मैं अंकुर को उत्पन्न करता हूँ, अंकुर भी नहीं सोचता कि मैं बीज से उत्पन्न हुआ हूँ, किन्तु बीज के होने पर अंकुर का प्रादुर्भाव होता है, फूल के रहने पर फल का।"

प्रत्ययोपनिबन्ध प्रतीत्य समुत्पाद छः धातुओं के योग से बने हैं– पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश और ऋतु। "पृथ्वी साधारण कृत्य करती है, जल उसे गीला करता है, तेज बीज को पचाता है, वायु उसे बाहर निकालता है, आकाश उसे अनावरण करता है, ऋतु भी बीज को

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

परिपक्व करती है। इन प्रत्ययों के न रहने पर बीज से अंकुर उत्पन्न नहीं होता है।" जब ये सब धातुएँ क्रमिक क्रियाशील होती हैं तो उनके प्रभाव से बीज के निरुद्ध होते हुए अंकुर की उत्पत्ति होती है। यह अंकुर न स्वयंकृत है, न परकृत, न उभयकृत, न ईश्वर निर्मित, न काल परिणामित, न प्रकृति संभूत, न एककारणाधीन और न अहेतु-समुत्पन्न। इसे बाह्यप्रतीत्य समुत्पाद को पाँच स्थितियों में देखना चाहिए। अंकुर अन्य है, बीज अन्य। अतएव यह शाश्वत नहीं है। बीज के निरुद्ध हो चुकने पर अंकुर की उत्पत्ति होती हो, ऐसा भी नहीं। अतएव अच्छेद भी अनवकाश है। वस्तुतः जिस समय बीज निरुद्ध होता है उसी समय अंकुर उत्पन्न होता है।

हेतुपनिबन्ध आध्यात्मिक प्रतीत्य समुत्पाद अविद्यादि-जरामरणान्त द्वादश निदान परम्परा है। यहाँ पर भी कोई निदान दूसरे को समझ-बूझकर उत्पन्न नहीं करता, किन्तु एक दूसरे की उत्पत्ति का कारण होता है। प्रत्ययोपनिबन्ध आध्यात्मिक प्रतीत्य समुत्पाद पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश और विज्ञान-इन छः धातुओं के समन्वय से होता है। जो शरीर के कठिन भव को उत्पन्न करती है वह पृथ्वी है। जो शरीर के अनुपरिग्रहकृत्य को स्थानान्तरित करती है वह जल है। जो खाये-पीये को पचाती है वह तेज है। आश्वास-प्रश्वास की क्रिया वायु से होती है। शरीर के अन्दर की सुषिरता आकाश से उत्पन्न होती है। वह विज्ञान धातु है जो पाँच विज्ञानों से संयुक्त सास्रव मनोविज्ञान और नामरूप को उत्पन्न करती है। इन प्रत्ययों के न रहने पर शरीर उत्पन्न नहीं होता किन्तु इनके सहज संयोग से होता है। पृथ्वी धातु न आत्मा है, न सत्व, न जीव, न जन्तु, न मानव, न स्त्री, न पुरुष, न नपुँसक, न मैं, न मेरा, न और किसी का। ऐसे ही छः धातुओं की ऐक्य संज्ञा, पिण्ड संज्ञा, नित्य संज्ञा, ध्रुव संज्ञा, शाश्वत संज्ञा, सुख संज्ञा, आत्म संज्ञा, सत्व संज्ञा, जीव पुद्गल संज्ञा, मनुज संज्ञा, अहंकार संज्ञा, ममत्व संज्ञा तथा ऐसे ही विविध अज्ञान अविद्या कहलाते हैं।

इस प्रकार अविद्या के रहने पर विषयों में राग, द्वेष मोह होता है। यही संसार कहलाता है। वस्तु का यथा तथ्य ज्ञान विज्ञान कहलाता है। विज्ञान के साथ उत्पन हाने वाले चार अरूपी स्कन्ध नाम कहलाते हैं। चार महाभूत रूप हैं और उनके उत्पन्न होने वाले रूप हैं। दोनों मिलकर नाम रूप कहलाते हैं। नाम रूप में युक्त इन्द्रियाँ षडायतन हैं। यहाँ तीनों धर्मों का परस्पर स्पर्श है। स्पर्श का अनुभव वेदना, वेदना का अध्यवसान तृष्णा, तृष्णा की सीमा उपादान है। उपादान से उत्पन्न पुनर्जन्म का उत्पादक कर्मभव है। भव के कारण स्कन्धों का प्रादुर्भाव जाति है। उत्पन्न का अन्तिम स्वरूप जरा है। जीर्ण स्कन्धों का विनाश मरण है। मृत्यु ही मूर्खों के लिए शोक है। शोक से उत्पन्न विलाप परिवेद है। पाँच विज्ञान-कार्यों से संयुक्त असुख का अनुभव दुःख है। मानसिक दुःख मन की दुर्बलता है। शेष उपक्लेश उपायास है।

यह द्वादशांग प्रतीत्य समुत्पाद एक दूसरे का कारण है, न अनित्य, न नित्य, न संस्कृत, न असंस्कृत, न अहेतुक, न अप्रत्यय, न वेदयिता, न अवेदयिता, न प्रतीत्य समुत्पन्न, न अप्रतीत्य समुत्पन्न, न क्षय धर्म, न अक्षय धर्म, न विनाश धर्म, न अविनाश धर्म, न निरुद्ध धर्म, न अनिरुद्ध धर्म। अनादि काल से प्रवाहित नदी की धारा के समान चलता रहता है। तथापि इसमें अविद्या-विज्ञान के बीज का आवरण है। इस प्रकार विज्ञान बीज कर्म क्षेत्र में प्रतिष्ठित, तृष्णा स्नेह से सिंचित एवं अविद्या से अवकीर्ण होकर बढ़ता है।

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

आध्यात्मिक प्रतीत्य समत्पाद में भी अशाश्वत, अनुच्छेद, असंक्रांति, सूक्ष्म कारण से महान फल की प्राप्ति और उस प्रकार की व्यवस्था देखी गयी है। इस प्रकार जो प्रतीत्य समुत्पाद को समझता है वह पूर्व और अपर का अन्वेषण नहीं करता और लोक प्रचलित समस्त आत्मावाद, प्रतिसंयुक्त जीववाद, प्रतिसंयुक्त कौतुक मंगल, प्रतियुक्त समस्त दृष्टियाँ समाप्त हो जाती हैं।'' नागार्जुन ने प्रतीत्य समुत्पाद को शून्यता बताया। जो प्रतीत्य समुत्पाद है उसे ही शून्यता कहते हैं, वही उपाय है, वही प्रज्ञप्ति है, वही मध्यमा प्रतिपद है। गौड़पाद ने इसे समझाया है कि "जैसे माया के बीज से माया का अंकुर उत्पन्न होता है, जो न नित्य है न उच्छेद धर्मा। ऐसे ही सब धर्मों को समझाना चाहिए। सब धर्मों को शाश्वत अथवा आशाश्वत हाने की बात नहीं कही जा सकती। जहाँ शब्दों की प्रवृत्ति नहीं है, वहाँ अन्तर नहीं किया जा सकता।

अतएव प्रतीत्य द्वारा "बुझ जाने'' से संसार का निरोध एवं सत्य की प्राप्ति होती है। प्रतीत्य समुत्पाद 'धर्म' को नियम और सीमा के रूप में व्यक्त करता है। प्रतीत्य समुत्पाद में संसार का गम्भीरतम 'लक्षण' प्रकाशित होता है और निर्वाण में आध्यात्मिक जीवन का लक्ष्य।

विज्ञानवाद

बौद्ध धर्म-दर्शन में विज्ञानवाद की व्याख्या करने की एक ऐसी प्रणाली है जिसमें 'चित्त' को परम तत्त्व स्वीकार किया जाता है तथा विज्ञान के आधार पर संसार के प्रत्येक तत्त्व की व्याख्या का प्रयास किया जाता है। इसमें पुरानी बौद्ध परम्परा में "ज्ञान' के स्थान पर "विज्ञान'' शब्द का प्रयोग किया गया है। इसके लिए वाद में विज्ञान, विज्ञप्ति, चित्त एवं मन पर्यायवाची शब्द माने गए। चित्त अथवा मन में वेदना आदि मन के धर्म (चैत, चित्त, सम्प्रयुक्त संसार) माने गए हैं, जिसकी पुष्टि विंशतिका के इस कथन से होती है –

चित्तं मनोविज्ञानं विज्ञप्तिश्चेति पर्याया:।
चित्तमत्र ससम्प्रयोगमभिप्रेतम्।।

विज्ञानवाद के प्रथम आचार्य असंग थे। उनके गुरु मैत्रेय नाथ ही इस सिद्धान्त के प्रतिस्थापक थे। इनका ग्रंथ महायान-सूत्रालंकार है। मूलभाग मैत्रेयनाथ और टीका भाग आर्य असंग का है। आचार्य नरेन्द्र देव का यह कथन सत्य के निकट प्रतीत होता है कि 'असंग' का दर्शन विज्ञानवादी अद्वयवाद है, जिसमें द्रव्य का अभाव है। यह एक नवीन मत है। मैत्रेयनाथ स्वयं वहुत बड़े योगी थे और उन्होंने विज्ञान के स्वरूप को साक्षात्कार करने के लिए यौगिक प्रक्रिया का अनुकरण किया था। इसी से इस वाद का दूसरा नाम योगाचार है। विद्यारण्य स्वामी ने सर्वदर्शन संग्रह में 'योग' और 'आचार' के अर्थ क्रमशः गुरु के उपदेश में अप्राप्त की प्राप्ति के लिए प्रयास (योग) तथा उनके उपदेश के अर्थ का स्वीकार करना बताया है। उनके मत से वाहरी अर्थ की शून्यता को स्वीकार करने से तथा आन्तरिक शून्यता का पर्यनुयोग करने से ही 'योगाचार' नाम दिया गया। किन्तु इनके मत की आलोचना करते हुए विद्वानों ने कहा कि यह व्युत्पत्ति अमान्य है। इसके विपरीत भास्कराचार्य सत्य के अधिक समीप हैं।

शमथ आदि विपश्यनात्मक योग मार्ग का आचरण ही "योगाचार' की आत्मा है। असंग के महायान संग्रह के अनुसार योग के द्वारा परमार्थ ज्ञान की ओर अग्रसर होना ही योगाचार का लक्षण है। अन्यत्र बोधिसत्त्व भूमि के अनुसार योगचर्या को ही योगाचार का लक्षण बताया गया है।

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

दूसरी ओर समस्त त्रैधातुक को चित्तमात्र अथवा विज्ञानमात्र बताने से उन्हें विज्ञानवादी कहा जाता है। वसुबन्धु की विज्ञप्तिमात्रविंशिका और त्रिंशिका में योगाचार का यह दार्शनिक पक्ष विस्तार से प्रतिपादित है। संक्षेप में मैत्रेय, असंग और वसुबन्धु की रचनाओं ने योगाचार विज्ञानवाद को एक दर्शनिक स्वरूप प्रदान किया।

विज्ञानवाद के मूल को वेदान्त में देखा जा सकता है। दोनों के ही समस्त क्रियाओं के मूल में ज्ञान अथवा विज्ञान को स्थित माना जाता है। औपनिषद् दर्शन के सम्बन्ध में शान्तरक्षित ने कहा है कि – "तेषमल्पापराधं तु दर्शनं नित्यतोक्तित:।" अर्थात् नित्यता का स्वीकार ही वेदान्त का अल्प अपराध है। विज्ञानवाद का खण्डन करते हुए शंकराचार्य ने बौद्धों की ओर से यह आशंका व्यक्त की है –**साक्षिणो अवगन्तुः स्वयं सिद्धतामुपक्षिपता स्वयं प्रथते विज्ञानमित्येष एव मम पक्षस्त्वया वाचोयुक्त्यन्तरेणाश्रित इति**। अर्थात् बौद्ध धर्म ही वेदान्त का पक्ष हैं। इसके उत्तर में शंकराचार्य ने कहा है कि बौद्ध मत में विज्ञान को अनित्य एवं सविशेष माना जाता है जबकि वेदान्त में पारमार्थिक ज्ञान नित्य निर्विशेष है। पर वसुबन्धु आदि आचार्यों का विश्लेषण वेदान्त से दूर है, किन्तु लंकावतार आदि सत्रों में वेदान्त के समान सिद्धान्त की छाया का आभास होता है। आन से उत्पन्न अने जगत के पीछे एक अद्वैत निर्विकल्प ज्ञान की कल्याणकारी स्थिति है, यह धारणा दोनों में समान है। किन्तु उसका प्रथम ज्ञान उपनिषदों में मिलता है। बौद्धों में साधारणा मूल तर्क न होकर योग जनित अनुभूति ही थी। पीछे क्रमश: इसी की तार्किक व्याख्या के द्वारा विज्ञानवादी दर्शन का विकास हुआ। इसकी रहस्यवादी अनुभूति की प्रथम अभिव्यक्ति उपनिषदों में हुई थी, जिसकी कुछ प्रतिध्वनि प्राचीन बौद्ध सूत्रों एवं विस्तार महायान सूत्रों में प्राप्त होता है। मैत्रेय, असंग एवं बसुबन्धु ने इसी आधार पर योगाचार-विज्ञानवाद को एक पृथक् शास्त्र के रूप में प्रतिष्ठापित किया।

उपनिषद के – **प्रज्ञानेत्रों लोक प्रज्ञा प्रतिष्ठा प्रज्ञानं ब्रह्म** के आशय को बौद्धों द्वारा इस प्रकार व्यक्त किया गया है–**चित्तमात्रं भो जिनपुत्रा त्रैधातुकम्**। अर्थात् तीनों लोक चित्तमात्र है। बौद्ध धर्म में विज्ञान को एक स्थल पर 'अन्तत, सर्वत: प्रभ' कहा गया है। अन्यत्र विज्ञान के 'अप्रतिष्ठित' होने का भी उल्लेख है तथा स्वयं भगवान् बुद्ध को 'ज्ञानभूत' कहा गया है। परन्तु यह नि:संदेह है कि हीनयानी आगम में प्राय: चित्त विज्ञान को कार्य-कारण से नियन्त्रित एक दुखमय स्थिति मानकर निरोध योग्य ही बताया गया है।

महासांधिकों के सिद्धान्तों में अवश्य ही चित्त का आलोक एवं स्वभाव शुद्धि का स्थान मिलता है तथा उनके सिद्धान्त में एक प्रकार से विज्ञान-मूलक मायावाद भी समाहित है। उन्होंने एक प्रकार से 'मूल-विज्ञान' की कल्पना की थी जबकि सौत्रान्तिकों ने 'सूक्ष्म मनोविज्ञान' की।

किन्तु परवर्ती विज्ञानवाद का उचित समन्वय महायान सूत्रों में सर्वप्रथम पाया जाता है। तिब्वती जं-यं शद्-प के सिद्धान्त के अनुसार योगाचार के तीन मूल सूत्र हैं– "सन्धि निर्मोचन, लंकावतार तथा धनव्यूह।" अत: यह एक पुरानी धारा से बहती थी, किन्तु बीच में इसके प्रति उपेक्षात्मक भाव था। पर विज्ञानवाद का पुनरागमन "सूत्र काल" (लगभग ई. पू. पहली शताब्दी से तीसरी शताब्दी) के बीच हुआ। इसके अनन्तर तीसरी से पाँचवीं शताब्दी तक मैत्रेय, असंग एवं वसुबन्धु के ग्रंथों से इसके विकास का युग अथवा "शास्त्र काल" था। वसुबन्धु के बाद इसमें अनेक प्रभेदों का युग आया।

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

योगाचार सम्प्रदाय के प्रवर्तक के रूप में असंग विशेष प्रसिद्ध है। इनके अनेक ग्रन्थ केवल चीनी भाषा में ही अनुदित मिलते हैं यथा – महायान सम्परिग्रह, प्रकरण आर्यवाचा, 'महायानामिधर्म-संगीति शास्त्र', अ-फि-ता-मो-छि-लुन् का संस्कृत अनुवाद 'अभिधर्म समुच्चय' तथा वज्रच्छेदिका पर एक व्याख्या। महायान स्मपरिग्रह का चीनी में पहले बुद्धशान्त ने फिर परमार्थ ने तथा वान् च्वांग ने अनुवाद किया। परमार्थ के अनुवाद के आधार पर "शै-लुन" अथवा 'सम्परिग्रह' सम्प्रदाय का चीन में प्रवर्तन हुआ जो कि वहाँ योगाचार-विज्ञानवाद का पूर्व रूप था। महायान सम्परिग्रह में १० पदार्थों का विवरण है – आलय-विज्ञान अथवा मूल विज्ञान, विज्ञप्तिमात्रता अथवा त्रिस्वभाव, विज्ञप्तिमात्रता का अवबोध, ६ पारमिताएँ, १० मूर्तियाँ, शील, समाधि, प्रज्ञा, अविकल्पज्ञान तथा त्रिकाय। इस विज्ञान-प्रवाह में ग्राह्य-ग्राहक भेदवाले एक काल्पनिक जगत का आभास होता है। सम्बोधि में ध्यान लगाने से चित्त विशुद्ध होता है तथा क्लेशों से मुक्ति मिलती है। अविकल्प ज्ञान में ही परिनिष्पान लक्षण तथा अप्रतिष्ठित निर्वाण की प्राप्ति होती है। अलय विज्ञान ही विशुद्ध एवं परावृत्त होने पर ज्ञान से अभिन्न है। इस अवस्था में उसे नवम विज्ञान कहा गया है।

वसुबन्धु का अभिधर्मज्ञान तथा सर्वास्तिवाद में उनकी निष्ठा है। योगाचार अभिधर्म में विज्ञानवाद तथा सर्वास्तिवाद में परस्पर मेंल नहीं है। इसीसे अद्वैत वेदान्त तथा सांख्यों के साथ इसकी तुलना की जाती है। सर्वास्तिवादियों के ४६ संस्कारों के अतिरिक्त योगाचार के पाँच और जुड़ जाते हैं – अमोह, दृष्टि मुषितस्मृतिता, असम्प्रजन्य तथा विक्षेप। सर्वास्तिवादियों द्वारा प्रयोग में आये १४ संस्कारों में "अप्राप्ति" को छोड़कर शेष १३ योगाचारों से लिए गए हैं। इनके अतिरिक्त ११ अन्य संस्कार भी योगाचार के ही हैं – पृथञ्जनत्व, प्रवृत्ति, प्रतिनियम, योग, जब, अनुक्रम, काल, देश, संख्या, सामग्री तथा भेद।

आर्य मैत्रेय ने मध्य एवं उत्तर कालीन महायान सूत्रों के आधार पर एक प्रकार के 'आध्यात्मिक-योगाचार' दर्शन को विकसित किया। उनकी रचनाओं में उत्तरतन्त्र तथा अभिसमयालंकार प्रधानतया माध्यमिक है। इन्होंने धर्म को शून्यता से युक्त कहा है। आर्य असंग ने सर्वास्तिवादी प्रभाव से प्रभावित योगाचार का विस्तृत प्रतिपादन किया। इसमें अलय विज्ञान तथा त्रिस्वभाव के साथ विविध धर्म लक्षणों का ही प्राधान्य प्रतीत होता है। आचार्य असंग महात्माबुद्ध को आत्म दृष्टि मानते हैं क्योंकि इसके सब सत्वों में आत्मसमचित्त का लाभ होता है। वह अपने संतति द्वारा उत्पन्न दुःखों के बिना भी सव सत्वों के दुःख से दुःखित होता है। बोधिसत्व का स्वरूप आकाश की तरह अनन्त है। इसमें सब सत्त्व अपने ही समान हो जाते हैं। यह कठिन समाधि है। आचार्य नरेन्द्र देव का मत है कि विकल्प इसका भेदन नहीं कर सकते। यह जगत् में सूर्य की तरह दिखता है और अन्धकार का नाश करता है।

बोधिसत्व के कर्म में विशुद्धता होती है। इसके कर्म में कर्त्ता, कर्म या क्रिया का विकल्प नहीं है। इस प्रकार ठीक कर्म करके वह कर्म को स्थायित्व देता है और पारमिताओं को सिद्ध करता है। आचार्य असंग का कथन है कि भोगी को उपभोग से वैसी तुष्टि नहीं होती, जैसी बोधिसत्व की तुष्टि परित्याग से होती है। उसका चित्त तीनों सुखों से तृप्त होता है जिसकी पुष्टि निम्न कथन से होती है –

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

न तथोपभोगतुष्टिं लभते भोगी यथा परित्यागात्।
तुष्टिमुपैति कृपालुः सुखत्रयाप्यायितमनस्कः।।

आर्य असंग ने सर्वास्तिवादी प्रभाव से योगाचार का व्यापक प्रतिपादन किया है। इसमें अलय-विज्ञान तथा त्रिस्वभाव का विवरण होते हुए भी विज्ञप्ति मात्रता के स्थान पर विविध धर्म लक्षणों का वर्णन हुआ है। डा. पाण्डेय 'धर्मों का यथाकथंचित विज्ञान-संसर्ग ही इस अभिधर्म का विज्ञानवाद' मानते हैं। चित्तमात्रता, अष्ट-विज्ञान तथा त्रिस्वभाव का उल्लेख अवतंसक, लंकावतार, आदि सूत्रों में मिलता है। इस 'सौत्रविज्ञानवाद' की मैत्रेय एवं असंग की कृतियों में योगचार्य की दृष्टि से व्यापक चर्चा हुई है। परन्तु विशुद्ध विज्ञानवादी दर्शन के रूप में वास्तविक विकास सर्वप्रथम वसुबन्धु की रचनाओं में ही दीखता है। वसुबन्धु ही यथार्थ में विज्ञानवादी दर्शनशास्त्र के प्रवर्तक के रूप में दिखायी पड़ते हैं। सूत्रों में विज्ञप्तिमात्रता को स्वप्न, माया आदि के दृष्टान्तों से स्पष्ट किया गया है।

समस्त जगत् को अनुभव के आधार पर दो भागों में विभक्त किया जा सकता है – ज्ञान एवं ज्ञेय। ज्ञेय पदार्थ ज्ञान के बाहर अवस्थित तथा स्वतन्त्र प्रतीत होते हैं। वस्तुतः यह प्रतीति भ्रान्ति है। ज्ञेय पदार्थ मिथ्या है तथा ज्ञान मात्र सत्य है। ज्ञान ही ज्ञेय रूप से प्रतिभासित होता है। यही विज्ञानवाद का मूल सिद्धान्त है।

पुरानी बौद्ध परम्परा का निर्वाह करते हुए वसुबन्धु "ज्ञान" के स्थान पर "विज्ञान" शब्द का ही प्रयोग करते हैं। उनके लिए विज्ञान, विज्ञप्ति, चित्त एवं मन पर्यायवाची शब्द हैं।

विंशतिका की पहली करिका में विज्ञप्तिमात्रता का मुख्य सिद्धान्त इस प्रकर प्रतिपादित है – "यह त्रैधातुक विज्ञप्तिमात्र है क्योंकि प्रतीति असत् पदार्थों की होती है जैसे जिस रोगी को रतौंधी होती है वह अविद्यमान केश अथवा चन्द्रमा का दर्शन करने लगता है। इसको प्रमाणित करने के लिए वुबुन्धु माहायानिक आगम का उद्धरण देते हैं। यद्यपि यह प्रसिद्ध है कि बौद्ध आचार्य केवल दो प्रमाण मानते थे – प्रत्यक्ष तथा अनुमान। तथापि इस प्रसिद्धि के विपरीत प्राचीन योगाचार मत में आगम को भी प्रमाण माना जाता था और इस कारिका में प्रतीयमान विषयों का मिथ्या रूप विज्ञप्तिमात्रता के कारण से अनुमानित प्रतीत होता है। इसे 'स्वाभावानुमान' कहा जा सकता है। किन्तु वस्तुतः वह विज्ञप्तिमात्रता का कारण न होकर उसके अर्थ का विशदीकरण है क्योंकि 'विज्ञप्तिमात्र' पद में 'मात्र' स्वयं बाहरी पदार्थों का प्रतिरोध करता है। विज्ञतिमात्रता का सिद्धान्त समस्त अनुभव को भ्रम अथवा स्वप्न के समान निराधार घोषित करता है, यह दिखलाने के लिए वसुबन्धु दूसरी कारिका में अपने मत के विरोध में चार शंकाएँ उत्पन्न करते हैं-और दो अन्य कारिकाओं से उन शंकाओं का उत्तर देते हैं।

वास्तव में विज्ञानवाद का सिद्धान्त बौद्ध दर्शन के अन्तर्गत एक व्यवस्थापूर्ण तार्किक एवं आध्यात्मिक विकास की ओर संकेत करता है। सामान्य लौकिक व्यवहार में घट-पट आदि पदार्थों को तथा उनके व्यवहार करने वाले लोगों को वास्तविक माना जाता है। हीनयान में उनकी सत्ता को केवल शाब्दिक रूप से भ्रामक मानकर इनके स्थान पर 'द्वादश आयतनों' की सत्यता को स्वीकार किा गया। इस दृष्टि से घट आदि पदार्थों का क्षणिक, इन्द्रिय ग्राह्य रूप आदि 'धर्मों' के विकसित समूह मात्र हैं तथा 'पुरुष' अथवा 'जीव' चिन्तन में एक ओर चक्षु आदि इन्द्रियों पर तथा

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

दूसरी ओर रूप आदि विषयों पर आधारित है। इन्द्रियाँ आध्यात्मिक तत्व हैं और विषय बाह्य। इन दोनों पर ही चित्त अथवा विज्ञान का प्रवाह आश्रित है। इस उपदेश को समझने से 'पुद्गल नैरात्म्य' का ज्ञान होता है तथा घट-पट आदि का स्थूल एवं स्थिर जगत् के रूप रस आदि की सूक्ष्म धाराओं में विलीन हो जाता है। सामान्य लोक-व्यवहार की तुलना में यह हीनयानी दर्शन पूर्ण रूप से 'वैज्ञानिक' है। महायान में इसी भावना को अधिक विकसित किया गया है। आत्मा के समान बाह्य पदार्थ भी आकृतिरहित हो जाते हैं। यही 'पुद्गल नैरात्म्य' के आगे बढ़ने पर 'धर्मनैरात्म्य' का स्तर आता है। विज्ञप्तिमात्रता के द्वारा ही धर्मनैरात्म्य में प्रवेश उचित है।

विज्ञप्तिमात्रता के दो पक्ष हैं – विज्ञान का अस्तित्व तथा जानने वाले पदार्थों का अस्तित्व। इनमें पहले पक्ष की स्थापना माध्यमिकों के विरोध में उचित है। इसको आचार्य ने बताया है–

१. नैरात्म्य कल्पित स्वभाव का तिरस्कार है, सर्वथा अस्तित्व का नहीं।

२. विज्ञप्तिमात्र के द्वारा ही इस अकल्पित स्वभाव में प्रवेश सम्भव है।

३. धर्मों का अव्यक्त स्वभाव बुद्ध द्वारा ज्ञात होता है।

किन्तु यहाँ माध्यमिकों के निराकरण का विस्तृत प्रयत्न नहीं किया गया है।

बाह्य पदार्थों के स्वप्न के लिए वसुबन्धु परमाणुवाद का खण्डन करते हैं – 'ज्ञान का विषय न एक हो सकता है, न परमाणु रूप अनेक और न परमाणु परस्पर एक होकर विज्ञान का विषय हो सकते हैं क्योंकि परमाणु ही सिद्ध नहीं होता।'

परमाणुओं का संयोग न हाने पर उनकी क्रिया में किसका संयोग होगा? यह भी नहीं है कि परमाणुओं के होने के कारण उनका संयोग सिद्ध नहीं होता।

इस प्रकार बाह्य पदार्थों को परमाणु निर्मित मानकर वसुबन्धु ने उनको तर्क द्वारा हठात अपवाद सिद्ध किया है। किन्तु यह भी स्वीकार किया जा सकता है कि परमाणु खण्डन के कारण विज्ञान के आलम्बन रूप आदि का खण्डन हो जाता है। साधारणतया बाह्य पदार्थों की सत्ताका आधार प्रत्यक्ष प्रमाण माना जाता है जो कि सब प्रमाणों में श्रेष्ठ है और जब तक यह आधार बना रहता है बाह्य पदार्थों के विरोध का कोई महत्व नहीं है। विज्ञानवाद के विरोध में यही मुख्य बात है। बाह्य जगत् प्रत्यक्ष है, अतः सत्य है किन्तु बाह्य जगत् का यह दिखायी पड़ना उसके असत्य होने का कारण है।

अतएव इसका खण्डन करते हुए आचार्य वसुबन्धु कहते हैं– "जिस प्रकार स्वप्न में चेतन बुद्धि नहीं होती और जब वह चेतन होती है तब वह स्वप्न नहीं दिखता। उसको सही कैसे माना जाय? जिस प्रकार स्वप्न समाप्त होने पर उसके आभास के साथ विज्ञान की उत्पत्ति होती है, तथा उसके बाद उसके स्मृति की।

स्वप्न तथा भ्रम में बिना वास्तविकता के सहारा के प्रत्यक्ष बुद्धि उत्पन्न होती है। अतः प्रत्यक्षबुद्धि से आलम्बन की सत्ता सिद्ध नहीं होती। वस्तुतः विज्ञानवाद की दृष्टि से समस्त अर्थ-प्रत्यक्ष विकल्पित एवं भ्रांत हैं। असंग ने योगाचार भूमिशास्त्र में प्रत्यक्ष के तीन लक्षण बताये हैं– अपरोक्षता, अविकल्पता तथा अभ्रान्तता। वसुबन्धु ने प्रत्यक्ष का लक्षण, "ततोऽर्थाद विज्ञानं प्रत्यक्षं" किया है। किन्तु वसुबन्धु के इस लक्षण में बाह्य अर्थ की सत्ता को स्वीकार किया गया

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

है। अत: इसे हम उनका सौत्रान्तिक युग मानते हैं। इसीलिए सम्भवत: दिङ्नाग ने इस परिभाषा को स्वीकार किया है।

विज्ञानवाद में विज्ञान के परिणाम तीन माने गए हैं। इसमें आत्मा, धर्म और उपचरित स्वीकार किया गया है। विज्ञानवाद में परिणाम का अर्थ कार्यकारण भाव के अनुसार निरोध है। विज्ञान की सत्ता, कार्य कारण से निर्धारित तथा प्रवाह रूप है। आलय विज्ञान की वृत्ति नदी के प्रवाह के समान है। इसकी व्यावृत्ति अर्हत्व में होती है किन्तु आलय विज्ञान के 'आलम्बन' एवं 'आकार' विदित नहीं होते।

विज्ञान का दूसरा परिणाम विज्ञानवाद में मन माना गया है। आलय विज्ञान को आश्रय तथा आलम्बन बना कर मन की क्रिया होती है। मन भावनात्मक विज्ञान है वह सदैव आत्मदृष्टि, आत्ममोह, आत्ममान तथा आत्मस्नेह नाम के चार क्लेशों से युक्त होता है। जिस भूमि में मन की उत्पत्ति होती है तन्मय स्पर्श आदि चैतों से वह स्वतन्त्र होता है। अर्हत्व, निरोध, सम्प्रति तथा लोकोत्तर मार्ग में मन का अभाव होता है।

विज्ञान का तृतीय परिणाम विज्ञानवाद में छ: प्रकार के विष विज्ञान स्वीकार किए गए हैं। विज्ञान के इस परिणाम में रूप, शब्द, गन्ध आदि छ: प्रकार के विषयों की उपलब्धि होती है। उससे चेतन धर्म की अनेक कोटियाँ हैं – सर्वत्रग, विनियत, कुशल, क्लेश, उपक्लेश एवं अनियत।

वसुबन्धु के पश्चात् उनके शिष्य दिङ्नाग ने विज्ञानवाद के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। उन्होंने तर्क विद्या को न केवल आगम से मुक्त किया अपितु पारमार्थिक तत्त्वचिन्तन से भी उसे पृथक् करने का प्रयास किया। उनकी दृष्टि से तर्कशास्त्र के नियम व्यवहारोपयोगी हैं। दिङ्नाग के अने पारमार्थिक सिद्धान्तों के विषय में नाना मत प्रस्तुत किये गए हैं। दिङ्नाग को योगाचार या सौत्रान्तिक योगाचार और वैभाषिक एवं माध्यमिक तक कहा गया है। दिङ्नाग ने ज्ञाता, ज्ञान तथा ज्ञेय ये तीन भेद बताए हैं। ज्ञाता अथवा ग्राहक ही 'दर्शन भाग' है, ज्ञेय अथवा ग्राह्य ही 'निमित्त भाग' तथा ज्ञान अथवा उपलब्धि ही 'स्वाभाविक भाग' है। दिङ्नाग के समय से यह सिद्धान्त बौद्धों ने प्राय: स्वीकृत किया कि प्रत्यक्ष तथा अनुमान ही दो प्रमाण हैं। वसुबन्धु ने प्रत्यक्ष का लक्षण "ततोऽर्थादुष्पन्नं विज्ञानम्" किया था किन्तु इस लक्षण में बाह्य अर्थ की सत्ता होने से दिङ्नाग ने इसको नहीं माना। उनके अनुसार – "प्रत्यक्षं कल्पनापोदं नाजात्याद्यसंयुतम्।।" अर्थात् प्रत्यक्ष निर्विकल्पक अथवा कल्पनारहित ज्ञान है। कल्पना जाति आदि के संयोजन को कहा गया है।

धर्मकीर्ति ने भी इसकी कमियों के कारण दिङ्नाग के सिद्धान्तों में परिवर्तन किया। इन्होंने प्रत्यक्ष तथा अनुमान की विषय व्यवस्था भी की - प्रत्यक्ष का विषय स्वलक्षण है, अनुमान का सामान्य लक्षण। धर्मकिर्ति ने विज्ञानवाद में 'स्वसंवेदन' का प्रबल समर्थन किया है। इस प्रकार धर्मकीर्ति के विज्ञानवाद में आलय विज्ञान का स्थान नहीं है।

चीनी यात्री हुआन-च्वाँग ने भी बौद्ध धर्म के विज्ञानवाद की व्याख्या में अनेक ग्रन्थ लिखे जिनमें सबसे प्रसिद्ध ग्रन्थ "सिद्धि" है। असंग के महायानसूत्रालंकार के विज्ञानवाद का आधार माध्यमिक विचार था। इसके विपरीत हुआन-च्वाँग के सिद्धान्त में विज्ञानवाद का स्वतन्त्र आधार है। यह माध्यमिक सिद्धान्त से सर्वथा अलग होकर अपने को महायान का

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

एकमात्र सच्चा प्रतिनिधि मानता है। हुआन च्वाँग का "सिद्धि" विज्ञप्तिमात्रता के सिद्धान्त को प्रतिपादित करता है। जो लोग पुद्गल नैरात्म्य में अति प्रसन्न या अति दुःखी हैं, उनको इसका ज्ञान करना ही इस ग्रन्थ का उद्देश्य है। यह विज्ञप्तिमात्रता के सिद्धान्त को प्रतिपादित करता है। जो लोग पद्गल नैरात्म्य में अति प्रसन्न या अति दुःखी हैं, उनको इसका ज्ञान करना ही इस ग्रन्थ का उद्देश्य है।

विज्ञप्तिमात्रता दो प्रकार के एकान्तवाद का विरोध करती है। सर्वास्तिवादी मानते हैं कि विज्ञान के समान विज्ञेय भी द्रव्यसत् है और शून्यवादी मानते हैं कि विज्ञेय के समान विज्ञान का भी अस्तित्व नहीं है। यह दोनों मत अनुचित हैं। हुआन-च्वाँग-इन दोनों से अलग विज्ञानवाद की व्याख्या करते हैं। वह वसुबन्धु के इस वचन को उद्धृत करते हैं – जो विविध आत्मोपचार और धर्मोपचार है, विज्ञान का जो परिणाम होता है, उसकेलिए इन मान्यताओं का व्यवहार होता है। दसरे शब्दों में आत्मा और धर्म का द्रव्यसत् स्वभाव नहीं है। आत्मा और धर्म विज्ञान के परिणाम मात्र हैं। हुआन-च्वाँग के विश्लेषण से ज्ञात होता है कि चित्त-चैत्त ही एकमात्र सत् है।

इस प्रकार देखते हैं कि विभिन्न बौद्ध दार्शनिकों ने अपने-अपने मतानुकूल विज्ञानवाद की व्याख्या करके परमसत्त्व की व्याख्या करने का प्रयास किया है।

९. बौद्ध संघ में भेद

उस समय वैदिक कर्ममाण्ड, यज्ञवाद ब्राह्मणवाद, बहुदेववाद, द्वैतवाद एवं प्रवृत्तिवाद से जनता ऊब चुकी थी। मानव जीवन संघर्षमय था। उसको सहारा देने के लिए वुद्ध ने इस धर्म को प्रसारित किया। उनके जीवनकाल में ही अपार जनमानस इसकी ओर आकृष्ट हुआ था जिससे दिनोंदिन बौद्ध भिक्षुओं की संख्या बढ़ती गयी। इसे व्यवस्थित करने हेतु बौद्ध संघ की स्थापना हुई। किन्तु खेद की बात है कि दिन प्रतिदिन बौद्ध भिक्षुओं की बढ़ती हुई संख्या के कारण बौद्ध संघ का विरोध होने लगा था। महात्मा बुद्ध के जीवनकाल में ही बौद्ध संघ में विभेद आरम्भ हो गया जिस की पुष्टि महायानसूत्र से होती है। आचार्य नरेन्द्र देव महायानीसूत्र के आधार पर कहते हैं –भगवान् ने समाधि से उठकर सारिपुत्र को सम्बोधित किया – "हे सारिपुत्र! बुद्धों का ज्ञान, सम्यक् सम्बुद्धों का ज्ञान श्रावक और प्रत्येक बुद्धों के लिए जानना कठिन है। विवेकानुसार वे धर्म का प्रसार करते हैं और भिन्न-भिन्न स्वभाव के अनुसार विविध उपाय कौशलों के द्वारा उनके दुख का निवारण करते हैं।" भगवान् के इन वचनों को वहाँ उपस्थित अज्ञात कौण्डिन्य आदि अर्हत, क्षीणास्त्रव, महाश्रावकों ने सुना। यह आश्चर्य था कि आज भगवान् बिना प्रार्थना किये स्वयं कह रहे हैं कि बौद्ध-धर्म समझने में कठिन है? भगवान् ने जो भी बताया उसे हमने प्राप्त ही किया है। फिर ऐसा क्यों कह रहे हैं। सारिपुत्र ने भगवान् से प्रार्थना की कि वे अर्हतों की इस शंका का निवारण करें। भगवान् ने कहा– सारिपुत्र! सुनों में कहता हूँ।

भगवान् के ये शब्द निकलते ही उस परिषद से पाँच हजार भिक्षु, भिक्षुणी, उपासक और उपासिकायें आसन से उठकर भगवान् को प्रणाम करके चले गए। तब भगवान् ने कहा अच्छा हुआ सारिपुत्र! इब संघ शुद्ध हो गया।[१]

---

१. बौद्ध धर्म दर्शन, आचार्य नरेन्द्र देव, पृष्ठ १४३

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

महायान सूत्र के आधार पर यह कहा जा सकता है कि महात्मा बुद्ध ने अपने जीवन काल में कहा था कि एक ही मार्ग है– 'बुद्धयान।' तथागत सत्त्वों को ज्ञान का बोध कराने के लिए ही उत्पन्न होते हैं। यह महान कार्य एक ही यान 'शुद्धयान' पर सवार होकर बुद्ध करते हैं। इसकी पुष्टि महायान सूत्र के इस कथन से होती है – **'एकं हि यानं द्वितीयं न विद्यते न तृतीयं हि नैवास्ति कदाचित् लोके, एकं हि कार्य द्वितीयं न विद्यते ने हीनयानेन नयन्ति बुद्धाः।।'**

इस प्रकार हम देखते हैं कि तथागत ने अपने जीवन काल में सदैव संघ की अक्षुणता बनाए रखने का प्रयास किया। परन्तु विभेद का बीज उनके जीवन काल से ही अंकुरित हो रहा था। यह विभेद का रूप उनके मरणोपरान्त और तीव्र हो गया। विनय से ज्ञात होता है कि पाँच सौ भिक्षुओं के साथ महाकाश्यप पावा और कुशीनारा के बीच थे जब उन्होंने एक आजीवक से सुना कि सप्ताह भर पूर्व तथागत का परिनिर्वाण हुआ है। यह सुनकर रागद्वेष रहित भिक्षु रोये तथा वीतराग भिक्षु संसार की अनित्यता का स्मरण कर दुखी हुए। किन्तु सुभद्र नाम के एक वृद्ध प्रव्राजक ने कहा कि "अच्छा हुआ जो महाश्रमण नहीं रहे। वे प्रायः कहा करते थे ऐसा मत करो, ऐसा मत करो। अब इससे छुट्टी मिली अब हम जो चाहेंगे करेंगे जो न चाहेंगे, न करेंगे।" यह सुनकर महाकाश्यप ने कहा कि संघ में अब अधर्म और अविनय प्रकट हो रहा है। इसलिए यह आवश्यक है कि धर्म और विनय का संगायन (संकलन) किया जाय। इसी के कारण बौद्ध धर्म की संगीतियाँ हुईं।

बौद्ध संगीतियाँ

भगवान बुद्ध के महापरिनिर्वाण के बाद आवश्यकता प्रतिति हुई धर्म को व्यवस्थित रखने की। इसका कारण था कि बुद्ध के बाद संघ में भेद की स्थिति उत्पन्न होने लगी थी। जब-जब इसमें ऐसी विभीषिका होती रही तब-तब भिक्षुओं ने संगीति का आयोजन किया। संगीति से अभिप्राय है 'धर्म-सभा' से। इनका उद्देश्य था धम्म में विभेद को रोकना तथा उन नियमों पर विचार करना जिनके विरोध में भिक्षुओं के बीच मतभेद होने से बँटवारे की स्थिति आती थी। साथ ही मौखिक बुद्ध वचन, जो संघ की व्यवस्था थी, उनको लिपि बद्ध करना तथा उनका अन्तक जो बुद्ध ने अब तक स्पष्ट किया था उनके लिए उन पर भाष्य लिखना। इनका ज्ञान हमें बौद्ध ग्रंथों द्वारा प्राप्त होता है। पहली बार बुद्ध के मरने के ठीक बाद जो उच्छ्रंखल भिक्षु बुद्ध शासन में आबद्ध नहीं रहना चाहते थे उन्होंने स्वतंत्रता का स्वर उठाया। इसके लिए तथा बाद में संघ में उत्पन्न भेद को रोकने के लिए एवं सम्प्रदायों में बँटने पर उनके सिद्धान्तों के संगायन के लिए इसकी आवश्यकता पड़ी। यह व्यवस्था तब तक चलती रही जब बौद्ध अपने विकास की तीव्रता में था तथा इसका समर्थन शासक करते रहे। उन्होंने इस प्रकार के संघों के संगायन के लिए पृष्ठभूमि तैयार कर इसकी व्यवस्था को बनाए रखने के लिए संगीतियों का आयोजन किया। इस प्रकार की चार संगीतियों का ज्ञान बौद्ध ग्रंथों से होता है। इन संगीतियों में बौद्ध आचार सम्बन्धी ग्रंथों को तैयार किया गया जब तक इसने अट्ठारह सम्प्रदायों में बँट कर अन्तर्राष्ट्रीय धर्म का रूप नहीं। ये चारों संगीतियाँ प्रायः एक लम्बे अन्तराल पर समय-समय पर आयोजित की गईं। इनमें दो अशोक के बहुत पहल हो चुकी थी और तीसरी अशोक के समय तथा चौथी कनिष्क के समय आयोजित की गई थी। लगता है बौद्ध धर्मानुयायी शासकों के संरक्षकत्व में उनका आयोजन किया जाता था।

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

प्रथम बौद्ध संगीति

इस संगीति का आयोजन शास्ता (बुद्ध) के परिनिर्वाण के थोड़े ही दिनों बाद किया गया कि धर्म और विनय का संगायन किया जा सके। इसका कारण था कि बुद्ध के वचन ही अब तक संघ के व्यवस्थापक थे। इसके लिए अलग कोई ग्रंथ या नियमबद्ध पुस्तक नहीं थी। सम्भवतः इसीलिए बुद्ध के मरने के पहले आनन्द रो रहे थे कि अब संघ कैसे चलेगा? तब मरण शैय्या पर पड़े बुद्ध ने भिक्षुओं तथा गणमुख्यों को बुलाकर कहा कि यदि धर्म के विषय में कोई शंका हो तो पूछ लो। पर किसी ने कुछ नहीं पूछा। तब आनन्द से उन्होंने कहा था कि 'आत्मदीपो भव' अर्थात् स्वयं तुम लोग अपने मार्गदर्शक बनो। इसके पीछे भी यही कारण रहा होगा कि जो तुम्हारी आत्मा को उचित लगे उसीके अनुरूप संघ को व्यवस्थित रखना।

पर अभी बुद्ध के परिनिर्वाण के एक सप्ताह के बीतने पर ही सुभद्र नामक एक भिक्षु जो वृद्धावस्था में संघ में सम्मिलित हुआ था सांघिको से कहा कि आप लाग शास्ता के मरने चिन्ता न करें क्योंकि इस घटना के बाद आप लोग अपनी-अपनी इच्छानुसार कर्म करने के लिए स्वतंत्र हो गए हैं। अब बुद्ध नहीं रहे कि जीवन की प्रत्येक व्यवस्था में रोक-टोक करेंगे।' इसके कारण संघ इतना उद्वेलित हो उठा कि शीघ्र ही धर्म और विनय के संगायन की आवश्यकता का अनुभव किया गया। दूसरे, आवश्यकता थी कि बुद्ध वचनों की व्याख्या करके उसका रूप निर्धारित किया जाय जिससे उसका गलत अर्थ निकालकर संघ की व्यवस्था को पीछे हानि न पहुँचाया जा सके। तीसरा कारण था कि अब तक संघ में उठने वाली समस्या का समाधान शास्ता (बुद्ध) ही करते थे जिससे उनको शास्ता (अनुशासन में रखने वाला) कहा गया है। पालि में बुद्ध के लिए प्रचलित इसी शब्द का प्रयोग आज Proctor के लिए सर्वत्र प्रचलित है। पर उनके न रहने पर शास्ता का पद धर्म ने ही ले लिया था। इसलिए उसका दृष्टिकोण स्पष्ट और निश्चित होना आवश्यक था। चौथे, छोटे विवादों को वह संघ पर ही छोड़ देते थे कि स्वयं निर्णय कर ले। पर उसमें विभेद को अब रोकने के लिए जो बुद्ध के समय भी चुल्वगीय तथा देवदत्तीय भिक्षुओं द्वारा होता था नियम की व्यवस्था और मन्तव्य आवश्यक था। पाँचवें, भविष्य में भिक्षु संघ को स्थायी रखने के लिए विवादास्पद पहलुओं पर विचार की आवश्यकता पड़ी कि परस्पर एकता बनी रहे। छठा कारण था कि महाकश्यप को अपने परिनिर्वाण के समय बुद्ध ने अपना वस्त्र देकर अपने बराबर बना दिया था। भिक्षुओं को इसकी सूचना देना तथा स्वीकृत करना आवश्यकता था। इसलिए संघ को बुलाना पड़ा कि वह स्वीकृत कर बुद्ध स्थापित नियमों की रक्षा करें। सातवाँ कारण था कि आनन्द अभी शैक्ष थे। अब उन्हें अरहन्त पद देना था क्योंकि वह बुद्ध के अत्यन्त समीप थे एवं उनके वचनों को जानते थे। इसलिए संघ में उन्हें सम्मिलित करना था।

इसके लिए राजगृह में बुद्ध के परिनिर्वाण के शीघ्र ही बाद धर्म और विनय के संगायन के लिए यह सभा बुलाई गई। उस समय मगध का शासक अजातशत्रु था। इसके लिए उसने एक सभाभवन निर्मित कराया तथा भिक्षुओं के आवास हेतु संघराम को ठीक कराया। इसका प्रारम्भ वर्षावास के समय श्रावण मास में हुआ था क्योंकि एक माह आषाढ़ में इसकी तैयारी की गई। फिर श्रावण में जो सात वर्षों तक चला उसमें पाँच सौ चुने हुए भिक्षुओं ने भाग लिया था। इस संगीत के समय, स्थान, कारण, भागीदारों की संख्या और उनके क्रियाकलापों के विषय में बड़ा ही विवाद इतिहासकारों के बीच है।

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

इसका ज्ञान चुस्तवग्ग, विनयपिटक की टीका, सामंत, प्रसादिका, महावस्तु, दीपवंश, महावंश तथा तिब्बती ग्रंथ 'दुल्व' से प्राप्त होता है। पर विन्टरनित्स ने शंका उठाई है कि आज जिस रूप में धम्मपिटक तथा विनयपिटक का जो स्वरूप उपलब्द्ध है क्या वह उसी समय तैयार किया गया था। मैनियेफ ने भी ऐसी ही शंका का समर्थन किया है। पर इन शंकाओं से अधिक महत्त्वपूर्ण है इसमें बुद्ध के वचनों का संगायन।

यहाँ विनय का संगायन उपालि नामक नाई के सहयोग से हुआ था जो बुद्ध के साथ बहुत दिनों तक रहा था तथा उनके वचन उसे स्मरण थे। धम्म का संगायन आनन्द के सहयोग से हुआ जो बुद्ध के प्रिय शिष्य थे और उनके सानिध्य में रहे थे भले ही अभी शैक्ष ही थे। यद्यपि इस विषय में बड़ा विवाद है कि अभिधम्म का भी संकलन इसी संगीति में हुआ था। पर आन्तरिक तथ्यों से ज्ञात होता है कि इसमें अशोक के काल की घटनाएँ भी है जिससे इसका कोई सम्बन्ध प्रथम संगीति से नहीं जोड़ा जा सकता। इसी प्रकार सम्पूर्ण धम्मपिटक भी इस समय का संकलन नहीं माना जा सता क्योंकि थेरिगाथा जो इसका एक भाग है तथा खुद्दक निकाय में अशोक के समय तथा बाद की घटनाओं का प्रसंग है।

इस सभा के तीन प्रमुख संचालक थे- महाकश्यप, आनन्द और उपालि। इसके साथ अन्य भिक्षुओं की भी सहमति होने पर निर्णय को प्रामाणिक माना जाता था। महाकश्यप ही विषय का प्रतिपादन करते थे। सबसे पहले उन्होंने विनय पर प्रश्न पूछना शुरू किया था क्योंकि संगीति का यही निर्णय था। उपालि इसका उत्तर देता था और विस्तृत व्याख्या करता था। इसी प्रकार आनन्द से धम्म सूत्रों पर प्रश्न पूछा जाता था। ये दोनों अपने-अपने विषय में पूछे गए प्रश्नों का उत्तर देते थे जिसे संघ की सहमति होने पर संकलित कर लिया जाता था।

'दुल्व' नामक ग्रंथ के अनुसार आनन्द पर अनेक प्रकार की आपत्तियां उनके संघ में सम्मिलित किए जाने के पूर्व उठाई गई थीं जिसका उत्तर देकर उन्होंने उसका प्रतिकार किया था। पर चुल्लवग्ग से ज्ञात होता है कि संघ का कार्य पूर्ण होने के बाद ही आपत्तियों और उनके निराकरण का सिलसिला आनन्द के साथ बना हुआ था। उनके उत्तर से संतुष्ट संघ ने उनकी बातों को स्वीकार कर लिया। पर संघ ने छन्न को जो बुद्ध का सारथी था उसके कुछ अनियमित कार्यों के लिए ब्रह्मदण्ड अर्थात् संघ से पूर्ण बहिष्कार का निर्देश दिया था।

इसके समाप्ति पर धम्म पूर्ण रूप से स्वीकृति हो गया। यह बात दूसरी थी कि भिक्षु पोराण और गवम्पत्ति भिक्षुओं ने इसमें स्वीकृत बुद्ध वचनों को नहीं माना जबकि वे वृद्ध थे।

दूसरी संगीति

बुद्ध के जीवन काल में ही देवदत्त, चुल्लवगीयों तथा कोशाम्बियों द्वारा फूट का बीजारोपण हो चुका था। बुद्ध के परिनिर्वाण के एक शताब्दी के बीतते-बीतते संघ भेद प्रारम्भ हो गया। ये संघ के मूल अनुशासन को अधिक सरल और सामान्य बनाकर भिक्षुओं को अपनी ओर आकर्षित करने लगे थे। इस समय बुद्ध के मरे अस्सी वर्ष बीत चुके थे जब शिशुनागवंशीय शासक काकवर्ण कालाशोक मगध के सिंहासन पर विराजमान था।

इस संगीति के बुलाने के कई कारण थे। प्रथम, इसी समय वैशाली के विज्जिय भिक्षुओं ने निम्न दस क्षमाओं की स्वीकृति दिया जिनको पुरातन परम्परा में दुष्कर एवं विनय में पाचित्तिप

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

(प्रायश्चित) कर्म माना गया था : १. दूसरे ग्राम में जाकर पुनः भोजन करना, २ दिन ढलते समय भोजन करना, ३. कार्य करने के बाद संघ की स्वीकृत प्राप्त करना, ४. सींग में नमक रखना, ५. एक छत के नीचे रहकर भी अलग उपोसथ करना, ६. ताड़ी पीना, ७. संघ्र नियमों के विपरीत कार्य करना, ८. बिना खरीदे दूध पीना, ९. बिना किनारे के आसन पर बैठना तथा १०. सोना चांदी स्वीकार करना। इसका कारण था कि वे अधिक सुविधाभोगी होने लगे थे। दूसरे, यश ने वैशाली में देखा कि उपासना के दिन भिक्षु गृहस्थ बौद्धों से भी धन स्वीकार करते थे। तीसरे, इन विपरित आचरणों को एक समिति के सुपुर्द निर्णय के लिए किया गया था। समीति ने भी पुरातन मान्यताओं की स्वीकृति के आधार पर इन्हें नकार दिया था। अव इसकी स्वीकृति संघ से लेनी थी। इन सभी कारणों से संघ में फूट होने लगा था और विनय अनुशासन जो निर्धारित थे उनके विपरीत आचरण से संघ्र के फूट को रोकने के लिए पुनः संगीति की आवश्यकता थी।

इसीसे दूसरी संगीत वैशाली के बालुकाराभ में आयोजित की गई थी जिसमें प्रमुख व्यक्ति थे रेवत और आनन्द के शिष्य सर्वकामी। इसका आयोजन उस समय के मगध शासक शिशुनाग वंशीय कालाशोक की देखरेख में हुआ था। इस समिति में सात सौ भिक्षुओं ने भाग लिया था। महावस्तु के अनुसार इस संगीति की बैठक आठ महीने तक चली।

इसकी जानकारी पालि साहित्य के चुल्लवग्ग, सरवास्तवादियों का क्षूद्रकवस्तु, तिब्बती ग्रंथ 'दुल्व', तारानाथ के विवरण, दीपवंश तथा महावंश, मंजु-श्री-मूलकल्प, महावस्तु, समाधिराज आदि से मिलती है।

इसमें उन दस प्रायश्चितों के शिथिलीकरण की व्यवस्था पर निर्णय लिया गया। इनके शिथिलीकरण को अमान्य कर दिया गया। फिर इस संघ में पिटकों, निकायों, अंगों और धर्मस्कन्धों का नवीन संस्करण तैयार किया गया। इससे जो दुष्ट विज्जी भुक्षु थे उनको अपने निर्णय को त्यागना पड़ा। पर सुविधाभोगी होने के कारण उन्हें यह पसन्द नहीं आने से उन्होंने एक अलग व्यवस्था बनाकर दस हजार भिक्षुओं का एक अलग सम्मेलन किया। इसका नाम उन्होंने महासंगीति रखा। इसमें उन्होंने पुरातन ग्रंथ-परिवार, पटिसम्मिदा, निदेश और कुछ जातकों को नकार दिया। फाहियान और ह्वेनसांग के अनुसार इन्होंने इस समीति में गृहस्थ भिक्षुओं को भी सम्मिलित कर लिया था। इसमें उन दस नियमों को पुनः मान्यता दिया जिसे इन्होंने पहले मान लिया था तथा अन्य समस्याओं पर भी विचार किया।

इसका परिणाम हुआ कि संघ्र में विभाजन प्रारम्भ हो गया। स्पष्ट है कि जो भिक्षुवर्ग पुरातन नियमों में कोई भी परिवर्तन नहीं चाहते थे वे नियमों के शिथिलीकरण वाले विज्जीय भिक्षुओं के संगठन से अलग हो गए। अब पुरातन परम्परावादी भिक्षु स्थविरवादि कहलाए तथा विज्जीय के साथ नियम शिथिलीकरण को मानने वाले महासांघिक। अब इन दोनों के भी कई विभाजन होने लगे। स्थविरवादियों में पांच विभेद हुए- १. एक व्यवहारिक, २. गोकुलिक, ३. प्रज्ञापतिवादी, ४. बहुश्रुतिक तथा ५. द्वै चैत्यवादी। इसी प्रकार माहासांघिकों में ग्यारह विभेद हुए- १. हेमवत, २. वत्सपुत्रीय, ३. धर्मोत्तरीय, ४. भद्रायनिक, ५. सम्मितीय, ६. सभागारिक, ७. सखास्तवादी, ८. महीशासक, ९. धर्मगुप्तिक, १०. काश्यपीय तथा ११. सौतान्त्रिक। प्रत्येक वर्ग के भिक्षुओं के नियम अलग-अलग थे, यद्यपि मूल बातें समान थीं। इनका वे मौखिक स्मरण रखते

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

थे क्योंकि तब इनका स्वरूप लिखित नहीं था। इलियट ने फाहियान के अनुसार माना है कि ये मूल सिद्धान्तों को मानते हुए भी व्यवहाकि सिद्धान्तों में विभेद बनाए रखते थे। इतसिंग के अनुसार- जब वह सातवीं से दसवी शताब्दी के बीच भारत में था, तो ये अट्ठारह विभेद चार मुख्य सम्प्रदायों में सिमट गए थे- महासांघिक, स्थविरवादी, मूलसरवास्तिवाद तथा सम्मीतिय।

तृतीय संगीति

लंका के बौद्ध ग्रंथ महावंश के अनुसार पिता की तरह अशोक पहले पाखंडी तथा नास्तिकों का पक्षधर था। पीछे वह न्यग्रोध श्रमणेर से मिला जिसने अप्रमाद पर उससे विवाद किया। उससे प्रभावित होकर अशोक भिक्षु संघ की ओर आकृष्ट हुआ। मोगलिपुत्त तिस्स से उसने सुना था कि सधर्म 'बौद्ध धर्म' में चौरासी हजार भेद हो चुके हैं तो उसने इतने मठ बनवाए तथा उनमें उपासना करने और धर्मश्रावण का आदेश दिया। अब वह बौद्ध धर्मानुयायी हो गया इससे पाखण्डियों ने जब अपनी महत्ता को घटते देखा तो वे भी संघ में प्रविष्ट हो गए।

ये संघ में प्रवेश करने पर भी सधर्म की आड़ में अपने मत का प्रचार गुप्त रूप से करने लगे थे। इससे संघ में अव्यवस्था हो गई तथा उपोसथ और प्रवज्जा भी सात वर्षों के लिए बन्द हो गई। दूसरे जब उन्हें संघ नियमों के पालन का आदेश सम्राट अशोक की ओर से दिया गया तो उन्होंने इसका विरोध किया। इस पर उन्हें पंक्ति में बैठाकर उनकी हत्या की जाने लगी। जब यह अशोक के संज्ञान में आया तो वह ऐसे कार्य के लिए दुःखी होकर जानना चाहता था कि क्या इसका प्रायश्चित उसे करना होगा। दुःखी होकर मोगलिपुत्त तिस्स के पास इसके विषय में निर्णय के लिए पहुंचा। उन्होंने चिन्तन के बाद अशोक की अज्ञानता में किए गए पाखण्डियों की हत्या का दोषी उसे नहीं बताया। फिर पाटलिपुत्र में सभी भिक्षुओं को एकत्रित कर बौद्ध धर्म के नियमों के विषय में उनसे पूछा गया। लगभग साट हजार ने पाखण्डपूर्ण उत्तर दिया। अतएव उन्हें संघ से निकाल दिया गया। जो शेष सही उत्तर दिए उन्हें विभज्जवादिक कहकर सधर्म में रहने दिया गया। तीसरे, अशोक के समय तक आते आते जो विभेद मूल बुद्ध वचनों और नियमों को मानने वाले थेरावादी और नए सुविधाजनक नियमों के पालन करने वाले महासांघिक में कई और शाखाएं फूटीं। अब संघ के और विभाजन को आगे रोकने की आवश्यकता की। चौथे, अशोक स्वयं नहीं चाहता था कि संघ में और अधिक फूट हो। इसके लिए उसने अपने एक अभिलेख में घोषित किया है कि 'जो भिक्षु या भिक्षुणी संघ में भेद डालेंगे उन्हें श्वेत वस्त्र पहना कर नगर से बाहर कर दिया जायगा।' ये सभी कारण इकट्ठा थे कि पुनः संघ की बैठक बुलाकर जैसा एन. दत्त ने कहा है संघ के नियमों का संगाय (संग्रह) किया जाय। यह आवश्यकता अति तीव्र थी।

इसीके लिए बुद्ध के परिनिर्वाण के लगभग दो सौ छत्तीस व्रर्षों बाद पाटलिपुत्र में मोगलीपुत्त तिस्स की अध्यक्षता में यह संगीति बुलाई जो नौ माह तक चलीं। इसमें चुने हुए एक हजार भिक्षुओं ने भाग लिया।

इस संगीति का ज्ञान पूर्व के दोनों संगीतियों का परिचय देने वाले चुल्लवग्ग से नहीं होता है। सम्भवतः इसकी रचना इस संगीति के पूर्व ही हो चुकी थी। कीथ, स्मिथ, बार्थ आदि इसके संबंध में अशोक के अभिलेखों में उल्लेख का अभाव देखकर इसके होने के विषय में संदेह व्यक्त

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

किया है। इस विषय में उल्लेख्य है कि अशोक ने भिक्षुओं को अत्यधिक सुविधा दिया था किन्तु इस संगीति का श्रेय मोगलिपुत्त तिस्स को सम्भवत: देने के लिए इसका उल्लेख उसने स्वयं न किया हो।

इस संगीति की उपलब्धि थी कि यहां त्रिपिटकों को फिर से दुहराकर संघ के नियमों के विषय में विचार किया गया जो विरोधी संघटनों के विरुद्ध वचनों द्वारा दूषित हो चुके थे। इसके कारण नैतिक आचरणों में भी अन्तर होने लगा था। इसकी दूसरी महत्वपूर्ण उपलब्धि थी कि धर्म के प्रचार के लिए नौ विभिन्न स्थानों पर धर्म प्रचारकों को भेजा गया था जैसे कश्मीर-गांधार, मैसूर , उत्तरी कोंकण, महाराष्ट्र, यवन देश (यूनान), हिमवन्त, सुवर्णभूमि (सुदूर पूरब बर्मा), ताम्रपर्णी (लंका)। इसका परिणाम यह हुआ कि एशिया में इस धर्म का विस्तार अब प्रारम्भ हो गया। तीसरी उपलब्धि थी कि बौद्ध नियमों के साथ अभिधम्म का संकलन अन्तिम रूप से इसमें हुआ तथा विनयपिटक, सुत्तपिटक के निकायों पर भी निर्णायक रूप से विचार किया गया। चौथे, अशोक ने धम्म के प्रचार के लिए जो कुछ भी किया तथा संघ की सुविधा यथा जनता के कल्याणार्थ कार्य, धर्माधिकारियों की नियुक्ति, अहिंसा के प्रति दृढ़ता रखने का उसका प्रयोजन इसी कारण था। इसी के लिए बौद्ध धर्म को दृढ़ करने का उसके द्वारा प्रयास हुआ। पाँचवें, वृहत्तर भारत की नींव इसी संगीति ने रखी। इसके बाद भारत के धर्म प्रचारक विदेशों में गए और वहाँ उन्होंने बौद्ध धर्म, कला तथा भारतीय संस्कृति को स्थापित किया।

चौथी संगीति

तीसरी बौद्ध संगीति के बाद बौद्ध धर्म का प्रचार यवन, शक, ईरान आदि देशों में होने से वहाँ की जनता के बीच इसकी पकड़ बढ़ती गई। वहाँ बुद्ध को अब केवल धर्म प्रचारक के रूप में ही नहीं देखते थे, बल्कि उनमें देवत्व का आभास करने लगे थे। साथ ही उन तक पहुंचने के लिए एक अन्य स्तर को स्थान दिया गया जिसे बोधिसत्व कहा गया। बोधिसत्व न भिक्षु होता था न बुद्धत्व को ही प्राप्त कर सका था। वह बीच की स्थिति में बुद्धत्व की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील रहता था। इस प्रकार बौद्ध धर्म के विषय में सरिवास्तवादियों द्वारा यह स्वीकार किया गया कि एक ही यान (गाड़ी) महायान से सरलता पूर्वक बुद्ध धर्म में रहकर, बुद्धत्व की प्राप्ति की जा सकती है। इस समय बुद्ध की मूर्तियां बनने लगी थीं। यह काल प्रथम शताब्दी ईस्वी का था जब भारत पर पश्चिम की ओर से आने वाले कुषाण वंशीय शासकों का आधिपत्य स्थापित हुआ और उसका सर्वश्रेष्ठ शासक कनिष्क पश्चिमी भारत में शासन करने लगा। इसके साथ ही बौद्ध धर्म का नवीन सम्प्रदाय महायान भारतभूमि में प्रविष्ट हुआ। इस प्रकार इसके पूर्व की बौद्ध धर्म की हीनयान परम्परा से इस नवीन परम्परा महायान में बहुत अधिक अन्तर था जिसका उल्लेख हीनयान तथा महायान के बीच अन्तर बताते हुए आगे कहा गया है। हीनयान की अपेक्षा महायान अधिक व्यापक, सहज और सरल था।

इस संगीति के आयोजन का उद्देश्य था महायान संप्रदाय के सिद्धान्तों को स्वीकृत करना। इस समय बुद्ध की पूजा प्रारम्भ हुई थी। इसी आशय से बुद्ध मूर्तियां गांधार में बनने लगी थीं। बोधिसत्व की भी कल्पना इस समय उजागर हुई। दूसरा महायान विचारधारा के ग्रंथ अब जन भाषा संस्कृत में लिखे जाने लगे थे क्योंकि पालि जो पहले जन भाषा थी उसका स्थान संस्कृत

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

ने ले लिया था। तीसरे, सभी सम्प्रदाय के लोगों को एक मंच पर लाकर पारस्परिक भेद से दूर बौद्ध ग्रंथ के टीकाओं को सर्वमान्य रूप देना था। इसी क्रम में त्रिपिटकों का संशोधित रूप तैयार किया गया। इसी सिलसिले में उपदेश शास्त्र की रचना हुई। इसमें विनय तथा सुत्तपिटक पर भाष्य तैय्यार किया गया। चौथे, तारानाथ के अनुसार, जो बहुत समय से भिक्षुओं के बीच भेद हो गया था उसको दूर करने का प्रयास इसके द्वारा करना था। पांचवें, विनय और अभिधम्म शास्त्र के जो भाग अभी तक संकलित नहीं हुए थे उनका संकलन करना भी इसका उद्देश्य था। इसीलिए बहुत से नियम इसमें पहली बार लिखे गए। छटें, अब बौद्ध धर्म का विश्वव्यापक धर्म बनाने के लिए इसके सिद्धान्तों का सरलीकरण आवश्यक हो गया था। सातवां अठारह सम्प्रदायों के होने का उल्लेख प्राय: भारतीय तथा विदेशी ग्रंथों में मिलता है। इन सभी सम्प्रदायों के विद्वानों को बुलाकर एक सामान्य एवं सर्वमान्य सिद्धान्त की रूपरेखा तैय्यार करना इसका लक्ष था।

इस संगीति का आयोजन कनिष्क की देख रेख में पार्श्व के सलाह पर जालंधर या कश्मीर में किया गया था। इसमें पांच सौ चयनित भिक्षुओं ने भाग लिया था। इसके लिए एक मठ राजा द्वारा बनवाया गया था। इसके अध्यक्ष क्रमश वसुमित्र तथा प्रमुख बौद्ध दार्शनिक और नाटककार अश्वघोष थे। इस समीति के निर्णयों को ताम्रपत्रों पर लिखवाकर एक पत्थर की संदूक में रखकर कश्मीर के कुण्डलवन के पास जहां यह संगीत हुई थी कहीं गाड़ दिया गया है जो अद्यावधि प्राप्त नहीं हो सका है।

इस संगीत की उपलब्धियां थी कि सारे सम्प्रदायिक झगड़े शान्त हो गए। सभी ने मिलकर संघ के लिए नियमों को सहमति से तैय्यार किया। त्रिपिटक का संशोधित रूप तैय्यार किया गया। एक ही मात्र गाड़ी (महायान) द्वारा संसार के दु:खों को पार करने के लिए यह मार्ग खोजा गया। अब लोक भाषा संस्कृत में महायान सम्प्रदाय के बौद्ध ग्रंथों की रचना होने लगी। जो नियम अभी तक मौखिक परम्परा में चले आ रहे थे उनको भी इस समय लिपिबद्ध किया गया। इस संगीति में सरवास्तवादी भिक्षुओं का वर्चस्व बना रहा। सरवास्तवादियों की विचारधारा के विकास के लिए मार्ग मिला। इसीका परिणाम हुआ कि बुद्ध मूर्तिया मुख्यत: इस समय गांधार और मथुरा केन्द्रों में बनने लगीं तथा बोधिसत्वों की मूर्तियों का चलन भी प्रारम्भ हुआ। पर दक्षिण भारत तथा लंका में महायान का प्रभाव दिखाई नहीं पड़ता। मुख्यत: हीनयानी सम्प्रदाय जो उत्तर भारत में था उसका मुख्य रूपान्तर अब इस सम्प्रदाय में हो गया। ह्वेनसांग ने अपने वृद्धावस्था में तथा इत्सिंग ने उसी समय मूल सरवास्तवादी सम्प्रदाय के ग्रंथों का केवल अनुवाद ही नहीं किया बल्कि इसको स्वीकार भी किया। तिब्बती भले ही महायानी सम्प्रदाय के विकसित रूप के थे पर इनका विनय सरवास्तवादियों का ही था। इससे स्पष्ट है कि सारवास्तवादियों ने महांयान में अपने को बदल लिया। अब यह मान लिया गया कि मात्र एक ही गाड़ी है जो निर्वाण की ओर ले जा सकती है। वह है महायान। इसके पुरातन कठोरवादी नियमों को बहुत कुछ सरल बनाया गया था जिससे अब यह सामान्य लोगों के पहुंच के लिए उपयुक्त और सम्भव था। इसी का परिणाम हुआ कि महायान सम्प्रदाय के अनेक ख्यातिलबद्ध लेखकों का ज्ञान मिलता है। इस सम्बन्ध में नागार्जुन विशेष उल्लेखनीय हैं जिसने प्रज्ञापारमिता तथा उसके भाष्य महाप्रज्ञापारमिता की रचना किया। उसके बाद आर्य असंग, वसुबंधु का नाम आता है जिसमें वसुबंधु हीनयान

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

संप्रदाय के सरवास्तिवाद शाखा के वैभाषिक का ख्यातिप्राप्त अध्यापक था। यह पीछे महायान सम्प्रदाय को स्वीकार कर लिया। अन्य थे स्थिरमती, धर्मपीठ, आदि। इस समय सुत्तपिटक और विनयपिटक को नए रूप में संकलित कर उन पर क्रमशः उपदेश शास्त्र तथा विनय विभाग नामक भाष्य लिखे गए।

१०. हीनयान एवं महायान

भारत में बोद्ध धर्म के प्रमुखतः दो यान हुए- प्रथम हीनयान तथा दूसरा महायान। हीनयान का अर्थ निम्न मार्ग या "निकृष्ट मार्ग" है। हीनयान हीन + यान दो शब्दों के योग से बना है। हीन का अर्थ निम्न, या निकृष्ट या तुच्छ लिया गया है तथा यान का अर्थ मार्ग या पक्ष या गाड़ी। अतएव हीनयान का अर्थ निम्न या निकृष्ट या तुच्छ मार्ग हुआ। यही अर्थ इतिहासकारों ने स्वीकार किया है। हीनयान एक स्वार्थमूलक, अव्यावहारिक, अनुदारवादी, संकीर्ण दृष्टिकोण वाला ऐसा मार्ग है जिसमें विश्वास किया जाता है कि मानव इसी से ही निर्वाण या लक्ष्य की प्राप्ति कर सकता है। महात्मा बुद्ध के "**आत्मदीपो भव**" का कथन हीनयान का मूलमंत्र है।

महासांघिकों का सम्प्रदाय कालान्तर में महायान कहलाया तथा स्थविरवादियों का सम्प्रदाय हीनयान। सभी इतिहासकार स्वीकार करते हैं कि महायान का अर्थ "उत्कृष्ट मार्ग" है। महा का अर्थ बड़ा या महान या उत्कृष्ट होता है तथा यान का अर्थ मार्ग या गाड़ी या पथ होता है। अतएव महायान का अर्थ महान मार्ग स्वीकार किया गया है। महायान एक उदारवादी, सर्वकल्याणकारी वृहत् दृष्टिकोण वाला सम्प्रदाय है जिसमें महात्मा बुद्ध को देवतुल्य माना गया है तथा यह स्वीकार किया गया है कि प्रत्येक व्यक्ति में ऐसी क्षमता वर्तमान है कि वह बुद्धत्व प्राप्त कर सके पर निर्वाण के पहले सभी लोग बोधिसत्व ही रहते हैं। बोधिसत्व सबको निर्वाण की ओर ले जाता है।

महायानियों के अनुसार लोक-कल्याण की भावना से ओत-प्रोत होने के कारण महायान महान है तथा हीनयान में उसका अभाव होने के कारण वह हीन है। महायान उदारवादी एवं लोकहितवादी सम्प्रदाय है।

दोनों में अन्तर –

महायान

१. महायानी निर्वाण में विश्वास करते हैं। पर हीनयानी अर्हत् पद की आलोचना करते हैं। इनका विश्वास है कि संसार कार्य-कारण का प्रवाह है। इसे धर्म शून्यता को सिद्धान्त माना गया है।

२. महायान में बुद्ध तथा बोधिसत्वों की मूर्तियों की पूजा में विश्वास रखते हैं। मूर्तिपूजा ने ही मूर्ति कला को विकसित किया तथा गौतम बुद्ध को ईश्वर के पद पर पहुँचा दिया। पर हीनयानी इसके विपरीत प्रतीक पूजा में विश्वास करते हैं।

३. महायान सम्प्रदाय महासंधिकों की तरह बुद्ध को एक विशेष अर्थ में लोकोत्तर स्वीकार करते हैं। किन्तु हीनयानी बुद्ध को एम सामान्य नायक स्वीकार करते हैं।

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

४. महायान सम्प्रदाय के कारण बौद्ध धर्म में बोधिसत्व चर्या का विकास हुआ। इनकी दृष्टि में बुद्धत्त्व की प्राप्ति के पूर्व तक बुद्ध 'बोधिसत्व' थे। हीनयान में इसकी जगह पर अष्टांगिक मार्ग की प्रधानता थी।

५. महायानी हीनयान की साधना को तुच्छ समझते हैं। वे मानते हैं कि हीनयान द्वारा निर्वाण नहीं मिल सकता।

६. महायानियों में प्राचीन निकाय ग्रन्थ मान्य है, पर हीनयानी महायान के ग्रन्थों को प्रामाणिक नहीं मानते। हीनयान के आगम ग्रन्थ ही महायान की प्रामाणिकता सिद्ध करते हैं। चन्द्रकीर्ति का कहना है कि हीनयान के ग्रन्थों में भी शून्यता की शिक्षा मिलती है। हीनयान के ग्रन्थों में महावस्तु में दशभूमि और पारमिता का भी वर्णन है। महायान के गाथा नामक ग्रंथ संस्कृत में है।

७. लोकोत्तरवाद के कारण ही महायान बौद्धधर्म अधिक सुगम हो गया। इसके अनुयायियों की संख्या अधिक बढ़ गयी।

८. महायान में यह स्वीकार किया जाता है कि बुद्धत्व, ज्ञान-सम्भार और पुण्य-सम्भार का फल है। महायान ग्रन्थों में ऐसे बुद्धों का ज्ञान है जो शून्यता में प्रवेश नहीं करते, जो दूसरों का कल्याण चाहते हैं और जो सबको सुखी करने के लिए ही बुद्धत्व की आकांक्षा करते हैं। वह एक उत्कृष्ट लोक-कल्याण की भावना है।

९. महायानी धर्मकाय और निर्माणकाय के अतिरिक्त सम्भोग-काय को भी स्वीकार करते हैं।

१०. महायान के ग्रन्थ संस्कृत में हैं। महायान के ग्रन्थों की भाषा संस्कृत होने के कारण प्रायः इसे संस्कृत बौद्ध-धर्म कहते हैं। हीनयान के ग्रंथ पालि में हैं।

११. दुःख रूपी स्थिति से बाहर लाने के लिए श्रावकयान, प्रत्येक बुद्ध-यान और बुद्ध-यान बताया जाता है किन्तु अन्त में बुद्ध सबको बुद्धयान का ही उपदेश देते हैं। यही श्रेष्ठयान है, यही महायान है।

१२. बौद्ध दार्शनिक सुभूति ने महायान को आकाश के समान अति महान् होने से महायान कहा है। यह यान सम है इसलिए यह महायान है।

१३. बुद्ध के अनुसार महायान नाम मात्र है, बोधिसत्व, प्रज्ञापारमिता भी नामध्येय मात्र है।

१४. महायान में मांस खाना वर्जित है।

१५. महायान में बोधिसत्व की कल्पना की गई है।

१६. महायान का अनुयायी बोधिचित्त का समादान करता है।

१७. हीनयान का अनुयायी केवल पुद्गल से सम्बद्ध है किन्तु महायान का अनुयायी धर्मनैरात्म्य से।

१८. महायानी क्लेश और ज्ञेयावरण दोनों को अपनाता है।

१९. सौत्रान्तिकों के अनुसार महायान की शिक्षा सबसे पहले अष्टसाहास्त्रका प्रज्ञापारमिता में पायी जाती है। CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

२०. महायान की शाखाएँ-मन्त्रयान और वज्रयान हैं। मन्त्रयान में मन्त्र पदों के द्वारा निर्वाण की प्राप्ति होती है। वज्रयान में मन्त्रों द्वारा तथा "वज्र' द्वारा निर्वाण का लाभ होता है। शून्य और विज्ञान वज्रतुल्य हैं। इसलिए उनका विनाश नहीं होता।

२१. महायान विचार के अनुसार भिक्षु को सब जीवों के साथ मैत्री भावना रखनी चाहिए। संसार के जीवों के छुटकारा के लिए वह निर्वाण में प्रवेश को भी स्थगित कर देता है।

२२. महायानियों का कथन है कि हीनयानी व्यर्थ कहते हैं कि उनका अर्हत् जीवन्मुक्त हैं। इनके अनुसार हीनयानियों का मोक्ष उचित नहीं है। अर्हत् के निर्वाण और बुद्ध के निर्वाण में भी भेद हो गया है।

२३. महायान-धर्म सर्वभूत दया पर आश्रित है। **"आर्थगयशीर्ष" में कहा गया है– "किमारब्धा मंजुश्री बोधिसत्वानां चर्या। किमधिष्टाना। मुञ्जुश्रीराह महाकरुणारब्धा देवपुत्र बोधिसत्त्वानां चर्या सत्त्वाधिष्ठानेति विस्तरः।"**[१] इस प्रकार महायान-धर्म में महाकरुणा को सम्यक् सम्बोधि का साधन माना गया है।

२४. महायान पूर्वकृत पापों का क्षय करता है और पुण्यसागर की प्राप्ति कराता है। इसलिए हीनयान की अपेक्षा शीघ्रगामी है। इसके अनुसार संसार की उत्पत्ति कर्म से होती है।

२५. महायान में धर्म शून्य है और केवल धर्मता (=धर्म काय) वस्तु-सत् है।

२६. कालान्तर में महायान की दो शाखायें हो गयी-प्रथम 'योगाचार या विज्ञानवाद' तथा दूसरी 'माध्यमिक या शून्यवाद'।

२७. महायान सम्प्रदाय के प्रमुख ग्रन्थ-लंकावतार सूत्र, मंजूश्रीमूलकल्प, ललित विस्तर, प्रज्ञापारमिता आदि हैं।

२८. इसके प्रमुख आचार्य नागार्जुन, असंग, वसुबन्धु, मैत्रेय, हुवाङ्ग-च्वांग, दिङ्नाग, धर्मकीर्ति आदि हैं।

हीनयान

१. हीनयानी 'अर्हतपद' की प्राप्ति में विश्वास करते हैं। उन्हें धर्म के नियम पर भी पूरी श्रद्धा रहती है। उन्हें बराबर यह आशा बनी रहती है कि बुद्ध के बताये मार्ग पर चलकर इस जीवन में ही निर्वाण की प्राप्ति अवश्य होगी।

२. हीनयानियों का विश्वास है कि निर्वाण में दुःख का अस्तित्व नहीं रहता तथा मनुष्य अपने प्रयत्न से ही निर्वाण या लक्ष्य की प्राप्ति कर सकता है। ये लोग महात्मा बुद्ध के "आत्मदीपो भव' को ही अना मूल-मंत्र स्वीकार करते हैं।

३. हीनयान सम्प्रदाय के लोग बुद्ध तथा बोधिसत्वों की मूर्तियों की पूजा में विश्वास नहीं करते। वे महात्मा बुद्ध को एक सामान्य पुरुष मानते हैं तथा मानते हैं कि उनमें अलौकिक गुण थे। उनके बताये हुए मार्ग पर चलकर उनके पद को प्राप्त किया जा सकता है।

४. हीनयान स्थविरवाद का विकसित रूप है। स्थिरवादी मत में बुद्ध यद्यपि लोक में श्रेष्ठ हैं

१. बोधिचर्यावतारपंजिका, पृ. ४८७

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

तथापि जरा व्याधि मरण इत्यादि दुःखों से मुक्त न थे। स्थविरवादियों के अनुसार यदि नियमपूर्वक अच्छा अभ्यास किया जाय तो इस धर्म में निर्वाण प्राप्त हो जायेगा। मोक्ष के इस मार्ग का अनुसरण वह करता है, जो ब्रह्मचर्य का पालन करता है।

५. हीनयान-वादी भिक्षु इत्सिंग का कथन है कि दोनों यान बुद्ध की शिक्षा के अनुकूल हैं। दोनों समानरूप से सत्य और निर्वाणगामी हैं। यह बताना कठिन है कि हीनयान के अट्ठारह पादों में से किसकी गणना महायान या हीनयान में की जाय।

६. हीनयान के अनुयायी महायान के ग्रन्थों को प्रमाणिक नहीं मानते। हीनयानियों का कथन है कि उनका ही सम्प्रदाय या ग्रन्थ प्राचीन है।

७. हीनयानवादी महात्मा बुद्ध के आर्य अष्टांगिक मार्ग को दृढ़ता पूर्वक पालन करने के लिए निर्देश देते हैं तथा बुद्ध एवं बोधिसत्वों की मूर्तियों की पूजा द्वारा निर्वाण प्राप्ति को नहीं मानते।

८. हीनयान ग्रन्थों में धर्मकाय एवं निर्माण काय का वर्णन तो मिलता है।

९. हीनयान के कुछ ही ग्रन्थ संस्कृत में हैं अधिकांश मागधी में हैं।

१०. हीनयान बहुधर्मवादी है। बौद्ध धर्म का आरम्भ ही बहुधर्मवाद से हुआ।

११. हीनयान में दो प्रकार का निर्वाण माना गया है। पहला सोपधिशेष (जीवन्मुक्त) निर्वाण है और दूसरा निर्वाण वह है, जिसमें मृत्यु के पश्चात् अर्हत की अवस्था होती है।

१२. हीनयान का अनुयायी केवल पुद्‌गल नैरात्म्य में युक्त होता है। वह धर्म शून्यता में युक्त नहीं होता है।

१३. हीनयान सम्प्रदाय भी कालान्तर में वैभाषिक एवं सौत्रान्तिक सम्प्रदायों में विभक्त हो गया। वैभाषिक मत यह स्वीकार करते हैं कि जिस जगत् का इन्द्रियों के द्वारा हमें अनुभव होता है, उसकी "बाह्य" सत्ता है।

सौत्रान्तिक यह स्वीकार करते हैं कि "बाह्य सत्ता" तो है अवश्य किन्तु इसका ज्ञान हमें ज्ञानेन्द्रियों के ज्ञान द्वारा होता है।

१४. हीनयान के सौत्रान्तिक वे हैं जो केवल बुद्ध वचन को प्रमाण मानते हैं। ये अभिधर्म शास्त्र को बुद्ध का वचन नहीं मानते।

१५. हीनयानियों के अनुसार वसुबन्धु का विज्ञानवाद माध्यमिकों के शून्यवाद और हीनयान के बहुधर्मवाद के बीच में होता है।

१६. महावस्तु, अवदान शतक, दिव्यावदान, अभिधर्मकोश, ज्ञान प्रस्थानशास्त्र, विभाषाशास्त्र, न्याय बिन्दु, न्यायानुसार समय प्रदीपिका, सुत्तपिटक आदि इसके प्रमुख ग्रंथ हैं।

१७. वसुबन्धु, संघभद्र, धर्मकीर्ति, कुमारलता, इत्सिंग, श्रीलाभ, बुद्धदेव तथा यशोमित्र इसके प्रसिद्ध विद्वान एवं दार्शनिक हैं।

वस्तुत इन्हीं अन्तरों के कारण हीनयान एवं महायान में विभेद बढ़ गया तथा बौद्ध धर्म में खण्ड होता गया।

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

बौद्ध धर्म का ऐतिहासिक विकास

समय की आवश्यकता पर पनपने वाले बौद्ध धर्म को आरम्भ से ही राज एवं जनसहयोग मिला जिससे बौद्ध धर्म विकसित हुआ तथा अनेक राजाओं ने इसे अपनाया। इस धर्म के ऐतिहासिक विकास में निम्न स्वरूप रहा है –

पूर्व मौर्यकाल

छठी शताब्दी ई. पू. में मगध साम्राज्य के शासक बिम्बिसार पुत्र अजातशत्रु न केवल एक विजेता था वरन् बौद्ध धर्म का प्रबल संरक्षक भी था। बौद्ध ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि बौद्ध धर्म को सर्वप्रथम अजातशत्रु ने ही संरक्षण दिया। आरम्भ में अजातशत्रु जैन धर्म का अनुयायी था। किन्तु अन्त में वह बौद्ध धर्म का पोषक हो गया। महापरिनिर्वाण सूत्र से ज्ञात होता है महात्मा बुद्ध के दाहसंस्कार के पश्चात् अजातशत्रु ने उनके फूले पर राजगृह में एक स्तूप का निर्माण करवाया। महात्मा बुद्ध के निर्वाण के बाद बौद्धों की प्रथम बौद्ध संगीति के अधिवेशन के लिए अजातशत्रु ने वैभार पहाड़ी की एक गुहा में एक सभा भवन बनवाया। द्वितीय शताब्दी ई. पू. के भरहुत के एक लेख से प्रकट है कि महात्मा बुद्ध और अजातशत्रु की भेंट हुई थी। उस लेख में **'अजातशत्रु भगवतो वन्दते'** लिखा है। अजातशत्रु और बुद्ध समसामयिक थे तभी एक स्थान पर कहा गया है – 'अहमपि असिद्धिको भगवपि असिद्धिको।' अर्थात् हम भी अस्सी वर्ष के हैं और भगवान भी अस्सी वर्ष के हैं।

मञ्जु-श्री-मूलकल्प के अनुसार बुद्ध के महापरिनिर्वाण के पश्चात् कुछ समय तक बौद्ध धर्म का यथोचित विकास नहीं हुआ। किन्तु धर्म के विस्तार में कोई विशेष अवरोध भी नहीं हुआ। इस समय विस्तारशील मगध साम्राज्य के अनेक शासकों ने इसके विकास में बहुत अधिक सहयोग दिया। इनमें उदायिन, मुण्ड, कालाशोक का नाम उल्लेखनीय है।

मौर्य काल

अजातशत्रु के बाद बौद्ध धर्म के विकास में मौर्य शासक अशोक का विशेष योगदान रहा। अशोक के काल में बौद्ध धर्म का विकास एवं प्रसार मात्र भारत भूमि में ही नहीं बल्कि दक्षिणी पूर्वी एशिया और मध्य एशियायी अनेक देशों में हुआ। तभी बृहत्तर भारत में अशोक का काल बौद्ध-धर्म का स्वर्णिम काल माना जाता है। दीपवंश में अशोक न्यग्रोध से कहता है कि "आज मैं पत्नी, पुत्र और कुटुम्बियों के साथ आपकी, बुद्ध की, धम्म की और संघ की शरण में आता हूँ। मैं आज से अपने उपासकत्व की घोषणा करता हूँ।"

बौद्ध ग्रन्थों के अनुसार बौद्ध धर्म ग्रहण करने के पश्चात् उसने बुद्ध के फूलों को स्तूपों से निकलवाकर उन पर अपने साम्राज्य में ८४,००० स्तूप निर्मित कराये। बौद्ध ग्रन्थों के उल्लेखों से ज्ञात होता है कि बौद्ध धर्म अंगीकार करने के पश्चात् अशोक ने उसके विपुल प्रचार का बीड़ा उठाया। शस्त्र विजय का परित्याग कर वह "धर्म विजय" को ही देवताओं का प्रिय-प्रमुख विजय मानता है।

प्रथम लघु शिलालेख से प्रकट होता है कि बौद्ध धर्म ग्रहण के पश्चात् अशोक बौद्ध संघ के सम्पर्क में आया। संघ के साथ वह एक वर्ष से कुछ अधिक तक रहा। इस अवधि के उपरान्त

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

उसने इतने उत्साह और लगन से प्रचार कार्य प्रारम्भ किया कि स्वयं उसे भी उसका लाभ स्पष्टत: दृष्टिगत होने लगा। अपने इस प्रारम्भिक कार्य के विषय में वह अपने चौथे शिलालेख में कहता है कि इस 'अवधि में सम्पूर्ण जम्बू द्वीप के मनुष्य जो देवताओं से मिले नहीं थे, वे उनसे मिला दिए गए। यह परिश्रम का फल है।' सेनार्ट महोदय का कथन है कि प्रचार की सफलता का वर्णन प्रथम लघु शिला लेख और चौथे शिला लेख दोनों में बहुत कुछ एक सा है। अत: दोनों का काल लगभग एक ही होगा। चौथा शिलालेख अशोक के शासन-काल के चौदहवें वर्ष में खुदवाया गया था। अत: यही तिथि प्रथम लघु शिलालेख की भी होगी। इस प्रकार अशोक को अपने शासन के १४ वें वर्ष में ही धर्म प्रचार में संतोषजनक सफलता मिल चुकी थी। यह सफलता किस प्रकार की थी? प्रथम लघु शिलालेख का जो उद्धरण दिया गया है उस पर विद्वानों में मतभेद है। महामहोपाधय पं. हरप्रसाद शास्त्री ने इस उद्धरण में प्रयुक्त 'मिसा' और 'अमिसा' शब्दों का अर्थ क्रमश: 'मृषा' (झूठ) और 'अमृषा' (सच्च) लिया है। इस आधार पर यह अर्थ लगाया है कि प्रचांर से अशोक ने पृथ्वी के देवताओं (ब्राह्मणों) को झूठा सिद्ध कर दिया। परन्तु आज कोई भी विद्वान इस अर्थ को ग्रहण नहीं करता। वास्तव में 'मिसा' और 'अमिसा' का अर्थ मिले हुए और न मिले हुए है।

टामस महोदय के विचार में उपर्युक्त उद्धरण में "अशोक यह व्यक्त करना चाहता है कि लगभग एक वर्ष में उन्होंने ब्राह्मणों के देवताओं का उन बर्बर जातियों से परिचय करा दिया जो अब तक उन देवताओं से अपरिचित थे।"

डॉ. राधाकुमुद मुकर्जी के मतानुसार "इस समय के भीतर जम्बूद्वीप के वे लोग जो देवताओं से भिन्न थे अथवा अलग थे अथवा दूर थे अर्थात् जिनका न कोई धर्म या न जिनका न कोई देवता था वे देवताओं से सम्बन्धित किए गए। वे अब धार्मिक होकर देवताओं की पूजा करने लगे।"

इन मतों के अतिरिक्त डॉ. भण्डारकर का मत है कि "अशोक के धर्म का अनुकरण करने से लोग पुण्यात्मा हो चले। अत: उन्हें स्वर्ग की प्राप्ति हुई और वहाँ उनको देवताओं का सामीप्य प्राप्त हुआ अथवा देवताओं से परिचय या सम्बन्ध हुआ।" जो भी हो, अशोक के प्रयत्नों से कुछ ही वर्षों में धर्म प्रचार का लाभ दिखायी पड़ने लगा था। धर्म प्रचार के लिए अशोक ने कुछ विशेष कार्य किए जो बौद्ध धर्म के प्रचार, प्रसार एवं विकास के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण थे। वे निम्न हैं –

(१) शस्त्र-विजय का त्याग– तेरहवें शिलालेख से प्रकट होता है कि कलिंग युद्ध के हिंसात्मक परिणाम को देखकर अशोक को भारी चिन्ता हुई और उसके हृदय में धर्म-कामना और धर्मशीलता की भावना उत्पन्न हुई। तभी से उसने निश्चय किया की भविष्य में कभी भी इस प्रकार की शस्त्र-विजय न करूँगा। इसके स्थान पर उसने धम्म-विजय को अपनाया। चौथे शिलालेख से ज्ञात होता है कि उसके राज्य में भेरी-घोष वन्द हो गया और धम्म-घोष हो रहा था। धर्म विजय की धारणा पुरातन थी। महाभारत में धर्म-विजय और अुसर-विजय का उल्लेख है। अर्थशास्त्र में धर्म-विजय, लोभ-विजय की धारणा को और भी स्पष्ट किया गया है। तेरहवें शिलालेख में धर्म-विजय के अन्तर्गत अक्षति, संयम, समाचार और मार्गव जैसे गुणों को रखा गया था। अशोक का विश्वास था कि इस प्रकार का धर्म-विजय विजितों में घृणा नहीं उत्पन्न करेगा।

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

(२) धर्म-यात्रा– पूर्व-कालीन उद्देश्यों से की गई विहार यात्रा अहिंसा के पुजारी अशोक के लिए अशोभनीय थी। आठवें शिलालेख में वह बिहार-यात्रा के स्थान पर धर्म-यात्रा का प्रतिपादन करता है। अशोक की धर्म-यात्रा की तीन विशेषतायें थीं –

(१) बाम्हणसमणानं दसने च दाणे च–अर्थात् ब्राह्मणों और श्रमणों का दर्शन करना तथा उन्हें दान देना।

(२) थैरानं दसणे च हिरणं–परिविधानों च-स्थविरों के दर्शन करना और उन्हें स्वर्ण दान देना।

(३) जानपदस च जनस दसनं–जनपदों के मनुष्यों के दर्शन करना उनके साथ धर्म सम्बन्धी वार्ता (धम्मानुसट्ठि) करना तथा उनकी धार्मिक शंकाओं के प्रश्नों का उत्तर देना (धम्म परिपुछा)। अशोक ने रुम्मिनदेई अभिलेख में कहा है कि "देवानां प्रिय प्रियदर्शी राजा अपने अभिषेक के २० वर्ष पश्चात् स्वयं यहाँ आए और उन्होंने (इस स्थान) की पूजा की। चूँकि यहाँ शाक्य मुनि बुद्ध का जन्म हुआ था (हिदभगवा बुद्धे जातेती) इसलिए उन्होंने एक पत्थर की विशाल दीवार बनवायी और एक पाषाण स्तम्भ खड़ा करवाया तथा लुम्बनी ग्राम धार्मिक करों से मुक्त कर दिया गया (उबलिके कटे) एवं (भूमि कर के रूप में) केवल उससे आठवाँ भाग (अठभगिपेच) लेना निश्चित किया गया।"

इस अभिलेख से स्पष्ट होता है कि जिस प्रकार अशोक ने उस स्थान की यात्रा की थी जहाँ महात्मा बुद्ध को ज्ञान प्राप्त हुआ था उसी प्रकार वह उस स्थान पर भी गया जहाँ तथागत का जन्म हुआ था। बौद्ध संसार में महात्मा बुद्ध का जन्म स्थान भी पावन तीर्थ माना जाता है। लुम्बनि में महात्मा बुद्ध उत्पन्न हुए थे। अतः अशोक ने उस स्थान को चिरस्मरणीय बनाने के लिए उसे एक पत्थर की चहारदीवार (शिलाविगडभीचा) से घिरवा दिया और वहाँ पर एक पाषाण-स्तम्भ खड़ा कराया।

ऐसा प्रतीत होता है कि इसके पूर्व भी लुम्बिनी की यात्रा करने वाले व्यक्तियों को एक प्रकार का प्रवेश-कर अथवा धार्मिक कर देना पड़ता था। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी इसका वर्णन है। परन्तु अशोक को यह रुचिकर न प्रतीत हुआ। भगवान बुद्ध की जन्मभूमि के दर्शनार्थियों से भी कर लिया जाय, यह उसे उचित नहीं लगता था। अतः उसने अपने राज्याभिषेक के २० वें वर्ष लुम्बिनी ग्राम को उस कर से मुक्त कर दिया। साथ ही अशोक ने तथागत की जन्मभूमि लुम्बिनी के प्रति सम्मान में वहाँ के भूमि-कर को घटाकर १/८ कर दिया।

नेपाल की तराई में निग्लिवा सागर नामक स्थान से एक दूसरा लघु पाषाण-स्तम्भ भी मिला है। इस पर उत्कीर्ण अभिलेख से ज्ञात होता है कि अशोक ने अपने राज्यारोहण के १४वें वर्ष उस स्थान के स्तूप का परिवर्धन कराया और २० वें वर्ष वह स्वयं उस पवित्र तीर्थ में जाकर वहाँ पूजा किया। इन दोनों अभिलेखों से ज्ञात होता है कि अपने राज्याभिषेक के २० वें वर्ष अशोक ने नेपाल-तराई के दो बौद्ध स्थलों की धर्म-यात्रा (धम्म-यात्रा) की थी।

अशोक की तीर्थ यात्राओं की पुष्टि दिव्यावदान से भी होती है। इस में उल्लिखित है कि अशोक ने अपनी धर्म-यात्राएँ (धम्म यात्राएँ) स्थविर उपगुप्त के साथ की थी। पाटलिपुत्र से

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

चलकर वे लोग नेपाल की तराई में पहुँचे। वहाँ से लुम्बनी ग्राम में पहुँच कर उपगुप्त ने अशोक को तथागत का जन्मस्थल दिखलाया।

वहाँ दान पुण्य करके उपगुप्त और अशोक कपिलवस्तु आये जहाँ स्थविर ने सम्राट को बतलाया कि यहीं बोधिसत्व ने अपनी बाल्यावस्था राजा शुद्धोदन के घर बिताई थी।

फिर वे बोध गया में बोधिवृक्ष के पास गए। इस प्रकार दिव्यावदान और अशोक के अभिलेखों दोनों में ही सम्बोधि-यात्रा का उल्लेख है। दिव्यावदान के अनुसार अशोक ने बोधगया में एक लाख सुवर्ण-मुद्राओं का दान दिया और एक चैत्य का बनवाया।

बोधि वृक्ष के दर्शनोपरान्त अशोक सारनाथ आया जहाँ तथागत ने धर्मचक्र प्रवर्तित किया था। फिर बुद्ध के महानिर्वाण स्थल कुशीनगर पहुँचा। वहाँ से आगे अन्य बौद्ध बिहारों और स्तूपों का दर्शन किया।

भौगोलिक आधार पर यात्रा का क्रम व स्थान डॉ. सम्पूर्णानन्द ने[१] निम्न रखा है –

लुम्बनी, कुशीनगर, कपिलवस्तु, श्रावस्ती, सारनाथ और बोधगया

अथवा

गया, सारनाथ, श्रावस्ती, कपिलवस्तु, कुशीनगर और लुम्बनी डॉ. स्मिथ[२] के अनुसार यह इस प्रकार है।

अथवा

लुम्वनी, कपिलवस्तु, सारनाथ, श्रावस्ती, बोधगया और कुशीनगर

परन्तु इस क्रम में तीर्थ-यात्रा भौगोलिक क्रम में न होकर महात्मा बुद्ध की जीवन-घटनाओं के कालक्रम से है।

(३) दिव्यरूपों का दर्शन- लोग स्वर्ग-प्राप्ति की कामना करें और उसके लिए वे सधर्म का अनुसरण करें इससे अशोक ने दिव्य रूपों को दिखाना प्रारम्भ किया। अशोक ने मनुष्यों को विमान-दर्शन, हस्तिदर्शन और अग्निस्कन्ध आदि दिव्य रूपों का दर्शन कराया। (चौथा शिलालेख) इन्हें देखकर जनता के हृदय से निश्चित रूप से स्वर्ग प्राप्ति की कामना जागृत हुई होगी।

(४) अशोक ने अपने धम्म के अनुशष्टि को प्रचारित करवाया और इसके प्रचार के लिए पदाधिकारी नियुक्त किए। राजुकों, प्रादेशिकों और युक्तों को आज्ञा दी थी कि वे प्रति पांचवें वर्ष राज्य में दौरा किया करें और अपने सामान्य कार्य के अतिरिक्त जनता में धर्मोपदेश करें।

(५) अशोक राज्य के सामान्य पदाधिकारियों के सीमित धर्म-प्रचार से संतुष्ट न था। अतः उसने नए अधिकारियों को नियुक्त किया। अपने पांचवें शिलालेख में अशोक कहता है कि "पहले धर्म महामात्र नियुक्त न थे किन्तु अभिषेक के तेरहवें वर्ष मैने धर्म-महामात्रों को नियुक्त किया। वे सभी सम्प्रदायों के लिए नियुक्त हैं। वे धर्मस्थापना, धर्म की देख रेख, धर्म की वृद्धि

---

१. डॉ. सम्पूर्णानन्द, सम्राट अशोक

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

२. Smith — The Early History of India, Page. f^%o

तथा धर्म पर आचरण करने वालों के सुख एवं हित के लिए नियुक्त हैं।'' कहना न होगा कि अशोक के धर्म प्रचार में महामात्रों ने बड़ा सहयोग दिया था।

(६) धर्मनिष्ठों के लिए अशोक ने आत्मनिरीक्षण करने का आदेश दिया। इसमें मनुष्यों को आत्मपरीक्षा, आत्म निरीक्षण और मनन करना चाहिए।

(७) समय-समय पर अशोक जनता को धर्म का संदेश देता था। ये धर्म-श्रावण कहलाते थे।-सातवां स्तम्भ लेख

(८) अहिंसा अशोक के धम्म का मूल मंत्र था। इसलिए उसने अपने राज्य में अनेकानेक पशुःमों की हिंसा और पशुओं के कायाक्लेश के ऊपर प्रतिबन्ध लगा दिया। अशोक ने पशु-पक्षियों के नाम दिए हैं जिनका वध अथवा कायाक्लेश दंडनीय था। यह हिंसा-निषेध उसने अभिषेक के छब्बीसवें वर्ष किया था।-पांचवां स्तम्भ लेख

(९) धर्म व्यवहार में अशोक ने परोपकारिता के अनेकानेक कार्य किए। सातवें स्तम्भ लेख में कहा गया है कि "मैंने वट वृक्ष लगवाये, प्रति दो मील पर कुएं खुदवाये, धर्मशालायें बनवायीं और प्याऊ बनवाए, पशुओं और मनुष्यों के सुख के लिए।

अशोक अन्यत्र कहता है कि "देवताओं के प्रियदशी राजा के विजित राज्य में तथा जो अन्य सीमान्त प्रदेश हैं जैसे-चोल, पाण्डय, सत्यपुत्र, केरलपुत्र और ताम्रपर्णि प्रदेश तथा अन्तियोक नामक यवन राजा और अन्य पड़ोसी राजाओं के प्रदेशामें प्रत्येक स्थान पर देवताओं के प्रिय ने दो प्रकार की चिकित्सा का प्रबन्ध किया है-मनुष्यों की चिकित्सा और पशुओं की चिकित्सा। वे औषधियां जो मनुष्यों और पशुओं के लिए जहाँ-जहाँ उपयोग हैं और नहीं पायी जाती वहां-वहां वे भेजी गयी और जहां नहीं थी वहां लगाई गयीं। इस प्रकार के जड़ और फलों वाले वृक्ष लगाए गए। मनुष्यों और पशुओं दोनों के सुख के लिए सड़कों पर कुँए खुदवाए गए और पेड़ लगवाए गए। इससे प्रतीत होता है कि अशोक ने परोपकारिता के कार्य स्वदेश और विदेश दोनों में किया कि बौद्ध धर्म के करुणा की भावना से लोग प्रभावित हों।

बाहरी राज्यों में धर्म-प्रचार के लिए अशोक ने धर्म-प्रचारक भेजे। तेरहवें शिलालेख में वह कहता है कि "धर्म-विजय को ही देवताओं का प्रिय मुख्य विजय मैं मानता हूँ। यह विजय देवताओं के प्रिय को अपने विजित राज्यों तथा सब सीमान्त प्रदेशों में और छः सौ योजन तक जहां यवनराज अन्तियोक राज्य करता है तथा उसके पास जो अन्य चार राजा तुलमय, अन्तिकिन, मग और अलिकसुन्दर हैं तथा नीचे जो चोल, पाण्डय और ताम्रपर्णि के राज्य हैं, इसी प्रकार के राज्य में यवनों, कम्बोजों, नाभकों और नाभपत्तियों के बीच में तथा वंशानुगत भोज-नरेशों, आन्ध्रों और पालिन्दों में-वहां सब जगह प्राप्त हुई हैं।''

"उन राज्यों के जहां देवताओं के प्रिय के दूत नहीं जा सकते वहां लोग देवताओं के प्रिय का धर्माचरण सुनकर धर्म पर आचरणं करते हैं और करेंगे। यह धर्म-विजयसर्वत्र प्रेम को देने वाली है।'' चोल, पाण्डय, सतियपुत्र और केरल के राज्य अशोक के साम्राज्य के बाहर थे। इन स्वाधीन राज्यों के साथ अशोक का व्यवहार समता पूर्ण था। यहां भी उसने अपने धर्म-प्रचारक भेजे थे।-१३वां शिलालेख कुछ अन्य राज्यों का भी उल्लेख है। ये हैं- यवन, कम्बोज, नाभपत्ति,

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

भोज, आन्ध्र और पालिन्द। ये अशोक के अधीन थे यहां उसने अपने धर्म-प्रचारक भेजे थे।-१३वां शिलालेख इनके अतिरिक्त गन्धार, राष्ट्रिक और अपरान्त के अन्य राज्यों का उल्लेख है। जहां अशोक के धर्म महामात्र गए थे। भारत के बाहर भी उसके प्रचारक गए थे। वे बाहरी राज्य हैं- यूनानी, तुलमय (मिस्र नरेश टालमी द्वितीय फिलाडेल्फस) मेसीडोनिया-नरेश ऐण्टीगोनस गोनेटस इन विदेशी राज्यों के अतिरिक्त कुछ ऐसे भी राज्य थे जहां अशोक के दूत नहीं गए थे परन्तु फिर भी वहां के निवासी अशोक के धर्म संदेशों को सुनकर उसका पालन करते थे। सम्भवत: ये देश चीन आदि रहे होंगे।-१३वां शिलालेख बौद्ध ग्रन्थों से भी इसकी पुष्टि होती है। उत्तरी, दक्षिणी, सिंहली, ब्राह्मी, चीनी, तिब्बती, हीनयानी, महायानी आदि सभी परम्परायें अशोक को बौद्ध धर्म के प्रचारक रूप में वर्णित करती हैं।

साहित्यक साक्ष्य- बौद्ध साहित्य से भी ज्ञात होता है कि अशोक ने धर्म प्रचार के लिए योजना वनायी थी। महावंश से अशोक ने अपने अभिषेक के १७वें वर्ष पाटलिपुत्र में मोग्गलिपुत्ततिस्स (उपगुप्त) की अध्यक्षता में बौद्ध धर्म की तीसरी महासंगीति का आयोजन किया था। इसकी समाप्ति पर निम्नलिखित धर्म प्रचारक विदेशों में भेजे गए–

१. मज्झकान्तिक-कश्मीर और गन्धार
२. महादेव-महिष्मण्डल (मैसूर)
३. महारक्षित-यवन राज्य
४. धर्मरक्षित-अपरान्त (पश्चिमी भारत)
५. मज्झिम-हिमालय प्रदेश
६. महाधर्म रक्षित-महाराष्ट्र
७. रक्षित-बनवासी (उत्तरी कनारा)
८. सोन और उत्तरा-सुवर्णभूमि (पेगू)
९. महेन्द्र-लंका

दीपवंश और समन्तपासादिका में भी ऐसी ही सूची मिलती है। सांची के स्तूप नम्बर दो में एक धातु पात्र (Relic casket) मिला है। इस पर १० धर्म प्रचारकों के नाम उत्कीर्ण हैं जो महावंश, दीपवंश और समन्तपासादिका के नामों से मिलते हैं। अशोक द्वारा किए गए इस व्यवस्था से बौद्ध धर्म को काफी ख्याति मिली तथा यह धर्म न केवल भारत में अपितु विश्व के अनेक देशों का धर्म बन गया।

शुंग युग

शुंग शासक पुष्यमित्र ब्राह्मण धर्मानुयायी थे। बौद्ध ग्रन्थों तथा विदेशी इतिहासकारों के अनुसार ये बौद्ध विरोधी थे। किन्तु उनकी कलाकृतियां प्रमाणित करती हैं कि इनके समय बौद्ध धर्म का विकास हुआ। भरहुत, बोधगया और सांची में स्तूप और इनके चारों ओर वेदिका बनाई गई हैं। एक पर "सुगनमरजे" अंकित है इससे स्पष्ट है कि ये शुंग काल के हैं। इन पर अंकित बौद्ध धर्म के प्रतीक तथा जातक कथाओं का निखार बौद्ध धर्म के प्रचल को व्यक्त करता है। भिक्षु निवास के लिए अवध, मालवा और उसके समीपवर्ती क्षेत्रों में बहुत से बिहार बने थे। अशोक के काल के बौद्ध विचारधारा के मंत्रियों को सेवा मुक्त नहीं किया गया था। अग्निमित्र की सभा

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

में पण्डित कौशिकी नामक एक स्त्री थी जो बौद्ध धर्मावलम्बिनी थी। यद्यपि पुष्यमित्र शुंग ब्राह्मण धर्मानुयायी था पर बौद्ध विरोधी नहीं था। कोई भी बौद्ध स्मारक इसने विनष्ट नहीं कराया।

बलापहारियों का काल

यूनानी मूल के मिनाण्डर नामक भारत के शासक ने बौद्ध धर्म को अपना संरक्षण प्रदान किया। पालि ग्रन्थ मिलिन्दपन्हों में इसे मिलिन्द कहा गया है तथा इसको बौद्ध बताया गया है। स्ट्रैबो, कर्टियस आदि भी इसकी पुष्टि करते हैं। यह लगभग प्रथम शताब्दी ईस्वी पूर्व का भारत का शासक था। मिलिन्द-पन्हों से ज्ञात होता है कि यह बौद्ध धर्म के सार को समझता था। पहले इसके मन में अनेक शंकाएं थीं जिसके लिए वह धर्म गुरुओं के पास गया परन्तु किसी से उसकी जिज्ञासा शान्त नहीं हुई। तब उसने यह मान लिया कि यहां मेरी शंका का समाधान नहीं हो सकता। उसी समय नागसेन से इसकी भेंट हुई। नागसेन ने उन सबका हल बड़ी सरलता से कर दिया। मिलिन्द नागसेन का शिष्य बन गया और बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया। तब मिलिन्द ने बौद्ध विहार का निर्माण कराया। इसके मरने पर इसके फूलों के लिए बौद्धानुयायियों में पारस्परिक बंटवारा हुआ और बुद्ध के फूलों के तरह इसके भी फूलों के ऊपर स्तूप बने। इसने हिन्दुकुश से पाटलीपुत्र तक बौद्ध धर्म का प्रचार कराया।

कुषाण वंश

यूची जाति के इन शासकों में पहले कैडफिशिज परिवार ने और पीछे कनिष्क के वंश ने शासन किया। कैडफिसिज वंश का शासक कुजुल बौद्ध धर्म का अनुयायी था। उसके सिक्कों पर लेख अंकित है- "कुशल-पाषाण, योगेश-धर्म"। यहां धर्म से अभिप्राय बौद्ध धर्म से है। इसके बाद प्रथम शताब्दी ई. में बौद्ध धर्मानुयायी कनिष्क गद्दी पर बैठा। महायान बौद्ध धर्म का प्रारम्भ इसी के समय में हुआ। इसी समय अश्वघोष और वसुमित्र आदि बौद्ध धर्म के आचार्यों ने संस्कृत साहित्य में बौद्ध धर्म से कई ग्रन्थों की रचना की। यह संस्कृत में बौद्ध धर्म ग्रन्थों का प्रथम चरण था। इसके सिक्कों में से एक प्रकार पर बुद्ध की आकृति बनी है तथा 'वोड्डो' लिखा है। इसके समय में बौद्ध धर्म का प्रचार मध्य एशिया से लेकर भारत में मध्य देश तक हुआ। यह पहले बौद्ध धर्म से घृणा करता था। पीछे जब इसके काशगार, यारकन्द और खोतन पर विजय किया तो वहाँ के रक्तपात से इसको पश्चाताप हुआ। तब बौद्ध धर्म को स्वीकार कर लिया। बौद्ध धर्म के उद्देश्यों के संकलन और उसपर भाष्य लिखवाने के लिए इसने काश्मीर के कुण्डल बन में चौथी बौद्ध संगीति का आयोजन किया जिसके निर्णयों को तांबे की पटियों पर लिखकर पत्थर के सन्दूक में रखकर कहीं वहीं गाड़ दिया गया जो अब तक अप्राप्य है। कल्हण की राजतरंगिणी के अनुसार काश्मीर में इन्होंने अनेक चैत्य बनवाए और वहाँ कनिष्कपुर नामक एक नगर भी बसवाया जो आज भी विद्यमान है। एक स्तूप का निर्माण करवाया जो सातवीं शदी तक बना था। उसने महाविहार की भी स्थापना की। अलबरुनी ने कनिष्क द्वारा निर्मित चैत्य का उल्लेख किया है।

गुप्त युग

गुप्त काल में बौद्ध धर्म का ह्रास हुआ। परन्तु सारनाथ, अजन्ता आदि के कला अवशेषों को देखने से इसके विकास का ज्ञान मिलता है। बौद्ध स्थल-कपिलवस्तु, रामग्राम, श्रावस्ती आदि

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

स्थानों का भ्रमण फाहयान नामक चीनी यात्री ने किया था जो चन्द्रगुप्त द्वितीय के काल में भारत आया था। उसने यहां के संघाराम और विहारों को देखा था। भिक्षुओं की भी एक लम्बी कतार थी। अफगानिस्तान, कश्मीर, पंजाब, बिहार, बंगाल, उत्तर प्रदेश के मथुरा, कौशाम्बी, सारनाथ आदि प्रमुख बौद्ध धर्म स्थल थे। बंगाल में मृगशिखा बन में एक बौद्ध विहार लंका के यात्रियों के लिए बनाया गया था। पश्चिमी घाट में अनेक चैत्य और बिहारों का निर्माण हुआ था जिनकी कलाकृतियाँ आज भी दर्शनीय हैं- भाजा, कार्ले, कनहेरी आदि में। बहुत से उत्तरकालीन गुप्त शासक कुमार गुप्त द्वितीय, बुद्धगुप्त और भानुगुप्त बौद्ध धर्मानुयायी थे। आन्ध्र प्रदेश में इस समय के स्तूप और विहार स्थित हैं। नागार्जुनीकोण्डा एक प्रमुख बौद्ध धर्म का केन्द्र था। इसी समय नालन्दा विश्वविद्यालय की स्थापना हुई। विश्व के विभिन्न भागों से बौद्ध धर्म के शिक्षा के लिए यहाँ लोग आते थे तमिलनाडु में कांची बौद्ध धर्म का प्रसिद्ध एक केन्द्र था। धर्मपाल और दिंग्नाग नालन्दा विश्वविद्यालय के उपकुलपति थे और यहीं के मूल निवासी थे। बल्लभी विहार को विद्या केन्द्र बनाने का श्रेय गुप्त सम्राटों को ही है। हीनयान और महायान का झगड़ा भी इस समय बढ़ चुका था। इसलिए इनके विहार अलग थे। बोधगया का प्रसिद्ध मन्दिर इसी समय की देन है। फिर कुशीनगर और नालन्दा के मन्दिर भी बने और स्तूपों में सारनाथ का धमेख स्तूप इसी काल की कृति है। कुछ अजन्ता की गुफाएं भी इसी काल की हैं। बुद्ध की मूर्तिया मथुरा, सारनाथ और पाटलीपुत्र के केन्द्रों में इस समय बनी जिनमें अनेक मुद्राओं का प्रयोग है। बौद्ध शिल्प इस समय अजन्ता, बाध और बदामी की गुफाओं में बनाया गया जहां बुद्ध के जीवन की विभिन्न घटनायें अंकित हैं।

हर्ष का युग

हर्षवर्धन के समय में भी बौद्ध धर्म का विकास हुआ। अजन्ता की गुफाओं में से भी कुछ हर्ष के समय बनी हैं जिनमें बौद्ध धर्म सम्बन्धी चित्र हैं। इसमें संस्कृत बौद्ध धर्म, में महायान के साथ-साथ वज्रयान सम्प्रदाय भी स्थान ले रहा था। नालन्दा के बौद्ध विहार में इसने भी काफी योगदान दिया था। वाणभट्ट के हर्ष चरित्र से इसके बौद्ध धर्म के प्रति प्रेम का ज्ञान मिलता है। बाणभट्ट के अनुसार दिवाकरमित्र की प्रेरणा से हर्ष की बहन राज्यश्री चिता में जलने से बच गई। दिङ्नाग ने बौद्ध न्याय के इतिहास में ऊंचा स्थान प्राप्त कर लिया था। यह कांचीपुरी वासी पहले हीनयान सम्प्रदाय को मानता था। पीछे महायानी बना। इसके प्रमुख ग्रन्थ-प्रमाण शास्त्र, न्याय प्रवेश आदि हैं। इसी समय का दूसरा विद्वान था धर्मकीर्ति। दिंग्नाग के शिष्य ने इसे शिक्षा दी थी। प्रमाणवार्तिक जिसे तिब्बत से राहुल साकृत्यायन ने खोज निकाला है इसी की दूसरी कृति है। यहां से चीन जाकर इस समय बौद्ध धर्म का प्रचार परमार्थ ने किया था। यह उज्जैन वासी चीनी सम्राट के अनुरोध पर वहां भेजे गए थे। इन्होंने २७५ बौद्ध धर्म ग्रन्थों का अनुवाद चीनी में किया है। चीन जाने वाले दूसरे बौद्ध भिक्षु हैं बोधिधर्म। ये शून्यवाद के समर्थक थे। इन्होंने यहां ध्यानवादी बौद्ध सम्प्रदाय की स्थापना की। इसमें ग्रन्थों में अध्ययन की अपेक्षा ध्यान पर अधिक बल दिया गया है। इसी समय चीन से भारत आने वाला बौद्ध यात्री युवानच्वांग (ह्वेनसांग) था। नालन्दा विश्वविद्यालय में उसने शीलधर्म का शिष्य होकर बौद्ध धर्म का अध्ययन किया तथा अनेक बौद्ध ग्रन्थों को भारत से चीन ले जाकर अनुवाद किया। बोधिरुचि जिसका मौलिक नाम था धर्मकीर्ति दक्षिण भारत का एक कश्यप गोत्रीय ब्राह्मण था। तुंग वंश के शासन काल में भारत से बौद्ध विद्वान वहां गये थे और वहीं बस गये। वहां इन्होंने ५३ बौद्ध ग्रन्थों का

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

चीनी में अनुवाद किया। इस समय भी हीनयान की अपेक्षा महायान की विशेष महत्ता थी तथा चैत्य, विहार, मठ और स्तूपों का निर्माण हुआ। इसने काश्मीर से महात्मा बुद्ध का दाँत मंगवाया और कन्नौज में उस पर स्तूप बनवाया। इसने वलि व्यवस्था पर रोक लगा दिया। तब बौद्ध विद्वानों को प्रोत्साहित किया जाता था। इसने कन्नौज में बौद्ध धर्म की सभा बुलाई थी जो इक्कीस दिनों तक चली। समय के अनुसार बौद्ध धर्म में परिवर्तन लाने का भी प्रयास इस समय किया गया।

पाल काल

पाल युगीन शासकों ने बौद्ध धर्म को राजाश्रय दिया। इनके समय अनेक बौद्ध मूर्तियां बंगाल केन्द्र से बनी। बौद्ध धर्म में अब वज्रयान की प्रधानता थी। बुद्ध को यहां एक उद्धारक तथा देवता माना गया। आगे चलकर इसमें ८४ सिद्ध हुए। अब से बौद्ध धर्म में निठल्लेपन की ओर चलने वाले भिक्षुओं का चरित्र गिरने लगा। संघ का जनवादी संगठन समाप्त हुआ। इनको राष्ट्रीय संरक्षण भी नहीं प्राप्त हो सका।

(स)

बौद्ध धर्म का मूल्यांकन

बौद्ध धर्म के प्रसार के कारण

बौद्ध धर्म वड़ी शीघ्रता से प्राच्य भारत में प्रचारित हुआ। इसने यहाँ से बाहर निकलकर पश्चिम तथा दक्षिण भारत में ही अपना हाथ-पांव नहीं फैलाया बल्कि विदेशों तक अपनी साख जमाई। यह विचित्र है कि इसके समय ब्राह्मण और जैन धर्म भी साथ ही थे, जो इससे पहले के होने के कारण अधिक प्रभावी और मजबूत जड़ वाले थे। आज फिर क्यों बौद्ध धर्म उनको पीछे छोड़ आगे विकास करता हुआ बढ़ गया? आज भले ही भारत में इसका ह्रास देखते हैं पर विश्व के धर्मानुयायिओं की संख्या के हिसाब से यह दूसरा बड़ा धर्म ईसाई धर्म के बाद माना जाता है। ऐसा क्यों?

इसके पीछे निम्न कारण से हैं :

१. प्राच्य में ब्राह्मण प्रभाव की कमी- ब्राह्मण प्रभाव पूर्वोत्तर प्रदेश और बिहार में उत्तर भारत के पश्चिमी भाग की अपेक्षा हीनतर था। ब्राह्मण यहाँ दक्षिणा लेकर मंत्र-जप तक ही सीमित थे, धर्म की उन्नत क्रिया में नहीं लगे थे। वे सामान्यतया कृषि, व्यापार आदि जीविका हेतु करते थे। बौद्ध धर्म में ब्राह्मण शब्द का अभिप्राय सदाचारी पुरुष से था तभी अशोक के अभिलेखों में उन्हें ब्राह्मण कहा गया है जबकि अर्हत् शब्द उच्च साधुता का बोधक था। अतएव बौद्ध धर्म के प्रसार का अवसर प्राच्य-पूर्वी उत्तर प्रदेश, बिहार आदि क्षेत्रों में केवल मिला ही नहीं बल्कि अपनी जड़ जमाने की अच्छी भूमि मिली।

२. बुद्ध का व्यक्तित्व- मानव की कमजोरियों से बुद्ध ऊपर थे। उन्हें त्याग और तप सरलता से प्राप्त नहीं हुई थीं। इससे उन्हें जीवन के दुःखों का व्यवहारिक अनुभव था। अपने बल पर कष्ट सहकर ज्ञान की दहलीज तक वह पहुँचे थे। एकान्त साधना भले ही भयानक थी फिर भी उस मार्ग से विचलित नहीं हुए। उनमें जहाँ दया और करुणा का सागर था तो घृणा, द्वेष आदि आसुरी प्रवृत्तियों का कोई स्थान नहीं था। नैतिकता और जनतंत्रवादिता उनकी आधार

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

शिला थी। दृढ़ निश्चय उनका अस्त्र था। चाहे जो भी विपदा आवे वे अविचल अपने कर्म पथ पर चलते रहते थे। उनका जीवन व्यवस्थाबद्ध था। प्रातः निवृत्त होकर, ध्यान करके भिक्षा पात्र लेकर गृहस्थों के घर घूमते और भिक्षाटन के साथ उपदेश करते हुए लौट आते, सभी भिक्षुओं के भोजन करने के बाद भोजन करके ध्यान करते तथा अपराह्न में भिक्षुओं को उपदेश देते थे। वह अपने कार्य में न अपमानित अनुभव करते न कठिन जीवन से घबड़ाते थे बल्कि उसी का आनन्द लेते थे। उनका जीवन अति विनयशील था तभी एक बार संघ की बैटक में कहा था-'भिक्षुओं! मुझमें, मेरे कर्म और वचन में कोई त्रुटि देखते हो तो कहो।' वह निन्दा और प्रशंसा से अविचल थे।

३. सत्य प्रचार पर बल- वह शिष्यों की संख्या की अपेक्षा सत्य के प्रचार पर बल देते थे। धर्म को श्रद्धामूलक मानते थे दिखावे का नहीं। इसी से चमत्कार, शकुन, भविष्य कथन की निन्दा करते हुए उनको न करने का उपदेश भिक्षुओं को देते थे। इसी से ४०० जटिलो के साथ उनका न तो उरुवेला कहसण जब वह संघ में सम्मिलित हो रहा था तो बुद्ध ने कहा कि अपने शिष्यों को अपने संकल्प की सूचना दे दें। इसी प्रकार लिछवी सेनापति सीह को शिष्य बनाते हुए कहा था कि अपने पूर्व साथियों नातपुत्तों या निगन्थ जैनों को दान देना न छोड़ेंगे क्योंकि वे अनाथ हो जायेंगे।

४. परिषदों पर प्रभाव- उनके शास्त्रार्थ की अपनी शैली थी। वह विरोधियों की बातों को पहले स्वीकार कर लेते थे फिर उनका क्रम से खण्डन करते थे। अन्त में विरोधी स्वयं उनकी बात अपने से ही मान लेते थे। उनके परिषद में इतनी शान्ति रहती थी कि जब एक बार जीवक वैध अजातशत्रु को परिषद में ले गया तो वहाँ की शान्ति देख अजातशत्रु को संदेह हुआ कि कहीं वह शत्रु पक्ष के दल में तो नहीं आकर प्रवंचित हो रहा है। अतः अनुशासन बौद्ध धर्म की अपनी विशेषता थी।

५. सरल कल्याणकारी धर्म- इस धर्म में न कर्मकाण्ड था न दर्शन की जटिलता। इसका आधार लोक कल्याण और जनवादिता था। सरल सिद्धान्त, लोकोपकारी धर्म देशना, नैतिकता, लचर नियम, जनभावनाओं का आदर करने वाला यह धर्म था। यहाँ न भेद था न विरोध तभी बुद्ध ने कहा था 'जाति मत पूछो आचरण पूछो।' यह समानता, स्वतंत्रता और भ्रातृत्वभाव का बोधक धर्म था। इसमें अतियों का विरोध कर मध्यम मार्ग को सदा अपनाया गया था। बुद्ध जीवन भर कभी विवादात्मक पचड़े-आत्मा, जीव, जगत, ईश्वर आदि में पड़े ही नहीं। वह इन पर मौन हो जाते थे, न हां, न ना, न विरोध। यह धर्म परिवर्तनशील और मध्यममार्गी था।

६. प्रचार की विशिष्ट शैली- प्रचार के लिए ये घर-घर भिक्षा मांगते समय उपदेश देते थे। परिषदें आयोजित करते थे। जनभाषा, मागधी को प्रचार का माध्यम बनाया कि जनता अपनी बोली में इनकी बात समझ जाय। किसी का विरोध न कर उसके मत की बातें मानकर उसके खण्डन करने से लोग प्रभावित होने लगे थे। वे बल नहीं देते कि जो वे कहें उसे लोग मानें हीं। बुद्ध ने कहा था 'जो मैं कहता हूँ सुनो। जितना अच्छा लगे मानो। जो अच्छा न लगे उसे छोड़ दो।' ऐसा किसी ने कभी नहीं कहा है। इसी के साथ था भिक्षु संघ जो एक समूह की भावना से प्रसार का कार्य करता था। इसका प्रभाव अधिक पड़ा। साथ ही इनके संघ का स्थान विहार शिक्षा के केन्द्र बने जहाँ आने वाले विद्यार्थी वहाँ के आचरण से प्रभावित स्वयं इस धर्म का अनुसरण करते थे। उन्होंने बिना विरोध के कभी नकारात्मक बात नहीं की। परिस्थिति उत्पन्न

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

होने पर जिसका जनता विरोध करती उसे 'दुक्कर' कहकर मना किया जाता था।

७. राजकीय एवं सामाजिक प्रश्रय- राजाओं ने इसको प्रश्रय दिया। बिन मांगे अजातशत्रु, अशोक, कनिष्क, मिलिन्द आदि अनेक शासकों का इसे सहयोग मिला। मगध, कोशल, कौशाम्बी के शासकों का सहयोग इसे भरपूर था। उन्होंने इसके लिए संथागार, विहार, स्तूप, संघराम आदि बनवाया। कुमारगुप्त ने नालन्दा विश्वविद्यालय की स्थापना कराया जिसमें पीछे के अनेक शासकों ने दान दिया। इस धर्म के प्रचार के लिए भिक्षुओं को देश के विभिन्न भागों में भेजा गया और देश के बाहर भी गये। वहाँ उन्होंने न केवल प्रचार किया बल्कि वहाँ की भाषा में इस धर्म के अनेक ग्रन्थों का अनुवाद किया। उसकी स्पष्ट जानकारी तथा जिज्ञासा लिये विदेशी जिज्ञासु यहाँ आकर, गुरुओं से विश्वविद्यालयों में शंका समाधान करते तथा यहाँ की पुस्तकों को अपनी भाषा में अनूदित कर ले जाते थे। इसके अतिरिक्त यहाँ के बौद्ध स्मारकों के विस्तार और सुन्दरीकरण के लिए अपने देश से पैसा दिलवाते थे। इन विदेशी दार्शनिकों के कारण भी विदेशों में यह धर्म वहाँ फैल सका।

धनी सेठ भी इसके प्रसार में सहयोग देते थे। इसका ज्ञान भरहुत के स्तूप की बंडेरी पर बने चित्र और उनके नीचे लिखे सेठों के नामों से विदित होता है। अनाथपिण्डक द्वारा वर्षावास के लिए आम्र बन खरीद कर दिये जाने का उदाहरण भी इसको पुष्ट करता है। अनेक गणराज्यों ने बौद्ध धर्म अपनाकर इसके विकास में सहयोग दिया।

इसमें सर्वाधिक भूमिका अशोक की थी जो बुद्ध के निर्वाण के दो सौ साल बाद भी इसे ग्रहण कर इस धर्म के प्रचारार्थ धर्मप्रचारकों को विदेशों में भेजा। इसने पुत्र महेन्द्र तथा पुत्री संघमित्रा को लंका प्रचारार्थ भेजा था। भारत के भीतर धर्मस्तम्भों को स्थापित कर धम्म लिपियाँ खुदवाया कि यहाँ लोग तथा सीमा पर बसे लोग भी उसका अनुशरण करेंगे। कहा जाता है इसने ८४००० स्तूपों का निर्माण कराया था। कनिष्क के कारण यह धर्म मध्य एशिया होते हुए चीन तक फैल गया। यही कारण है कि अपनी जन्मभूमि से यह धर्म लुप्त होकर भी आज दक्षिण एशिया, दक्षिण-पूर्व एशिया तथा पूर्वी एशिया में विकसित है।

८. संगठित प्रचार- बौद्ध संघ के कारण संगठित प्रचार की सुविधा इसे मिली। इस संघ ने अमीर, गरीब, गृहस्थ-भिक्षु, पुरुष-स्त्री, जाति-पाति का भेद मिटाकर सबके लिए अपना दरवाजा खोल दिया। इससे प्रचारकों की संख्या बहुत थी। पर सांघिकों के साथ शर्त थी कि संघ नियमों का पालन करना पड़ता था। भिक्षु संघ के साथ अलग भिक्षुणी संघ भी पीछे संगठित हुआ।

बौद्ध धर्म के ह्रास के कारण

कनिष्क के बाद गुप्त काल से यह धर्म पतनोन्मुख होने लगा। फिर भी परिवर्तित रूप में यह ११वीं शताब्दी तक किसी न किसी रूप में बिहार और बंगाल में बना रहा। पर इसके बाद यह लुप्त होने लगा। इसके लिए निम्न कारण उत्तरदायी हैं :

१. बुराईयों का प्रवेश- ब्राह्मण धर्म की जिन बुराइयों के कारण त्रस्त जनता की शान्ति के लिए यह धर्म स्थापित हुआ उन्हीं बुराईयों-कर्मकाण्डों, दार्शनिक पचड़ा, मूर्तिपूजा, जटिल क्रियाओं आदि के जाल में यह फंस गया। इससे जनता को अब यह आकर्षित न कर सका। इसके विपरीत ब्राह्मण धर्म अपनी बुराइयों में सुधार करने लगा। इस सुधारवादी प्रवृत्ति ने उनकी

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

ओर जनमानस को आकर्षित किया।

२. संस्कृत भाषा का प्रयोग- महायान बौद्ध धर्म के ग्रन्थ संस्कृत भाषा में हैं जिसके लिए बुद्ध ने मना किया था कि जन-भाषा में इसका प्रसार किया जायेगा। संस्कृत विद्वानों की भाषा होने से यह धर्म सार्वजनिक पहुँच के बाहर होने लगा।

३. प्रतिमा पूजन एवं चढ़ावा- बुद्ध ने संघ को एकान्त, जंगल तथा पहाड़ों में बनवाया था। उन्होंने प्रतीक पूजां को ही स्थान दिया था। पर अब प्रतिमा पूजा प्रारम्भ होने से कर्मकाण्ड, चढ़ावा, दिखावा आदि बहुत बढ़ गया। इसके कारण बौद्ध चैत्य का स्थान अब मंदिरों ने लिया जहाँ बहुत चढ़ावा चढ़ता था। इस प्रकार वे खजाने की तरह सम्पत्तिशाली हो गये। गाँव दान भी राज्य की ओर से अक्षयनीति सेठों की ओर से विहारों और चेलों को मिलने लगा। इस प्रकार सम्पत्ति के ये केन्द्र बन गये। यही कारण था कि मुसलमानों ने आक्रमण करते हुए इन्हीं को अपना निशाना बनाया। ये विहार उस समय विलासिता के केन्द्र बन गये। वहाँ सभी कुकर्म होने लगा मदिरा, मैथुन आदि।

३. नारी का संघ प्रवेश- बुद्ध ने स्त्रियों को संघ में लेने से मना किया था। वह विमाता किश गौतमी को भी इसमें लेना नहीं चाहते थे। पर अपने प्रिय शिष्य आनन्द के कहने पर कि उनका बुद्ध पर उपकार है पालन करने का, उन्हें संघ में सम्मिलित तो किया किन्तु घोषित किया अव संघ का जीवन आधा हो गया क्योंकि बुद्ध ने कहा था कि विहारों में स्त्रियों का प्रवेश न होगा तो यह १००० वर्षों तक बना रहेगा। किन्तु यह अब विलासिता का केन्द्र बन गया। अब बौद्ध भिक्षुओं ने प्रचार करना भी छोड़ दिया।

४. राजकीय सहयोग का अभाव- कनिष्क के बाद वैष्णव धर्मानुयायी गुप्त शासक मगध के सिंहासन पर बैठे तथा उनका राज्य कालिदास के अनुसार 'हिमवदा समुद्रम' फैला था। उनके समय बौद्ध धर्म को राजकीय सहयोग न मिला। यही स्थिति इसके बाद भी प्राय: बनी रही। इससे धर्म को पीछे आश्रय नहीं मिल सका।

५. कुकर्मों की अति तथा वज्रयान सम्प्रदाय- बुद्ध ने नैतिकता को प्रधानता दिया था। पर अब सातवीं शती से महायान की एक शाखा वज्रयान को इस धर्म में स्थान मिला। ये वाममार्गी थे। अत: अब विहारों में बड़ी मात्रा में सम्पत्ति और नारियों के प्रवेश से संघ में नैतिकता और अनुशासन का ह्रास हो गया। अब नारी भोग की वस्तु मानी जाने लगी। इसी से सातवीं शती के चीनी यात्री ह्वेनसांग ने बौद्ध धर्म की चिन्ताजनित स्थिति का वर्णन किया है तथा उसके कुछ ही बाद का इतसिंग नामक चीनी यात्री इसके दुर्दशा पर आँसू बहाता दु:ख प्रकट करता है। अब संघ इन कारणों से जनमानस से दूर होने लगे। इसमें तांत्रिक बौद्ध धर्म विशेष सहायक बना। अब विश्वास किया गया कि इसमें मदिरा और मैथुन मान्य है। इन्होंने माना कि सृष्टि की उत्पत्ति बोधिसत्व और उनकी संगिनी 'तारा' के सम्भोग से हुआ है।

६. बौद्ध धर्म के स्वरूप में ह्रास- बुद्ध के उपदेशों की व्याख्या अव भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों में भिन्न-भिन्न होने लगी। इससे उनका मूल रूप विखण्डित हो गया। अब १४ शाखाओं में बंटा बौद्ध धर्म अपनी मौलिकता खो बैठा। धीरे-धीरे इससे उसका स्वरूप विकृत हो गया। इसके साथ ही आन्तरिक मतभेद भी उभरा। इसीलिए भले ही दूसरी संगीति बुलाई गई थी पर वह दबा नहीं और बढ़ता गया। चौथी बौद्ध संगीति में यह और उभर कर सामने आया। अब

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

हीनयान, महायान के बाद मंत्रयान, तंत्रयान, वज्रयान उभरा। वज्रयान में भी हठयोग, सुरा-सुन्दरी तथा भोग-विलास का बाहुल्य हुआ।

७. हिन्दू धर्म की प्रतिक्रिया- हिन्दू धर्म में कर्मकाण्डों की महत्ता को कम किया गया। नये देवता बुद्ध को भी विष्णु के अवतार के रूप में जोड़ लिया गया। रूढ़िवादिता जो जनता को अरुचिकर थी धीरे-धीरे हिन्दू धर्म से टूटने लगी। बौद्ध धर्म की वहुत सी बात इसमें स्वीकार कर ली गई। एक प्रकार से बौद्ध धर्म हिन्दू धर्म का अंग बन गया। अब बौद्ध धर्म के दार्शनिक स्वरूप के आधार पर उसे अनीश्वरवादी तथा नास्तिकों का धर्म कहकर लोगों का झुकाव उधर से हटने लगा। ९वीं शती में शंकराचार्य ने शास्त्रार्थ विजय द्वारा वैदिक मान्यताओं को फिर स्थापित किया।

हिन्दू धर्म के अनुयायी पुष्यमित्र शुंग ने बौद्धों को सताया जिससे उसे बौद्ध धर्म का विनाशक कहा गया है। राजा मिहिरकुल ने सैकड़ों बौद्धों की हत्या किया। बंगाल के शासक शैवानुयायी शशांक ने बोधगया के बोधिवृक्ष को कटवा दिया। अत: बौद्धों ने हिन्दू देवताओं के ऊपर बोधिसत्व की मूर्तियाँ बनाने लगे थे। यह स्थिति परस्पर द्वन्द्व की बोधक है। ह्वेनसांग के अनुसार १६०० स्तूप और विहारों को तोड़वा दिया गया था। दक्षिण भारतीय शैव और वैष्णवों ने बौद्ध धर्म का कड़ा विरोध किया। असली धक्का यहाँ तव बौद्ध धर्म को लगा जब भक्ति आंदोलन दक्षिण भारत में प्रबल हो चला था।

८. बौद्ध विरोधी शासकों का प्रभाव- बौद्ध विरोधी शासकों में हूण थे। इनके शासक मिहिरकुल ने कई बौद्ध मठों तथा विहारों को तुड़वाया। गौड़ाधिपति शशांक ने बोधगया के बोधि वृक्ष को ही कटवा कर उस पर गर्म लोहे का तवा रखवाया कि वह फिर न पनप सके। तुर्क आक्रामक मुहम्मद गोरी के सेनापति बख्तियार खिल्जी ने नालन्दा और विक्रमशिला के बौद्ध विश्वविद्यालयों को बारहवीं शताब्दी में जला दिया। बौद्ध भिक्षुओं की हत्या किया। इससे ऊब कर बौद्ध भिक्षु अपने रक्षार्थ नेपाल, तिब्बत, नेफा आदि की ओर भागकर शरण लिये। राजपूतों से भी इस धर्म को क्षति उठानी पड़ी क्योंकि वे युद्धप्रिय जाति थे अत: उन्होंने इस अहिंसावादी धर्म का सहयोग नहीं किया।

ये सभी कारण बौद्ध धर्म के ह्रास के लिये उत्तरदायी हैं। पर विशेष रूप से हिन्दू धर्म के पुनरुत्थान ने इसको बाहर कर दिया।

भारतीय संस्कृति को बौद्ध धर्म की देन

बौद्ध धर्म का प्रभाव भारतीय आदर्श, राजनीति, समाज, कला, दर्शन, शिक्षा-साहित्य तथा विदेशी सम्पर्क पर विशेष रूप से पड़ा।

१. भारतीय आदर्श पर प्रभाव- भारतीय संस्कृति की आत्मा सत्य, दया, करुणा, श्रद्धा, अहिंसा, नैतिकता आदि है। बौद्ध धर्म ने इनके विकास का भरसक प्रयास किया। बुद्ध अपने धर्म के सत्य स्वरूप को जनता के बीच बिना किसी चमक़-दमक के खड़ा करना चाहते थे। इसी से उन्होंने सादगी और नैतिकता की शिक्षा न केवल भिक्षुओं को दिया अपितु सामान्य उपदेश में भी इस पर वल दिया। दया का भाव बौद्ध धर्म में इतना उमड़ा कि अशोक जैसे योद्धा ने युद्ध की सदा के लिए तिलांजलि दे दी और सम्पूर्ण प्राणियों के कल्याण की बात करने लगा। करुणा के स्वर में उन्होंने दुःखों से दुःखी मानवता को दुःख मुक्त करने के ही उद्देश्य से अहिंसा का

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

पाठ पढ़ाया। इसी से अशोक ने विभिन्न तिथियों पर विभिन्न पक्षियों की हत्या बन्द कराया और कुछ को सदा के लिए निषिद्ध बताया। अपने भोजनालय में भी मांस पकने पर रोक लगाया। पर इनकी अहिंसा जैनों की तरह अतिवादी नहीं थी। यह मध्यम मार्ग से इसका अनुकरण करते थे। अतः उन्होंने अपने उद्देश्य से किये गये हिंसा के लिए वर्जना किया था पर भिक्षा में मिले मांस या औषधि के रूप में उसके प्रयोग पर कोई रोक नहीं लगाया। आदर्श जीवन व्यतीत करने के लिए ही जब भिक्षुओं से समाज वालों की कोई शिकायत होती थी तो संघ्र आहूत कर उसकी व्याख्या करते हुए उसे दुक्कट (दुष्कृत्य) बताते थे।

२. राजनीति पर प्रभाव- भिक्षु संघों की व्यवस्था के आधार पर इस समय के गणराज्यों की शासन व्यवस्था निर्धारित की गई। उसी तरह गणराज्यों की सभा की बैठक बुलायी जाती थी जैसे संघ की। उसी क्रम में अवस्थानुसार लोग बैठते थे। गणमुख्य भी संघ्रमुख्य की तरह अनुशासन रखता था। जो गणराज्यों के सात आदर्श भगवान बुद्ध ने बताये थे– सत्तअपरिहाणसुत्त-वे भिक्षु संघ के ही आधार पर थे। एक राय से काम करने तथा गणमुख्य के आदेश का पालन करना भी भिक्षु संघ के ही आधार पर था। जैसे संघ में बोलने की स्वतंत्रता थी वैसे ही गणपरिषदों में भी सदस्य अपने विचार व्यक्त कर सकते थे। यहाँ भी संघ की तरह समूह के आधार पर निर्णय लिया जाता था। शस्त्र विजय भी प्रभावित हुआ। अब इसकी जगह धम्म विजय प्रारम्भ हुआ। धर्म प्रचारार्थ अनुसंधान की व्यवस्था इसी की देन है। जीव दया के कारण बंदियों को भी कभी-कभी छोड़ा जाने लगा।

३. सामाजिक प्रभाव- सामाजिक जीवन में शाकाहारी भोजन का प्रचलन भिक्षु नियमों के अनुसार हुआ। यह अहिंसा का प्रभाव था। छूट केवल तभी थी जब विशेष परिस्थिति उत्पन्न हो जैसे संघ्र में बुद्ध की मौसी के सर में पीड़ा होने पर उन्होंने बताया कि मांस खाने से यह पहले ठीक होता था तो बुद्ध ने उस परिस्थिति में मांस खाने की छूट दे दी थी। इसी प्रकार भिक्षाटन में मिले मांस के भोजन की जैसे छूट थी वैसे ही सामाजिक उत्सवों पर यदि मांस परसा जाता था तो वहाँ खाने की छूट थी।

जाति पाति का बंधन ढीला होने लगा क्योंकि बुद्ध ने अपने धर्म में ऐसा कोई प्रतिबंध भिक्षुओं के लिए नहीं रखा था। अतः जातीय भेद जो समाज में अनेक बुराइयों की जड़ था बौद्ध धर्म ने तोड़ा।

नारियों को सामाजिक स्तर पर बढ़ावा मिला। बौद्ध धर्म की भिक्षुणियों की तरह ये नियंत्रण में समाज में घूम सकती थीं तथा संघ की तरह सामाजिक क्रियाओं और बैठकों में शामिल हो सकती थी। भिक्षुणी संघ के आधार पर नारियों का भी संघ बनने लगा था।

आमोद-प्रमोद के लिए विहार यात्रा अब बन्द होने लगी थी जैसा अशोक के अभिलेख से ज्ञात होता है। उसके स्थान पर अब धर्मयात्रा इसी उद्देश्य के लिये की जाने लगी। इसका लाभ हुआ कि प्राणी हिंसा जहाँ बंद हुई, वही पर्यटन को बढ़ावा मिला तथा विभिन्न स्थानों के लोगों में परस्पर मेल-जोल से समीपता आने लगी।

संघ पद्धति का प्रभाव हिन्दू संगठनों पर भी पड़ा। १९वीं शताब्दी में शंकराचार्य ने अपने मठों की स्थापना भारत के चारों कोनों पर इसी प्रकार के अनुकरण में किया होगा कि हिन्दू संगठन मजबूत रहे।

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

बौद्ध धर्म ने भारत का बाह्य देशों से सम्पर्क का मार्ग खोल दिया। इसके साहित्य को पढ़ने और समझने, इसके प्रचार करने, इसके स्थानों को देखने आदि के उद्देश्य से अनेक विदेशी भारत आये और भारतीय विदेश गये। साथ ही वृहत्तर भारत की नींव डालने का श्रेय इसी धर्म को दिया जा सकता है। इसका जीवन्त उदाहरण जावा का बोरोबोदुर मन्दिर है तथा भारत का दक्षिण एशिया, दक्षिण-पूर्वी एशिया, मध्य एशिया आदि से सम्पर्क का यही सूत्र था।

४. शिक्षा और साहित्य पर प्रभाव- बौद्ध धर्म का प्रचार मागधी में हुआ। क्योंकि यह इस क्षेत्र में विशेष की सम्पर्क भाषा थी। इसी में बुद्ध वचनों का संकलन हुआ जिससे इसका साहित्य विकसित हो सका। इसके संकलन के लिए पालि भाषा के प्रयोग के कारण हीनयानी बौद्ध ग्रन्थ अधिकांश पालि में हैं। इससे पालि साहित्य का भण्डार भरा। जातक कहानियाँ, त्रिपिटक, अट्ठ कथाएँ आदि पालि में ही मूल रूप से लिखी गईं।

पर संस्कृत साहित्य को भी इसने प्रभावित किया। महायान सम्प्रदाय के सभी ग्रन्थ संस्कृत में लिखे गये। दार्शनिक भावों की अभिव्यक्ति संस्कृत में ही की गई। इसी से अश्वघोष तथा नागार्जुन की कृतियाँ संस्कृत में ही उपलब्ध हैं।

विश्वविद्यालय की स्थापना बौद्ध धर्म की देन है। नालन्दा, ओदन्तपुरी, विक्रमशिला, तक्षशिला आदि विश्वविद्यालयों की स्थापना का मूल उद्देश्य था बौद्ध दर्शन और धर्म की शिक्षा देना। यह बात और थी कि इसके साथ अन्य विषय भी पढ़ाये जाते थे। भारत का प्राचीनतम पुस्तकालय भी बौद्ध धर्म की देन है जो नालन्दा विश्वविद्यालय के साथ बना था। जिस क्षेत्र में यह बना था उसे 'धर्मगंज' कहा जाता था। इसके तीन खण्ड थे जिन्हें रत्नसागर, रत्नोदधि और रत्नरञ्जक कहा जाता था। यह सम्भवत: अपने तरह का विश्व का तथा भारत का पहला पुस्तकालय था।

दर्शन शास्त्र का इस समय विकास हुआ जिसमें हिन्दू षड-दर्शन तो पहले से था ही पर बौद्ध दर्शन की दो शाखाएँ-माध्यमिक शून्यवाद तथा योगाचार विज्ञानवाद इसकी ही देन हैं। इस समय के दार्शनिक नागार्जुन और असंग ने बौद्ध दर्शन को बढ़ावा दिया।

५. कला पर प्रभाव- बौद्ध धर्म का भारतीय कला के इतिहास में महत्त्वपूर्ण देन है जिसने स्थापत्य, मूर्ति तथा चित्रकला के क्षेत्रों में ऐसी मान्यताएँ स्थापित की जिसके पीछे भारतीय कलाकारों ने स्वीकार कर लिया और विदेशी आज भी इसकी ओर ललचाई आँखों से देखते हैं।

स्थापत्य- के क्षेत्र में इस धर्म में पहले पहल पहाड़ों को काटकर वास्तुकला का निर्माण किया जाने लगा। अशोक के समय के बराबर और नागार्जुनी पहाड़ी में बनी सात गुफाएँ इसका प्रथम सोपान हैं। फिर इन्होंने पहाड़ों को तराशकर उसको सुन्दर भवनों की आकृति में बदलना शुरू किया। इसमें दो प्रकार के वास्तु बने धार्मिक और आवासीय धार्मिक वास्तु में हम चैत्यों को ले सकते हैं जिनमें कार्ले, कन्हेरी, नासिक आदि के चैत्य विशेष उल्लेखनीय हैं। इनमें खम्भों की बनावट गोल छत, स्तूप को पीछे काटकर बनाना, बीच का पूजागृह अपनी अलग शैलीगत विशेषता रखते हैं और उससे भी आकर्षक है इनका प्रवेश द्वार जो हस्तिदन्ताकार शैली में उकेरे गये हैं जिनके आधार पर पीछे दक्षिण के मन्दिरों में गोपुरम बना। आवासीय भवनों में विहार को ले सकते हैं जो आज के छात्रावास की तरह व्यवस्थित कमरे, बरामदे, भोजनालय, शौचालय;

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

शास्ता के वासस्थान के साथ बने हैं। दूसरे प्रकार के स्थापत्य का उदाहरण है स्तूप निर्माण जो ईंट, पत्थर, मिट्टी लकड़ी आदि से निर्मित होते थे तथा जिस पर की प्रतीकात्मकता और प्राकृति चित्रित आज भी अपनी मिसाल नहीं रखता। ईंट निर्मित सारनाथ का स्तूप आज भी बेमिसाल है लगता है इन्हीं पत्थर के काटने की शैली का अनुकरण पल्लव काल में भी शैलोत्खात मन्दिरों के निर्माण में किया गया।

मूर्ति निर्माण में भी इसने नवीन परम्पराएँ स्थापित की। पत्थर के बने स्तम्भ जिनके शीर्ष पर विभिन्न आकृतियाँ उकेरी गई हैं तथा सुन्दर कलात्मक चौकी बाद के दक्षिण भारतीय मन्दिरों के स्तम्भों के निर्माण के लिए मार्गदर्शक सिद्ध हुए। इन पर बनी पशु आकृतियों में विदेशी कौशल का प्रयोग कलात्मक समन्वय का बोधक है। दूसरी ओर स्तूप की बड़ेरी पर बने मानव सिर मानव आकृतियों के निर्माण की ओर बढ़ते कदम हैं। इसी का प्रभाव भी शुंगकाल में स्तूपों के बड़ेरियों पर मानवाकृत यक्षिणियों का चित्रण, भावभंगिमा तथा लोक परिवेश में अंकित हैं। इनके तोरण द्वार गोपुरम के पूर्व रूप रहे होंगे। आज भी तोरण द्वारों की जितनी प्रशंसा भावाभिव्यक्ति और कलात्मकता की जाय वह कम ही लगती है। साथ ही पटना और पार्खत्र की यक्ष मूर्तियों के अनुकरण पर भी मानवाकृत मूर्तियों का निर्माण बाद में मथुरा तथा गांधार केन्द्रों में प्रारम्भ हुआ। इन मूर्तिकारों ने कला में आत्मा और कौशल को विशेष स्थान दिया है जिससे मूर्तियाँ सजीव बनी हैं। बुद्ध की ही मूर्तियाँ तथा प्रतिमाएँ पहले बननी प्रारम्भ हुई जिसके अनुकरण पर हिन्दू तथा दूसरे धर्मों की देवी-देवताओं की मूर्तियाँ बनने लगीं। यहीं से शैलीगत भिन्नता फूटी जो भावभंगिमा, वस्त्र और केश विन्यास, शारीरिक संरचना के आधार पर वर्गीकृत की जाती है।

चित्रकला में बौद्ध धर्म की देन अजन्ता के नाम लेने से ही स्पष्ट हो जाती है। वहाँ की बौद्ध गुफाओं में बेन बौद्ध धर्म सम्बन्धी चित्रों तथा उनके कौशल और रंगसाजी की अपनी एक अलग गरिमा है जिसकी समता आज भी करना अति कठिन है। इसने संसार की आँखों को अपनी ओर समेट लिया है।

६. धर्म पर प्रभाव- बौद्ध धर्म के प्रभाव से हिन्दू धर्म की रुढ़िवादिता घटने लगी। सरलता धर्म की विशेषता बनी। पुरोहितवाद का बोलबाला घटने लगा। यज्ञ और बलि व्यवस्था भी कम होने लगी। जीव हिंसा के प्रति घृणा लोगों में बौद्धों की अहिंसा नीति के कारण उत्पन्न हुई। बुद्ध की मूर्तियाँ प्रथम शती ई. से बननी प्रारम्भ हुई और उनकी पूजा भी की जाने लगी। तभी से हिन्दू देवी-देवताओं की मूर्तियाँ बनाकर उनकी पूजा की जाती है। बौद्ध धर्म को भी हिन्दू धर्म में समेट लेने का प्रयास किया गया। इसी से बुद्ध को विष्णु के दशावतारों में नवां अवतार मान लिया गया। चैत्यों के आधार पर हिन्दू मन्दिरों के निर्माण को ही प्रेरणा नहीं मिली बल्कि उसके भीतर के अंधेरे कोने में बने स्तूप जिस पर गवाक्ष वातायन से प्रकाश पड़ता था यह प्रतीकित करने के लिए कि अंधेरे विश्व में केवल प्रकाशमान देव (स्तूप) है। हिन्दू मन्दिरों में भी देवताओं की मूर्तियों के सामने ही केवल एक प्रवेश द्वार शुरू में बना कि सीधे प्रकाश मूर्ति पर पड़े। मन्दिर के चौखटों को गढ़न में भी स्तूप के तोरण पर अंकित प्रतीक चिन्हों के सहारे देवांकन से सजाया जाने लगा। बौद्ध चैत्यों के द्वार पर खम्भा होता था उसी के अनुकरण पर हिन्दू मन्दिरों के प्रवेश द्वार पर देव ध्वज का अनुकरण किया गया।

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

अध्याय-१६

भारतीय दर्शन और उसके सम्प्रदाय

दर्शन को अंग्रेजी में फिलासफी कहते हैं। यह लैटिन शब्द फिलासोफिया से बना है। फिलासोफिया शब्द के दो भाग हैं फिलास=प्रेम तथा सोफिया=ज्ञान। इस प्रकार फिलासफी से अभिप्राय है ज्ञान के प्रति प्रेम, विद्यानुराग। विद्यानुरागी व्यक्ति चिन्तनशील होता है। इसलिए उसके मन में संसार, ईश्वर, आत्मा, ज्ञान, सत्य, शुभ-अशुभ सम्बन्धी प्रश्न उठते हैं। इन प्रश्नों के समाधान के लिए वह तर्क का सहारा लेता है। यह प्रत्येक प्राणी के साथ है। इससे सभी प्राणी दार्शनिक हैं। इनको हक्सले ने दो कोटियों में विभक्त किया है-कुशल दार्शनिक और अकुशल दार्शनिक।

'दर्शन' शब्द संस्कृत के दृश धातु से बना है जिसका अर्थ है 'जिसके द्वारा देखा जाय या तत्त्व का साक्षात्कार हो सके। जैसे शुभ-अशुभ और नैतिकता क्या है? संसार की उत्पत्ति कैसे हुई? जीव, आत्मा, जीवन का लक्ष्य क्या है? ईश्वर के अस्तित्व का प्रमाण और स्वरूप क्या है? मोक्ष क्या है कैसे प्राप्त होगी? आदि। यहाँ तत्त्व का साक्षात्कार से अभिप्राय है न केवल उसके बौद्धिक व्याख्या से बल्कि उसकी अनुभूति को प्राप्त करने से। भारतीय दार्शनिकों ने अनुभूति के दो प्रकार बताये हैं-ऐन्द्रिक या बौद्धिक और अनैन्द्रिक या आध्यात्मिक अनुभूति। बौद्धिक अनुभूति में ज्ञाता और ज्ञेय दो होते हैं। पर आध्यात्मिक अनुभूति में यह भेद नहीं होता बल्कि सीधे तत्त्व का साक्षात्कार होता है। इसी से भारतीय दर्शन 'तत्त्व दर्शन' कहा जाता है। हिरियन्ना के अनुसार 'भारतीय जीवन की समस्याओं के तात्विक साक्षात्कार का उद्देश्य है जीवन में दु:खों का अन्त ढूँढ़ना।' यही मोक्ष की स्थिति है। मोक्ष का अर्थ दु:खों से छुटकारा पाना। यही भारतीय दर्शन का लक्ष्य है। इसी से भारतीय दर्शन को 'मोक्ष-दर्शन' भी कहा जाता है। यहाँ मोक्ष की प्राप्ति आत्मा के द्वारा मानी गयी है। इसी से भारतीय दर्शन में आत्मा की महत्ता के कारण इसे 'आत्मविद्या' भी कहते हैं।

भारतीय दर्शन के आधार

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि दर्शन एक वैचारिक प्रवाह है। किसी भी विचार के पीछे कोई न कोई आधार होता है। भारतीय दर्शन के पीछे भी कोई न कोई चित्त का आधार होगा। इस विषय में हमारे दार्शनिकों ने दो आधार अपनाये हैं-एक कल्पना तथा युक्ति का आधार तथा दूसरे आप्त वचनों का आधार। यहाँ रहस्यमय प्रश्नों का हल जैसे ईश्वर, आत्मा, जीव आदि विषयक प्रश्नों का उत्तर प्रत्यक्षीकरण पर नहीं दिया जा सकता क्योंकि इनका साक्षात्कार हम नहीं

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

करते। तब हम अनुभव का सहारा लेते है जो कल्पना और तर्क पर आधारित होता है। फिर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि किसके कल्पना या तर्क का हम सहारा लें-सामान्य व्यक्ति का या विशिष्ट व्यक्ति का। यहाँ दोनों को ही अलग-अलग दार्शनिक सम्प्रदायों ने मान्यता दी है। अधिकतर दार्शनिक सम्प्रदाय या दर्शन शास्त्री जनसामान्य के ज्ञान एवं प्रत्यक्षानुभव को ही आधार मानते हैं। पर वेदान्त, मीमांसा, बौद्ध और जैन दर्शन विशिष्ट धर्म ग्रन्थ वेद, उपनिषद या विशिष्ट व्यक्ति बुद्ध, महावीर के वचनों को ही आधार मानते हैं। इस प्रकार यहाँ दोनों मतों को स्थान मिला है। यद्यपि दोनों के युक्ति के प्रयोग में अन्तर है। पहले में युक्ति का प्रयोग लौकिक अनुभव पर आधारित होता है जबकि दूसरे में आप्त वचनों की पुष्टि के लिए इसका प्रयोग किया जाता है। यह कहना कि भारतीय दर्शन स्वतंत्र विचारों से प्रेरित न होकर आप्त वचनों से प्रेरित है, उचित नहीं है क्योंकि अधिकांश दर्शन स्वतंत्र विचारों पर आधारित हैं। इनके पीछे कोई आर्ष-ग्रन्थ या आप्त विचार नहीं रहा है। फिर भी कुछ जैसे वेदान्त, मीमांसा, जहाँ वेद पर आधारित है वही बौद्ध और जैन आप्त वचनों पर। फिर भी इनमें अपना वैचारिक पक्ष क्रमशः जुटता रहा है।

भारतीय दर्शन की शाखाएँ

भारतीय दर्शन का आधार एक ओर वेद है तो दूसरे ओर लौकिक विचार। पर यह नहीं समझना चाहिए कि जो लौकिक है वह वेद विरोधी है। यद्यपि एक वर्ग ऐसा भी है जो वेद निन्दक या वेद विरोधी है। इसलिए जो वेद की प्रामाणिकता को स्वीकार करते हैं वह एक वर्ग के माने जाते हैं जो वेद की सत्ता को स्वीकार नहीं करते उन्हें दूसरे वर्ग में माना जाता है। वेदकी मर्यादा को मानने वाले आस्तिक और इसे न मानने वाले नास्तिक सम्प्रदाय के दार्शनिक हैं। दर्शन में आस्तिक और नास्तिक का भेद ईश्वर के मानने और न मानने से सम्बद्धित नहीं है आज जैसा कि आस्तिक एवं नास्तिक शब्द प्रचलित रूप में ईश्वर की सत्ता में विश्वास या अविश्वास का बोधक है। इसीलिए ईश्वर की सत्ता को न मानने वाले मीमांसा और सांख्य भी आस्तिक ही कहे जाते हैं क्योंकि ये वेद की सत्ता को मानते हैं। इस दृष्टि से छः भारतीय दर्शनों को आस्तिक कहा जाता है-न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा और वेदान्त। इन्हें 'षड्दर्शन' कहते हैं। षड्दर्शन को 'हिन्दू दर्शन' भी कहा जाता है क्योंकि इसके प्रतिस्थापक हिन्दू थे।

इनके विपरीत तीन ऐसे भारतीय दर्शन हैं जो वेद की सत्ता को स्वीकार नहीं करते। वे हैं चार्वाक, बौद्ध और जैन। इनमें चावाक पूर्ण नास्तिक है क्योंकि वह न वेद न ईश्वर और न परलोक को ही मानता है। इसके अनुसार संसार से अलग कुछ नहीं है और मृत्यु ही जीवन का अन्त है।

आस्तिक या षडदर्शन में दो-दो दर्शनों का जोड़ा बना है जिनमें कुछ बातें समान हैं भले ही अन्य पहलुओं पर विभेद हो। ये तीन युग्म (जोड़े) हैं : एक न्याय-वैशेषिक जो ईश्वर और विश्वात्मा के विषय में एक प्रकार की धारणा रखते हैं, दूसरा सांख्य और योग जो पुरुष और प्रकृति के विषय में समान धारणा रखते हैं तथा तीसरा मीमांसा और वेदान्त जिन्हें क्रमशः पूर्व मीमांसा (कर्म मीमांसा) तथा उत्तर मीमांसा (ज्ञान मीमांसा) भी कहते हैं। दोनों वैदिक संस्कृति की देन हैं क्योंकि मीमांसा वैदिक कर्मकाण्ड पर आधारित है और वेदान्त वैदिक ज्ञानकाण्ड पर।

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

इस प्रकार भारतीय दर्शन सम्प्रदाय को निम्न रीति से तालिका में वर्गीकृत किया जा सकता है–
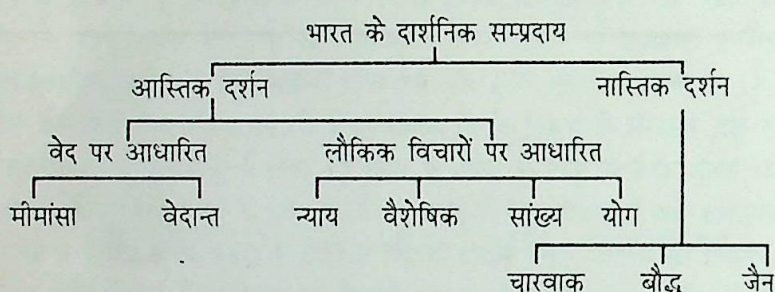
भारतीय दर्शन का विकास क्रम

भारतीय दर्शन की सबसे प्रमुख देन है उसको जीवन में उतार लेना। इसी से एक दार्शनिक मत के प्रतिपादित होते उसके अनुयायी अपना सम्प्रदाय बना लेते हैं। इस सम्प्रदाय का अनुकरण एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक के लोग करते रहते हैं। इससे शताब्दियों तक ये सम्प्रदाय चलते रहते हैं।

सभी आस्तिक दर्शन वेद और उपनिषद पर आधारित हैं। इनके मूल तत्त्वों को सूत्र रूप में सूत्र ग्रन्थों में संकलित किया गया है। सूत्र रूप में संकलित करने का कारण है कि पहले ये मौखिक रूप में प्रचलित थे। पीछे इन्हें संक्षिप्त रूप में संकलित किया गया कि इनको सूत्र रूप में याद रखा जाय तथा इनके आक्षेप और समाधान सर्वविदित रहें। इन सूत्र ग्रन्थों में सर्वप्रसिद्ध है ब्रह्मसूत्र जिसमें वैदिक और उपनिषिदक दार्शनिक विचारों का संग्रह है और उनके विरुद्ध किये गये आक्षेप तथा उनके समाधान भी हैं। अन्य दार्शनों के सूत्र ग्रन्थ हैं-न्याय के लिए गौतम का 'न्याय सूत्र', वैशेषिक के लिए कणाद का 'वैशेषिक सूत्र', योग के लिए पातंजलि का 'योगसूत्र', सांख्य के लिए कपिल का 'सांख्यसूत्र' जो अब अनुपलब्द्ध होने के कारण ईश्वर कृष्ण की 'सांख्य कारिका' को मूल ग्रन्थ माला माना जाता है। पर सूत्र रूप में संग्रहीत होने के कारण ये जन सामान्य के लिए बहुत स्पष्ट नहीं थे। इससे इनके रहस्य को स्पष्ट करने के लिए बाद में विभिन्न दार्शनिक पक्षों के सूत्रों पर टीकाएँ की गईं। इन्हें भाष्य कहा जाता है। सबसे अधिक भाष्य ब्रह्मसूत्र पर लिखे गये। इनमें रामनुज, शंकर, श्रीकंठ आदि के भाष्य प्रमुख है। भाष्यों की भी अपनी-अपनी दृष्टि से व्याख्याएँ की गई। इन भाष्यों के मानने वालों की भी अलग-अलग शाखाएँ बनीं। इन भाष्यों पर भी पुनः भाष्य लिखे गये।

पर नास्तिक दर्शन का विकास सूत्र या भाष्य में नहीं मिलता है।

भारतीय दर्शन की विशेषताएँ

भारतीय दर्शन में निम्न विशेषताएँ हैं–

१. भारतीय दार्शनिकों ने बुद्ध की तरह संसार को दुःखमय मानकर दुःख के निवारणार्थ विभिन्न मार्गों को प्रस्तावित किया। इसी के कारण प्रायः सभी दार्शनिकों ने संसार को दुःख का सागर कहा है। बचपन से लेकर मृत्यु तक सारा जीवन दुःखमय है। इसी से सांख्य ने संसार

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

को दुःख का सागर कहा गया है। इसके कारण पाश्चात्य विद्वान भारतीय दर्शन को निराशावादी कहते हैं। किन्तु इसे निराशावादी कहना उनका भ्रम हैं क्योंकि भारतीय दर्शन की परिणति इस आशा में है कि दुःखों के अन्त का मार्ग है। इसके लिए दुःख निरोधक मार्गों को सुझाया गया है कि मनुष्य कर्म के द्वारा मोक्ष की प्राप्ति कर सके। अतः दुःख दार्शनिक विचार के उदय का कारण हैं पर यह स्वयं दर्शन नहीं है। दर्शन है इसका लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति। इसी से मैक्समूलर ने कहा है कि 'भारत के सब दर्शन दुःखों के दूर करेन का प्रयास करते हैं जिससे उन्हें निराशावादी नहीं कह सकते'। इसके पीछे एक और कारण है कि भारतीयों की प्रवृत्ति आध्यात्मिक है। 'आध्यात्मवाद', विलियम जेम्स के अनुसार, संसार की शाश्वत नैतिक व्यवस्था में विश्वास रखता है जिससे आशा मिलती है।

२. 'आत्मानं विद्धि'-आत्मा को जानो, यहाँ के ऋषियों का मूल मंत्र है। इसी से भारतीय दर्शन को आध्यात्मवादी कहा गया है। पर सभी दार्शनिक सम्प्रदायों में आत्मा को भिन्न रूप से देखा गया है। सांख्य ने जहाँ इसे चेतन कहा है वहीं न्याय-वैशेषिक इसे अचेतन बताया है। चार्वाक ने तो आत्मा और शरीर को एक दूसरे का पर्याय माना है। शंकर ने इसी को सच्चिदानन्द कहा है।

३. चार्वाक को छोड़कर सभी भारतीय दर्शनों में कर्म का सिद्धान्त माना गया है। इनका मानना है कि किये गये कर्मों का फल नष्ट नहीं होता, अवश्य मिलता है-कृत प्रणाश तथा बिना किए हुए कर्म का फल नहीं मिलता 'अकृतम्युपगमे'। भारतीय दार्शनिक मानते हैं कि वर्तमान जीवन अतीत जीवन के कर्मों का फल है और भावी जीवन वर्तमान के कर्मों का फल होगा। इस प्रकार अपना कर्म ही अपने भाग्य का निर्माता होता है। कर्म के तीन भेद बताये गये हैं-संचित (पूर्व जन्म का कर्म फल जो अभी नहीं मिलता है) प्रारब्ध (जिसका फल मिल रहा है) तथा संचीयमान (वर्तमान जीवन का कर्मफल जो आगे मिलेगा) पर कर्मवाद की कई आलोचनाएँ की गई हैं जैसे ईश्वरवाद तथा ईश्वर के गुणों का खण्डन करता है, सामाजिक कार्यों को शिथिल बनाता है, भाग्यवाद को बढ़ावा देता है आदि। पर ये विचार उनके हैं जो कर्म से भागते हैं। पर इनके बावजूद भी यह भारतीय विचारधारा में अत्यधिक महत्वपूर्ण है। इसके द्वारा लोगों में परस्पर विषमता का कारण ज्ञात होता है, यह बुरे कर्मों को करने से रोकता है, अपने पूर्व कर्म को भोग के लिए वर्तमान कर्म के प्रति संतोष देता है तथा यह विश्वास देता है कि शुभ कर्मों द्वारा हम अपना जीवन सुधार सकते हैं आदि।

४. चारवाक के अतिरिक्त सभी दार्शनिक सम्प्रदाय पुनर्जन्म में विश्वास करते हैं। वे आत्मा को अमर मानते हुए कर्म फल के भोग हेतु पुनर्जन्म में विश्वास रखते हैं। इनके अनुसार मृत्यु शरीर की होती है आत्मा की नहीं। काठक उपनिषद में कहा गया है 'अन्न की तरह मानव का नाश होता है और उसी की तरह उसका पुनर्जन्म होता है।' यद्यपि इसकी आलोचनाएँ भी बहुत की गई हैं जैसे यह भ्रान्तिमूलक, अव्यवहारिक, भविष्य के प्रति चिन्तनशील बनाने वाला है आदि। पर आत्मा की अमरता और आध्यात्मादवाद के साथ-साथ पुनर्जन्म को मानता है।

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

५. दर्शन और जीवन का परस्पर सम्बन्ध बौद्ध, जैन और षड्दर्शन मानते हैं। राधाकृष्णन के अनुसार भारतीय दर्शन जीवन के लिए है, जीने के लिए है।' इसे और स्पष्ट रूप से मैक्समूलर ने कहा कि 'भारतीय दर्शन ज्ञान के लिए नहीं बल्कि सर्वोच्च लक्ष्य के लिए है जिसके लिए मनुष्य इस जीवन में प्रयत्नशील रहता है।' सभी दार्शनिक सम्प्रदायों ने एक ही लक्ष्य अपनाया है- दुःखों के अन्त के लिए मोक्ष की प्राप्ति हेतु मार्ग खोजना।

६. अज्ञानता ही बंधन का मूल कारण है। चार्वाक को छोड़ सभी दार्शनिक इस विचार को स्वीकार करते हैं। पर अज्ञानता की व्याख्या सभी में भिन्न-भिन्न की गई है। किन्तु इसके नाश के लिए सबने एक ही माध्यम सुझाया है-ज्ञान की प्राप्ति, जिससे मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है।

७. भारतीय दर्शन में तत्व ज्ञान को ही पर्याप्त नहीं माना गया है क्योंकि उसका जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं है। इसलिए यहाँ इसको निरन्तर चिन्तन और अभ्यास अर्थात् योग को प्रधानता दी गई है। इसी से सभी दर्शनों में योग पद्धति की व्याख्या अपने तरह से की गई है।

८. चारवाक को छोड़कर आत्म-संयम को ही सभी दार्शनिकों ने वह साधन माना है जिससे मोक्ष प्राप्त हो सके। इसके द्वारा विचार और क्रिया में जो बुरी प्रवृत्तियाँ आती हैं जैसे काम, क्रोध, लोभ आदि उनको दूर किया जा सकता है। इसी से नैतिकता की भावना यहाँ प्रबल है। नैतिकता को ही वेद में 'ऋत', न्याय वैशेषिक में अदृष्ट' तथा मीमांसा में 'अपूर्व' कहा गया है। किन्तु इसका अभिप्राय इन्द्रिय दमन से न होकर इन्द्रियों के नियंत्रण से है।

९. धर्म का विचारात्मक पक्ष दर्शन होने से सभी दर्शन धर्म से सम्बद्ध हैं। पर स्पष्ट है कि दार्शनिक वाद-विवाद में धर्म कहीं भी बाधक नहीं होता।

१०. इनमें अतीत के प्रमाणों को महत्व दिया गया है। इसीसे भारतीय दर्शन जिसका प्रधान अंग प्रमाण विज्ञान है वेद पर आधारित न होकर वेद के प्रमाणों पर बल देते हैं। पर यह केवल आस्तिक दर्शनाकें की ही बात है।

११. 'संसार सत्य है' यह सभी दार्शनिक मानते हैं। केवल शंकर ही इसके विरोधी है। उनके अनुसार ब्रह्म सत्य है और संसार मिथ्या। बौद्धों का योगाचार सम्प्रदाय भी शंकर से ही सहमत प्रतीत होता है।

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

अध्याय-१७

चार्वाक दर्शन

भारतीय दर्शन की मुख्य विधा अध्यात्मिक है। पर इसके साथ एक पक्ष यह भी कहता है कि जड़ ही सभी पदार्थों का मूल है चाहे वह आत्मा, ईश्वर, धर्म आदि कोई भी हो। इसी को जड़वाद कहते है। यह आध्यात्मिकता का विरोधी है। इस विचारधारा का समर्थक एकमात्र दार्शनिक सम्प्रदाय है चार्वाक। यह एक प्राचीन दर्शन है क्योंकि जहां वेद, पुराण, बौद्ध साहित्य में इसका उल्लेख है वहीं अन्य दार्शनिक ग्रंथों में इसके सिद्धान्त का खण्डन किया गया है। यद्यपि इसका कोई अपना ग्रंथ उपलब्द्ध नहीं है पर इसका ज्ञान अन्य दर्शन ग्रंथों में किए गए इसके सिद्धान्तों के खण्डन से ही प्राप्त होता है।

इसका नाम चार्वाक क्यों दिया गया? इसके सम्बन्ध में निम्न मत प्रतिपादित किए गए हैं-

१. चार्वाक एक ऋषि का नाम था जो जड़वाद के पोषक थे। पीछे उनके समर्थकों ने इसका प्रचार किया। इसके समर्थक भी चार्वाक कहलाए।

२. चार्वाक में दो शब्दों का योग है- चारु = मीठा और वाक = वचन। ये लोग मीठे वचन बोलते थे इसीसे इनके मत को चार्वाक कहा गया।

३. चार्वाक शब्द की व्युत्पत्ति 'चर्व' धातु से बताई गई है। चर्व का अर्थ है 'चबाना' या 'खाना'। यही इस दर्शन का मूल मंत्र है- खाओ, पीओ मौज करो। इसीसे इसको यह नाम दिया गया।

४. कुछ लोग इसका प्रणेता वृहस्पति को मानते हैं क्योंकि (i) १२ ऐसे सूत्रों का पता है जिनमें जड़वाद का प्रतिपादन है और उनके रचयिता वृहस्पति माने जाते हैं। (ii) महाभारत में वृहस्पति को जड़वादी विचारों का प्रवर्तक बताया गया है। (iii) वे वैदिक ऋचाएं जिनके ऋषि वृहस्पति हैं उनमें स्वतंत्र विचार और विद्रोह की भावना है। (iv) वृहस्पति ने यज्ञ के समय दानवों द्वारा देवताओं के सताए जाने के कारण उनमें जड़वाद का प्रचार किया कि वे मौज मस्ती में भूले रहकर देवताओं को तंग न करें।

५. इसे 'लोकायतमत' भी कहा जाता है क्योंकि यह लोगों के बीच फैला हुआ है। साथ ही यह इस लोक में विश्वास करता है परलोक में नहीं।

चार्वाक के ज्ञान का कोई भी आधार ग्रंथ प्राप्त नहीं है। अन्य दार्शनिक सम्प्रदाय के ग्रंथों में जहां परम्परानुसार पूर्व सम्प्रदायों के सिद्धान्तों का उल्लेख कर उनका खण्डन किया गया है वहाँ इसका भी है। उन्हीं के आधार पर इस दर्शन का ज्ञान मिलता है।

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

चार्वाक दर्शन की अपनी विशेषताएँ हैं- (i) यह सुखवादी है। (ii) इसमें ईश्वर का कोई स्थान नहीं है। (iii) जीव का अन्त इसी संसार में माना गया है। (iv) वेद विरोधी है। (v) प्रत्यक्ष से अलग कुछ भी सत्य नहीं मानता। (vi) नास्तिक है। (vii) केवल इसी लोक की सत्ता को मानता है। (viii) जड़ ही सभी पदार्थों का मूल बताता है।

(अ) चार्वाक में प्रमाण

प्रमाण पर ही ज्ञान आधारित होता है। सभी दार्शनिक सम्प्रदायों ने प्रमाण की महत्ता को स्वीकारा है। पर इसके लिए तीन बाते आवश्यक हैं : एक वह वस्तु होना जिससे प्रमाण ग्रहण किया जाय। उसे 'प्रमेय' कहते हैं। उसके होने पर हम जो ज्ञान प्राप्त करते है उस ज्ञान को 'प्रमा' कहा जाता है। किन्तु यह प्राप्त ज्ञान उस वस्तु के किसी न किसी आधार से लेते है चाहे सुनकर, देखकर आदि। तो जिस आधार से ज्ञान या प्रमा ग्रहण करते है उसे ही 'प्रमाण' कहते है। इस आधार या प्रमाण को विभिन्न दर्शनों में एक से अधिक माना गया है जैसे वैशेषिक दर्शन में दो को प्रमाण माना गया है- प्रत्यक्ष और अनुमान, सांख्य में तीन को माना गया है- प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द। यहाँ 'शब्द' को और जोड़ा गया है। न्याय ने चार को 'प्रमाण' माना है-प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द और उपमान। इसमें चौथा उपमान को और जोड़ा गया है। यहां हम देखते है सबमें प्रत्यक्ष और अनुमान तो समान रूप से विद्यमान हैं। पर चार्वाक अनुमान को भी छोड़कर केवल एक को ही प्रमाण मानता है- प्रत्यक्ष। इस प्रकार अन्य दर्शनों से यह इस संदर्भ में बिलकुल भिन्न है।

सामान्यतया वही प्रत्यक्ष है जो हम सामने देखते हैं इसको केवल आंख ही ग्रहण करती है। पर पंच ज्ञानेन्द्रियों- आंख, नाक, कान, जीभ और त्वचा में से आंख को छोड़कर शेष से भी तो ज्ञान की प्राप्ति होता है जैसे नाक से गंध, कान से शब्द (सुनना), जीभ से रस (स्वाद) और त्वचा से स्पर्श। ये भी तो ज्ञान के स्रोत हैं और इनसे प्राप्त ज्ञान भी प्रत्यक्ष होता है। इस प्रकार यहां प्रत्यक्ष से अभिप्राय सभी पञ्च ज्ञानेन्द्रियों से प्राप्त ज्ञान से है। यहां तीन अवस्थाएं प्रत्यक्ष ज्ञान के लिए आवश्यक हैं- वस्तु (जिसके विषय में ज्ञान प्राप्त हो), इन्द्रियां (जिससे ज्ञान प्राप्त किया जाय) तथा सामीप्य (वस्तु और इन्द्रियों की समीपता कि दोनों के बीच प्रत्यक्ष ज्ञान हो सके)। इस प्रकार इनसे प्राप्त ज्ञान ही 'प्रत्यक्ष प्रमाण' कहा जाता है। इसके आगे चार्वाक कोई दूसरा प्रमाण नहीं मानता। इसलिए दार्शनिकों द्वारा दिए गए अन्य प्रमाणों का इसने खण्डन किया है यथा :

(१) अनुमान प्रमाण

अनुमान से अभिप्राय है वर्तमान की स्थिति को देखकर भविष्य के विषय में कल्पना करना कि वह सत्य होगा। जैसे हम धूएं को देख रहे हैं और इसके आधार पर कल्पना करते हैं कि वहां आग होगी। इस कल्पना के पीछे की आग होगी आधार है धूंआं और आग का सम्बन्ध। ऐसा नहीं कह सकते कि जहां धूंआ है वहां पानी होगा क्योंकि धूंए और आग का सम्बन्ध सर्वविदित है, सामान्य है। इसलिए इसके अतिरिक्त दूसरी कल्पना या अनुमान हो ही

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

नहीं सकता। ऐसे दो वस्तुओं या तथ्यों के सम्बन्ध को जो सामान्य स्वीकृत हैं 'व्याप्ति' कहते हैं अर्थात् वही व्यापक है। यहां यदि यह व्याप्ति वाक्य कि 'धूंआ आग से ही निकलता है, यदि यह शाश्वत सत्य है तो यह अनुमान प्रमाण है। इसे प्रमाण मानने में चार्वाक निम्न शंकाएं उपस्थित करता है–

१. व्याप्ति वाक्य या दो वस्तुओं के सम्बन्ध को जिसकी व्यापक मान्यता है वह तभी प्रत्यक्ष प्रमाण होगा जब इसमें कोई अपवाद न हो। जहां-जहां आग हो वहां धूंआं भी हो। पर क्यों इसे सर्वत्र तथा सभी समय हम प्रत्यक्ष देख सकते हैं? ऐसा सम्भव नहीं है। यह केवल उन्हीं पर लागू होगा जिसको हम देख रहे हैं।

२. क्या अनुमान के आधार पर ही व्याप्ति वाक्य को सत्य मान सकते है? हम यह देखते हैं कि एक व्याप्ति वाक्य दूसरे व्याप्ति वाक्य पर निर्भर होता है जैसे आग जलती है तो धुंआ होता है इसलिए जहां धुंआ होगा वहां आग होगी। यहां दोनों व्याप्ति वाक्य अन्योन्याश्रित है। अतः अनुमान पुनरुक्ति दोष है। एक अनुमान दूसरे अनुमान पर आधारित होता है।

३. क्या व्याप्ति की स्थापना शब्द द्वारा की जा सकती है? यहां जो हम कहते है (शब्द) वह अनुमान पर ही कहते हैं। हमारा कहना प्रत्यक्ष पर आधारित न होने से कथन (शब्द) को प्रत्यक्ष नहीं कहा जा सकता। अतः अनुमान शब्द पर और शब्द अनुमान पर निर्भर होता है। इसमें अनुमान स्वतंत्र नहीं होता। इस प्रकार अनुमान प्रमाण नहीं है।

४. यह प्रश्न है कि संसार में एक सर्वव्यापक नियम के अभाव में संसारी वस्तुओं में नियमितता कैस रह सकती है? पर हम देखते हैं कि बर्फ हमेशा ठंडा रहता है और सूरज सदा गर्म, ऐसा क्यों? इसका उत्तर है कि यह सब उनका स्वभाव या धर्म है। पर धर्म समझने के लिए अतीत के आधार पर अनुमान करना अनिश्चितता की ओर बढ़ना है। यह कोई जरूरी नहीं है कि जो नियम अतीत में था वह आगे भी रहेगा। वे सामान्य के नियम के सत्य के स्थान पर व्यक्ति या प्रत्यक्ष को ही सत्य मानते हैं।

५. कुछ यह भी मानते हैं कि कार्य-कारण सम्बन्ध के आधार पर व्याप्ति की स्थापना होती है। पर चार्वाक इसके विरोध में कहता है कि कार्य-कारण सम्बन्ध भी एक व्याप्ति है। एक व्याप्ति के लिए दूसरे व्याप्ति का सहारा लेना ही होगा। इस प्रकार इनमें पुनरुक्ति दोष होता है। दूसरे यह सम्बन्ध तभी होता है जब परिस्थित या उपाधि (condition) सामान्य हो। पर कभी-कभी अन्य उपाधि के कारण भी ऐसा हो जाता है जैसे आग की जगह गरम लोहे पर पानी डालने से धूंआ निकलना। यह दोष है कि प्रत्यक्ष इतना व्यापक नहीं होता कि पता लगाले कि व्याप्ति उपाधि-रहित (unconditional) है। इससे यहां उपाधि-निरास या परिस्थिति के परीक्षण (examination of condition) के लिए अनुमान का सहारा लेना पड़ता है। चूंकि जब अनुमान को संदिग्ध माना गया है तो वह दूसरे के विषय में क्या कहेगा।

(२) शब्द का प्रमाण

शब्द की व्याख्या है- 'आप्तोपदेशः शब्दः' अर्थात् श्रेष्ठ लोगों के शब्द (वाक्य) ही प्रमाण हैं। चाहे वह विश्वसनीय लोगों द्वारा लिखित उपनिषद, स्मृति आदि के वचन हों या कहे

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

गए बुद्ध आदि के वचन हों जिनमें गम्भीर रहस्यों को जो सामने नहीं हैं उन्हें बताया गया हो जैसे ईश्वर, आत्मा, स्वर्ग, नरक आदि। पर चार्वाक इन्हें प्रमाण नहीं मानता क्योंकि-

१. कैसे माना जाय कि यह व्यक्ति विश्वसनीय है, इसका वचन विश्वसनीय है क्योंकि वह ज्ञान भी अनुमान पर ही आधारित है। अनुमान स्वयं असिद्ध है, इससे शब्द-ज्ञान अप्रमाणिक है।

२. शब्द ज्ञान से जिस वस्तु का ज्ञान हो रहा है वह यदि प्रत्यक्ष के बाहर है तो वह दोष रहित है क्योंकि वह अनुमान आधारित होने से अप्रमाणिक है।

३. शब्द ज्ञान सत्य ही हो, ऐसा नहीं है। शब्द सत्य और असत्य दोनों प्रकार का ज्ञान देते हैं। प्रत्यक्ष पर आधारित सत्य ज्ञान का मिलना जो आकस्मिक घटना है।

४. शब्दों का ज्ञान स्वतंत्र न होकर किसी धार्मिक ग्रंथ या आप्त पुरुष के आधार पर होता है जो ईश्वर, स्वर्ग, नरक आदि अप्रत्यक्ष का ज्ञान देते हैं। प्रमाण तो प्रत्यक्ष होता है इससे यह ज्ञान अप्रामाणिक है।

५. शब्द ज्ञान का मूलाधार वेद है क्योंकि ऋषियों ने कहा है 'वेदोऽखिलोधर्म मूलम्' अर्थात् वेद सम्पूर्ण धर्म का मूल है जिसे चार्वाक नकारता है क्योंकि (i) यह वेद विरोधी दर्शन होने से ही नास्तिक दर्शन है। (ii) वह मानता है कि वेद की युक्तियां विरोधाभास (व्याघातक), द्वयर्थक है, अस्पष्ट एवं असंगत हैं। (iii) ब्राह्मणों ने जीवकोपार्जन के लिए वेद की रचना की। इसलिए ब्राह्मण तथा ऋषियों ने इसको सराहा है पर चार्वाक उन्हें धूर्त और निशाचर कहा है। फिर वेद की प्रमाणकता का प्रश्न ही कहां उठता। (iv) वैदिक रूप पुजारियों के कमाने का साधन है। उसकी विधियां काल्पनिक और अश्लील हैं तथा उसके परिणाम अप्राप्य है।

(ब) तत्त्व चिन्तन

चार्वाक प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानता है इसलिए जो तत्व प्रत्यक्ष नहीं हैं वह चार्वाक के लिए निरर्थक है। आत्मा, ईश्वर और संसार तत्वों में केवल संसार ही प्रत्यक्ष है। इसलिए चार्वाक इसी को मान्यता देता है और इसके उतने ही अवयव को जो दिखाई देते है।

(१) संसार सम्बन्धी विचार

दार्शनिक संसार को पांच तत्व या भूतों से निर्मित बताते हैं : क्षिति, जल, पावक, गगन और समीर। इनमें गगन को छोड़कर शेष चार दृष्ट है। इससे पांचवे गगन को चार्वाक नहीं मानता। वह चार भूतों की स्थिति को ही स्वीकारता है। इन पांच के गुण (तन्मात्राएं) पञ्च ज्ञानेन्द्रियों से प्राप्त होती हैं- क्षिति (पृथ्वी) का गंध तन्मात्रा नासिका से, जल का स्वाद तन्मात्रा जीभ से, अग्नि का रंग तन्मात्रा आंख से, गगन का शब्द तन्मात्रा कान से तथा समीर का स्पर्श तन्मात्रा त्वचा से। इनमें गगन अदृश्य होने से इनको अमान्य है तथा इसकी तन्मात्रा शब्द भी अदृश्य है। इन्हीं चारभूतों से संसार की रचना यह मानता है। संसार इनके संयोग से होता है। पर जब इनमें बिखराव आता है तो प्रलय हो जाता है। चार्वाक की इसके सम्बन्ध में अपनी मान्यता है :

इनका मानना है कि चारों भूतों के आकस्मिक मिलन का फल ही संसार है। इसीसे विश्व को यह जड़वादी कहता है। दूसरे वह इसकी यन्त्रवादी व्याख्या करते हुए कहता है कि विश्व

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

यन्त्र की तरह उद्देश्हीन है। तीसरे, यह मानता है कि विश्व का अस्तित्व है भले कोई देखे या न देखे। यह इसकी वस्तुवादी व्याख्या है। चौथे, वह कहता है कि चारों भूतों में निर्माण की शक्ति मौजूद होने से निर्माण उनका स्वभाव है। इसी से यह इसकी स्वभावादी व्याख्या कही जाती है। इसी कारण संसार में सजीव और निर्जीव का विकास होता है।

(२) आत्मा सम्बन्धी विचार

ऊपर देखा गया कि इसका प्रमाण प्रत्यक्ष है। चूंकि आत्मा प्रत्यक्ष नहीं दीखता इससे यह इसका अस्तित्व नहीं मानता। दूसरे भारतीय दर्शन चैतन्य को आत्मा का मूल लक्षण मानते हैं पर कुछ इसे आगन्तुक लक्षण मानते है क्योंकि वे आत्मा का लक्षण चेतन नहीं मानते। वह चेतन तव होता है जब मन, इन्द्रिय और शरीर का उससे संयोग होता है। चार्वाक चैतन्य को आत्मा का गुण नहीं मानता। पर वह चैतन्य को मानता है क्योंकि इसका ज्ञान प्रत्यक्ष होता है और हमारे शरीर में बना रहता है। इस प्रकार चैतन्य शरीर का गुण है- 'चैतन्य विशिष्टो देह: एव आत्मा'

पर आक्षेप किया जाता है कि यह शरीर तो उन चार भूत तत्वों से वना है जो जड़, अचेतन हैं फिर यह चैतन्य कैसे माना जाय। प्रत्यक्ष पर आधारित यहां उत्तर देता है कि पान में चूना, कत्था, सुपाड़ी मिलाते है जिनका रंग अलग-अलग होता है। पर जब वह मिल जाते है तो लाल रंग बन जाता है। वही स्थिति भूतों के समन्वय होने पर शरीर के चेतन होने की है। शरीर में ही चेतना रहती है और उसके नाश होने पर चेतना समाप्त हो जाती है। इस प्रकार शरीर और चेतना अभिन्न है। इससे आत्मा ही शरीर है और शरीर ही आत्मा है। इसीको 'देहात्मवाद' कहते हैं। इसके समर्थन में निम्न कारण प्रस्तुत करते हैं–

(i) जब कोई कहता है कि 'मैं स्वस्थ हूं' तो 'स्वास्थ होना शरीर का गुण है और 'मैं' आत्मा की अभिव्यक्ति तो यहां शरीर और आत्मा एक ही के दो संबोधन हुए। अत: शरीर और आत्मा अभिन्न हुए।

(ii) शरीर के साथ आत्मा का अस्तित्व है। शरीर के जीवित रहते वह बनी रहती है और मरते उसका अन्त हो जाता है।

(iii) जन्म के बाद ही आत्मा शरीर में आती है और मरते ही इसका अन्त हो जाता है।

इसी से आत्मा विषयक प्रश्नों का चार्वाक विरोध करते हुए कहता है कि आत्मा शरीर के साथ नष्ट होती है, अमर नहीं है। अत: मानता है कि पुनर्जन्म नहीं होता। वह शरीर की तरह शरीर के जलाने पर भूतों में विलीन हो जाती है- 'भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुत:।' यही आधार है कि वह स्वर्ग, नरक को नहीं मानता। यदि इसे माना भी जाय तो इसी संसार में सुख को स्वर्ग और दु:ख को नरक कहता है-'सुखमेव स्वर्गम्, दु:खमेव नरकम्'।

(३) ईश्वर का विचार

ईश्वर निराकार और अरूप है। इसलिए वह प्रत्यक्ष नहीं है। चार्वाक प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानता है इसलिए ईश्वर को नहीं मानता। चूँकि ईश्वर का ज्ञान विद्वानों और धार्मिक ग्रन्थों से प्राप्त होता है जिसे चार्वाक अनुमान मानकर अयथार्थ करार देता है। यह कहना कि वेद ईश्वर का वर्णन करता है तो चार्वाक वेद विरोधी होने से इसे अस्वीकार करता है।

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

जब यह तर्क दिया जाता है कि संसार का कारक ईश्वर है और यह इसकी सृष्टि है तो चार्वाक का इसके विरोध में तर्क है कि चारों भूतों के संयोग से यह बना है न कि ईश्वर से। यह कहना कि किसी वस्तु के लिए उपादान कारण आधार और निमित्त कारण (निर्माता) दोनों की आवश्यकता होती है जैसे घड़े के लिए उपादान कारण मिट्टी और निमित्त कारण कुम्हार जब मिलते हैं तभी घड़ा बनता है। उसी प्रकार ईश्वर संसार का निमित्त कारण है तो चार्वाक का खण्डन है कि चारों भूतों का मिलना ही संसार के उत्पत्ति के लिए दोनों आवश्यक तत्त्वों को पूरा कर देते हैं। ईश्वर को निर्माता मानना ही अनुचित है।

कुछ लोगों का मानना कि संसार की व्यवस्था ईश्वर के अस्तित्त्व को सिद्ध करती है कि इसके विरोध में चार्वाक का तर्क है कि विश्व का स्वभाव ही ऐसा है कि यहाँ अव्यवस्था नहीं हो सकती। इसलिए वह व्यवस्थापक ईश्वर को नकारता है।

इसी से यह अनीश्वरवादी दर्शन है और ईश्वर के गुणों व्यापकता, सर्वज्ञता, दयालुता तथा सर्वशक्ति सम्पन्नता का खण्डन करता है। इसमें इसी से पूजा, जप, कर्मकाण्ड को ढकोसला, भ्रम, कायरता तथा पागलपन मानता है।

ऐसे विचारों के पीछे कारण है इसका जड़वादी दर्शन। इसी से आध्यात्मिक तथ्यों की अवहेलना करते हुए अप्रत्यक्ष को असिद्ध मानता है चाहे वह पाप, पुण्य, धर्म कुछ भी हो।

नैतिक विचार या सुखवाद

प्राय: सभी दार्शनिक यह प्रश्न उठाते हैं कि जीवन का चरम लक्ष्य क्या है और वह कैसे प्राप्त किया जा सकता है? इसी भावना को समक्ष रखकर एक भारतीय कर्म करता है। इसी को दृष्टिगत कर नैतिक विज्ञान की व्याख्या अलग-अलग दर्शनों में की गई है। इसे भी चार्वाक दार्शनिक में उठाया गया है पर तत्त्व ज्ञान के अनुसार ही इस पर विचार किया गया है।

सामान्यतया दार्शनिक मानते हैं कि चार पुरुषार्थ-धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष हैं। यही भारतीय या मानव जीवन के उद्देश्य हैं और उसका लक्ष्य है मोक्ष की प्राप्ति, जिस तक पहुँचने में अन्य तीनों उद्देश्य सहायक होते हैं। मोक्ष को ही स्वर्ग माना गया है जहाँ सांसारिक दु:खों से छूटकर मानव परमानन्द की प्राप्ति करता है। इस ओर बढ़ने के लिए वैदिक आचारों को मान्यता दी गई है।

पर चार्वाक इसे स्वीकार नहीं करता क्योंकि :

(i) धर्म और अधर्म प्रत्यक्ष नहीं है। दूसरे ये शास्त्रीय आधार पर आधारित होने से अनुमान पर टिके हैं। ग्रन्थों और अनुमान का चार्वाक में कोई स्थान नहीं है। धार्मिक क्रिया और धर्म के नाम पर दान देने का प्रबल विरोध करते हुए कहा गया है कि यदि पिण्डदान से मृतक को भोजन मिलता है तो लोग खाना लेकर कहीं क्यों जायं। घर में पकाकर उनके नाम पर चढ़ा दिया जाय और जहाँ भी वे होंगे उन्हें मिल जायगा। यदि एक के खाने से दूसरे को भोजन मिल जाता है तो उसके नाम पर घर में ही खिलाकर उसको भोजन पहुँचाया जा सकता है।

(ii) वैदिक कर्मकाण्ड बलि प्रधान है। यदि इसके द्वारा देवताओं को प्रसन्न कर स्वर्ग पहुँचा जा सकता है तो प्रत्येक लड़का अपने बड़ों की हत्या कर उसे सीधे स्वर्ग क्यों नहीं पहुँचा देता। यह पुरोहित वर्गों द्वारा अपने लाभ के लिए बनाई गई व्यवस्था है।

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

(iii) कर्म की प्रधानता को अन्य दार्शनिकों की तरह यह नहीं मानता कि अच्छा कर्म सुख और बुरा कर्म दुःख देगा। इसका तर्क है कि कर्म प्रत्यक्ष नहीं है इसलिए इसका यह विरोधी है।

(iv) मोक्ष को यह नहीं मानता क्योंकि वह न प्रत्यक्ष है और न आत्मा का अस्तित्व है कि वह मोक्ष पावे। मोक्ष स्वर्ग है जिसे यह असिद्ध करता है इसे कोरी कल्पना या विश्वास मानता है। जो यह कहते हैं कि स्वर्ग, नरक इसी जीवन में है उनका विरोध करता है कि मोक्ष जीवन में प्राप्त करना असम्भव है क्योंकि शरीर के दुःखों का विनाश सम्भव नहीं है। सुख दुःख को मात्रात्मक रूप में घटाया बढ़ाया जा सकता है। 'मरणमेवापवर्गः' मरने के बाद ही मुक्ति, दुःखों से छुटकारा, हो सकता है।

चार्वाक 'अर्थ और काम' को मान्यता देता है। अर्थ के विषय में कहता है कि यह जीवन में सुख का स्रोत है तथा काम की पूर्ति का माध्यम है। काम को यह चरम पुरुषार्थ मानता है। इसी को वह जीवन का लक्ष्य मानता है। चूँकि इसकी प्राप्ति में अर्थ सहायक होता है इसी से अर्थ की महत्ता यहाँ स्वीकार की गई है। काम से अभिप्राय है इच्छाओं की पूर्ति। इच्छाओं के पूर्ण होने से ही मनुष्य सुखी होता है। पर यह मानना कि दुःख से वह पूर्णतया छुटकारा पा जाता है इसे चार्वाक स्वीकार नहीं करता क्योंकि दुःख शरीर का धर्म है जो शरीर के साथ ही समाप्त होता है। इसलिए जीवन के सुख की कामना यहाँ की गई है। चूँकि यह लोकों में विश्वास नहीं करता क्योंकि वे प्रत्यक्ष नहीं हैं इसलिए शरीर से ही अधिक सुख प्राप्त करने को ही यह एकमात्र लक्ष्य मानता है। यह उसे ही अच्छा काम मानता है जिसमें दुःख कम और सुख अधिक हो और इसके विपरीत को बुरा काम कहता है। इसी से इसके नैतिक विचारों को 'सुखवाद' की संज्ञा भी देते है।

सुख के सम्बन्ध में इसकी धारणा है-'यावज्जीवेत सुखं जीवेत'। जब तक मनुष्य जीवित रहे उसे हर प्रकार से सुख प्राप्ति का प्रयास करना चाहिए क्योंकि इस लोक के बाद तथा इस जीवन के बाद कुछ नहीं है। फिर आगे की कल्पना ही निराधार है। इसी से इस दर्शन का सिद्धान्त है-'खाओ, पीओ और मौज करो'। यही कारण है कि इसका केन्द्र बिन्दु मदिरा, कामिनी और शारीरिक सुख है। अंगों तथा लिङ्ग सुख पर यहाँ विशेष बल दिया गया है तथा कामिनी के आलिङ्गन को परम सुख माना गया है। अतः ऐन्द्रिक सुख की इसमें प्रधानता है और इच्छाओं के दमन का निषेध।

चार्वाक की समीक्षा

चार्वाक शब्द ही भारतीयों की दृष्टि में सामान्यतया निकृष्ट माना जाता है। सभी दार्शनिक इसकी कट्टर आलोचना करते हैं। तथा इसका भारतीय दर्शन में सबसे अलग स्वरूप मानते हैं। इसके निम्न कारण हैं :

१. सब दर्शनों ने एक से अधिक प्रमाण माने हैं पर इसने केवल एक प्रत्यक्ष को ही प्रमाण माना। अनुमान का निषेध कर इसने व्यवहारिक जीवन के लिए कठिन मार्ग प्रशस्त किया क्योंकि अनुमान में ही हम जीते हैं, सम्बन्ध स्थापित करते हैं, नियम बनाते हैं, भविष्य के प्रति सजग रहते

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

हैं। पर जहाँ यह कहता है कि शरीर में चेतन है तथा शरीर के अन्त के साथ वह समाप्त हो जायगा, आत्मा या ईश्वर नहीं है, संसार भूतों के संयोजन का फल है आदि तो सभी अनुमान पर ही आधारित हैं। अत: यह एक ओर अनुमान को असिद्ध करता है तो दूसरी ओर उसी के आधार पर मत प्रतिपादित करता है।

२. शब्द को यदि ज्ञान का साधन न माने तो ज्ञान की समी सिकुड़ जायगी। सारे ग्रन्थ तथा अप्रवचन निरर्थक हो जायेंगे। यह एक प्रलाप सा लगता है क्योंकि सीखने का माध्यम अनुभव होता है। वह शब्द में ही निहित है। अगर इसे अस्वीकार कर दें तो अतीत के परिणामों से हम कुछ सीखकर आगे बढ़ ही नहीं सकते। इसमें वेद के विरोध की पक्षपातपूर्ण अभिव्यक्ति है।

३. यहाँ प्रत्यक्ष को ही प्रमाण माना गया है कि यही सत्य होता है। पर कभी-कभी प्रत्यक्ष भी भ्रमित कर देता है जैसे मृगमरीचिका से जल का अनुमान होना, रस्सी को अंधकार में साँप समझना, सूर्य का पूरब से पश्चिम घूमना आदि। जबकि न वहाँ जल है, न साँप है और न सूरज पृथ्वी के ऊपर घूमता है। प्रत्यक्ष को ही ज्ञान का साधन मानना ज्ञान को सीमित करना है।

४. विश्व की उत्पत्ति चार भूतों के संयोजन से मानना स्वयं प्रत्यक्ष नहीं है। इसमें होने वाले परिवर्तन का क्या उत्तर दे सक़ता है क्यों कहीं जमीन पानी में हो जाता है, कहीं धरती पर रेगिस्तान फैलता है आदि। दूसरे, भूतों को ये गतिहीन मानता है तो फिर वे मिलते कैसे हैं? तीसरे, आकाश तत्व को कैसे अलग कर सकते हैं? आकाश तो शरीर में होता है। फिर शरीरान्त होने पर आकाश या शून्य किसमें विलीन होगा। चौथे, भूतों से भौतिक अभौतिक की उत्पत्ति मानता है। भौतिक की उत्पत्ति को तो माना जा सकता पर अभौतिक की व्याख्या नहीं हो पाएगी। चेतन की उत्पत्ति भूतों से होते नहीं देखी गई है। यहाँ चूना और पान से लाल रंग की उत्पत्ति का सहारा लेना उपमा है तर्क नहीं।

५. इसने शरीर का गुण चेतन माना है। पर सुशुप्तावस्था, बेहोसी, या तुरीयावस्था में शरीर तो रहता है पर उसमें चेतना नहीं होती। आत्मा के प्रत्यावर्तन (Transmigration of Soul) में शरीर मृतक सा हो जाता है और आत्मा इससे बाहर चली जाती है। फिर लौटने पर वह चेतन हो जाता है। पर वहाँ आत्मा के हटने पर मृत्यु या शरीरान्त नहीं होता। अत: आत्मा का निषेध तथा चेतन को शरीर का गुण मानना सम्भव नहीं है। पुन: आत्मा को अप्रत्यक्ष मानता है पर उसका निषेध नहीं करके विचार भी करता है।

६. ईश्वर को अप्रत्यक्ष मानना भूल है क्योंकि वह भक्तों को दर्शन देते हैं। ईश्वर को न मानना भी अनुमान है। यह अनुमान को प्रमाण नहीं मानता तो इसे क्यों स्वीकार करता है। दूसरे, ईश्वर की सत्ता को नकारना सामान्य मनुष्य का स्वभाव नहीं है। नास्तिक भी संकट में उसको मानने लगते हैं। तीसरे, अगर वह ईश्वर की बात करता है तो स्पष्ट है कि ईश्वर की सत्ता का आभास उसे है जिसको वह नकारता है। चौथे, संसार की उत्पत्ति में निमित्त कारण को न मानना और उपादन कारण से ही संसार के निमित्त को जोड़ना एक महान भ्रम है। अगर हम मिट्टी, पानी, चाक रख दें तो क्या घड़ा बन जायगा?

७. चार्वाक का सुखवाद निकृष्ट कोटि का है। वह क्षणिक निजी ऐन्द्रिक सुख को ही सुख मानता है। शाश्वत सुख की बात नहीं करता। निजी सुख की बात मनुष्य को स्वार्थी बनाता

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

है। पर मनुष्य का स्वभाव स्वार्थ के साथ परमार्थ का भी होता है। वह अपने सुख का बलिदान कर दूसरे के सुख की व्यवस्था करता है जैसे पिता, सीमा पर लड़ने वाला सैनिक, पति, मित्र, सन्यासी आदि। यद्यपि सुख की अनेक कोटियाँ हैं परम सुख, सांसारिक सुख, शारीरिक सुख आदि। इसमें यह शारीरिक सुख तक ही इसे सीमित करता है। यह महान भूल है। इससे नैतिकता की परिभाषा ही बदल जायगी। अराजक राज्य की तरह समाज में अव्यवस्था का साम्राज्य हो जायगा। यह समाज की व्यवस्था का विनाश कर देगा। इस प्रकार न इसमें नैतिकता ही है न नीति ही है। जब नैतिक मूल्य यहाँ हैं ही नहीं तो यह समाज पशुओं का हो जायगा। लगता है ऐसा विचार सामान्य लोगों में लोकप्रियता के लिए व्यक्त किया गया है।

८. चार्वाक दर्शन का पतन हो गया क्योंकि- १. यहाँ व्यवस्था का विरोध है। २. यह स्वच्छन्दवाद को बढ़ावा देता है। ३. सामान्य जनभावना का विरोधी है क्योंकि ईश्वर, वेद, धर्म, आत्मा आदि का निषेध करता है। ४. वेद के देश में वेद का खण्डन स्वयं में एक आश्चर्य है जिसे जनमानस स्वीकार नहीं सका। ५. भारतीय संस्कृति, दर्शन, परम्परा से पूर्ण भिन्न हैं। ६. इसमें जीवन के या तो गिरते मूल्य हैं या मूल्य हैं ही नहीं कि जीवन को उन्नत किया जा सके।

चार्वाक की देन

चार्वाक को अन्य दार्शनिक हीन दृष्टि से देखते हैं तभी उन्होंने अपने दार्शनिक मत के प्रतिपादन में सबसे प्रथम इसी की आलोचना की हैं। यह इतना अतिशयोक्तिपूर्ण है कि सामान्य जनमानस उससे तिलमिला उठता है। इसीलिए हिरयन्ना ने इसके द्वारा की गई आलोचना को अवास्तविक बताया है। फिर भी यह कुछ हद तक भले बुरा हो पर इसमें बहुत कुछ रूढ़ियों के प्रति विद्रोह की लहर है जिसने जनता को परम्परा से आगाह कर उनसे बचने के लिए चैतन्य किया एवं स्वतंत्र विचार करने की प्रेरणा दिया।

इसकी देन निम्न हैं :

१. वेद का इसने विरोध किया और ब्राह्मणों के वर्चस्व का मजाक उड़ाया। वेद की निन्दा करना उसका दोष है पर ब्राह्मणों के विरुद्ध विद्रोहात्मक भाषा का प्रयोग उनकी समाज पर हठवादी पकड़ को ढीला करने के लिए सही कदम था। उनकी जकड़न इतनी बढ़ गई थी कि वे पृथ्वी के देवता के रूप में पूजित थे। चूँकि वैदिक ऋचाओं की व्याख्या ब्राह्मण अपने हित में अपनी दृष्टि से करते थे इससे वेद के प्रति भी इसने विरोध व्यक्त किया। इसी का दूरगामी परिणाम रहा कि ब्राह्मणवाद की पकड़ ढीली होने लगी।

२. अभी तक खुलकर विरोधी स्वर धर्म गुरुओं, अनैतिक कर्मकाण्डों, रूढ़ियों, अंधविश्वासों के लिए मुखरित नहीं होता था। इसके तर्कों का परिणाम हुआ कि स्वतंत्र अभिव्यक्ति को सहारा मिला। इसने मानव को दबावमुक्त बनाया तथा अपनी बात कहने के लिए प्रेरित किया।

३. इसकी युक्तियाँ अत्यन्त प्रभावक हैं। जो युक्तियाँ इसने विवादास्पद तत्वों के विषय में दिया वे इतनी सटीक हैं कि उनको एक बार मानने के लिए कोई भी बाध्य हो जाता है। इस सम्बन्ध में आत्मा सम्बन्धी युक्तियों को हिरयन्ना ने वादविवाद से परे (irrefutable) माना है।

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

४. चार्वाक में पुरुषार्थों के बीच अर्थ और काम को महत्व दिया गया है। यह महत्व वात्स्यायन के कामसूत्र में भी है। वह भी मानते हैं कि भूख से जैसे शरीर की रक्षा की जाती है उसी तरह इन्द्रिय तृप्ति भी मानसिक शान्ति के लिए आवश्यक है। अन्तर इतना ही है कि जहाँ यह ऐन्द्रिक सुख को भोग के लिए केन्द्रित करता है वहाँ वात्स्यायन ने इसे नियंत्रित जीवन के लिए वताया है। वात्स्यायन से यह भी ज्ञात होता है कि चार्वाक इस पंक्ति में अकेला नहीं है क्योंकि वह कहते हैं कि हमारे (ईस्वी सन्) से पहले बारह ऐसे विचारक रहे हैं यद्यपि उनके ग्रन्थ अब सुलभ नहीं है।

५. सभी दार्शनिकों ने सुख भोग की आवश्यकता पर किसी न किसी प्रकार बल दिया है। सामान्य व्यक्ति भी सुख भोग की इच्छा से ही कोई कार्य करता है। पर चार्वाक का यह कथन इसलिए घृणित है कि इसमें स्वार्थ-सुख, निजी-सुख तथा शारीरिक-सुख की बात की गई है। किन्तु इसी प्रश्न पर चार्वाक में दो वर्ग उभरे एक शिष्ट और दूसरा अशिष्ट। अतः शारीरिक सुख में डूबना, अशिष्ट वर्ग की बात रही होगी क्योंकि शिष्ट वर्ग आत्मसंयम और नैतिकता पर बल देता है तथा धर्म, अर्थ और काम को जीवन का लक्ष्य मानता है। यह वर्ग केवल निजी सुख की बात नहीं करता।

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

अध्याय-१८

न्याय दर्शन

न्याय दर्शन के प्रणेता महर्षि गौतम हैं। इनका नाम अक्षपाद भी है। इससे इसे अक्षपाद-दर्शन भी कहते हैं। इसमें तर्क और प्रमाणों का विशेष स्थान होने से इसे तर्कशास्त्र, प्रमाणशास्त्र तथा अन्वीक्षिकी भी कहते हैं।

इस दर्शन का मूल ग्रन्थ है गौतम ऋषि का 'न्याय सूत्र' जिसमें कुल पाँच अध्याय और प्रत्येक में दो अह्निक हैं। इस पर अनेक भाष्य लिखे गये, जिनमें उल्लेखनीय हैं : वात्स्यायन, वाचस्पति, उदय, जयंत आदि की टीकाएँ। इनमें वर्णित न्याय को 'प्राचीन न्याय' कहते हैं क्योंकि गंगेश के तत्व चिन्तामणि से पीछे न्याय की एक अलग शाखा चल पड़ी जो 'नव्य न्याय' के नाम से मिथिला में विकसित हुई। इन दोनों में मूल अन्तर है कि प्राचीन न्याय में तत्वशास्त्र प्रधान है जबकि नव्य-न्याय में तर्क की प्रधानता है।

यह दर्शन चार खण्डों में बाँटकर अध्ययन किया जा सकता है-१. प्रमाण विचार, २. ईश्वर विचार, ३. आत्मा विचार और ४. मोक्ष सम्बन्धी विचार। इसका लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति है। इसके लिए इसमें निम्न सोलह तत्वों का नामोल्लेख, परिभाषा तथा विवेचन किया है :

१. प्रमाण-किसी विषय का ज्ञान प्राप्त करने का यह साधन है। ये चार माना गये हैं-प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द और उपमान।
२. प्रमेय-जिसका ज्ञान प्राप्त किया जाता है वह प्रमेय है। इसमें प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों विषय सम्मिलित रहते हैं। जो अप्रत्यक्ष है उसका ज्ञान अनुभूति से प्राप्त होता है।
३. संशय-किसी विषय के सम्बन्ध में मन में दो या अधिक विकल्प का होना संशय है। यह न निश्चित ज्ञान है, न ज्ञान का अभाव है, न भ्रम है।
४. प्रयोजन-वस्तु की प्राप्ति या वर्णन के लिए किया गया कार्य प्रयोजन है।
५. दृष्टान्त-प्राप्त ज्ञान को पुष्ट करने के लिए सर्वसम्मत उदाहरण को दृष्टान्त कहते हैं।
६. सिद्धान्त-किसी मत को प्रतिष्ठित सत्य मानना ही सिद्धान्त है।
७. अवयव-अनुमान का अवयव ही अवयव होता है। ये पाँच हैं।
८. तर्क-किसी विषय की सिद्धि के लिए उसके विरोधी कल्पना को सही मानकर उसमें दोष दिखाना तर्क है।

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

९. निर्णय-किसी विषय के सम्बन्ध में संशय के निराकरण के बाद निश्चित ज्ञान को निर्णय कहते हैं।

१०. वाद-यथार्थ ज्ञान के लिए प्रमाणों और तर्कों से विपक्षियों के निष्कर्ष को काटना वाद है।

११. जल्प-वादी और प्रतिवादी द्वारा केवल जीतने की इच्छा से तर्क करना जल्प है।

१२. वितण्डा-इसमें भी जीतने की इच्छा से प्रतिवादी के मत का जिस किसी भी प्रकार खण्डन करने का प्रयास होता है।

१३. हेत्वाभास-अनुमान हेतु पर निर्भर होता है। अनुमान में दोष निकालना हेत्वाभास है।

१४. छल-मुख्य अर्थ को छोड़कर गौण या लाक्षणिक अर्थ के आधार पर दोष बताना छल हैं। इसके तीन प्रकार हैं-वाक छल, सामान्य छल और उपचार छल।

१५. जाति-यह दुष्ट उत्तर है जिसमें समानता और विषमता के आधार पर दोष दिखाया जाता है।

१६. निग्रह स्थान-वाद-विवाद में पराजय के स्थान पर पहुँचना निग्रहस्थान है।

न्याय का वस्तुवाद

वस्तुवाद से अभिप्राय है कि कोई भी वाह्य वस्तु का मन पर निर्भर न होकर वह स्वतंत्र होती है जैसे सुख, दुःख का ज्ञान मन पर निर्भर होता है पर घट, पशु, पक्षी आदि जो बाहरी वस्तुएँ है उनका ज्ञान मन को हो या न हो उनका अपना अस्तित्व बना रहता है। इस विचार को दार्शनिक सिद्धान्त में इस प्रकार कह सकते हैं कि इसके अनुसार वस्तु का अस्तित्व आत्मा के ज्ञान पर निर्भर नहीं होता।

न्याय का वस्तुवाद अनुभव तथा तर्क पर आधारित होता है। इसके अनुसार प्रतीति भी ज्ञान का ही एक विषम है क्योंकि हमारे या ईश्वर के मन में वस्तु का अस्तित्व होता है।

ज्ञान का स्वरूप

१. जैसे दीपक द्वारा वस्तुएँ प्रकाशित होती हैं उसी प्रकार बुद्धि किसी विषय की उपलब्धि को अभिव्यक्त करती है। अतः बुद्धि और उपलब्धि ज्ञान के पर्याय हैं। इस प्रकार वस्तुओं की अभिव्यक्ति ही ज्ञान या बुद्धि है। ज्ञान के दो रूप होते हैं-यथार्थ और अयथार्थ। जब हम किसी वस्तु को सामने देखकर उसके सही रूप का ज्ञान प्राप्त करते हैं तो वह यथार्थ ज्ञान होता है। पर जब उसके सही रूप का ज्ञान नहीं प्राप्त करते हैं तो वह अयथार्थ ज्ञान होता है जैसे रात्रि में रस्सी को देखकर रस्सी का ज्ञान यथार्थ ज्ञान है। पर उससे साँप का ज्ञान होना अयथार्थ ज्ञान है। यथार्थ ज्ञान को ही न्याय दर्शन 'प्रमा' कहते है और अयथार्थ को 'अप्रमा'। न्याय दर्शन ज्ञान के इन दोनों रूपों को मानता है तथा इसकी निम्न विशेषताएं बताता है-

१. ज्ञान ज्ञेय वस्तु को प्रकाशित करता है-'अर्थ प्रकाशे बुद्धिः'। प्रकाश ही ज्ञान का बोधक है।
२. ज्ञान के द्वारा ही सही और गलत व्यवहार में अन्तर किया जाता है।
३. ज्ञान ज्ञाता को ही होता है। ज्ञाता आत्मा है। ज्ञेय के सम्पर्क में आने से वह ज्ञान प्राप्त करता है। अतः यह आत्मा का गुण है।

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

प्रमा और अप्रमा

यथार्थ ज्ञान को 'प्रमा' कहते हैं और अयथार्थ को 'अप्रमा'। पर जो ज्ञान स्मृति में होता है वह अनुभव से भिन्न होने के कारण प्रमा नहीं है। इसी प्रकार संशय जहाँ दो प्रकार का ज्ञान होने से अनिश्चितता की स्थिति हो जैसे रस्सी को देखकर समझना कि रस्सी है या साँप, भ्रम जहाँ किसी वस्तु से भिन्न वस्तु का ज्ञान ग्रहण किया जाय जैसे रस्सी को साँप समझ लेना तथा तर्क किसी बात को सिद्ध करने के लिए युक्ति देना जैसे धुआँ को देख कहना कि आग है क्योंकि आग होती है तभी धुआँ होता है, ये सभी अप्रमा हैं। अतः 'प्रमा' की विशेषताएँ हैं-अनुभव, संदेह का अभाव तथा यथार्थ का ज्ञान। यथार्थ वह है जिसके ज्ञान के आधार पर किये गये कार्य का परिणाम सही आवे। पर यदि गलत आता है तो अयथार्थ है।

१. प्रमाण विचार

प्रमा या यथार्थ का ज्ञान प्राप्त करने का साधन ही प्रमाण कहलाता है। न्याय दर्शन में इसे चार माना गया है-प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द और उपमान।

प्रमा के तीन पद होते हैं : प्रमाता, प्रमेय और प्रमाण। १. ज्ञान को प्राप्त करने वाले को 'प्रमाता' कहते हैं। २. जिस वस्तु का ज्ञान प्राप्त किया जाय उसे 'प्रमेय' कहते है। ३. ज्ञान प्राप्त करने के साधन को 'प्रमाण' कहते है।

[अ] प्रत्यक्ष

"प्रत्यक्षे किं प्रमाणम्"-प्रत्यक्ष ऐसा प्रमाण है जिसमें संदेह नहीं रहता। यह निश्चित होता है क्योंकि यह इन्द्रियों द्वारा प्राप्त होता है-'ज्ञानाकरणकं ज्ञानं प्रत्यक्षम्'। इसका विषय से साक्षात्कार होता है। इसलिए यह यथार्थ होता है। इसकी सिद्धि के लिए किसी अन्य प्रमाण की सहायता आवश्यक नहीं होती क्योंकि विषय सामने (प्रति=सामने + अक्ष=आँख=प्रत्यक्ष) होता है। इस प्रकार इसके प्राप्ति का साधन इन्द्रियाँ होती हैं। इन्द्रियाँ दो प्रकार की होती हैं-पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ (आँख, कान, नाक, जीभ और त्वचा) तथा पञ्च कर्मेन्द्रियाँ (दो हाथ, दो पैर, गुदा)। इसके लिए ज्ञानेन्द्रियों की आवश्यकता होती है। ज्ञानेन्द्रियों की भी दो कोटियाँ हैं- बाह्य (ऊपर वर्णित पंच ज्ञानेन्द्रियों जो बाहर स्थित है) तथा आन्तरिक (अन्दर स्थित मन)। मन से आन्तरिक भावों, सुख, दुःख का ज्ञान होता है। पर केवल इन्द्रियों से ही विषय का ज्ञान नहीं होता है। इन्द्रियों के ज्ञान प्राप्ति की शर्त है कि उसका विषय से सम्बन्ध हो। इस प्रकार प्रत्यक्ष ज्ञान के लिए तीन बातें आवश्यक हैं- १. विषय २. इन्द्रिय तथा ३. उनका सन्निकर्ष सम्बन्ध। इसी से इसको परिभाषित किया गया है- 'इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यज्ञानं प्रत्यक्षम्'।

पर प्राचीन नैय्यायिकों की प्रत्यक्ष के विषय में इस परिभाषा को नव्य नैय्यायिक दोषयुक्त मानते हैं। इनमें तीन प्रकार के दोषों को उन्होंने बताया है–

१. ऊपर कहा गया है कि विषय के साथ इन्द्रियों के सन्निकर्ष से प्राप्त ज्ञान प्रत्यक्ष है। पर ईश्वर के पास इन्द्रियाँ नहीं हैं फिर भी उसको सबका प्रत्यक्ष का ज्ञान होता है। यह कैसे? इससे यह परिभाषा व्यापक नहीं है। अतः इसमें अव्यापकता का दोष है।

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

२. इसमें प्रत्यक्ष को वह ज्ञान बताते है जो इन्द्रियों द्वारा प्राप्त हो तथा इन्द्रिय उसे कहते है जो प्रत्यक्ष का ज्ञान प्राप्त करे। इसको चक्रदोष कहते है क्योंकि इसमें ज्ञान और इन्द्रिय तथा इन्द्रिय और ज्ञान चक्रवत बने रहते हैं।

३. भावनाओं से मन का सम्बन्ध अनुमान से होता है। मन को इन्द्रिय माना गया है। अत: यहाँ प्रत्यक्ष को यथार्थ के आगे अनुभूति तक ले जाते हैं। यह अतिविस्तृत (अतिव्याप्ति) होने का दोष है।

इसी से नव्य नैय्यायिकों ने इसकी दूसरी परिभाषा दी है। इन्होंने 'प्रत्यक्षस्य साक्षातकारित्वं लक्षणम्' अर्थात् विषय के साक्षात अनुभूति (प्रतीति) को प्रत्यक्ष का सामान्य लक्षण बताया है।

प्रत्यक्ष के भेद

विषय का सामान्य संबन्ध प्रत्यक्ष में इन्द्रियों द्वारा जब होता है तो वह लौकिक प्रत्यक्ष कहा जाता है। पर जब विषय के साथ इन्द्रियों का असाधारण सम्बन्ध होता है तो वह अलौकिक प्रत्यक्ष कहलाता है। ये ही प्रलक्ष के दो भेद हैं-लौकिक और अलौकिक।

लौकिक प्रत्यक्ष भी दो प्रकार के होते है : १. बाह्येन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष तथा २. मन द्वारा प्रत्यक्ष। ये हैं : बाह्य और आन्तरिक या मानस प्रत्यक्ष। बाह्य ज्ञानेन्द्रियों में आँख से रूप, नाक से गंध, कान से शब्द, जीभ से रस तथा त्वचा से स्पर्श का प्रत्यक्ष होता है जो इनकी तनमात्राएँ कहलाती है। आन्तरिक इन्द्रिय मन से आत्मा के भाव प्रेम, घृणा, सुख आदि का बोध होता है।

प्रत्यक्ष का एक दूसरे प्रकार से भेद किया जाता है-१. जिसमें वस्तु के आकार. प्रकार, गुणों का ज्ञान होता है-सविकल्पक प्रत्यक्ष। २. जिसमें वस्तु का आभास होता है पर उसके प्रकार तथा गुणों का ज्ञान नहीं होता-निर्विकल्पक प्रत्यक्ष। इसमें इन्द्रिय संवेदन के साथ पूर्व संस्कार समाहित होता है। ये प्रत्यक्ष के दो भेद न होकर दो अवस्थाएँ हैं। प्रत्यक्ष ज्ञान सदा सविकल्प होता है पर इसके पहले वह निर्विकल्पक रहता है। इस प्रकार ये दोनों अवस्थाएँ परस्पर घुली-मिली रहती हैं। पहले किसी चीज का आभास करते हैं फिर पहचानते है जैसे पड़ी रस्सी को पहले दूर से मटमैला चीज देखते हैं फिर पास जाने पर रस्सी की पहचान करते हैं। निर्विकल्पक में द्रव्य, गुण, कर्म, का बोध होता है पर उसके विशिष्ट गुणों की पहचान नहीं होती। लौकिक प्रत्यक्ष ही सविकल्पक प्रत्यक्ष है तथा धुंधला और अस्पष्ट अभिव्यक्ति का प्रत्यक्ष निर्विकल्पक है जैसे सोकर आँख मीजते उठने पर सामने की वस्तु को देखने पर स्पष्ट ज्ञान न होना कि क्या है, कैसा है? इसलिए निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में वस्तु के अस्तित्व के अतिरिक्त उसके गुण, सत्यता-असत्यता का ज्ञान, उसके प्रति अभिव्यञ्जना का अभाव तथा मनोवैज्ञानिक संवेदना की अनुभूति आदि होती है। सविकल्पक प्रत्यक्ष का एक विशेष रूप प्रत्यभिज्ञा (= पहचानना) है। यह है पूर्व देखे हुए को वर्तमान में देखकर पहचानना।

अलौकिक प्रत्यक्ष के प्रकार

अलौकिक प्रत्यक्ष में विषय और इन्द्रियों का सम्बन्ध तीन प्रकार का होता है : १. सामान्य लक्षण प्रत्यक्ष, २. ज्ञान लक्षण प्रत्यक्ष और ३. योगज प्रत्यक्ष। इस प्रकार ये तीनों लौकिक प्रत्यक्ष के प्रकार हुए।

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

सामान्य लक्षण प्रत्यक्ष उसे कहते हैं जिसमें विषय के सामान्य लक्षण उस जाति के प्रत्यक्ष के आधार पर निर्धारित किये जाते हैं। यहाँ वस्तु की जाति या सामान्य के प्रत्यक्षीकरण के आधार पर सामान्य धर्म निर्धारित किया जाता है। जैसे हम फल को गर्म स्थान पर रखे तो देखेंगे कि वह पहले पकता है फिर उसे वहाँ और पड़े रहने पर जल्दी सड़ता है तो कह सकते हैं कि गर्मी से फल पकता है और अधिक पकने पर सड़ता है। यद्यपि सभी फल को हम नहीं देख सकते पर कुछ के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है जिसे सर्वमान्य कहते हैं।

ज्ञान लक्षण प्रत्यक्ष में किसी विषय के पूर्व ज्ञान के आधार पर उसके वर्तमान लक्षण का प्रत्यक्ष होता है। इसमें एक इन्द्रिय दूसरी इन्द्रिय के अनुभूति के पूर्व ज्ञान के आधार पर वस्तु का प्रत्यक्ष करती है जैसे फ्रीज से पानी का बोतल निकलते देखकर उसे ठंडा जानना। यहाँ हम आँख से देख रहे हैं। ठंडक की जानकारी त्वचा को होगी पर बिना छुए पूर्व अनुभव के आधार पर पानी का दूसरा गुण भी आँख ही बता देती है।

योगज प्रत्यक्ष सामान्य व्यक्ति से भिन्न तथा ऐन्द्रिक ज्ञान से अलग दिव्य शक्ति प्राप्त हुए व्यक्ति से सम्बन्धित होता है। इन्द्रियों के सीमित ज्ञान से दिव्य ज्ञान प्राप्त नहीं किया जा सकता। यह योग साधना का फल होता है। योग साधना की सिद्धि दो प्रकार की होती है-एक पूर्ण सिद्धि प्राप्त जिसे 'युक्त' कहते हैं तथा दूसरे आंशिक सिद्धि प्राप्त जिसे 'युजान' कहते हैं। 'युक्त' को सब ज्ञान सहज ही हो जाता है पर 'युजान' को ध्यान के बाद। योगियों को यह प्रत्यक्ष होने के कारण इसे 'योगज' कहते है।
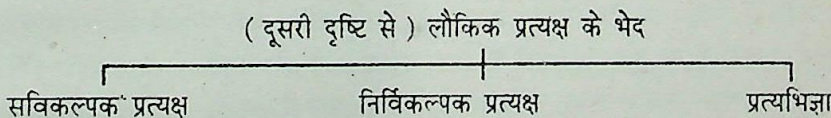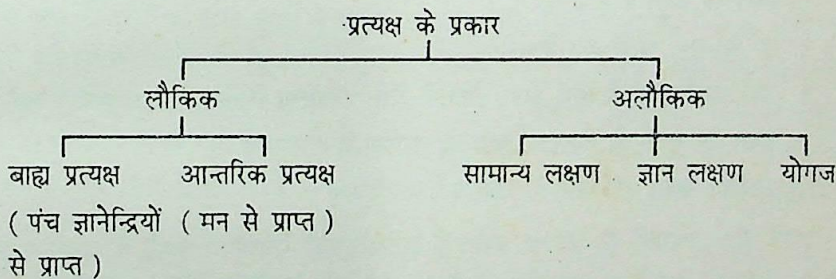
[ब] अनुमान

अनुमान दो शब्दों के योग से बना है : अनु=पश्चात + मान=ज्ञान। इसका अभिप्राय है एक ज्ञान के बाद उसके कारण उत्पन्न होने वाला दूसरा ज्ञान। पहला ज्ञान प्रत्यक्ष का होता है तथा दूसरा अप्रत्यक्ष-'तत्वपूर्वकम् प्रत्यक्ष मूलकं', जैसे धुएँ को देखकर आग का ज्ञान प्राप्त करना। इसमें लिङ्ग (हेतु) को देखकर उसको धारण करने वाले लिङ्गी (साध्य या हेतु को धारण करने वाले) का अनुमान करते हैं-'तल्लिङ्गिलिङ्ग पूर्वकम्'। अनुमान के तीन अंग होते हैं : साध्य, हेतु और पक्ष। जिस बात को सिद्ध करना है उसे साध्य कहते हैं। जिसके द्वारा सिद्ध करना होता है

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

उसे हेतु कहते हैं। जिसमें सिद्ध करना है उसे पक्ष कहते हैं। जैसे पहाड़ पर धुआँ है इससे वहाँ आग है। यहाँ पहाड़ का पक्ष हुआ, धुआँ हेतु तथा आग साध्य हुआ। धुएं से आग का अनुमान व्याप्ति (दोनों के बीच साहचर्य) के आधार पर होता है। इनमें कार्यकारण सम्बन्ध है जैसे धुआँ बिना आग के नहीं हो सकता क्योंकि यह हेतु का पक्षधर्मता है। इसी से अनुमान को प्रत्यक्षमूलक ज्ञान कहा गया है।

प्रत्यक्ष और अनुमान में अन्तर है : १. प्रत्यक्ष का ज्ञान पुष्ट होता है अनुमान का संशयजन्य होता है। सही भी हो सकता है गलत भी। २. अनुमान के निष्कर्ष अनुमानकर्ता के अनुसार अलग-अलग होते हैं। ३. यह परोक्ष ज्ञान होता है। ४. इसमें भूत और भविष्य का भी ज्ञान मिला होता है। ५. यह पूर्व ज्ञान पर आधारित होता है। ६. अनुमान वहीं होता है जहाँ विषय ज्ञान संदेहात्मक हो।

अनुमान के दो रूप होते हैं। एक, जब मनुष्य अपने लिए अनुमान करता है। उसे स्वार्थानुमान कहते हैं। दूसरे, जब किसी अन्य के समक्ष अनुमान का सहारा लेकर तथ्य को प्रमाणित करते हैं तो उसे परार्थानुमान कहते हैं। स्वार्थानुमान में तीन वाक्यों का सहारा लेते हैं जैसे–

१. पहाड़ पर आग है (निष्कर्ष)
२. क्योंकि वह धुआँ है (लघुवाक्य)
३. जहाँ-जहाँ धुआँ है वहाँ-वहाँ आग है (वृहत् वाक्य)

पर परार्थानुमान में पाँच वाक्यों का सहारा लेते हैं यथा–

१. पर्वत पर आग है (प्रतिज्ञा)
२. क्योंकि वहाँ धुआँ है (हेतु)
३. जहाँ धुआँ होता है वहाँ आग होती है जैसे यज्ञशाला में आदि (उदाहरण)
४. पर्वत पर धुआँ है, जिसका आग से सम्बन्ध है (उपनय)
५. इसलिए पर्वत पर आग है (निगमन या निष्कर्ष)

इसमें पाँच अवयवों का क्रमिक प्रयोग हैं इसीसे इसको पंचावयव कहते हैं। इसमें पहला प्रतिज्ञा है। इसी को हम सिद्ध करना चाहते हैं। दूसरा स्थान हेतु है जिसकी युक्ति देकर प्रतिज्ञा को सिद्ध करने के लिए बढ़ते है। तीसरा उदाहरण है। इसमें व्याप्ति का रहना भी आवश्यक है। यह साहचर्य सम्बन्ध है जो सदा एक दूसरे के साथ जुटा होता है और कभी भी टूटता नहीं। इसी से इसे उदाहरण सहित व्याप्ति वाक्य भी कहते हैं। चौथा स्थान है उपनय धुआँ और आग का सम्बन्ध दिखाने के बाद इसमें अपने पक्ष में इसको उतारते हैं। इसमें व्याप्ति विशिष्ट पक्षधर्मता का ज्ञान होता है। पाँचवां वाक्य है निगमन जिसमें तथ्य को सिद्ध कर देते हैं। यहाँ देखते हैं कि आगमन और निगमन दोनों ही का मिश्रण है। इसलिए परार्थानुमान का न्याय दर्शन में विशेष महत्व है। यह स्वार्थानुमान के बाद आता है।

गौतम न्यायसूत्र में अनुमान के तीन प्रकार कहे गये हैं-पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट। इनमें प्रथम दो पूर्ववत् और अन्य शेषवत् मीमांसा के परिभाषिक शब्द हैं। इनका अर्थ वहाँ प्रधान

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

और अंग क्रमशः होता है पर नैय्यायिकों ने इसका अर्थ करणकार्य भाव लिया है। पूर्ववत् में कारण के ज्ञान के आधार पर कार्य का अनुमान होता है जैसे काले मेघ को देखकर अनुमान लगाना कि भारी वर्षा होगी। शेषवत् में कार्य के ज्ञान के आधार कारण का अनुमान लगाया जाता है जैसे बाढ़ के उठती नदी का जल देखकर अनुमान लगाना कि कल भयंकर वर्षा हुई होगी। स्पष्ट है कि पूर्ववत् में कारण पूर्व विद्यमान रहता है और शेषवत् में बाद में। सामान्यतोदृष्ट में अनुमान नियत सहवास के आधार पर किया जाता है। राम मोहन के साथ रहता है तो राम को देखकर सहवास के आधार पर मोहन के होने का अनुमान होना स्वाभाविक है। इसी प्रकार लिखने से लेखनी का अनुमान आदि।

व्याप्ति– अनुमान का आधार या प्राण व्याप्ति है। यह दो वस्तुओं के बीच नियत साहचर्य सम्बन्ध व्याप्ति का अर्थ है 'व्यापकता'। इसी से व्यापक सम्बन्ध को ही व्याप्ति कहते हैं। इसमें दो वस्तुओं के पारस्परिक सम्बन्ध में एक व्याप्त होता है तथा दूसरा व्यापक। आग से ही धुँआ निकलता है। इसलिए आग व्यापक है और उसमें धुआँ व्याप्य है। इससे स्पष्ट है कि व्याप्य ही व्यापक का सूचक है जैसे धुआँ को देखकर कहेंगे कि वहाँ आग है। आग से धुआँ का बोध नहीं होता क्योंकि दहकते लोहे में धुआँ नहीं होता। धुआँ देखकर आग का निश्चय होता है। इससे आग साध्य है और धुआँ हेतु है। अनुमान के लिए दो बातें आवश्यक हैं-१. पक्ष (पर्वत पर) और हेतु (धुआँ) का संबंध (है)। २. साध्य (आग के साथ) और हेतु (धुआँ) संबंध (है)। तभी अनुमान होता है कि पर्वत पर आग है।

व्याप्ति दो प्रकार की होती है– १. जब व्यापक और व्याप्य का परस्पर सम्बन्ध ऐसा हो कि एक से दूसरे का तथा दूसरे से पहले का ज्ञान प्राप्त हो तो दोनों का विस्तार क्षेत्र समान होने से इसे समव्याप्ति कहते हैं। जैसे वस्तु और उसका नाम। यहाँ वस्तु देखते नाम का सम्बन्ध और नाम लेते वस्तु का साहचर्य उपस्थित हो जाता है। २. जब व्यापक और व्याप्य में एक का क्षेत्र दूसरे से बड़ा हो तो इस असमानता के कारण इसे असम व्याप्ति कहते हैं जैसे धूमवान वस्तु वह्निमान है। पर सभी जलती वस्तु में धुआँ नहीं होता जैसे बिजली का बल्ब, गरम लोहा। यहाँ आग का क्षेत्र बड़ा है और धुएँ का छोटा।

न्यायशास्त्र में व्याप्ति की छः विधियों का उल्लेख हैं :

१. अन्वय-एक वस्तु के होने से दूसरे का होना जैसे जहाँ धुआँ है वहाँ आग है।
२. व्यतिरेक-एक वस्तु के न होनें से दूसरे का न होना जैसे जहाँ धुआँ नहीं है वहाँ आग नहीं है।
३. व्यभिचाराग्रह-जिस कथन में कोई विरोधास अभी तक नहीं देखा गया जैसे जहाँ धुआँ देखा गया वहाँ आग देखा गया। इसमें कोई व्यभिचार (विरोधी अनुभव) नहीं प्राप्त हुआ।
४. उपाधि निरास-वस्तुओं के बीच का सम्बन्ध किसी परिस्थिति पर निर्भर होना 'उपाधि' कहलाता है जैसे गीली लकड़ी के होने पर धुआँ निकलना। 'उपाधि' के होने पर व्याप्ति सम्बन्ध नहीं होता जैसे आग के साथ धुएँ का समन्वय। पर जब दो वस्तुओं का नियत सम्बन्ध बिना परिस्थिति के (Unconditional) होता है तो उसे 'अनौपाधिक' कहते

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

हैं। अनौपाधिक सम्बन्ध ही व्याप्ति के लिए आवश्यक है जैसे जहाँ धुआँ है वहाँ आग है। यदि इसमें शंका हो जाय तो प्रत्येक शंका का निरास (निराकरण) करके ही व्याप्ति सम्बन्ध स्थापित किया जाता है।

५. तर्क-अनुमान भविष्य में भी सत्य ही होगा इसके लिए न्यायशास्त्र में तर्क का सहारा लेते हैं। वह अनुमान के विरोधी वाक्य को प्रस्तुत करता है जैसे अनुमान है 'जहाँ धुआँ होगा वह आग होगा'। इससे धुआँ अग्नि के अभाव में भी संभव हो जाता है। इसमें कार्य (धुआँ) बिना कारण (अग्नि) के ही सम्भव होता है। ऐसा मानने से कार्य कारण सिद्धान्त का खण्डन होगा। अत: सिद्ध होता है कि धुआँ और आग में व्याप्ति सम्बन्ध है।

६. सामान्य लक्षण-प्रत्यक्ष-इसमें नैय्यायिक व्यक्तिगत घटनाओं द्वारा व्याप्ति की स्थापना करता है। इसमें जाति सम्बन्धी प्रत्यक्ष व्यक्ति के प्रत्यक्ष पर निर्भर होता है जैसे सभी मनुष्य मरणशील हैं। ऐसा कहने में मनुष्य जाति और मरणशीलता के बीच प्रत्यक्ष को साहचर्य का आधार बताते है।

हेत्वाभास (अनुमान में दोष)– अनुमान प्राय: गलत नहीं होता। पर जब हेतु में दोष होता है तो इसमें भी गलती होती है। हेत्वाभास में दो शब्द है-हेतु + आभास। इसका अभिप्राय है हेतु नहीं होने पर भी हेतु का आभास होना। इसे दुष्ट हेतु कहते है। इसी के गलत होने को हेत्वाभास कहते हैं। यह दोष पाँच प्रकार से होता है–

१. सव्यभिचार-इस दोष का कारण है जब हेतु का सम्बन्ध कभी साध्य से होता है कभी दूसरे से। इसे अनैकान्तिक भी कहते हैं। जैसे–
सभी झाड़ू लगाने वाले भंगी होते है।
राम झाड़ू लगाता है।
इसलिए राम भंगी है।

इसमें कुछ झाड़ू लगाने वाले भंगी नहीं भी होते पर झाड़ू के हेतु से राम को भंगी मानना दोष है। इसके तीन प्रकार हैं –

(i) साधारण-इसमें अतिव्याप्तता होती है। जैसे-'ज्ञात पदार्थ अग्नि युक्त हैं। पहाड़ ज्ञात पदार्थ है। इसलिए वह अग्नि युक्त है' पर ऐसा होता नहीं।

(ii) असाधारण-यहाँ अति संकुचित व्याप्तता होती है जैसे-शब्द शब्द होने के कारण अनित्य है।

(iii) अनुयसंहारी-इसमें हेतु का दृष्टान्त न भाव में मिले न अभाव में जैसे-सभी ज्ञेय होने के कारण अनित्य हैं।

२. विरुद्ध-इसमें हेतु साध्य को सिद्ध न करके उसके विरुद्ध ही सिद्ध करता है जैसे-शब्द नित्य है क्योंकि उत्पत्ति है। यहाँ नित्य होना स्थायित्व का तथा उत्पत्ति होना अन्त होने का बोधक है।

३. सत्प्रतिपक्ष-इसमें एक अनुमान का दूसरा विरोधी अनुमान साथ रहता है जैसे एक उदाहरण-'शब्द सुने जाने के कारण नित्य है', वहीं दूसरा उदाहरण-'शब्द घट की तरह कार्य होने के कारण अनित्य है।

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

४. असिद्ध-इसमें साक्ष्य ऐसा होता है कि हेतु स्वयं असिद्ध हो जाता है जैसे-'आकाश कमल सुगंधित है क्योंकि वह कमल है।' इसमें आकाश कमल का अस्तित्व ही संदिग्ध है इसलिए यह असिद्ध है।

५. वाधित-इसमें हेतु द्वारा सिद्ध साध्यका दूसरे प्रमाण से खण्डन होता है जैसे-'अग्नि शीतल है क्योंकि द्रव्य है'। आग गर्म होती है पर द्रव्य के आधार पर उसे शीतल बताना उल्टा सिद्ध करता है।

[स] शब्द

न्याय सूत्र में शब्द की व्याख्या है- 'आप्तोपदेश: शब्द:' अर्थात् आप्त पुरुष के वचन को शब्द कहते हैं। आप्त यथार्थ वक्ता को कहते हैं। यह ईश्वर और जीवात्मा में से कोई हो सकता है। उनके शब्द और वाक्यों से जो वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त होता है उसे शब्द कहते हैं। पर शर्त यह भी है कि यथार्थ ज्ञान लोगों के उपकारार्थ प्रकट किया गया हो। दूसरे किसी वाक्य के शब्दों को सुनने मात्र से ही ज्ञान नहीं होता बल्कि उसका अर्थ है-जानना चाहिए। इस प्रकार 'शब्द' की परिभाषा हुई कि 'विश्वासयोज्ञ व्यक्ति या ईश्वर के वचन का अर्थयुक्त ज्ञान शब्द है।'

प्रकार- शब्द को दो दृष्टियों से विभाजित किया गया है :

१. ज्ञातव्य विषय केन्द्रित, इसके दो विभाग हैं– (अ) द्रष्टार्थ-जिसके द्वारा दिखाई पड़ने वाली वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त हो जैसे गंगा नदी (व) अदृष्टार्थ-जिसके द्वारा प्रत्यक्ष न की जा सकने वाली वस्तु का ज्ञान प्राप्त हो जैसे पाप, पुण्य, मन, आत्मा आदि।

२. उत्पत्ति केन्द्रित, इसके भी दो विभाग हैं- (अ) वैदिक-वेद वर्णित जो ईश्वर रचित है अत: पूर्ण प्रामाणिक हैं (ब) लौकिक-सामान्य लोगों के वचन जिनमें सभी सत्य नहीं होते।

इन दोनों ही प्रकारों में शब्द की उत्पत्ति मनुष्य से होती है चाहे वह सामान्य हो या दिव्य (ईश्वर) हो।

शब्द-शक्ति-दो प्रकार की होती है-१. **अविधा वाच्यार्थ**-सीधा प्रकाशित करने वाला तथा २. **लक्षण**-प्रसंवत अर्थ बोध कराने वाला।

वाक्य विवेचन-शब्दों के अर्थयुक्त समूह को जो एक विशिष्ट ढंग से क्रमवद्ध रहते हैं वाक्य कहते हैं। शब्दों में अर्थबोध की शक्ति ईश्वरेच्छा पर निर्भर होती है जिससे उसका निश्चित अर्थ निकलता है। इसके लिए चार बातें आवश्यक हैं :

१. **आकांक्षा**-पदों में अर्थबोध के लिए एक दूसरे से परस्पर सम्बन्ध आवश्यक है जैसे 'लाओ' कहने से अर्थबोध नहीं होता पर यह कहें कि 'भोजन लाओ' तो अर्थबोध होगा। अत: लाओ का परस्पर सम्बन्ध 'भोजन' के साथ होना आकांक्षा है।

२. **योग्यता**-पद समूह में अर्थ को अभिव्यक्त करने की योग्यता होनी चाहिए जिससे अर्थ में बाधा न पड़े। जैसे 'पौधे को आग से सींचो' कहने से अर्थ बाधित होता है क्योंकि पौधे जल जायेंगे। अत: शब्दों के अर्थयुक्त होने के साथ शब्दों में आत्म विरोध नहीं होना चाहिए।

३. **सन्निधि**-वाक्य के पद समीप हों कि साथ-साथ उच्चारण होने से उससे अर्थ बोध हो। अगर गा एक पृष्ठ पर लिखें और य दूसरे पर तो अर्थ बोध नहीं होगा।

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

४. **तात्पर्य**- वक्ता का अभिप्राय स्पष्ट होना चाहिए जैसे 'सैंधव' कहने से नमक और घोड़ा दोनों का बोध होता है। पर खाने के समय 'सैंधव' मांगने का अभिप्राय है नमक से।

[द] उपमान

ज्ञात वस्तु के आधार पर अज्ञात वस्तु का ज्ञान उपमान होता है। ज्ञात उपमान के कारण प्राप्त ज्ञान उपमति कहलाता है जैसे बन्दर को देखा है। लंगूर के विषय में ज्ञान प्राप्त है कि वह बन्दर की तरह होता है पर इसे देखा नहीं है। जब कभी बन्दर की तरह का जानवर दिखाई देता है तो उपमान के आधार उसकी पहचान लंगूर से की जाती है। यह प्राप्त ज्ञान उपमति कहलाएगा। इसमें तीन बातें होती है १. अज्ञात वस्तु को पहले न देखना २. ज्ञात बन्दर से अज्ञात की समानता जानना ३. अज्ञात को देखकर समानता के आधार पर पहचान करना।

२. कारणवाद

इसे कार्यकरण सिद्धान्त भी कहते हैं। कार्य और कारण का आन्तरिक सम्बन्ध होता है। बिना कारण के कार्य नहीं होता। इसलिए कारण को पूर्ववृत्ति कहते हैं और कार्य को उत्तरवृत्ति।

कारण की निम्न **विशेषताएँ** हैं–

१. कार्य के पहले आने से इसे पूर्ववर्ती कहा जाता है। २. यह निश्चित रूप से पहले उत्पन्न होता है तो इसे नियत पूर्ववर्ती कहते हैं जैसे वर्षा के पहले घटा उठना। ३. कारण किसी शर्त के अधीन नहीं होता। यह बेशर्त अर्थात् अनौपाधिक होता है। यह स्वतंत्र होता है। ४. इसमें तात्कालिकता होती है। यह कार्य के ठीक पहले रहता है दूर नहीं। अन्यथा उस कार्य का कारण नहीं रह जायगा जैसे राष्ट्रीय आन्दोलन के कारण देश की स्वतंत्रता। ५. एक कारण एक कार्य के लिए होगा। ६. अनेक कारण या कारणों की अनेकता नहीं मानी जाती। ७. कारण और कार्य में व्यतिरेकी सम्बन्ध होता है। एक के अभाव में दूसरे का अभाव होगा।

कारण के तीन भेद बताएँ गए है : १. उपादान-वह द्रव्य होता है जिससे कार्य करते हैं जैसे मिट्टी से घड़ा बनाते हैं तो मिट्टी उपादान कारण हुआ। २. असमवायी-उपादान कारण में जुटकर जो कार्य में सहायक होता है जैसे मिट्टी का घड़ा जल के संयोग से बनता है। यहाँ जल असमवायी कारण हुआ। ३. निमित्त कारण-कार्य को सम्पादित करने वाला निमित्त होता है जैसे मिट्टी के घड़े के लिए कुम्हार, कपड़ा बनाने के लिए जुलाहा आदि।

न्याय में इस कार्यकारण सम्बन्ध को असत्कार्यवाद कहते है। ऊपर देखा गया है कि कार्य प्रारम्भ के पूर्व कार्य कारण में समाहित नहीं रहता। इसी सिद्धान्त को असत्कार्यवाद कहते हैं। इसे आरम्भवाद भी कहा जाता है क्योंकि इससे कार्य का नया आरम्भ होता है। इसे प्रमाणित करने के लिए निम्न युक्तियों का सहयोग लेते हैं :

अ. यदि पहले से ही कार्य (घड़ा) कारण (मिट्टी) में समाहित रहता तो निर्माता (कुम्हार) की आवश्यकता नहीं होती।

ब. यदि कार्य पहले से ही कारण में रहता तो कार्य हुआ (घड़ा बना) नहीं कहा जाता।

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

स. यदि ऐसा ही रहता तो कार्यकारण में भेद नहीं होता।

द. यदि दोनों अभिन्न हैं तो दोनों एक ही उद्देश्य की पूर्ति करते। परन्तु ऐसा नहीं होगा जैसे घड़े में पानी रखते हैं पर मिट्टी में नहीं रखेंगे।

य. इनमें आकारगत भिन्नता नहीं रहती। पर घड़ा और मिट्टी के आकार में भिन्नता है।

र. यदि दोनों एक ही रहते तो दोनों के लिए एक ही शब्द का प्रयोग होता।

३. ईश्वर विचार

इसमें ईश्वर की सत्ता को सर्वप्रधान माना गया है। उसी को संसार का स्रष्टा, पालक तथा संहारक कहते हैं। उसे चैतन्य मानते हैं तथा आत्मा का अंशी होने से उसे परमात्मा कहते हैं। परम का अर्थ होता है श्रेष्ट। अत: ईश्वर सर्वश्रेष्ठ है। सभी पूर्णताओं से युक्त होने के कारण अपूर्व जीवात्मा से उसकी भिन्नता होती है। वह सनातन होने से नित्य है तथा जीवन-मरण के बंधन से मुक्त है। वह जीवात्मा की रक्षा करता तथा उसके कार्यों का मूल्यांकन करता है। वह धर्म प्रधान जगत के ऊपर होने से सांसारिक पाप-पुण्य, सुख-दु:ख भोगने वाली आत्मा से ऊपर होकर नि:सीम है। इसे काल, दिशा, मन आदि से सीमित नहीं किया जा सकता। वही संसार को चलाता तथा पाप-पुण्य का भोग मनुष्य को देता है। वह नित्य ज्ञानवान है तथा सभी ज्ञान को अपरोक्ष रूप से प्राप्त करता है। वही कर्म के लिए प्रेरणा देता है तथा मोक्ष प्रदान करता है। इसे जीव के कर्मों का प्रेरक माना गया है। वह अनन्त गुणों का निधान है। इसके छ: गुण प्रधान हैं जिन्हें 'षडैश्वर्य' कहा जाता है। ये हैं-आधिपत्य (सर्वप्रधान अधिकारवान), वीर्य (सर्वशक्तिमान), यश (सर्वगौरववान), श्री (सर्वरूपवान), ज्ञान (सर्वज्ञानवान) तथा वैराग्य (सर्वबंधनमुक्त)।

ईश्वर की सत्ता का प्रमाण

१. संसार का कर्ता- ईश्वर वस्तुओं का निमित्त कारण है। वस्तुएँ दो प्रकार की होती हैं- (i) सावयव, जिनका अवयव होता है जैसे पहाड़, नदी, सूर्य, चन्द्र आदि। ये अनित्य होते है। (ii) निरावयव, जिनका कोई अवयव नहीं होता जैसे आत्मा, मन दिशा, काल आदि। ये नित्य होते हैं। जो अनित्य है या सावयव है उनके निर्माण के लिए कारण होता है। जैसे घट के निर्माण के लिए उपादान कारण मिट्टी तथा कारण कुम्हार। यहाँ निमित्त कारण (कुम्हार) को मिट्टी का ज्ञान होता है, उसके बनाने की इच्छा होती है तथा उसके अनुसार वह कार्य करता है। ठीक उसी प्रकार इस दृष्य संसार का एक निर्माता है। वही ईश्वर है जिसे संसार के अणुओं तथा परमाणुओं का ज्ञान होता है तथा उसके निर्माण की इच्छा होती है और अपने प्रयास से इसे बनाता है। उसमें ये सारे गुण होते है इसलिए वही सृष्टि का निमित्त कारण है। वह चेतन कारण है।

२. अदृष्ट का व्यवस्थापक- मनुष्य को उसके कर्मों का फल मिलता है। कुछ कर्मफल उसके संचित होते हैं। वह इस जीवन में पूर्व जीवन के कर्मों का फल भोगता है तथा इस जीवन के कर्मों का फल उसे आगे पाना होगा। इन्हें क्रमश: संचित, प्रारब्द्ध और क्रियमाण कर्म कहते है। पर फलदाता कौन है? वह अदृष्ट है तथा फल भी अदृष्ट है। यह अदृष्ट सीमित ज्ञान वाला जीवात्मा नहीं हो सकता। अदृष्ट वह सामर्थवान है जो कार्यों का आकलन कर उसके अनुसार फल देता है। अत: वही सर्वशक्तिमान ईश्वर है जो भेदाभेद से रहित सर्वसामर्थवान तथा सर्वज्ञ है। इस प्रकार ईश्वर की सत्ता सिद्ध होती है।

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

३. वैदिकी प्रामाणिकता- गौतम ने कहा है- 'वेदोऽखिलो धर्म मूलम्'। यह कैसे सम्भव है? क्योंकि यह ईश्वर रचित है। वहाँ जो भी कहा गया है वह ईश्वर का ही संदेश है इसी से उसे श्रुति कहते हैं। अतः इनके द्वारा ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध होता है। इसमें कहे गए वचन आप्त वचन हैं। यह पुराण पुरुष पूर्ण और सर्वज्ञ ईश्वर ही हो सकता है।

४. श्रुति वचन- श्रुति में ईश्वर को 'जगत का कारण, स्रष्टा संहर्ता कहा गया है। उसे 'कर्मफल दाता', 'संसार का कर्ता', 'आत्माओं का शासक', 'प्राणियों का आश्रय', आदि कहा गया है। गीता में कृष्ण ने कहा है 'मेरे में बुद्धि रखो, मैं तुम्हें मोक्ष दूँगा। 'मैं विश्व का मात्ता, पिता, साक्षी हूँ।' 'तुम मेरे शरण में आओ' मैं तुम्हें सभी बुरे कर्मों से मुक्त कर दूँगा' आदि। ये ईश्वर की सत्ता को प्रमाणित करते हैं।

५. अन्य- संसार परमाणुओं का संगटन-योग है। पर यह संगठनकर्ता कौन है? यह नहीं ज्ञात है। यहाँ अदृष्ट शक्ति ईश्वर है जो इनको एक में मिलाता है और इनका संचालन कर्ता है।

शब्द ब्रह्म है क्योंकि उसका अर्थ निश्चित है। यह अर्थ निश्चयकर्ता कौन है? इसका उत्तर है ईश्वर। वही शब्द शक्ति प्रदाता है जिससे बालक अनजानेपन से ही शब्द का अर्थ समझ जाता है।

ईश्वर के अस्तित्व पर आपत्तियाँ और निराकरण

१. यह मानते हैं कि ईश्वर पूर्ण है तो यह कहा जा सकता है कि उसने संसार की रचना क्यों किया? यदि इसका कारण करुणा कहा जाय तो फिर यहाँ दुःख, रोग, मृत्यु को क्यों बनाया?

इसके उत्तर में नैयायिक कहते हैं कि सृष्टि का कारण करुणा ही है। पर केवल यह विश्व सुखमय हो मात्र कल्पना है क्योंकि जीवों के पूर्व संचित कर्मों के अनुसार ही सृष्टि होती है।

२. अगर ईश्वर कर्ता है तो वह शरीरी है। किन्तु उसका शरीर कहाँ है? पर ईश्वर की सत्ता जब श्रुति सिद्ध है तो यह आक्षेप निरर्थक है।

३. ईश्वर की सत्ता के लिए दो तर्क दिये जाते हैं : (i) वेद ईश्वर को मानता है। (ii) ईश्वर के वचन होने के कारण प्रामाणिक माना गया है। इसमें आलोचक अनोन्याश्रित दोष मानते हैं। पर यह दोष तब होता है जब दो विषय एक ही दृष्टि से परस्पर निर्भर हों। किन्तु यहाँ ईश्वर की प्रमाणिकता और वेद की प्रामाणिकता दोनों दो है।

४. न्याय ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित नहीं कर पाता क्योंकि तर्क से ईश्वर को सिद्ध नहीं किया जा सकता। उसका ज्ञान साक्षात् अनुभव का विषम है। अतः यह उसके अस्तित्व को नहीं सम्भावना को सिद्ध करता है।

पर साक्षात तो नहीं किन्तु अनुभव तो होता ही है कि संसार को व्यवस्था देने वाला कोई शक्ति है, वही ईश्वर है।

५. यदि ईश्वर का अस्तित्व श्रुतियों द्वारा माना जाय तो मानव के स्वतंत्र चिन्तन को गहरा धक्का लगता है। अतः यह प्रयास निरर्थक है कि पुनः इसे सिद्ध किया जाय। पर यहाँ मात्र श्रुति वाक्यों की व्याख्या द्वारा इसे स्पष्ट किया गया है।

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

४. आत्मा सम्बन्धी विचार

भारतीय दर्शन में आत्मा के सम्वन्ध में प्राय: विचार किया है। इस सम्बन्ध में विभिन्न मत हैं- (i) चार्वाक के अनुसार चेतना से युक्त शरीर ही आत्मा है। (ii) बौद्धों के अनुसार आत्मा विज्ञानों का प्रवाह है। (iii) अद्वैत वेदान्ती आत्मा को एक नित्य तथा स्वप्रकाश चैतन्य बताते हैं। (iv) विशिष्टाद्वैत वेदान्ती इसे 'ज्ञाता अहमर्थ एकात्मा' कहते हैं अर्थात् आत्मा चैतन्य न होकर एक ज्ञाता और अहम् कहा जा सकता है। (v) जैन और सांख्य आत्मा सम्बन्धी विचार के विरोधी हैं क्योंकि वे आत्मा को चेतन तथा चैतन्यता को उसका स्वभाव मानते हैं।

न्याय दर्शन में आत्मा बाह्येन्द्रियों से बोधगम्य नहीं है। इससे इसमें संसार के गुण नहीं हैं। यह एक ऐसा द्रव्य है जिसमें सुख, दु:ख, इच्छा, राग-द्वेष आदि विद्यमान रहता है। पर यह भिन्न-भिन्न शरीरों में भिन्न-भिन्न होती है और एक ही कार्य के लिए भिन्न-भिन्न शरीरों में यह भिन्न-भिन्न अनुभूति करती है। मूल रूप में आत्मा का स्वरूप अचेतन है। किन्तु इसमें चेतना तब आती है जब आत्मा का मन के साथ, मन का इन्द्रियों के साथ, इन्द्रियों का बाह्य जगत के साथ सम्पर्क होता है। इस प्रकार चेतना आत्मा का आगन्तुक गुण है जो बाह्य सम्पर्क से उदय होता है। पर शंकर की तरह यह शुद्ध चैतन्य नहीं माना जा सकता क्योंकि चैतन्य को पदार्थ नहीं कह सकते है। यह एक द्रव्य का गुण है। इसीलिए न्याय में इसे वह द्रव्य माना गया है जिसका गुण चैतन्य हो।

आत्मा, बाह्येन्द्रियों से भिन्न है क्योंकि ये उसका कार्य नहीं करतीं। मानसिक क्रिया केवल आत्मा का ही कार्य है। आत्मा मन से भी भिन्न है क्योंकि मन को अणु मानने से वह अप्रत्यक्ष है तथा सुख-दु:ख जो मन का गुण कहा जाता है वे आत्मा के गुण हैं। यह शरीर से भिन्न है क्योंकि शरीर जड़ और आत्मा चेतन है जो जड़ शरीर से अपने अनुसार कार्य कराती है।

आत्मा का धर्म- १. इसका धर्म जानना है। २. यह सुख-दु:ख का अनुभवकर्ता है। ३. यह नित्य है। ४. निरवयव होने से अविनाशी है, न पैदा होता है न मरता है। ५. कर्म नियमाधीन हैं तभी अशुभ कर्मों के कारण आत्मा शरीर धारण करती है। ६. नित्य होने से इसका पूर्व जन्म और पुनर्जन्म होता है। ७. यह सर्वव्यापक और बंधनहीन है। ८. यह अनन्त है तभी हर शरीर में अलग-अलग आत्मा होती है। यही आत्मा का अनेकान्तवाद है। यह विज्ञान का प्रवाह नहीं है। ऐसा होने से यह नहीं बता सकते कि उसके पहले क्या था और बाद क्या आएगा?

आत्मा का प्रमाण

१. आत्मा की इच्छा के बिना स्नेह या द्वेष सम्भव नहीं है। यह अतीत काल के आत्मा के सम्वन्धों पर आधारित स्मरण पर निर्भर है कि किसी वस्तु को वर्तमान में देखकर राग या द्वेष होता है।

२. किसी वस्तु को देखकर आत्मा को सुख, दु:ख मिलना उसके भूतकालिक कार्यों के स्मरण पर ही निर्भर है।

३. किसी वस्तु की इच्छा करना, संशय होने पर उसका निवारण करना और अन्त में निश्चयात्मक ज्ञान प्राप्त करने वाला आत्मा ही होता है।

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

४. चैतन्य आत्मा का गुण है जिससे शरीर में चेतना होती है। यदि यह शरीर का गुण है तो मृत्यु के बाद भी इसे शरीर में रहना चाहिए। यदि आगन्तुक गुण है तो इसका उदय शरीर से भिन्न किसी चीज में होनी चाहिए। यह अवश्य है कि शरीर मुक्त आत्मा में ज्ञान का अभाव होता है।

५. चैतन्य ज्ञानेन्द्रियों का भी गुण नहीं हो सकता क्योंकि ज्ञानेन्द्रियों को ज्ञान चैतन्य से मिलता है। ज्ञात होने से आत्मा ही चैतन्य है।

६. स्मृति का कारण आत्मा ही है। बिना इसके पूर्वकालिक घटना की स्मृति नहीं बनी रह सकती।

इसलिए प्रमाणित होता है कि आत्मा चेतन है। वही शरीर में आकर इसे चेतन शरीर बनाता है।

५. बंधन और मोक्ष

नैयायिक मोक्ष को 'अपवर्ग' कहते हैं। अपवर्ग के पूर्व आत्मा शरीर और इन्द्रियों के बंधन में होती है। यही जीव का बंधन है। पर जब शरीर और इन्द्रियों के बंधन से वह मुक्त हो जाती है तो इस अवस्था को अपवर्ग कहते हैं। इस स्थिति में आत्मा के सुख और दुःख दोनों का अन्त होता है क्योंकि तब वह अचेतन होती है।

बंधन- आत्मा न मन है इन्द्रिय। पर अज्ञानता के कारण वह इनसे अपने को अलग नहीं करती। यही इसका बंधन है। इसके पीछे कारण है उसमें गलत धारणाओं का होना जैसे नाशवान को स्थायी मानना, दुःख को सुख समझना आदि। बंधन ही दुःख का कारण है। इसी से आत्मा बार-बार आवागमन में फँसी रहती है। यही दुःखवाद है।

मोक्ष- बंधन का अन्त ही शरीर और इन्द्रियों से आत्मा की मुक्ति है जो अपवर्ग है। यहाँ स्थायी रूप से दुःखों से छुटकारा हो जाता है। सुख भी स्थायी रूप से समाप्त हो जाते हैं। यह स्थिति आनन्द विहीन होती है। तब आत्मा अपनी स्वाभाविक स्थिति में पहुँच जाती है। जैसे बुलबुला जल से निकलता तो है पर टूटने पर अपनी स्वाभाविक स्थिति में पहुँच कर जल हो जाता है। यहाँ आत्मा में कोई अनुभूति शेष नहीं रह जाती। यही आत्मा की चरम अवस्था है जिसे 'अजरम', 'अभयम्' आदि कहते हैं।

मोक्ष की अवस्था प्राप्त होने पर भ्रम टूट जाता है तथा मिथ्या ज्ञान का नाश हो जाता है। इस अवस्था की प्राप्ति के लिए न्याय शास्त्र में तीन उपाय बताए गए हैं-१. श्रवण-शास्त्रों की बातें सुननी चाहिए क्योंकि वे आप्त वचन हैं, विशेषतः आत्मा विषयक उपदेश। २. मनन-आत्मा के विषय में सुने हुए पर विचार करना चाहिए। ३. निधिध्यासन-योग के आठ नियमों द्वारा आत्मा में ध्यान करना चाहिए। नैय्यायिकों ने विदेह मुक्ति को ही मोक्ष माना है, जीवन मुक्ति को नहीं।

इसकी आलोचना में कहा गया है कि-१. इस स्थिति में सुख-दुःख का नाश आत्मा को जड़वत कर देती है। कोई जड़ नहीं होना चाहेगा इससे मोक्ष के प्रति उत्साह नहीं रहेगा। २. अर्थहीन शब्द कहा गया है। ३. मोक्ष को आनन्दमय मानना एक भ्रामक अवधारणा है जहाँ न सुख हो न दुःख।

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

उपसंहार

न्याय शास्त्र में प्रमावाद ही सबसे महत्व का है क्योंकि 'भारतीय दर्शन के विरुद्ध मानना कि यह युक्ति प्रधान नहीं है इसे यह असिद्ध करता है। चैतन्य को आत्मा का आकस्मिक गुण मानने से यह सांख्य, वेदान्त आदि से हीन माना जाता है। यह मानना कि मुक्त आत्मा चेतनहीन होती है उचित नहीं लगता। इसी से इसके मोक्ष सम्बन्धी विचारों की बहुत आलोचना हुई है। यह ईश्वर को तो मानता है पर धार्मिकता से उसे परे मानने के कारण यह विचार अपूर्व लगता है। ईश्वर को संसार का निमित्त कारण मानकर उसको मनुष्य की कोटि में स्थापित करता है। यहाँ पूर्णेश्वरवाद की कल्पना का अभाव है।

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

अध्याय-१९

वैशेषिक दर्शन

इसका विकास ३०० ई. पू. में माना जाता है। षड्दर्शन में यह प्राचीन दर्शन है। इसमें 'विशेष' नामक पदार्थ की विशद व्याख्या होने से इसे वैशेषिक कहते हैं। इसे 'काणाद' तथा 'औलूक्य' दर्शन भी कहते हैं क्योंकि इसके प्रणेता काणाद नामक ऋषि हैं। उनका मूलनाम 'उलूक' था। इसी से इसे इन नामों से जाना जाता है।

इसका मूल ग्रन्थ है कणाद का वैशेषिक सूत्र। इस पर प्रसिद्ध भाष्य है प्रशस्तपाद का 'पदार्थ धर्म संग्रह'। इस पर लिखी गयी प्रमुख टीकाएँ हैं : उदयन की 'किरणावली' तथा श्रीधर की 'न्यायकन्दली'। शंकराचार्य के शरीर भाष्य नामक ग्रन्थ से ज्ञात होता है कि रावण नामक राजा ने भी इस पर टीका की थी जो अप्राप्य है। इसमें विशेष रूप से पदार्थ पर ही विचार किया गया है।

न्याय-वैशेषिक का प्रयोग साथ-साथ किया जाता है क्योंकि इनमें विषमता कम और समता अधिक है। समता की दृष्टि से दोनों मोक्ष को जीवन का लक्ष्य मानते हैं। इनके अनुसार अज्ञान ही दुःखों का कारण एवं बंधन है। मोक्ष ही इसकी अन्तिम निवृत्ति है। इसकी प्राप्ति सत् तत्व ज्ञान से ही संभव है। पर ये दोनों ही मोक्ष में सुख और दुःख दोनों का अभाव होना मानते हैं। न्याय दर्शन वैशेषिक का तत्वशास्त्र स्वीकार करता है तथा वैशेषिक न्याय के प्रमाणशास्त्र को। पर वैशेषिक केवल प्रत्यक्ष और अनुमान को ही प्रमाण माना है। शेष दो अनुमान के ही अधीन यहाँ होते है। न्याय के ईश्वर सम्बन्धी तर्क वैशेषिक को मान्य हैं। वैषिक के सृष्टिवाद में आकाश को छोड़ चार तत्वों की मान्यता स्वीकार की गई है। इसे न्याय में भी माना गया है। आत्मा तथा कार्य-कारण सम्बन्धी न्याय का विचार ही वैशेषिक का भी हैं। मन सम्बन्धी वैशेषिक का विचार न्याय यथावत मानता है। इस प्रकार बहुत कुछ न्याय की बात वैशेषिक तथा वैशेषिक का न्याय मानकर उन पर अलग से विचार नहीं करते। इसी से ये एक दूसरे के ज्ञान के बिना अधूरा है। इनमें केवल दो मुख्य वातों में परस्पर अन्तर है-१. वैशेषिक न्याय के चार प्रमाणों को दो ही में समाहित करता है तथा २. जहाँ न्याय सोलह पदार्थ गिनाता है वहाँ वैशेषिक केवल सात। शेष बिन्दुओं पर ये एक दूसरे के ऋणी हैं।

वैशेषिक के अध्ययन को चार प्रमुख आधारों में बाँटा जा सकता है-१. पदार्थ २. परमाणुकारणवाद ३. ईश्वर ४. बंधन और मोक्ष।

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

१. पदार्थ

वैशेषिक दर्शन का मूल आधार हैं पदार्थ और परमाणुकारणवाद। पदार्थ = (पद + अर्थ) वह है जिसका नामकरण हो सके तथा 'ज्ञेयत्व' अर्थात् ज्ञान का विषय बनने वाली वस्तु उसमें) हो। इसमें विश्व की सभी वस्तुओं को रखा गया है। इनके दो वर्ग हैं : भाव और अभाव। भाव पदार्थ छः बताए गए हैं- (i) द्रव्य (ii) गुण (iii) कर्म (iv) सामान्य (v) विशेष तथा (vi) समवाय। अभाव पदार्थ का कोई अलग विभाजन नहीं है। इस प्रकार दोनो वर्गों को मिलाकर कुल सात पदार्थों का ज्ञान यहां होता है। ऐसी मान्यता है कि कणाद ने केवल भाव के ही छः पदार्थों का विवेचन किया है। यद्यपि उन्होंने अभाव का भी वर्णन किया है पर पदार्थ की सूची में इसे नहीं जोड़ा है। पर पीछे के ग्रंथकारों द्वारा सातवां अभाव नामक पदार्थ भी जोड़ दिया गया। अभाव पदार्थ भी चार प्रकार के बताए गए हैं- प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव तथा अत्यन्ताभाव। प्रत्येक पदार्थ की निम्न प्रकार से व्याख्या कर सकते हैं।

(i) द्रव्य

'क्रियागुणवत् समावायिकारण द्रव्यम्' अर्थात् द्रव्य ही गुण और कर्म का आश्रय होता है तथा अपने कार्य का समवायी कारण होता है। गुण और कर्म जिस आधार में होते हैं वह 'द्रव्य' कहलाता है। गुण और कर्म का स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। द्रव्य में मिले होने से वह उसका समवेत कारण होता हैं जैसे कपड़ा में सूत मिला हुआ होने से यह उसमें समवेत (= अन्तर निहित) होता है। स्पष्ट है कि द्रव्य गुणवान होता है और गुण तथा कर्म गुणहीन जो द्रव्य के साथ समवेत होकर गुणवान होता है। अतः द्रव्य अपने कार्यों का समवायी या मूल कारण है तथा 'ज्ञेयत्व' (अर्थात् ज्ञान का विषय बनने वाली वस्तु) उसमें हो।

द्रव्यों की संख्या नौ बताई गई है- १. पृथ्वी, २. अग्नि, ३. वायु, ४. जल, ५. आकाश, ६. दिक (दिशा), ७. काल, ८. आत्मा और ९. मन।

इनमें प्रथम पांच पंचभूत हैं। इनके पांच गुण हैं जिसे पांच बाह्य इन्द्रियों द्वारा ग्रहण किया जाता है। वह इन्द्रिय उसी द्रव्य या तत्व से निर्मित होती है। ये गुण हैं : पृथ्वी का गंध जिसे नासिका ग्रहण करती है। अग्नि का रूप जिसे आंख ग्रहण करती है। जल का रस जिसे जिह्वा ग्रहण करती है। समीर का स्पर्श जिसे त्वचा ग्रहण करता है। गगन का शब्द जिसे कान ग्रहण करता है। ये गुण जहां भी पाए जायेंगे वहाँ उस तत्व का होना अवश्यमभावी है जैसे जहां भी गंध होगा वहां किसी भी रूप में पृथ्वी तत्व होगा। ये पांचों तत्व पृथ्वी आदि नित्य भी है और अनित्य भी क्योंकि इनके परमाणु नित्य हैं। पर उनसे बने पदार्थ अनित्य है। आकाश परमाणुओं से रहित होने के कारण इस नित्य-अनित्य के भेद से अलग है। 'शब्द' आकाश सर्वव्यापी और नित्य गुण होने से आकाश निरवयव है। निरवयव होने के कारण ही आकाश उत्पत्ति और विनाश से अलग है।

शेष चार द्रव्य पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु कार्य-रूप में अनित्य हैं और कारण रूप में नित्य। कार्य-रूप में इनका कार्य-द्रव्य (कुर्सी, मकान आदि वस्तुएं) अंगों के संयुक्त होने कारण सावयव होता है। इन कार्य-द्रव्य के अंगों को काटते जायं तो वे छोटा होते-होते एक ऐसी अवस्था

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

पर आकर रुकेंगे जहां से इनको उससे छोटा नहीं कर सकते। इन अविभाज्य कणों को परमाणु कहते हैं। जो निरवयव होने से वैशेषिकों द्वारा नित्य, अनन्त, गतिहीन माने जोते हैं। इनमें बाहरी दबाव से गतिशीलता आती है। ये प्रत्यक्षगोचर नहीं होते।

दिक और काल- इनकी सहायता से ही भौतिक द्रव्यों की व्याख्या होती है। ये दोनों ही एक होकर भी भिन्न हैं जैसे शरीर के भीतर का आकाश और बाहर का आकाश भिन्न जान पड़ते हैं, यद्यपि दोनों एक ही हैं। दोनों ही अगोचर हैं तथा नित्य और विभु (सर्वव्यापी) हैं। दिक से अभिप्राय है दिशाओं से पूरब, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊपर, नीचे, यहां, वहां आदि तथा काल से अभिप्राय है, वर्तमान, भूत, भविष्य, प्रातः, सायं आदि।

आत्मा- आत्मा ही चैतन्य का आधार है। यह व्यापक और नित्य है। इसके दो रूप हैं- जीवात्मा और परमात्मा। जीवात्मा अनेक है जो सभी जीवधारी में अलग-अलग है। इसका ज्ञान मन से होता है क्योंकि जीवात्मा में मन का निवास होता है। इनमें विभिन्न अवस्थाएं होती हैं सुखी, दुःखी, धनी, गरीब आदि। इसे प्रमाणित करने के लिए वैशेषिक दर्शन अनेक युक्तियां देता है यथा- (i) आत्मा का गुण चैतन्य है। यही चेतन है। अन्य कोई भी शरीर, इन्द्रिय या मन चेतन नहीं है। लेकिन आत्मा में चेतना तब आती है जब वह शरीर, इन्द्रिय और मन से संयुक्त होता है। (ii) इन्द्रियों का उपयोग करने वाला कोई न कोई होगा। वही आत्मा है। (iii) सुख, दुःख की अनुभूति होती है। यह अनुभूति अन्य द्रव्य नहीं करते पर आत्मा ही करती है। (iv) शिशु की क्रियाएं सहज होती हैं। इससे लगता है कि पहले से उसके साथ ये क्रियाएं जुटी थीं। इससे आत्मा के सत्त की प्रमाणिकता ज्ञात होती है।

परमात्मा नित्य, विभू (व्यापक), एक असीमित, चेतनायुक्त, सृष्टि का निमित्त कारण, पूर्ण और कृपालु है। वही वेद का रचयिता और अदृष्ट नियम का संचालक है।

मन- यह अन्तरेन्द्रिय है। यह परमाणु रूप होने से अदृश्य है। यहां इसे अणु रूप में बताया गया है। यह नित्य, निरवयव, सक्रिय है। इसमें एक समय एक ही प्रकार से आन्तरिक पदार्थों के ज्ञान, इच्छा आदि की अनुभूति है। यह बाह्येन्द्रियों की तरह आन्तरिक भावों के अनुभूति की आन्तरिक इन्द्रिय है। वाह्येन्द्रियों से जो तन्मात्राओं रूप, रस आदि की अनुभूति होती है उसका ज्ञान मन ही करता है।

(ii) गुण

गुण को परिभाषित किया जा सकता है कि- 'गुण वह पदार्थ हो जो द्रव्य में रहता है पर जिसमें और कोई गुण या कर्म नहीं रह सकता एवं वह संयोग तथा विभाग से रहित कार्य का असमवायी कारण होता है। इससे स्पष्ट है कि गुण स्वतंत्र न होकर द्रव्य से आश्रित होता है। यह कर्म से शून्य, गतिहीन, निष्क्रिय तथा गुण और कर्म रहित होता है। इसमें संयोग या विभाग भी नहीं होता। यह वस्तु का उपादना कारण तथा समवायी कारण न होकर असमवाई कारण है जैसे वस्त्र में सूत समवायी कारण तो है पर उसका रंग असमवायी है। यह द्रव्य से भिन्न है क्योंकि यह उसका निष्क्रिय रूप है। द्रव्य की सत्ता में गुण का कोई सहयोग नहीं होता। यह संयोग और विभाग से रहित होता है। यह स्थायी होता है। पर द्रव्य में इसका पूर्ण विरोध होता है। यह कर्म से भिन्न है क्योंकि कर्म द्रव्य का सक्रिय रूप है और यह निष्क्रिय।

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

गुणों के २४ प्रकारों का उल्लेख वैशेषिक करते हैं। काणाद ने सत्रह गुणों का उल्लेख किया है। पीछे प्रशस्तपाद ने सात और जोड़कर चौबीस किया। पर शंका होती है कि चौबीस की ही गणना क्यों ? इसका उत्तर है कि मौलिक सामान्य गुण चौबीस हैं जिनमें अन्य समाहित हैं जबकि गुण असंख्य हैं। इनका विभाजन मूल और यौगिक के दृष्टिकोण पर किया गया है। ये चौबीस हैं-१. रूप २. रस ३. गंध ४. स्पर्श ५. शब्द ६. संख्या ७. परिमाण ८. संयोग ९. विभाग १०. पृथकत्व ११. दूरत्व १२. अपरत्व १३. बुद्धि १४. सुख १५. दु:ख १६. इच्छा १७. द्वेष १८. प्रयत्न १९. गुरुत्व २०. द्रवत्व २१. स्नेह २२. संस्कार २३. धर्म २४. अधर्म। इनमें कुछ भौतिक हैं और कुछ सुख-दु:ख की तरह मानसिक।

रूप– आँख से प्रत्यक्ष है। विभिन्न रंग लाल, पीला आदि पृथ्वी, जल और तेज में दीखता है। **रस** का ज्ञान जीभ से होता है जो छ: प्रकार के हैं : मीठा, तीता, कटु, नमकीन, कषाय और लवण। **गंध** को नाक से जानते हैं जो पृथ्वी का गुण है- सुगंध, दुर्गंध। **स्पर्श** तीन प्रकार के हैं-टंड़ा, गरम, अतिशीतोष्ण जो त्वचा से जाना जाता है। **शब्द** जो कान से जाना जाता है। **संख्या** में एक से अनन्त तक की संख्याओं का व्यवहार करते हैं। परिमाण द्वारा पदार्थ में छोटा-बड़ा, अधिक-कम का भेद होता है। **संयोग** दो पृथक रहने वाले द्रव्यों के मिलन को कहते हैं जैसे हाथ और कलम का संयोग। इसके तीन प्रकार हैं- १. अन्तरकर्मज-यह एक द्रव्य में गति के कारण होता है जैसे चिड़िया का पेड़ पर बैठने से संयोग। २. उभय कर्मज-दो द्रव्यों की गति के कारण होता है जैसे दो पहलवानों का लड़ना। ३. संयोगज-संयोग-एक के संयोग से दूसरे का संयोग होना जैसे हाथ में कलम का संयोग टेबुल से होने के कारण हाथ और टेबुल का संयोग। **विभाग** दो संयुक्त द्रव्यों का अलग होना है। इसके भी तीन प्रकार हैं : १. अन्तर कर्मज-एक द्रव्य क्रिया द्वारा दूसरे से अलग होना जैसे पेड़ से चिड़ियाँ का उड़ना। २. उभय कर्मज-दोनों द्रव्यों का क्रिया से बिलगाव जैसे दोनों पहलवानों का मल्ल युद्ध बन्द करना। ३. संगोज-संयोग एक के छोड़ने से दूसरे द्रव्य का भी छोड़ना जैसे हाथ से कलम छोड़ने से टेबुल का संबंध छूटना। **पृथकत्व** वह गुण है जो उस द्रव्य की अलग पहचान बनाता है। **दूरत्व** परत्व और अपरत्व में द्रव्य का पुराना और नया तथा दूर और समीप का ज्ञान क्रमश: काल और देश (स्थान) के अनुसार लोग करते हैं। **बुद्धि** से वस्तु का ज्ञान होता है जैसे ईश्वर में नित्य बुद्धि होना। **सुख और दु:ख** अनुकूल और प्रतिकूल वेदना है। **इच्छा और द्वेष** क्रमश: अनुराग और विरक्ति है। **प्रयत्न** आत्मा की चेष्टा है जो तीन प्रकार का होता है-१. प्रवृत्ति-वस्तु को पाने का प्रयास २. निवृत्ति-वस्तु से छुटकारा का प्रयास ३. जीवन-योनि प्राण धारण का प्रयास जैसे श्वास लेना। **गुरुत्व** भार के कारण वस्तु का ऊपर से नीचे गिरना। **द्रवत्व** गुण से तरल पदार्थ दूध आदि बहते हैं। **स्नेह** गुण से द्रव्य कणों को चिपकाया जाता है। यह गुण जल में होता है। **संस्कार** तीन हैं : १. वेग-वस्तु को गति देना २. भावना-इस गुण से स्मृति बना रहना तथा प्रत्यभिज्ञा (पहचान) करना ३. स्थिति स्थापकत्व द्रव्य को छोड़ने पर उनका पूर्ण स्थिति में आना। **धर्म** और **अधर्म** जो क्रमश: विहित ओर निषिद्ध कर्मों पर आधारित होता है एवं पुण्य और पाप का आधार है।

(iii) कर्म

यह भी द्रव्याश्रित है। मुख्यत: इसकी क्रिया गतिशीलता है। यह द्रव्य गुणों को जो निष्क्रिय होते हैं उन्हें गतिमान कर देता है। यही पदार्थ को स्थानान्तरित करता है। पर यह गुण ही है

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

क्योंकि गुण द्रव्य में होता है। यह पाँच मर्त द्रव्यों-पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और मन में निवास करता है। शेष द्रव्य सर्वव्यापी होने से इनका निवास स्थान नहीं होता। इसके गतिशीलता के कारण ही द्रव्यों का संयोग तथा विभाग होता है। इससे कर्म की परिभाषा कर सकते हैं 'कर्म द्रव्याधारित, गुणहीन गतिशीलत तथा संयोग विभाग का कारण है।

विशेषताएँ

(i) यह थोड़े काल का होता है। वैशेषिक इसे पांच क्षण तक कायम रहना बताते हैं। (ii) असीमित द्रव्यों में जिनमें स्थान परिवर्तनशीलता नहीं होती यह नहीं पाया जाता। (iii) इसमें गुणहीनता होती है। (iv) यह गुण से भिन्न है क्योंकि गुण निष्क्रिय और यह सक्रिय, गुण स्थायी और यह क्षणिक होता है तथा गुण से संयोग-विभाग संभव नहीं होता और इससे संभव होता है। भले ही दोनों द्रव्याश्रित हैं। (v) यह द्रव्य से भिन्न है क्योंकि द्रव्य स्वतंत्र है और यह द्रव्यपरतंत्र है। (vi) यह कुछ परिस्थिति बाधित कर्म होता है जिनमें प्रमुख है-भारीपन, तरलता, भावना और संयोग।

कर्म के पाँच प्रकार होते हैं- १. उत्प्रेक्षन (ऊपर फेंकना) २. अवक्षेपन (नीचे फेंकना) ३. आकुंचन (अंगों का संकोचन) ४. प्रसारण (अंगों का विस्तार) तथा ५. गमन (गतिशीलता)। चार प्रकारों को छोड़कर अन्य सभी प्रकार के कर्म गमन में शामिल होते हैं।

(iv) सामान्य

एक ही प्रकार की विभिन्न वस्तुओं के सामान्य धर्मा प्रकृति के कारण उन्हें सामान्य कहते हैं। सामान्य को जाति भी कहते हैं क्योंकि एक जाति वर्ग का गुण सामान्य होता है। जैसे सभी गायों में सामान्य धर्म होने से उनमें 'गोत्व' की प्रकृति होती है। इससे उन्हें 'गो' वर्ग का मानते हैं। यह प्रवृत्ति उन सभी में स्थायी होती है तथा वे अपनी अकेली विशेषता रखती है और उन अनेकों में यह समान प्रवृत्ति होती है। इसी से सामान्य को नित्य, एक और अनेकानुगत कहा गया है 'नित्यमेकमनेकानुगतं सामान्यम्'। सामान्य वर्ग के सभी जीवों की इसे वस्तुतः सत्ता मानता है न कल्पना, न मानस धर्म। इसी से वैशेषिय यथार्थवादी होने से वस्तुवादी हैं। इसी सामान्य धर्म के कारण एक जीव अपनी जाति का सदस्य बनता है जैसे गोत्व के कारण किसी गाय को गो जाति का सदस्य माना जाता है। यहाँ स्पष्ट है सामान्य के लिए एक से अधिक वर्ग में होना आवश्यक है।

सामान्य के सम्बन्ध में भारतीय दर्शन में तीन मत प्रतिपादित हैं। **बौद्ध मत के अनुसार यह 'नामवाद' या 'व्यक्तिवाद' है।** इसमें मानते हैं कि एक जाति या वर्ग में जो तादात्म्य की पहचान है वह उनके आवश्यक धर्म के कारण नहीं है बल्कि नाम सामान्य के कारण है। व्यवहार को ठीक बनाए रखने के लिए अलग-अलग वर्गों के जीवों का भिन्न-भिन्न नामकरण किया गया है। जैसे गाय कहने से हम उसे घोड़े से भिन्न कर लेते है न कि सभी में समान धर्मिता के कारण उन्हें गाय कहते हैं। **जैन मत में इसे सामान्य प्रत्ययवाद कहा गया है।** यहाँ सामान्य प्रत्यय है जो जीव के सर्वनिष्ट आवश्यक धर्म के आधार पर होता है। अतः यह उस जीव की सत्ता और उसका आवश्यक अंग है। सामान्य जीवों के साथ यह तादात्म्य सम्बन्ध है।

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

यह बाहर से नहीं आती बल्कि उसके आन्तरिक स्वरूप में रहती है जिसे बुद्धि द्वारा पहचाना जाता है। **न्याय वैशेषिक इसे 'वस्तुवाद' या 'यथार्थवाद' मानते हैं।** वह कहते हैं कि किसी वर्ग के जीव में जो एकता दीखती है वह इसी एक सामान्य के कारण। उनका धर्म समान होने से उन्हें एक वर्ग या जाति का मानते हैं। अगर वहाँ दो सामान्य हो तो वह इस परम्परा के विरोधी हैं। सामान्य नित्य है जैसे गाय का जन्म और मृत्यु भले ही होता है पर 'गोत्व' न पैदा होता है न मरता है। इसलिए यह नित्य है।

सामान्य द्रव्य, गुण और कर्म में रहता है। पर विशेष, समवाय और अभाव का सामान्य नहीं होता। परिमाण के आधार पर सामान्य के तीन भेद किए गए हैं-१. **पर**-सबसे अधिक सामान्य के मिलने पर २. **अपर**-सबसे कम सामान्य के मिलने पर तथा ३. **परापर**-यह दोनों के बीच की स्थिति का नाम है।

(v) विशेष

उन नित्य द्रव्यों में जो समान हैं और जिनमें संख्या के अलावा भेद का आधार नहीं मिलता उनमें भेद करने का आधार विशेष है। पदार्थों को 'व्यक्ति' कहते हैं, विशेष नहीं। पर उनके विशिष्ट व्यक्तित्व को विशेष कहते हैं। सावयव पदार्थ अपने अवयवों से पहचाने जाते हैं। पर जो द्रव्य निरवयव हैं उनमें विशेष समवेत (समाहित) रहता है जिसके आधार पर उनके भिन्नता का ज्ञान होता है। ऐसे द्रव्य नित्य होते हैं जैसे दिक काल, आत्मा, चारों तत्व (पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि) आदि के परमाणु। इन द्रव्यों के व्यक्तिगत स्वरूप होते हैं जिनके कारण एक की पहचान दूसरे से अलग होती है। यही विशेष कहलाते हैं। इसके द्रव्य में समाहित रहने के कारण ही इसकी स्वतंत्र सत्ता नहीं होती। ऐसे द्रव्यों की संख्या असंख्य होने से विशेष भी असंख्य होते हैं। यह परमाणु की तरह अप्रत्यक्ष और अदृश्य होता है। विशेष उतना ही वास्तविक है जितना वह पदार्थ जिसमें यह रहता है। इस दर्शन में 'विशेष' को स्वतंत्र पदार्थ मानने के कारण ही इसका नामकरण वैशेषिक पड़ा है।

(vi) समवाय

वह सम्बन्ध जिसमें दो पदार्थ एक दूसरे में स्थायी रूप से मिले होते है समवाय कहा जाता है। यह नित्य और अपृथक सम्बन्ध है। अपृथक अस्तित्व यहाँ दोनों पदार्थों का नहीं किया जा सकता। इस विशेषता को अयुतसिद्ध कहते हैं। इसमें दोनों का अस्तित्व अलग रह ही नहीं जाता जैसे गुलाव का गंध से। इस सम्बन्ध में एक पदार्थ आधार होता है और दूसरा उसके आश्रित होता है। जैसे गुलाब का फूल आधार है और सुगंध उसके आश्रित है। इसमें आश्रय आश्रित में समाहित नहीं होता जैसे सुगंध में गुलाब का फूल समाहित नहीं होता।

समवाय विशेष की तरह अनेक न होकर एक होता है। यह अदृश्य होता है। इसका नाम अनुमान द्वारा किया जाता है। डॉ. राधाकृष्णन् के अनुसार 'समवाय सम्बन्ध प्रत्यक्ष नहीं होता पर वस्तुओं के पृथक न हो सकने वाले सम्बन्ध से इसका केवल अनुमान किया जा सकता है।

इस प्रकार के सम्बन्ध के लिए एक दूसरा शब्द है संयोग। पर दोनों में अन्तर है। वैशेषिक की दृष्टि से इनके बीच निम्न भिन्नता है-१. संयोग स्वतंत्र पदार्थ न होकर गुण नामक पदार्थ का

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

एक प्रकार है जबकि समवाय की सत्ता स्वतंत्र है। २. संयोग अनित्य है कभी जुटता है कभी छूटता है जैसे गाड़ी और प्लेटफार्म का संयोग। पर समवाय नित्य है। गुलाब का सुगंध फूल से अलग नहीं किया जा सकता। ३. संयोग आकस्मिक सम्बन्ध है जो परिस्थितिवश होता है जैसे हवा के झोके से दो सूखे पत्तों का एक साथ मिल जाना। पर समवाय आवश्यक सम्बन्ध है जिसके बिना वह हो ही नहीं सकता जैसे गुलाब का फूल और सुगंध। ४. संयोग के लिए कर्म आवश्यक है पर समवाय प्रकृत जनित होता है। ५. संयोग पारस्परिक होता है पर समवाय में आश्रित आश्रय के ही अधीन रहता है। ६. संयोग वाह्य सम्बन्ध है और समवाय आन्तरिक।

(vii) अभाव

'किसी वस्तु का किसी, विशेष काल काल और स्थान में अनुपस्थित होना ही अभाव है।' जैसे रात्रि के आकाश में चाँद, तारों का होना पर सूर्य का न होना। यहाँ परिस्थिति है रात्रि, स्थान है आकाश और अभाव है सूर्य का तब न होना। अभाव 'शून्य' नहीं है पर 'कमी' है, जो था पर अब नहीं है।

अभाव की गणना पदार्थ के रूप में कणाद ने नहीं किया है। पर इसका उल्लेख कई बार किया है। पदार्थ के रूप में इसकी गणना बाद के वैशेषिको ने किया।

अभाव की मान्यता इसलिए स्वीकार की जा सकती है कि अभाव का ज्ञान प्रत्यक्ष से होता है जैसे रात को आकाश में सूरज का न दीखना। २. अभाव को शब्दों द्वारा व्यक्त किया जा सकता है इससे वह पदार्थ है। ३. अभाव के कारण ही संसार की वस्तुओं को नित्य और अनित्य में विभाजित कर सकते है। ४. जब सम्बन्ध की बात करते हैं तो उसके पूर्व अभाव का होना स्वतः प्रकट हो जाता है। ५. मोक्ष का अर्थ दुःखों का अभाव है। अतः यह मोक्ष सम्बन्धी विचार का कारण है।

अभाव के दो प्रकार और उनके भी आवांतर भेद किए गए हैं यथा :
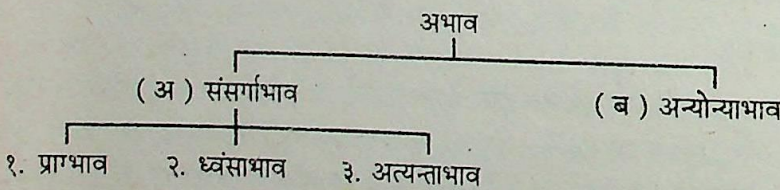
ऊपर की तालिका में अभाव के दो प्रकार हैं- (अ) संसर्गाभाव तथा (ब) अन्योन्याभाव। **संसर्गाभाव** उस अभाव को कहते है जब एक वस्तु का दूसरी वस्तु में अभाव होता है जैसे 'क' का 'ख' में अभाव या गाय का घोड़े में अभाव। यह तीन प्रकार का होता है। **१. प्रागभाव**-वस्तु के बनने के पहले कारण में उसका अभाव जैसे मिट्टी का घड़ा बनने के पहले मिट्टी में घड़े का अभाव। पर घड़ा बन जाने पर घड़ा का अभाव दूर हो जाता है। इस स्थिति को सान्त कहते हैं। इस प्रकार इसकी विशेषता है कि यह अनादि अनित्य और सान्त है। २. **ध्वंसाभाव**-विनाश के बाद उस वस्तु का अभाव। जैसे ध्वंस हो जाने के बाद घड़े का अभाव। यह सादि (ध्वंस का आदि = प्रारम्भ) है। ३. **अत्यन्ताभाव**-त्रिकाल (वर्तमान, भूत तथा भविष्य) में अभाव। जैसे

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

खरहे की सींग, आकाश कुसुम आदि। यह अनादि और अनन्त है। इस अभाव की उत्पत्ति सम्भव नहीं है। वही घड़ा फिर नहीं बनाया जा सकता। दूसरा अभाव है **अन्योन्याभाव**। इसका अभिप्राय है दो वस्तुओं का परस्पर भेद जैसे पेड़ मकान नहीं है, घड़ा कपड़ा नहीं है। इसमें दो वस्तुएँ एक नहीं है, उनमें तादात्म्य नहीं है। यह अनादि और अनन्त है। अभाव का महत्व इसलिए है कि प्रागभाव न रहने से वस्तुएँ अनादि हो जायंगी। ध्वंसाभाव के न रहने से सभी वस्तुएँ अनन्त हो जायंगी। यदि अत्यन्ताभाव न रहे तो वस्तुएँ नित्य और विभू हो जायंगी। अन्योन्याभाव के अभाव में वस्तुएँ अभिन्न हो जायंगी।

२. परमाणुकारणवाद या सृष्टि और प्रलय का सिद्धान्त

वैशेषिक इस संसार के सारे भौतिक पदार्थों को परमाणुओं के संयोग द्वारा निर्मित तथा परमाणु-संयोग विभाग द्वारा विनाशशील मानते है। परमाणु को ही सृष्टि का मूलतत्व माना गया है। इसलिए परमाणुकारणवाद ही सृष्टि और प्रलय का सिद्धान्त है। पर परमाणु तो नित्य होते हैं। किन्तु वैशेषिक का परमाणुवाद जगत के उसी भाग के विषय में विचार करता है जो उत्पन्न होता हैं और विनाशशील हैं। इस प्रकार यहाँ जगत के अनित्य पदार्थों का सृष्टि और लय परमाणुवाद द्वारा बताया गया है। वे तत्व जो स्वयं नित्य है, जो न उत्पन्न होते हैं न उनका विनाश होता है जैसे दिक्, काल, मन, आकाश, आत्मा और भौतिक परमाणु उनको परमाणुवाद द्वारा नहीं बताता है। परमाणु किसी पदार्थ का वह अन्तिम छोटा टुकड़ा है जिसके बाद उसका विभाजन नहीं हो सकता। अत: यह नित्य, अतीन्द्रिय, निरवयव और अविभाज्य द्रव्य भाग है।

वैशेषिक मानते हैं कि कार्य द्रव्य चार प्रकार-पृथ्वी, जल, तेज और वायु के परमाणुओं से बनते हैं। इसी से वैशेषिक मत परमाणुवाद कहलाता है। किन्तु यह परमाणुओं का संयोग और विभाग का कारण कर्मफल को मानता है। परमाणु में एक 'विशेष' होता है जो उसके साथ जुटा होता है। परमाणु असंख्य होते हैं तथा उनके गुण भी भिन्न-भिन्न होते हैं। वायु के सूक्षतम परमाणु में स्पर्श गुण, तैजस (अग्नि) परमाणुओं में रूप और स्पर्श, जल परमाणुओं में रस, रूप और स्पर्श तथा पृथ्वी के परमाणुओं में गंध, रस, रूप और स्पर्श चारों गुण होते हैं। ये उसके साथ परिमण्डलाकार बने रहते हैं यथा–

इन्हीं चार तत्वों के परमाणुओं को सृष्टि और प्रलय का उपादान कारण माना गया है।

ये परमाणु निष्क्रिय होते हैं। पर वैशेषिक मानते हैं कि इनमें स्पन्दन 'अदृष्ट' से होती है। पहले मानते थे कि 'अदृष्ट' जीवात्मा है। पीछे ईश्वर को अदृष्ट का निमित्त कारण स्वीकार कर आत्मा के फलाफल भोग के लिए जो उसमें संचित होता है, उसे शरीर और भोग साधन इन्द्रियों के उत्पादार्थ परमाणुओं को गतिमान कर उनके संयोग से सृष्टि की रचना बताई गई। यह फलाफल कर्मानुसार बनता है। इसी के लिए संसार के स्वामी माहेश्वर अपनी इच्छानुसार ब्रह्मा से सृष्टि कराते हैं तथा फलाभोग के शेष होने पर प्रलय करते हैं। प्रलय और सृष्टि का यह क्रम अनादि है इसलिए कौन प्रथम सृष्टि है नहीं कहा जा सकता। सृष्टि का अर्थ है पुराने को ध्वंसकर नये की रचना करना। उत्पादन कारण परमाणुओं का स्वरूप छत के छेद से उतरने वाले सूर्य किरणों में चमकने वाले छोटे कणों की तरह होता है जिनके संयोग से सृष्टि रची जाती है। चार

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

तत्वों-वायु, जल, तेज और पृथ्वी के परमाणुओं में से दो तत्वों के परमाणुओं के संयोग से द्वयणुक, तीन द्वयणुकों के संयोग से त्रयणुक और चार त्रयणुकों के संयोग से चतुरणुक बनता है जिनकी छोटी बड़ी संख्याओं से मिलकर छोटे-बड़े द्रव्य बनते हैं। इन्हीं परमाणुओं के संयोग का फल है वायु, जल, तेज और पृथ्वी की रचना, जिसकी व्यवस्था ईश्वर करता है। वैशेषिक आध्यात्मिक होने के कारण जीवात्मा और ईश्वर को भौतिक नहीं आध्यात्मिक मानते हैं।

जीवात्मा एक सृष्टि में अनेक योनियों में कर्मानुसार जीते मरते घूमते हुए जब सुख-दुःख का भोग करते थक जाता है तो विश्राम के लिए प्रलय होता है। दो प्रलयों के बीच की सृष्टि को 'कल्प' कहते है। कल्प भी अनवरत चलता रहता है। जीवात्माओं की तरह ब्रह्मा भी जब शरीर छोड़ते हैं तो माहेश्वर इच्छानुसार प्रलय करते हैं जिसमें संयुक्त परमाणु बिखर जाते हैं तथा शरीर और इन्द्रियों का नाश हो जाता है। तब संसार रचना के सहाय चारों तत्व-पृथ्वी, वायु, जल, तेज, दिक्, काल, आकाश, मन और आत्मा, पाँच स्थायी द्रव्य तथा जीवात्माओं के धर्माधर्म से बने संस्कार मात्र शेष रह जाते है जिनसे कल्प के बाद नई सृष्टि की रचना होती है।

३. ईश्वर

ऊपर के विवरण से स्पष्ट है कि वैशेषिक ईश्वर की सत्ता और व्यवस्था को मानते हैं। भले ही कणाद ने स्पष्ट रूप से ईश्वर का उल्लेख नहीं किया है पर वेद वचनों को उन्होंने माना है जो ईश्वर प्रणीत होने से ईश्वर के प्रति उनकी मान्यता का बोधक है। बाद के ग्रन्थकार ईश्वर सिद्धि के लिए प्रमाण देते हैं। वे मानते हैं कि वेद ईश्वर के वचन हैं। ईश्वर ही संसार का निमित्त कारण, व्यवस्थापक, सृष्टि के लिए परमाणुओं में स्पन्दन और संयोग करता तथा प्रलय काल में सारी क्रियाओं को बन्द कर सृष्टि का समाप्तकर्ता फलाफल का भोग दाता आदि है। उसे ही अदृष्ट, नित्य, सर्वज्ञ और पूर्ण मानते हैं।

४. बंधन-मोक्ष

बंधन का कारण अज्ञान है। इसी के कारण कर्म करने से आत्मा धर्माधर्म का भागी होकर तदनुरूप फलाफल का भोग करता है। इसी भोग के लिए सृष्टि की रचना होती है। यह क्रिया तब तक चक्रवत चलती रहती है जब तक वह धर्माधर्म कर्म से फलाफल को संचित रखता है। यही क्रम बंधन है। जब आत्मा शरीरी होती है और इन्द्रियों के संयोग से बाह्य विषयों के संसर्ग में आती है तो बंधन प्रारम्भ हो जाता है। इस प्रकार बंधन मुक्त आत्मा का एक आगन्तुक गुण है जो इसके कर्मजाल में फंसने के कारण होता है।

परमात्मा का कर्मजाल से छूटना, अज्ञान का विनाश, इन्द्रिय और मन से छुटकारा पाना, बाह्य सम्पर्क का अभाव, सुख-दुःख के भाव का न उठना ही बंधन का कटना है। जब बंधन कट जाता है तो आत्मा शरीर से निकल कर विशेष सहित ओंकार में समाहित हो जाती है। वहाँ वह द्रव्य रूप में स्थित होकर निष्क्रिय, ज्ञान तथा सुख-दुःख से रहित, इच्छाओं से दूर, संकल्प-विकल्प से अलग, भेदाभेद से दूर हो जाती है, जहाँ वह अचेतन और जड़वत हो जाती है। यही स्थिति है मोक्ष।

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

समीक्षा

वैशेषिक का परमाणुवाद भौतिकवादी नहीं है कि सम्पूर्ण जड़ चेतन के संयोग का फल संसार को मानता हो। यह केवल चार तत्वों के परमाणुओं से संसार को निर्मित मानता है। फिर ये अचेतन हैं तो अचेतन से चेतन संसार कैसे बनेगा? यहाँ वह अदृष्ट का सहारा लेता है पर वह भी अचेतन है। यह मानता है कि वायु के परमाणुओं में एक गुण है जबकि पृथ्वी में सर्वाधिक चार हैं तो इनमें परस्पर विरोध होगा जिससे इनका एकीकरण सम्भव नहीं है। परमाणुओं को निष्क्रिय मानकर उनसे सक्रिय संसार और प्रलय की कल्पना करना विरोधाभास है। एक ही साथ ये सक्रिय और निष्क्रिय नहीं हो सकते। यदि उन्हें न सक्रिय न निष्क्रिय माना जाय तो बाहरी तत्व से उनमें सक्रियता का होना मानेंगे। तब वह बाहरी तत्व परमाणुओं के अस्तित्व के बाद का माना जा सकता है पूर्व का नहीं। बाहरी तत्व को 'अदृष्ट' कहा जाता है। तो अदृष्ट की क्रिया स्थायी होगी फिर विनाश और सृष्टि एक के बाद दूसरे का होना सम्भव नहीं होगा।

आत्मा का गुण चेतन है पर वैशेषिक उसे अचेतन मानकर चेतन को उसका आगन्तुक गुण मानता है। जहाँ अन्य दर्शन ईश्वर को संसार का स्रष्टा बताते हैं। वहाँ परमाणुओं के संयोग से यह सृष्टि के सृजन की बात कहता है। द्रव्य के विषय में यह कुछ नहीं कहता। उसे गुण और कर्म का आश्रय बताता है। इसके कर्म विचार में संसार के सभी कर्मों को समाहित नहीं किया गया है। इसके 'सामान्य' विषय धारणा के आलोचना में शंकर ने कहा है कि सामान्य गाय और विशिष्ट गाय में गोत्व नहीं पाया जाता। यदि ऐसा होता तो गाय के सभी अंगों से दूध निकलता। यद्यपि यह विशेष की बात करता है पर उसके स्वरूप को यह नहीं बताता। समवाय सम्बन्ध को नित्य कहना इसका दोष है क्योंकि एक वस्तु दूसरी पर आश्रित है और अविभाज्य है पर दूसरी आश्रित नहीं है, वह स्वतंत्र है इसलिए उसका विभाजन होता है।

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

अध्याय-२०

सांख्य दर्शन

यह सबसे पुराना भारतीय दर्शन माना जाता है। इसके बीज श्वेताश्वर, प्रश्न, कठ आदि उपनिषदों, महाभारत, गीता, स्मृतियों तथा पुराणों में मिलते हैं। शंकराचार्य ने इसे वेदान्त का प्रमुख विरोधी कहा है तथा ब्रह्मसूत्र के रचयिता बादरायण ने इसके श्रुतिमूलक होने का खण्डन किया है। ये सभी बातें भी इसकी प्राचीनता के प्रमाण हैं। बुद्ध पूर्व इस पर कपिल मुनि ने मूल ग्रन्थ 'तत्व-समास' में इसको अति संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत किया था। पीछे इसी के विस्तार के लिए उन्होंने 'सांख्य प्रवचन सूत्र' जिसे 'सांख्य सूत्र' भी कहते हैं लिखकर इसकी व्याख्या की। कपिल ही इसके प्रणेता माने जाते हैं। गीता में कृष्ण ने कपिल को अपनी विभूतियों में बताया है-'सिद्धानाम कपिलो मुनिः', मैं सिद्धों में कपिल मुनि हूँ। पर कपिल की दोनों रचनाएँ आज तक मिली नहीं। सम्भवतः नष्ट हो गईं। इसी से अब ईश्वर कृष्ण की 'सांख्य कारिका' इसका मूल स्रोत माना जाता है। सांख्य प्रवचन सूत्र को अधिकांश विद्वान चौदहवीं शती की रचना मानकर उसे कपिल प्रणीत नहीं स्वीकार करते। सांख्यकारिका पर कई टीकाएँ लिखी गईं जिनमें मुख्य हैं वाचस्पति मिश्र की 'सांख्य तत्व कौमुदी' जो अधिक मान्य है। गौड़पाद ने भी टीका लिखी है। विज्ञान भिक्षु का 'सांख्य प्रवचन भाष्य' तथा 'सांख्य सार' भी इस दर्शन के चर्चित ग्रन्थ हैं।

इसके 'सांख्य' नामकरण के सम्बन्ध में कई मत प्रचलित हैं-१. तत्वों की संख्या इस दर्शन में पच्चीस निर्धारित की गई हैं। अतः संख्या निर्धारक होने के कारण इसे 'सांख्य' कहा गया। गीता में इसे 'तत्त्व संख्यान' कहा गया है। २. सांख्य के प्रणेता का नाम कुछ लोग शंख बताते है जिसके कारण इसको यह नाम दिया गया। किन्तु यह अमान्य तर्क है क्योंकि इसके प्रणेता तो कपिल है। ३. सांख्य में दो अक्षर हैं सं=सम्यक् + ख्या=ज्ञान। इस प्रकार सांख्य=सम्यक् ज्ञान या आत्म विषयक ज्ञान वाला दर्शन है क्योंकि इसमें पुरुष और प्रकृति का अलग-अलग ज्ञान दिया गया है। यही सही प्रतीत होता है। इसी से इसे द्वितत्त्व (पुरुष और प्रकृति) प्रतिपादक दर्शन कहते हैं।

सांख्य की विशेषता है कि इसमें दो तत्त्वों की मान्यता है-प्रकृति और पुरुष। यह अन्य दर्शनों के ईश्वर और सृष्टिवाद का खण्डन करता है। यद्यपि ईश्वर का खुला विरोध नहीं करता पर उस पर मौन रहना ही उसकी सत्ता का न मानना है। यह पुरुष (आत्मा) की अनेकता को मानता है। यह अकेला भारतीय दर्शन विकासवाद को प्रस्तुत करता है। अपनी महत्ता के कारण वेदान्त के बाद यह दूसरा महत्वपूर्ण दर्शन माना जाता है।

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

१. कार्यकारणवाद या सत्कार्यवाद

यही सांख्य के प्रकृतिवाद का आधार है। इसे सत्कार्यवाद भी कहते हैं। यह मान्य है कि किसी भी कार्य के लिए कोई कारण होता है। पर क्या कार्यकारण में उत्पत्ति से पहले विद्यमान रहता है अथवा नहीं? इसे सकारात्मक स्वीकार करना सत्कार्यवाद है और नहीं मानना असत्कार्यवाद।

सत्कार्य शब्द दो शब्दों के योग से बना है सत्=स्थिति तथा कार्य=परिणाम से पूर्व। इसका अभिप्राय है कि पहले से ही कार्य की स्थिति का कारण में विद्यमान रहना। अत: सतकार्यवाद कारण में पहले से ही कार्य की सत्ता को स्वीकार करता है। कारण में कार्य बीज रूप में बना रहता है और कार्य में कारण स्वभाव रूप से स्थित होता है। इसमें कार्य अव्यक्त रूप में होता है। यहाँ उत्पादन का अर्थ नया आरम्भ या उत्पादन, नहीं कह सकते बल्कि कारण में निहित अव्यक्त कार्य का पूर्णत: अभिव्यक्त होना है। यहाँ विनाश से अभिप्राय व्यक्त कार्य का अपने कारण में फिर विलीन हो जाना है न कि सर्वथा विनाश। इस प्रकार सृष्टि या उत्पत्ति आविर्भाव है और प्रलय या विनाश तिरोभाव है। यहाँ कार्य और कारण एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। कार्यावस्था में कारण कार्य को अभिव्यक्त करता है तथा कारणावस्था में कार्य बीज रूप में कारण में निहित रहता है। जैसे दही, दूध का नया कार्य नहीं है यह दूध में पहले से रहता है जो समय से प्रकट होता है। यही सांख्य मत है।

दूसरी ओर असत्कार्यवाद में कार्य प्रारम्भ होने से पूर्व कार्य की सत्ता होती ही नहीं। कार्य पूर्णत: नया प्रारम्भ या उत्पादन है। इसी से इसे आरम्भवाद कहते हैं। नाम से ही स्पष्ट है अ=नहीं + सत्=अस्तित्व + कार्य=कार्य के प्रारम्भ होने से पूर्व उसका कोई अस्तित्व नहीं होता। जैसे मिट्टी में पहले से घड़ा का तत्व निहित नहीं होता। इसी से यहाँ विनाश का अर्थ है 'सर्वथा विनाश'। इस मत के समर्थ हैं हीनयानी बौद्ध, न्याय, वैशेषिक तथा कुछ मीमांसक।

सांख्य अपने मत सत्कार्यवाद के समर्थन तथा असत्कार्यवाद के खण्डन में निम्न युक्तियाँ देता है-

१. यदि कार्य कारण में पहले से न रहता तो कारण से कार्य का आविर्भाव कैसे होता जैसे तेल बालू में अविद्यमान होने से उससे नहीं निकाला जा सकता। पर सरसों में पहले से रहने से निकाला जाता है।

२. यह प्रत्यक्ष है। विशेष कारण से ही विशेष कार्य होता है। ऐसा नहीं कि किसी कारण से किसी कार्य को कर लिया जाय। जैसे तेल के लिए तिल पेरना ही पड़ेगा क्योंकि तिल में तेल पहले से है।

३. किसी भी खास कार्य का प्रादुर्भाव एक खास कारण से होता है। जैसे जब भी तेल निकलेगा तो तिल या सरसों से ही। स्पष्ट है विशेष कार्य विशेष कारण में पूर्व निहित होता है।

४. शून्य से उत्पादन नहीं हो सकता। यदि कार्य कारण में निहित न हो तो कारण के प्रयास पर कार्य नहीं होगा।

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

५. एक ही वस्तु अव्यक्त और व्यक्त स्थिति में क्रमशः कारण और कार्य नाम से जाने जाते हैं। जैसे तेल अव्यक्त या कारण में तिल कहा जाता है पर व्यक्ति स्थिति में तिल का तेल कहा जाता है। इसी को 'कारण भवात्' कहा गया है।

६. यदि कारण कार्य से भिन्न होता या मात्र संयोजन होता तो उनका स[illegible] या विलगाव नहीं होता।

इन तर्कों से सत्कार्यवाद की पुष्टि की गई है।

सत्कार्यवाद के दो रूप हैं-१. भावात्मक और निषेधात्मक। भावात्मक को परिणामवाद कहते हैं क्योंकि इसमें मानते हैं कि कार्यकारण का परिणाम होता है जैसे मिट्टी का परिणाम घड़ा है तथा दूध का परिणाम दही है। यहाँ कार्य में कारण का वास्तविक रूपान्तरण हो जाता है। इस मत को सांख्य, योग, रामानुज के विशिष्टाद्वैत में स्वीकार किया गया है। पर सांख्य और रामानुज में अन्तर है। सांख्य विश्व को प्रकृति का परिवर्तित रूप मानते है पर रामानुज ब्रह्म का परिवर्तित रूप। अतः एक प्रकृत परिणामवादी है पर दूसरा ब्रह्म परिणामवादी। दूसरा पक्ष निषेधात्मक विवर्तवाद कहा जाता हैं। यहाँ कारण का कार्य में रूपान्तर वास्तविक न होकर विवर्त या आभास (प्रतीति) होता है। जैसे रस्सी को साँप समझ लेना वास्तविकता से दूर है। रस्सी साँप नहीं हो जाता है। पर हम भ्रमवश वैसा आभास कर लेते है। शंकर इसके प्रमुख समर्थक है। उनका मानना है कि ब्रह्म एक है। नाना रूपात्मक जगत में उसका रूपान्तरण होना असम्भव है। साथ वह अपरिवर्तनशील होने से रूपान्तरित कैसे हो सकता है। अतः यह विश्व ब्रह्म का विवर्त है। इस पक्ष के दूसरे समर्थक शून्यवाद, मूल विज्ञानवाद आदि हैं। इनके सिद्धान्त को शाङ्करवेदान्त-ब्रह्म-विवर्तवाद, शून्यता-विवर्तवाद तथा विज्ञान-विवर्तवाद कहते हैं। इसे इस प्रकार व्यक्त कर सकते हैं :
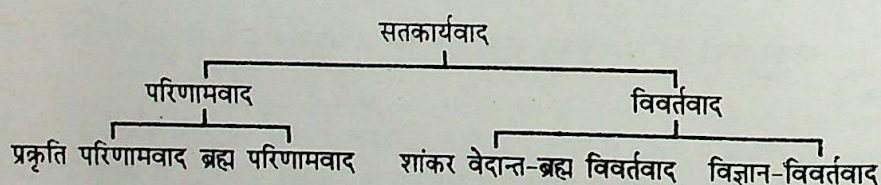
सांख्य का सत्कार्यवाद प्रकृति परिणामवाद है। इसको सिद्ध करने के लिए निम्न श्लोक में पाँच युक्तियाँ दी हैं-

असदकरणादुपादानग्रहणात सर्वसम्भवाऽभावात।
शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावोच्च सत्कार्यम्।।

सांख्यकारिका, १

१. **असदकरणात्**– असत् से सत् का निर्माण नहीं हो सकता। जो असत् है उसे भला सत कैसे सिद्ध किया जा सकता है जैसे शशक (खरहे) के सिर पर सींग होना कैसे सिद्ध हो सकता है। उसी प्रकार यदि कार्य उत्पत्ति से पहले कारण में विद्यमान न हो तो कारण कैसे कार्य को उत्पन्न करेगा। अतः सत्कार्य सिद्ध है।

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

२. **उपादान ग्रहणात**। उपादान कारण कार्य को अपने में ग्रहण किए रखता है। तेल निकालने के लिये सरसों या तिल को इसलिए चुनते हैं कि इसमें पहले से तेल अव्यक्त रूप में विद्यमान है। अगर ऐसा न हो तो बालू या कंकड़ को ले तो वह नहीं देंगे। इसलिए कार्य का उपादान कारण में पूर्व विद्यमानता सिद्ध है।

३. **सर्वसम्भवाऽभावात्**। सभी कारणों में सभी कार्यों का अभाव रहता है। विशिष्ट कारण में ही विशिष्ट कार्य निहित होता है जैसे तैल बीजों में तेल का भाव होना इसे सिद्ध करता है।

४. **शक्तस्य शक्यकारणात्**। शक्त कारण=जिस कारण में किसी कार्य के उत्पन्न करने की शक्ति है उसी से शक्य कार्य= अनिष्ट कार्य सम्भव होता है। स्पष्ट है कि कारण में पूर्व कार्य की विद्यामानता ही कार्य उत्पन्न करने की उसकी शक्ति है जैसे तेलवाले बीजों में पूर्व से तेल का होना। यहाँ कार्य की योग्यता कारण की दृष्टि से आंकी गई है। इससे यह सिद्ध हुआ।

५. **कारण भावात्**। कारण और कार्य दोनों अभेद हैं। भेद इनका व्यावहारिक है। कार्य कारण की व्यक्तावस्था है और कारण कार्य का अव्यक्तावस्था। जैसे मिट्टी घड़े की अव्यक्ता अवस्था है और घड़ा मिट्टी का व्यक्तावस्था है। अतः यह सिद्ध हुआ।

इस पर अनेक आपत्तियाँ की गई हैं : १. पहले से कार्य का कारण मे विद्यमानता होने से कार्य की व्याख्या करना कठिन हो जाता है। २. यदि कार्य कारण में पहले से ही है तो कारण को कैसे निमित्त कारण कहा जाय। ३. कार्य की पूर्व उपस्थिति के कारण कार्य कारण में भेद करना कठिन है। ४. पहले से कार्य के अव्यक्त होने के कारण उसके व्यक्त होने पर यह कहना उचित होगा कि कार्य से कार्य की उत्पत्ति हुई। ५. अगर कार्य कारण मिले हैं तो उनका प्रयोजन एक होना चाहिए और नाम भी दो नहीं एक होना चाहिए।

यह अत्यन्त महत्वपूर्ण है क्योंकि विकासपाद की सिद्धान्त सत्कार्यवाद की देन है तथा प्रकृति की महत्ता इसी आधार पर यहाँ सिद्ध की गयी है।

२. प्रकृति

जगत कार्यकारण का प्रवाह है। पर जगत कार्यों के श्रृंखला का कारण क्या है? पहले ही देखा गया है कि सांख्य ने दो बिन्दुओं पर विशेष बल दिया है-पुरुष और प्रकृति। क्या यह आत्मा या पुरुष है? यह नहीं स्वीकार किया जा सकता क्योंकि वह इससे मुक्त है। न वह किसी वस्तु का कार्य है न कारण। चार्वाक, वैशेषिक, न्याय, मीमांसा, बौद्ध तथा जैन इसे चार भूतों : पृथ्वी, जल, वायु और अग्नि के परमाणुओं को योग माना है। पर सांख्य संसार में सूक्ष्म (मन, बुद्धि, अहंकार आदि) और स्थूल (जिनका आकार दिखाई पड़ता है) दो प्रकार के पदार्थों को योग मानता है। इसलिए इसका कारण वही हो सकता है जो इन दोनों प्रकार के पदार्थों की व्याख्या कर सके। चूँकि भूतों से सूक्ष्म पदार्थों की व्याख्या न होने से सांख्य उनके परमाणुओं को कारण नहीं मानता। महायान बौद्ध दर्शन इसे चेतना मानता है। पर इससे सूक्ष्म की व्याख्या तो हो सकती है किन्तु स्थूल की नहीं। इससे यह भी सांख्य को अमान्य है। अतः जगत के कारणस्वरूप 'प्रकृति' को ही मानता है। यह सभी स्थूल वस्तुओं की जननी होने के साथ सूक्ष्म पदार्थ भी है। इसलिए जगत के कारण की पूर्व व्याख्या प्रकृति से ही सम्भव मानता है।

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

प्रकृति संसार का कारणभूत प्रथम भौतिक तत्व है। इससे इसे प्रधान भी कहा जाता है। भौतिक पदार्थ होने से यह जड़ है। विकासमान होने से इसे ब्रह्म कहा जाता है। यह विश्व का कारण होने से सभी पदार्थों में अव्यक्त रूप से विद्यमान रहता है। इसका ज्ञान कार्यों से कारणरूप अनुमान से होने से यह अनुमान है। यह एक है। इसे जड़ कहा गया है। माया कहे जाने के कारण यह वस्तुओं को सीमित करता है। इसके निरन्तर गतिशील होने के कारण इसे शक्ति कहते हैं। यह सामान्य तथा अनेक पुरुष भोग्या है। यह विवेकशून्य और स्वतंत्र है। यह व्यापक तथा नित्य है। यह त्रिगुणात्म (सत्, रज, तम युक्त) होने से सुख दुःख का अनुभव करता है पर अचेतनता के कारण यह अनुभवहीन है। समस्त जगत इसी से उत्पन्न होने से तथा पदार्थों की सर्जिका होने के कारण यह प्रसवधर्मिणी है। प्रकृति शाश्वत है और दिक्, काल की सीमा से अवाध्य है। यह निरवयव और अदृश्य है। यह व्यक्तित्वहीन है क्योंकि व्यक्तित्व के लिए आवश्यक बुद्धि और संकल्प का इसमें पूर्णतः अभाव है। सृष्टि के समय संसार प्रकृति की गोद में बना रहकर कार्यरूप में अभिव्य होता है और प्रलय काल में पुनः यह प्रकृति में समाहित हो जाता है। यह अविद्या है क्योंकि यह ज्ञान का विरोधात्मक है।

प्रकृति की स्वतंत्र सत्ता-

इसकी सिद्धि के लिए निम्न श्लोक द्वारा पाँच युक्तियाँ दी गई हैं :

भेदानां परिभाणात् समन्वयात् शक्तिः प्रवृत्तेश्च।
कारणकार्यविभागादविभागाद् वैश्यरूप्यस्य।।

सांख्यकारिका, १५

१. **भेदानां परिभाणात**। यह संसारी नियम है कि जगत के पदार्थ अपने से भेद या भिन्नता की ओर बढ़ते है। जैसे संसार के पदार्थ सीमित, परतंत्र, अनित्य, अव्यापक और अनेक हैं। पर विश्व का कारण इन्हें न बताकर इनसे भिन्न असीमित, स्वतंत्र, नित्य व्यापक और एक बताया गया है। यह प्रकृति की ओर संकेत करता है।

२. **समन्वयात्**। जगत के सभी पदार्थों में गुण का समन्वय होता है। इससे एक ही क्रिया समय-समय पर गुणों की प्रधानता के कारण पदार्थों में सुख-दुःख तथा मोह उत्पन्न करते हैं जैसे प्रेमिका प्रियतम को सुखी, दूसरी प्रेमिका को दुःखी तथा अन्य लोगों को मोहित करती है। यह तीनों गुणों का समन्वय त्रिगुणात्म प्रकृति की स्वतंत्र सत्ता सिद्ध करता है।

३. **शक्तिः प्रवृत्तेश्च**। कारण की शक्ति से समस्त कार्य उत्पन्न होता है। इसलिए यह जड़ संसार शक्तिशाली की प्रकृति से उद्‌भूत होता है।

४. **कारणकार्यविभागात**। संसार अपना कारण स्वयं नहीं हो सकता। जब कार्य का सम्पादन होता है तो कारण और कार्य में भेद होता है। इससे स्पष्ट है कि सभी सम्पादित कार्य अव्यक्त कारण से उत्पन्न हो कि उसका कोई कारण न हो अन्यथा यह क्रम अनन्त तक चलेगा। इसका कोई अन्त नहीं होगा। ऐसा अव्यक्त कारण प्रकृति ही है।

५. **अविभागाद वैश्यरूप्यस्य**। सृष्टि के समय कारण से कार्य उत्पन्न होता है। प्रलय की स्थिति में सभी कार्य कारण में विलीन होकर अभिन्न हो जाते हैं। यह कारण ऐसा हो कि

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

उसी से सभी वस्तुएँ उत्पन्न हों और उसी में उनका लय हो। यह प्रकृति ही है जो उत्पन्न भी करती है और अपने में समाहित भी कर लेती है।

प्रकृति के गुण

ये प्रकृति को त्रिगुणात्मक कहते हैं। गुण तीन हैं-सत्व, रज और तम। ये प्रकृति के द्रव्य हैं। इन्हें विशेषण के रूप में प्रयोग करना यहाँ भ्रान्तिमूलक है। ये द्रव्य होने के कारण प्रकृति के साथ रहते हैं और उससे अलग भी हो जाते हैं। ये सभ्यावस्था में प्रकृति में होते है-'गुणानां साम्यावस्था प्रकृति'। यह बात है कि किसी समय किसी एक गुण की प्रधानता हो जाती है। पर तब दूसरे दो हट नहीं जाते। वे भी बने रहते हैं और उसमें गौण रूप से विद्यमान होकर प्रधान की सहायता करते हैं। इनकी प्रधानता और गौणता पुरुष या आत्मा के प्रयोजन के अनुसार होती है। इनको गुण कहे जाने के पीछे कारण है कि ये प्रकृति की अपेक्षा गौण हैं तथा आत्मा के उपकरण हैं। इसका दूसरा अर्थ डोरी भी होता है जिसमें तीन पतली रस्सियाँ एक में बंटी होती हैं। ये तीनों गुण एकाकार होकर प्रकृत रूपी रस्सी का काम करती हैं और इसी से पुरुष (आत्मा) रूपी पशु संसारी बंधन में बंधता है। प्रकृति से इनका सम्बन्ध नहीं है। ये प्रकृति के गुण-धर्म नहीं है। ये तत्व हैं जिनसे प्रकृति बनती है। ये प्रकृति के संघटक तत्व हैं, निर्माण तत्व हैं। इनसे अलग होकर प्रकृति अस्तित्वहीन है। ये अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण प्रत्यक्ष ज्ञान के विषय नहीं होते। ये अनुमान द्वारा जाने जाते हैं। ये अलग-अलग लोगों में सुख, दुःख तथा उदासीनता उत्पन्न करते हैं जैसे सफल व्यक्ति को सुखी, असफल को दुःखी तथा तटस्थ को उदासीन बनाते हैं।

प्रत्येक गुण की अपनी विशेषताएँ होती हैं : सत्वगुण (सत्व =) स्वच्छता, शुद्धता, ज्ञान और प्रकाश का प्रतीक होने से यह इन्द्रियों के साथ होकर पदार्थ को प्रकाशित करता है तथा बुद्धि और मन विषयों को ग्रहण करती हैं। यह हल्का और लघु होने से उर्ध्वगामी होता है। इसका रंग श्वेत है। शुभ होने से यह सुख प्रदाता है। इसी से विवेक, दया, श्रद्धा, प्रीति, सरलता आदि भाव प्रकट होते हैं। रजोगुण (रज =) धूल धूसरित होने या अशुद्धि का प्रतीक है। यह स्वयं गतिशील तथा दूसरे तत्वों का प्रेरक होता है। यही इन्द्रियों को विषयों में प्रवृत्त करता है। मन के चंचल होने से यह दुःख उत्पन्न करता है जिससे क्रोध, द्वेष, ईर्ष्या आदि के भाव उत्पन्न होने से दुखानुभूति होती है। उत्तेजक होने से यह रक्तवर्ण का है। सत्व तथा तमस निष्क्रिय गुण होने पर भी इसके सानिध्य में सक्रिय हो जाते हैं। तमोगुण (तम =) अंधकार का प्रतीक है। यह अज्ञानता फैलाता है। यह भारी होने से नीचे की ओर ले जाता है। यह प्रकाश तथा सुख-दुःख का अवरोधक है। यह निष्क्रियता और जड़ता उत्पन्न करता है। सत्व तथा रजस गुणों की क्रियाओं के अवरोधक होने से यह आलस्य, मूर्छा, प्रभार, निद्रा आदि के प्रति मोह उत्पन्न करता है। इसका रंग तम=काला है।

इस प्रकार ये तीनों परस्पर विरोधी हैं पर सहयोग द्वारा पदार्थों को उत्पन्न करते हैं। इसी से ये संयुक्त हैं न कभी जुटते हैं न अलग होते हैं। जिस प्रकार दीपक, तेल और बत्ती तीनों अलग-अलग पदार्थ हैं पर एक साथ मिलकर प्रज्वलित होकर प्रकाश करते है उसी प्रकार ये परस्पर विरोधी गुण एक साथ मिलकर पुरुष के कार्य की सिद्धि में सहायक होते हैं क्योंकि पुरुष

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

कूटस्थ (निष्क्रिय) नित्य है और प्रकृति परिणामी नित्य है, क्रियाशील है-'प्रतिक्षणपरिणामिनो हिसर्वभावा ऋते चितिशक्तेः'।

गुणों की साम्यावस्था प्रलय का बोधक है और विषमावस्था सृष्टि का। इस प्रकार गुणों में दो प्रकार के परिवर्तन होते हैं-१. सरूप परिवर्तन-इसमें एक गुण अपने वर्ग गुणों में मिलता है। तब वह विनाश या प्रलय की स्थिति होती है। २. विरूप परिवर्तन-इसमें एक वर्ग के गुणों का दूसरे वर्ग के गुणों में सम्मिलित होने से उद्वेलन होता है जिससे विकास की क्रिया आरम्भ हो जाती है। यही सृष्टि का कारण है।

वैशेषिक और सांख्य में गुणों प्रति दृष्टिकोण में भिन्नता है। वैशेषिक गुण को विशेषण मानता है पर सांख्य द्रव्य को वैशेषिक गुणों को गुणविहीन कहता है पर सांख्य इनमें अपना गुण देखता है। वैशेषिक चौबीस गुण गिनाता है पर सांख्य केवल तीन। वैशेषिक गुणों को जहाँ निष्क्रिय बताता है वही सांख्य इसे सृष्टि और विलय का कारण बताकर सक्रिय सिद्ध करता है।

३. पुरुष (आत्मा)

सांख्य ने प्रकृति की तरह दूसरा स्वतंत्र तत्व पुरुष को माना है। पर प्रकृति से पुरुष भिन्न है भले ही दोनों स्वतंत्र हैं। पुरुष प्रकृति से भिन्न चेतन है। यह गुणों से रहित होने से त्रिगुणातीत है जबकि प्रकृति त्रिगुणात्मक है। प्रकृत एक है पर पुरुष अनेक। पुरुष कार्य कारण मुक्त है पर प्रकृति इससे संयुक्त है। पुरुष अपरिणामी नित्य है जबकि प्रकृति परिणामी है। प्रकृति परिर्वतनशील है पर पुरुष अपरिवर्तनशील। वह न किसी से उत्पन्न है और न किसी का कार्य है। पुरुष में चेतना का कारण है कि चैतन्य आत्मा उसमें निवास करता है जो कोई तत्व नहीं है बल्कि उसका स्वभाव है। पर वैशेषिक इसे आत्मा का आगन्तुक गुण मानते हैं जब यह मन, शरीर और इन्द्रियों के संसर्ग में आता है।

इससे वह विषय का ज्ञान और अनुभव प्राप्त करता है। वह न मन है, न इन्द्रिय है, न शरीर है, न बुद्धि या अहंकार है बल्कि इन सभी से भिन्न है। मन और इन्द्रियाँ अनुभव के साधन हैं पर पुरुष अनुभव से दूर है। शरीर भौतिक है पर यह शाश्वत है। बुद्धि और अहंकार अचेतन है पर यह चेतन है। इसकी सत्ता स्वयंसिद्ध है। इसका निषेध नहीं किया जा सकता। वह देश, काल और दिशाओं की सीमा से बाहर है। यह शाश्वत है, इसमें परिवर्तन नहीं होता। निर्गुण होने के कारण यह पाप-पुण्य से रहित है। राग द्वेष विहीन होने के कारण सुख दुःख का अनुभव इसे नहीं होता। यह स्वयं ज्ञाता है। जितने जीव संसार में हैं उतनी आत्माएँ हैं। यह निर्विकार है क्योंकि शुद्ध होने से यह विकारी नहीं हो सकता।

सांख्य का आत्मा सम्बन्धी विचार दार्शनिकों से भिन्न है। चार्वाक इसे शरीर से अभिन्न भौतिक मानता है पर सांख्य इसे अभौतिक बताता है। बौद्ध इसे विज्ञान का प्रवाह मानते हैं पर सांख्य इसे नित्य बताता है। शंकर ने आत्मा को एक और आनन्द का केन्द्र माना है। पर सांख्य इसे अनन्त और गुणातीत होने से आनन्दहीन मानता है। वह शंकर के इस मत का विरोधी है कि एक ही आत्मा सभी जीवों में व्याप्त है। सांख्य प्रकृति को एक मानता है और आत्मा को अनेक।

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

पुरुष के स्वतंत्र सत्ता की सिद्धि-इसके लिए सांख्यकारिका के निम्न श्लोक में पाँच युक्तियाँ दी गई हैं-

संघातपरार्थत्वात् त्रिगुणादिविपर्ययादधिष्ठानात्।
पुरुषोस्ति भोक्तृभावात कैवल्यार्थ प्रवित्तेश्च।।

सांख्यकारिका, १७

१. **संघातपरार्थत्वात**। संघातमय व्यक्त कार्य दूसरे के लिए निर्मित होता है। विभिन्न तत्वों का मिलन संघात है। इसका उद्देश्य है दूसरे के लिए होना है। प्रकृति के समस्त कार्य अपने लिए न होकर चेतन के उद्देश्य की पूर्ति के लिए होता है। मन, इन्द्रिय, गुण, अहंकार आदि पुरुष के भोग प्रयोजन या अपवर्ग की सिद्धि में लगे रहते हैं। इस प्रकार अव्यक्त या व्यक्त कार्य पुरुष के लिए होने से पुरुष की सत्ता सिद्ध करता है।

२. **त्रिगुणादिविपर्ययात्**। संसार की सभी वस्तुएँ त्रिगुणात्मक हैं। इनसे सुख दुःख की अनुभूति होती है। पर इन्हें त्रिगुण तभी कहा जा सकता है जब कोई अत्रिगुण हो, जिसमें कोई गुण न हो। यह सिद्ध है कि एक के रहने पर ही दूसरे की सत्ता होती है जैसे अचेतन की सत्ता चेतन के कारण, अपरिणामी की परिणामी के कारण आदि होगी। अतः प्रकृति की त्रिगुणात्मक सत्ता तभी है जब गुणातीत पुरुष है। यह पुरुष की सत्ता का प्रमाण है।

३. **अधिष्ठान**। संसार की सभी वस्तुएँ अचेतन हैं। सुख, दुःख, बुद्धि, अहंकार आदि भी अचेतन हैं। पर इनका अनुभव किसी चेतन को ही हो सकता है। वही चेतन है आत्मा जो इनका अनुभव करता है, प्रकाशित करता है, इन्हें नियंत्रित करता है। अतः उसकी सत्ता है।

४. **भोक्तृभावात्**। प्रकृति तथा उसकी सभी वस्तुएँ भोग्य हैं। किन्तु इनका भोक्ता प्रकृति नहीं हो सकती क्योंकि वह अचेतन है। अतः चेतन ही इसका भोक्ता होगा। वह चेतन पुरुष है। इससे यही भोक्ता है। इससे पुरुष की सत्ता सिद्ध है।

५. **कैवल्यार्थ प्रवृत्तेश्च**। कैवल्य मोक्ष है। दुःखों को सदा के लिए समाप्त करना ही कैवल्य कहा जाता है। ज्ञानी व्यक्ति मोक्ष प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील रहता है। इसके लिए वे दुःखों की अत्यात्तिक निवृत्ति के लिए उद्यत रहते हैं। पर अत्यान्तिक निवृत्ति आत्मा के विवेक जनित ज्ञान पर निर्भर होती है। इससे पुरुष की सत्ता है।

असंख्य पुरुष की सिद्धि

आत्मा अनेक है। जितने जीव हैं उतनी ही आत्माओं का होना सांख्य मानता है। इसके लिए उसने निम्न श्लोक में पाँच युक्तियाँ दी हैं-

जनन मरण करणानां प्रतिनियमादयुगपत् प्रवृत्तेश्च।
पुरुष बहुत्व सिद्धं त्रैगुणविपर्ययाचैव।।

सांख्यकारिका, १८

१. **जनन (प्रतिनियमात्)**। जन्म लेना और मरना एक सामान्य क्रिया है। यदि पुरुष एक होता तो एक के जन्म लेने से पूरी सृष्टि का जन्म होता और एक के मरने से सारी सृष्टि समाप्त हो जाती। पर ऐसा न होना आत्मा की अनेकता या असंख्यता सिद्ध होता है।

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

२. मरण (प्रतिनियमात्)। कोई आज मरता है। कोई पहले मरा है। कोई आगे मरेगा। इसका अभिप्राय है कि सबमें अलग-अलग पुरुष है। यह पुरुष की अनेकता का बोधक है।

३. करणानां (प्रतिनियमात्)। इन्द्रियों से भी व्यक्तियों की भिन्नता है। कोई अंधा है तो उसके शरीर के पुरुष का प्रत्यक्षीकरण नहीं होता। अगर एक व्यक्ति सुगंध ले रहा है तो उसकी आत्मा भी गंध की अनुभूति करती है न कि रस का जिसे शर्बत पीने वाले व्यक्ति की आत्मा अनुभूति कर रही है। इससे आत्मा की अनेकता सिद्ध है।

४. अयुगपत पवृत्तेश्च। व्यक्तियों की प्रवृत्तियों में भी भिन्नता होती है। प्रवृत्तियाँ दो प्रकार की होती हैं-१.कर्मेन्द्रियों द्वारा किया गया शारीरिक या वचन सम्बन्धी कार्य तथा २. अन्तःकरण द्वारा किया गया मानसिक कार्य। इन प्रवृत्तियों से सम्बन्धित कार्य के कर्ता भिन्न-भिन्न होते हैं। तभी वे अलग-अलग कार्य करते हैं जैसे कोई चलता है, कोई सोता है, कोई दुःख का अनुभव करता है और कोई सुख का। इनके कर्ताओं के भीतर चेतन आत्मा भिन्न-भिन्न होगी जिससे उनके अनुभव भी भिन्न-भिन्न होते हैं। अतः आत्मा की भिन्नता प्रमाणित हुई।

५. त्रैगुणविपर्यायात् चैव। सृष्टि त्रिगुणात्मक है। प्रत्येक व्यक्ति के शरीर में किसी न किसी एक गुण की प्रधानता होती है। दोनों शेष गुण उससे कम होते हैं। इस अनुपातिक भिन्नता के कारण प्रत्येक शरीर के अन्दर स्थित आत्मा में भेद होता है। उससे आत्मा की अनेकता ज्ञात होती है।

४. सृष्टि-क्रम या विकासवादी सिद्धान्त

सामान्यतया भारतीय दर्शन यह मानता है कि ईश्वर ने किसी काल में शून्य से सृष्टि का सृजन किया। पर सांख्य इस बात को नहीं मानता क्योंकि जब वह ईश्वर की सत्ता को मानता ही नहीं तो उसकी रचना को मानना पूर्ण असम्भव है। अतः वह सृष्टि को प्रकृत प्रसूता मानता है। किन्तु प्रश्न है कि जब वह प्रकृति को जड़ मानता है तो फिर जड़ से इस चेतन सृष्टि का उद्भव कैसे सम्भव है? इसके उत्तर में कहता है कि प्रकृति त्रिगुणात्मक है। शान्ति काल में सभी गुण समवस्था में समाहित होकर प्रकृति में रहते हैं। तब प्रलय होता है। पर जब वे रूपान्तर करते हैं या उनमें विरूप परिवर्तन होता है तो प्रकृति में प्रारम्भ होता है। विकास जड़ प्रकृति अकेले नहीं कर सकती। पुरुष से भी अकेले सृष्टि नहीं हो सकती। वह निष्क्रिय है। अतः जब प्रकृति पुरुष का संसर्ग होता है तो गुण विरूपित होकर विकासवादी क्रिया को प्रशस्त करते हैं। फिर यह समस्या आती है कि चेतन और त्रिगुणातीत पुरुष का अचेतन और त्रिगुणात्मक प्रकृति का संयोग कैसे होगा? इसका उत्तर सांख्य एक उपमा से देता है कि जैसे जंगल में आग लगने पर उसमें रहने वाला एक लंगड़ा और एक अंधा व्यक्ति परस्पर सहकार से जंगल के बाहर निकल आते हैं उसी प्रकार जड़ प्रकृति और चेतन पुरुष के सहकार से विकास प्रारम्भ होता है। पर उसमें दोष है कि जहाँ प्रकृति और पुरुष में एक चेतन हैं वहाँ लंगड़े और अंधे दोनों चेतन हैं। फिर दूसरी उपमा का सहारा लेता है कि जैसे चुम्बक लोहा को अपनी ओर खींचता है उसी प्रकार प्रकृति पुरुष को आकृष्ट करती है। पर यहाँ भी दोष है कि दोनों लोहा और चुम्बक अचेतन हैं। इस कठिनाई से उबरने के लिए सांख्य कहता है कि प्रकृति और पुरुष के बीच भले ही यथार्थ

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

संयोग न हो पर उनके सानिध्य से ही गुणों की प्रधानता से नए-नए पदार्थों का सृजन होता है। यहीं से सृष्टि का विकास प्रारम्भ मानते हैं। यही सृष्टि के क्रम का प्रथम आरम्भ है।

सृष्टि का क्रम– इसमें सबसे पहले संसार की सबसे 'महत' महान पदार्थ बुद्धि का आविर्भाव होता है जो सभी जीवों में विद्यमान रहती है। इसके द्वारा किसी विषय में निर्णय किया जाता है तथा कोई अवधारणा बनाई जाती है। ये दोनों निर्णय और अवधारणा इसके विशेष कार्य है। यह स्वयं अचेतन होकर भी चेतन पुरुष को दर्पण की तरह अपने में प्रतिविम्वित कर लेता है। इसीसे बुद्धि चेतन लगने लगती है और पुरुष ज्ञात तथा भोक्ता जीव की तरह प्रतीत होने लगता है। उस चेतन के कारण ही यह प्रकाश युक्त होती है। विभिन्न गुणों के प्रधानता के कारण बुद्धि के चिन्तन की दिशा में परिवर्तन होता है। सतोगुण की प्रधानता से इसमें विवेक, धर्म, ज्ञान, वैराग्य का उदय होता है। तामसिक की प्रधानता में अधर्म, अज्ञान, आसक्ति आदि का प्रभाव बढ़ जाता है। पर सत्व गुण की ही प्रधानता बुद्धि में अधिक होती है। बुद्धि न इन्द्रिय है और न मन है क्योंकि इनकी क्रियाएँ बुद्धि के लिए होती हैं। यह आत्मा भी नहीं है क्योंकि आत्मा त्रिगुणात्मक और भौतिक क्रियाओं का आधार है। इसीसे सृष्टि की सबसे महान कृति होने से इसे 'महत्' कहा गया है।

इससे 'अहंकार' उत्पन्न हुआ। यही सृष्टि में जीवात्मा को बाँधती है। तभी व्यक्ति में 'मैं' और 'मेरा' की भावना उत्पन्न होती है। इससे उसमें कर्तापन के भाव की दृढ़ता आती है। वह अपने को उनका स्वामी समझने लगता है। उसमें स्वार्थ जाग्रत होता है। इसी भाव के कारण मनुष्य किसी कार्य में जुटता है इस भावना के साथ कि 'मैं इसे करूँगा।' यही उसका अभिमान है – 'अभिमानोऽहंकारः'। इसीके कारण वह भ्रम में पड़ता है। इसके तीन प्रकार हैं– १. **सात्विक या वैकारिक** अहंकार। इसमें स्त्वगुण प्रधान रहता है। इसीसे वह शुभ कर्म करता है तथा ग्यारह इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं – मन, पंच ज्ञानेन्द्रिय और पंच कर्मेन्द्रिय। २. **तामस अथवा भूतादि** अहंकार– इसमें तमोगुण प्रधान होता है। इससे पंच तन्मात्राओं – रूप, गंध, रस, शब्द और स्पर्श का आविर्भाव होता है। इससे आलस्य, प्रमाद आदि उत्पन्न होता है। ३. **राजस या तैजस** अहंकार– इसमें रजोगुण की प्रधानता होती है। यह स्वयं कोई कार्य उत्पन्न नहीं करता पर सत्व और तामस अहंकारों को शक्ति देता है।

फिर सात्विक अहंकार से 'मन' उत्पन्न होता है। यह अचेतन और अन्तरिन्द्रिय है। पर इसका सहकार बाह्य ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों से भी होता है। इस प्रकार यह ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियों से भिन्न है। उनके द्वारा प्राप्त निर्विकल्प प्रत्यक्ष को सविकल्प प्रत्यक्ष में बदल देता है। यह ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियों का प्रेरक है। आत्मा के उद्देश्य की पूर्ति के लिए यह उसके अनुकूल वस्तुओं से राग तथा प्रतिकूल वस्तुओं से द्वेष रखता है। इस प्रकार यह आत्मा से भिन्न है। इसी के आधार पर बुद्धि इनके ग्रहण तथा त्याग का निर्णय लेती है। यह अत्यन्त सूक्ष्म इन्द्रिय है। पर यह सावयव है। इससे यह एक ही साथ विभिन्न इन्द्रियों से सम्बन्ध बनाता है। यह अनित्य और विनाशी माना गया है। इसमें एक ही साथ ज्ञान, इच्छा और संकल्प की भावना उठती है। इसका सम्बन्ध वर्तमान, भूत और भविष्य से होता है। सभी काल की बात इसमें उठती रहती है। ज्ञानेन्द्रिय से सम्पर्क के कारण यह उभयात्मक है।

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

सांख्य की मन सम्बन्धी अवधारणा अन्य दर्शनों से भिन्न है। न्याय इसे एक अणु पदार्थ, नित्य, निरवयव मानता है। इसलिए एक समय इसका संयोग एक इन्द्रिय से जुटना तथा एक ज्ञान, इच्छा, संकल्प का होना पाते हैं। पर सांख्य इसे अणु तथा नित्य नहीं मानता। सावयव मानकर एक साथ विभिन्न इन्द्रियों से इसके सम्पर्क को स्वीकार करता है तथा इसमें एक ही साथ अनेक संकल्प, इच्छाएँ आदि उठ सकती हैं। अन्य दर्शन अहंकार को अलग तत्व नहीं मानते जबकि सांख्य उसे अलग मानकर उसी से मन को जोड़ता है।

सात्विक अहंकार से ही दस इन्द्रियों (पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और पाँच कर्मेन्द्रियाँ) उत्पन्न होती है। पाँच ज्ञानेन्द्रियों से पाँच तत्त्वों रूप, रस, गंध, स्पर्श और शब्द का ज्ञान मिलता है। पाँच कर्मेन्द्रियों से पाँच कार्य सम्पादित होते हैं– बोलना, लेन-देन करना, घूमना, मल-मूत्र विसर्जन तथा प्रजनन।

तामस अहंकार से पाँच ज्ञानेन्द्रियों की पाँच तन्मात्राएँ उत्पन्न होती हैं। ये ज्ञानेन्द्रियों से होने वाले प्रत्यक्ष के सूक्ष्म रूप हैं जिनका प्रत्यक्ष नहीं केवल अनुभूति होती है। महाभूत या तत्व जहाँ स्थूल हैं वहाँ ये सूक्ष्म हैं क्योंकि ये भूतों के सारतत्व हैं। ये तामसजनित होने से अचल हैं। ये भूतों को उत्पन्न करता है। शब्द तन्मात्रा से वायु जिसका गुण शब्द और स्पर्श है, रूप, स्पर्श तथा शब्द तन्मात्राओं से जल जिसका गुण रस, रूप, स्पर्श तथा शब्द है और गंध, रस, रूप, स्पर्श तथा शब्द तन्मात्राओं से पृथ्वी का विकास होता है जिसके गुण ये ही तन्मात्राएँ हैं। यहाँ स्पष्ट है कि शब्द आकाश का, स्पर्श वायु का, रूप अग्नि का, रस जल का तथा गंध पृथ्वी की मुख्य तन्मात्राएँ हैं जो क्रमशः पंच महाभूतों-आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी के गुण हैं। इन पंच महाभूतों के विभिन्न मात्राओं में सम्मिश्रण से ही विभिन्न वस्तुओं का निर्माण सम्भव होता है।

सृष्टि का विकास इस प्रकार : १ प्रकृति + २ महत् (बुद्धि) + ३ अहंकार + ४ मानस + ५ ज्ञानेन्द्रिय (४ + ५ = ९), + पंच कर्मेन्द्रियाँ (९ + ५ = १४), + पंच तन्मात्राएँ (१४ + ५ = १९), + पंच महाभूत (१९ + ५ = २४) + पुरुष को मिलाकर २५ तत्वों से होता है।

पुरुष को सबसे अन्त में इसलिए जोड़ा गया है कि यह सृष्टि का एक अंग होते हुए भी सृष्टि क्रिया से अलिप्त है क्योंकि निष्क्रिय और स्वतंत्र है। इसीके प्रयोजन की सिद्धि के लिए शेष चौवीस तत्व कार्यरत रहते हैं, भले ही उसका प्रयोजन भोग हो या मोक्ष। यह कार्यकारण से अलग रहकर भी सृष्टि के विकास का निमित्त कारण और प्रयोजन कारण दोनों होता है। प्रकृति से इसके संयोग के अभाव में सृष्टि नहीं हो सकती। इसलिए यही सृष्टि का परम अर्थ है और सम्पूर्ण सृष्टि इसी की ओर गतिशील है। प्रकृति पुरुष के भोग और मोक्ष के लिए सदा कार्यरत रहती है– **'पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य।'** (सांख्यकारिका, २१) ग्यारहों इन्द्रियाँ जिन्हें ग्यारह कारण कहते हैं उसके पुरुषार्थ या कार्य सिद्धि के लिए तत्पर रहते हैं– **'पुरुषार्थ हेतुकमिदं.....नटवद् व्यवतिष्ठते लिङ्गम्**। (वही, ४२) इनसे ज्ञात होता है कि सृष्टि के विकास में प्रकृति से अधिक सहयोगी पुरुष के लिए कोई नहीं है।

ऊपर के सृष्टि के विकासवाद के क्रम के तत्वों को चार कोटियों में रखा जा सकता है : १. पुरुष तत्व जो कार्य-कारण से अलग रहने पर भी इसका हेतु है। २. प्रकृति तत्व जो केवल कारण रूप में विद्यमान रहती है। ३. बुद्धि अहंकार और पाँच तन्मात्राएँ जो कार्य और कारण दोनों

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

हैं – किसी के कार्य, किसी के कारण, जैसे अहंकार, बुद्धि का कार्य – मन, ज्ञानेन्द्रियों, कर्मेन्द्रियों और तन्मात्राओं का कारण है। ४. जो केवल कार्य हैं– मन, दस इन्द्रियाँ, अहंकार और पंच महाभूत तन्मात्राओं के कार्य हैं। इसे कोष्टक द्वारा भिन्न प्रकार से व्यक्त किया जा सकता है–
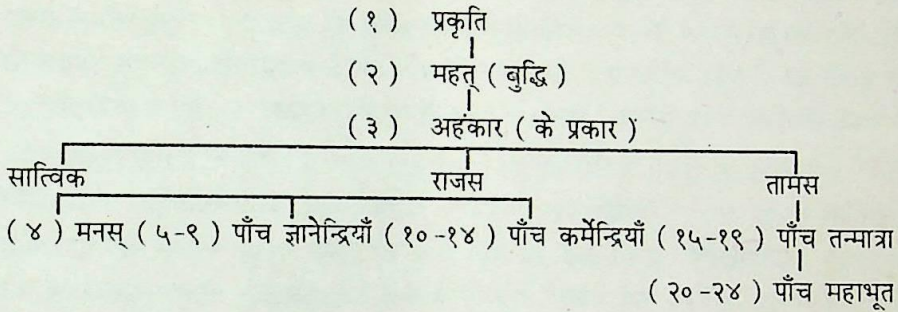
(२५) पुरुष – जो सृष्टि का द्रष्टा है, जिसके प्रयोजनार्थ सृष्टि होती है।

सृष्टि विकास को मानने में आपत्तियाँ हैं–१. सांख्य का पुरुष और प्रकृति के सानिध्य से इसका विकास मानना अनुचित है क्योंकि फिर सृष्टि शाश्वत हो जायगी। प्रलय की व्याख्या तब नहीं की जा सकती। २. विकास के विभिन्न विक्रितियों का कोई युक्तिसंगत प्रमाण नहीं देता। ३. अचेतन प्रकृति से कैसे संसार व्यवस्थित रह सकता है। ४. जड़ प्रकृति के विस्तार के बाद भी इसमें ह्रास का अभाव खटकता है। ५. सांख्य आत्मा को निष्क्रिय मानता है फिर उसके प्रयोजन की बात टीक नहीं बैठती। बुद्धि के बाद इन्द्रियों का विकास होता है। तब तक बुद्धि का कार्य कैसे होता है। ६. यह उत्तर नहीं प्राप्त होता कि प्रकृति अपनी क्रिया को अचानक रोक प्रलय की स्थिति में क्यों पहुँचती है।

५. बंधन और मोक्ष

सांसारिक जीवन सुख-दुःख का समुच्चय है। पर दुःखों का यह आगार है। इसका भोग सभी जीवों को भोगना पड़ता है – **'अवश्यमेव भोक्तव्यं यथाकर्म शुभाशुभं।'** संसार त्रिगुणात्मक होने से दुःखमय है क्योंकि गुणों के साथ दुःख संयुक्त रहता है। इसी की निवृत्ति के लिए मोक्ष को परम पुरुषार्थ माना गया है जो मुक्ति या अपवर्ग भी कहा जाता है। मोक्ष आनन्द या सुखों का भण्डार नहीं है पर दुःखों का अन्त है। इस प्रकार दुःख ही हमारे सांसारिक बंधन हैं और मोक्ष इनसे पूर्ण छुटकारा पाना है। तभी मोक्ष में आत्मा शुद्ध चैतन्य रूप में प्रकाशित होती है।

दुःख त्रिविध है – १. आध्यात्मिक दुःख– जो मनुष्य के अपने शरीर और मन में उत्पन्न होता है जैसे सिर दर्द, कांटा चुभना, क्रोध, द्वेष। **२. आधिभौतिक दुःख–** बाहरी पदार्थों से उत्पन्न होता है जैसे डंडे से चोट लगना, बकरी द्वारा फूल चरना आदि। **३. आधिदैविक दुःख–** अलौकिक कारण से उत्पन्न होता है जैसे भूत का भय, गर्मी से रोग होना आदि।

मनुष्य चाहता है कि उसके दुःखों का सदा के लिए अन्त हो जाय। इसी को वह मोक्ष मानता है। पर एक साथ न तो सभी दुःखों का अन्त होगा और न तब उसे केवल आनन्द की ही प्राप्ति होगी। सुख दुःख सदा मिश्रित रहेंगे ही। पर केवल दुःखों की सदा के लिए निवृत्ति कि

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

उसकी पुनरावृत्ति पुनः न हो, मोक्ष है। यहाँ एक प्रश्न चिन्ह बनता है कि पुरुष तो मुक्त और नित्य है फिर बंधन में कैसे फंसता है? इसका सीधा उत्तर है कि प्रकृति के संसर्ग में आने पर वह बंधन में फंस जाता है। अब वह अज्ञान के कारण अपने को उनसे अलग नहीं कर पाता। सुख, दुःख और बुद्धि मन का विषय हैं। पुरुष इसी अज्ञानता से अपने को बुद्धि तथा मन से अभिन्न समझ कर दुःखों की अनुभूति करने लगता है। यही बुद्धि और मन के व्यापार को अपना मानकर उनसे प्रभावित रहना ही बंधन है। यहाँ आत्मा का प्रकृति के भेद के ज्ञान का अभाव बंधन है।

इसी बंधन का छूटना, आत्मा का अपना अस्तित्व अंलग समझना ही मोक्ष है। इसका मूल है अज्ञान। इसके टूटते ही सबका भेद स्पष्ट होता है तथा आत्मा अपने वास्तविक अवस्था को समझ कर इस अज्ञान से दूर हो जाती है। वहाँ दुःख की छाया भी नहीं पड़ती। कर्म द्वारा मोक्ष की प्राप्ति सम्भव नहीं है। कर्म अनित्य, दुःखात्मक होता है। इससे ज्ञान ही दुःखों का अन्त कर सकता है। इसके द्वारा मनुष्य में 'मैं' 'मेरा' या 'कर्तापन' का अभाव हो जाता है। वह अपने को सांसारिक पदार्थों के सम्बन्ध से अलग समझने लगता है। वह मानता है कि मुझसे क्रिया का संबंध नहीं है– **'नास्मि',** मैं इसका स्वामी नहीं हूँ– **'नमे'** तथा मैं इसका कर्ता नहीं हूँ– **'नाहम्'**। यही भिन्नता की अनुभूति दुःखों का निवारण है। तब आत्मा अपने वास्तविक स्वरूप को पहचान कर मुक्त रहती है। वहाँ भ्रम, अपूर्णता, परतंत्रता गुणों का प्रभाव उसे छू नहीं सकता। इस प्रकार वे सभी तत्व जो आत्मा को भ्रमित करते हैं इससे छंट जाते हैं और उसे अपने वास्तविक स्थिति का ज्ञान होता है। यह ज्ञान प्राप्ति ही उसके बंधन के छूटने का कारण है। सत्य तो यह है कि पुरुष सर्वदा मुक्त होने से जन्म-मरण के चक्र में नहीं फंसता। यह प्रकृति, लिंग, तथा शरीर रूप में अनके शरीरों में बंधती और मुक्त होती है। इस प्रकार अज्ञान ही बंधन है और ज्ञान की प्राप्ति ही मोक्ष है। तब आत्मा गुणातीत, शुद्ध चैतन्य, मुक्त और द्रष्टा मात्र अपने को समझती है। वहाँ 'मैं', 'मेरा' 'कर्तापन' का भाव ही उसमें नहीं रहता। वह गुण, बुद्धि, मन, इन्द्रियों तथा शरीर के भ्रामक सम्बन्ध को तोड़ लेती है। वह ज्ञान के आलोक में अपने शुद्ध रूप को पहचानने लगती है जिससे दुःखों के प्रभाव से अलग हो जाती है जो मुक्ति है। इसलिए मनन और निदिध्यासन दो माध्यम बताए गए हैं।

मुक्ति के लिए सांख्य में कहीं-कहीं निम्न आठ प्रकार के मार्गों को बताया है जो योग-दर्शन में भी बतायें गये हैं – १. यम, २. नियम, ३. आसन, ४. प्राणायाम, ५. प्रत्याहार, ६. धारणा, ७. ध्यान और ८. समाधि। ये नए गुणों को उत्पन् नहीं करते, बल्कि यथार्थ के पहचानने में सहायक होते हैं। यही स्थिति मोक्ष या कैवल्य की है। इसमे आत्मा देश, काल से अपरिच्छिन्न, शरीर, मन और बुद्धि से भिन्न समझती हुई इसके प्रभावों से अपने को दूर कर लेती है। अब वह मात्र इनका साक्षी या द्रष्टा रहती है।

मोक्ष के दो प्रकार माने गए हैं– **१. जीवन मुक्ति–** इसमें जीवित रहते व्यक्ति मुक्त होता है। उसका शरीर पूर्व कर्मों के फलाफल के भोग की पूर्णता तक तो बना रहता है पर उसकी आत्मा अज्ञानता के बंधन से मुक्त होती है जैसे कुम्हार डण्डे से चाक घुमाता है। डंडा हटाने पर भी चाक घूमता रहता है। उसी प्रकार मुक्त आत्मा शरीर के रहते शरीर कर्म बंधनों से अलग रहता है। केवल इस शरीर से प्रारब्ध कर्मों का ही भोग भोगता है। **२. विदेह मुक्ति–** में शरीर का

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

अन्त हो जाता है जिसके साथ ही पूर्व जन्म के कर्म भी समाप्त हो जाते हैं। यहाँ यह विचारणीय है कि आत्मा नित्य होने से शरीर के अन्त होने पर कर्म भोग के लिए दूसरे शरीर में प्रवेश करती है। पर जब कर्म शेष हो जाते हैं तो दूसरे शरीर में प्रवेश की बात नहीं उठती। वह तब शरीर के साथ ही साथ मुक्त हो जाती है। इसमें आत्मा मुक्त हो कर पुनर्जन्म के बंधन से रहित शरीर धारण से मुक्त हो जाता है। यही विदेह मुक्ति है। इसमें सूक्ष्म शरीर के साथ आन्तरिक और बाह्येन्द्रियों का नाश स्थूल शरीर के साथ हो जाता है। किन्तु वास्तविकता यह है कि बंधन और मोक्ष प्रकृति की अनुभूतियाँ हैं। आत्मा को मात्र इसकी प्रतीति होती है। वह मुक्त होने से सदा बंधन मोक्ष रहित है जो अज्ञानतावश अपने को वैसा मान बैठता है।

सांख्य में मोक्ष की परिभाषा वेदान्त से भिन्न है। वेदान्त मोक्ष को आनन्दमय मानता है। पर सांख्य आनन्द और दुःख को सापेक्ष मानते हुए एक के अभव में दूसरे का अभाव मानता है। इसलिए इसके अनुसार दुःखों का अन्त आनन्द या सुख की स्थिति का भी अन्त है। जहाँ दुःख नहीं है वहाँ सुख भी नहीं है।

६. ईश्वर

कुछ मानते हैं कि सांख्य मूल रूप से ईश्वरवादी रहा है। पीछे ईश्वरकृष्ण के समय से इसे अनिश्वरवादी माना जाने लगा। आज यही सर्वमान्य है। अनीश्वरवाद की स्थापना और ईश्वरवाद के खण्डन के लिए निम्न तर्क दिए जाते हैं–

ईश्वरवादी संसार का कार्यशृंखला का कारण ईश्वर को मानते हैं। पर सांख्य का मानना है कि संसार कार्यशृंखला तो है पर यह प्रकृति की देन है क्योंकि प्रकृति संसार की तरह परिवर्तनशील और अनित्य है जबकि ईश्वर नित्य और अपरिवर्तनशील है। फिर विरोधी प्रवृत्ति से संसार का अभाव सम्मत नहीं हो सकता। इससे परिणामी और अनित्य संसार इन्हीं गुणों वाले प्रकृति का कार्य है।

पर इसके विरोध में तर्क दिया जाता है कि संसार के संचालनार्थ चेतनसत्ता आवश्यक है। वह सीमित ज्ञान वाला चेतन जीव नहीं हो सकता। पर यदि इसका संचालक ईश्वर को मान लें तो फिर समस्या है कि ईश्वर का संसार संचालन में क्या लक्ष होगा? वह पूर्ण इच्छावाला तथा अकर्ता होकर इसकी संचालन किस अपूर्ण इच्छा की पूर्ति के लिए करेगा? इसमें उसका कोई स्वार्थ तो निहित है नहीं। यदि यह कहा जाय कि वह दया करके जीवों के करुणार्थ संचालन करता है तो यह भी मान्य नहीं हो सकता क्योंकि तब सभी जीव सुखी रहते। पर ऐसा नहीं है। दूसरे यह कहा जाता है कि जीव ईश्वर का अंश है। यह नियमसिद्ध है कि अंश में अंशी का भाव रहता है। जीव अंश होने से ईश्वर की तरह अमर और स्वतंत्र होना चाहिए पर इसके विपरीत वह मर्त्य और परतंत्र है। इसलिए ईश्वर की सत्ता के लिए यह आधार भी खण्डित हो जाता है। तीसरा अन्तर न्याय के इस मान्यता के विरोध में है कि वेद अपौरुषेय है, ईश्वर की रचना होने से यह ईश्वर की सत्ता सिद्ध होती है। सांख्य के अनुसार व्यक्तित्व रहित ईश्वर कैसे वेद की रचना कर सकता है। यह ऋषियों द्वारा रचित होने से अपौरुषेय कहलाता है। वेद वाक्य कि वह सर्वज्ञ और स्रष्टा है ईश्वर की ओर संकेत न करके मुक्त आत्माओं की ओर संकेत करता है।

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

विज्ञानभिक्षु आदि सांख्य को ईश्वरवादी बताते हैं। ईश्वर के लिए सांख्य-सूत्र है– **'ईश्वरसिद्धेः'**। इसका अर्थ है कि ईश्वर को तर्क से सिद्ध नहीं किया जा सकता, न कि यह ईश्वर को सांख्य मानता ही नहीं। यदि यह ईश्वर को न मानता तो ईश्वराभाव कहता। सांख्य में ईश्वर का मात्र निषेध है। सम्भवतः इसके सिद्धि की आवश्यकता न समझी गयी हो। प्रकृति अचेतन है। उसे गतिशील रखने के लिए ईश्वर की सत्ता का मानना आवश्यक है।

पर डॉ. दासगुप्ता, डॉ. हिरयन्ना आदि ने सांख्य को अनीश्वरवादी बताया है। हिरयन्ना के अनुसार ईश्वरवाद सांख्य की प्रवृत्ति के विपरीत है। दासगुप्ता कहते हैं कि ईश्वर के निषेध करने से ही सांख्य निरीश्वर सांख्य कहा जाता है।

७. प्रमाण विचार

सांख्य में तीन प्रकार के प्रमाण माने गए हैं– प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द। प्रमाण के लिए आवश्यक है यथार्थ ज्ञान जिसे प्रमा कहते हैं। आत्मा चैतन्य होकर भी विषय ज्ञान रहित होती है। इसका बुद्धि, मन और इन्द्रियों द्वारा ज्ञान होता है। पर बुद्धि को सांख्य अचेतन मानता है। किन्तु यह भी कहता है कि आत्मा के प्रकाश से, आत्मा के उसमें प्रतिबिम्बित होने से उसे ज्ञान होता है। प्रमा-ज्ञान के लिए तीन वस्तुएँ होनी चाहिए : १. प्रमेय विषय जिसका ज्ञान प्राप्त होना है, २. प्रमाता– जानने वाला और ३. प्रमाण– साधन जो ज्ञान दे।

प्रत्यक्ष प्रमाण में विषय का इन्द्रिय साक्षात्कार होता है जिसे बुद्धि ग्रहण करती है। पर सांख्य में बुद्धि स्वयं अचेतन होने पर आत्मा के प्रकाश से ज्ञानवान होकर ग्रहण करती है। इसमें वस्तु का होना, इन्द्रिय संन्निकर्ष तथा प्रत्यक्ष में बुद्धि की क्रिया का समाविष्ट होना आवश्यक है। पहले बुद्धि निर्विकल्प प्रत्यक्ष ग्रहण करती है जिसमें केवल वस्तु की प्रतीति होती है। उसका भेद ज्ञान या शब्द द्वारा प्रकाशन सम्भव नहीं होता। इसके बाद बुद्धि पर बल पड़ने से उसका निश्चित ज्ञान पुष्ट होता है। मन संश्लेषण और विश्लेषण द्वारा दूसरे ही क्षण उसके गुण और प्रकारता का ज्ञान प्राप्त कर लेता है। निर्विकल्प को ही सविकल्प का आधार माना जा सकता है।

अनुमान प्रमाण के दो भेद हैं– वीत और अवीत। वीत व्यापक विधि वाक्य पर अवलम्बित होता है तथा अवीत व्यापक निषेध वाक्य पर अवलम्बित होता है। वीत के भी दो भेद हैं : पर्ववत् और सामन्यतोदृष्ट। पहले के अनुमान के आधार पर एक परिस्थिति को देखकर दूसरे की स्थिति का अनुमान करना पूर्ववत् है। हम जानते हैं कि आग से धुँआ का व्याप्ति सम्बन्ध है। अतः धुंआ को देखकर आग का अनुमान करना। दूसरे सामान्यतोदृष्टि में व्याप्ति सम्बन्ध का विचार नहीं होता। यह ज्ञान प्रत्यक्ष पर आधारित नहीं होता जैसे सुख-दुःख आदि। यह इन्द्रियों द्वारा अनुभूत होता है। अवीत को शेषवत भी कहते हैं क्योंकि सभी विकल्पों को छांटने के बाद जो शेष बच जाता है उसे ही अनुमान से स्वीकार कर लेने से इसका यह नाम है। जैसे शब्द द्रव्य, कर्म, विशेष, समवाय, सामान्य, अभाव नहीं होने से केवल एक गुण है। न्याय दर्शन की तरह यह भी पंवायव वाक्य को प्रधानता देते हैं।

शब्द तीसरा प्रमाण है। इसे आप्त वचन कहते हैं जो दो प्रकार का होता है– लौकिक (विश्वसनीय व्यक्तियों के कथन) तथा वैदिक (वेद वाक्य)। वैदिक को ही प्रामाणिक मानते हैं क्योंकि वे संशयहीन, विवाद रहित, शाश्वत सत्यों को प्रकाशित करते हैं।

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

समीक्षा

सांख्य को द्वैतवादी कहा गया है। प्रकृति और पुरुष को भिन्न और स्वतंत्र मानना भूल है। पुरुष और प्रकृति के सानिध्य से ही सृष्टि होती है। इससे दोनों सापेक्ष हैं। पर इनको दो मानना सांख्य का दोष है। सांख्य का तर्क इन्हें अद्वैत की ओर ले जाता है पर वह इन्हें द्वैत कहता है। यहाँ दोनों एक दूसरे के अधीन हैं। प्रकृति पुरुष के भोग के लिए वस्तुओं का निर्माण करती है और पुरुष तब तक मोक्ष नहीं प्राप्त कर सकता जब तक प्रकृति की विकास क्रिया रुक नहीं जाती। ये स्वतन्त्र सत्ता हैं ही नहीं।

सांख्य पुरुष को शाश्वत मानकर भी उसके जन्म-मृत्यु को मानता है। वह पुरुष को भोक्ता और प्रकृति को भोग का विषय मानकर भी पुरुष को निष्क्रिय द्रष्टा कहता है। वह पुरुष को गुणातीत कहता है पर साथ ही उसके अनेकता की बात करता है। इस प्रकार सांख्य विरोधाभसी तथ्य देता है।

सांख्य में प्रकृति को व्यक्तित्व शून्य कहा गया है। पर इसकी उपमा नर्तकी से देना, इसका विशेषण गणवती और उदार कहना इसके व्यक्तित्व पूर्ण होने का बोधक है। उसे अचेतन कहता है पर उसीसे सृष्टि का सृजन होना भी बताता है। यह विरोधाभास है।

सांख्य ने मोक्ष और दुःख को आत्यन्तिक निवृत्ति माना है। मोक्ष आनन्द नहीं है। यह उसकी भूल है। मोक्ष का आनन्द विशुद्ध चैतन्य का स्वरूप है। उसमें सत्, चित् और आनन्द का भेद नहीं है। इससे दुःख के अन्त के साथ आनन्द की स्थिति का मानना आवश्यक है।

इसने पुरुष और जीव में भेद नहीं किया है। वह दोनों को एक मानता हैं। जीव ही अनेक होते हैं। उसी का बंधन और मोक्ष होता है। सांख्य पुरुष में ही जीव मानता है जब पुरुष बुद्धि में प्रतिबिम्बित होकर उसे अपना उसली रूप मान लेता है। वही बद्ध जीव का रूप धारण कर लेता है। यहाँ वह जीव को अलग न कर पुरुष को ही जीव की कोटि में रख देता है। उसी का बंधन, मोक्ष, जन्ममरणशीलता, अन्तः और बाह्येन्द्रिय विभेद आदि मानने लगता है जो उसकी भूल है।

कर्म बंधन भारतीय दर्शन का मूल विषय है। पर सांख्य ने प्रकृति में कर्म की और पुरुष में भोग की बात की है। यह कर्मवाद का सीधा विरोध है।

सांख्य प्रकृति को अचेतन और क्रियाशील दोनों मानता है। यह विचित्र विरोधाभास है कि जो अचेतन है वह सृष्टि को कैसे उत्पन्न कर सकता है। इसी प्रकार वह निष्क्रिय है फिर वह दूसरे से भला कैसे प्रभावित होगा। दूसरे वह आत्मा को शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि से भिन्न कहता है। पर वही उसके अस्तित्व को प्रभावित करने के लिए इनका सहारा लेता है। इस प्रकार इसके निष्कर्ष में वह विभाजक रेखा नहीं है जो पुरुष और जीव को अलग-अलग कर सके।

सांख्य बुद्धि को जड़ कहता है। जो जड़ है उसमें ज्ञान का उदय कैसे होगा? यह मानना विडम्बना है कि पुरुष के सानिध्य से प्रकृति विकारी होती है तो यह क्यों नहीं मानता कि प्रकृति के सानिध्य होने पर पुरुष विकारी होता है क्योंकि प्रभाव तो दोनों ओर पड़ना चाहिए।

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

अध्याय २१

योग दर्शन

योग की महत्ता की मान्यता आस्तिक तथा नास्तिक दोनों ही दर्शन स्वीकार करते हैं। वेद, उपनिषद, आरण्यक, गीता आदि में योग की महनीयता का वर्णन है। त्रिपिट को जैन अंगों, हेमचन्द्र के 'योगशास्त्र' नामक ग्रंथ, तन्त्र साहित्य तथा नाथ सम्प्रदाय के ग्रंथों में इसका विवेचन मिलता है। योग के कई प्रकार का ज्ञान गीता से मिलता है– भक्तियोग, कर्मयोग, ज्ञानयोग, ध्यानयोग। अन्यत्र हठयोग और राजयोग का भी उल्लेख है। पर इसमें एक ही चरम लक्ष है कि मोक्ष की प्राप्ति पर बल दिया गया है। पर इसका दार्शनिक रूप पातञ्जलि ने सर्व प्रथम दिया और इस पर 'योगसूत्र' नामक ग्रंथ लिखा। इस पर व्यास का 'योगभाष्य' तथा वाचस्पति मिश्र की टीका 'तत्व वैशारदी' विशिष्ट उल्लेखनीय है।

योग का अर्थ है मिलन। इसमें योग के द्वारा जीवात्मा से परमात्मा के मिलन की बात की गई है। गीता में इसे 'दुःख संयोग का वियोग', सांख्य के विचार में 'दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति' तथा पातञ्जलि योग सूत्र में 'योगश्चित्तवृत्ति निरोधः' अर्थात् योग द्वारा चित्तवृत्तियों का रोकना बताया गया है। किन्तु सांख्य का विचार इसमें सुख के अभाव का बोधक है। यह मान्य नहीं है क्योंकि जब दुःख से योगी विचलित नहीं होगा तो उसे आन्तरिक सुख की परम अनुभूति होगी। इसलिए यह आन्तरिक सुख प्रदाता भी है। गीता में इसको समत्व, चित्तनिरोध और ब्रह्मभाव से युक्त कहा गया है। यहां समन्वय से अभिप्राय है ज्ञान, कर्म और योग का समत्व।

योग-सांख्य का प्रयोग युग्म के रूप में किया जाता है। इससे स्पष्ट है कि दोनों में बहुत कुछ साम्य है। दोनों जीवन का मूल लक्ष मोक्ष को मानते हैं। इसमें अन्तर है कि सांख्य जहाँ केवल सैद्धान्तिक पक्ष पर बल देता है वहाँ योग इसके साथ व्यवहारिक पक्ष को भी पुष्ट मानता है। सांख्य और योग के तत्वों में एकता है। अन्तर है कि सांख्य के पच्चीस तत्वों में योग एक ईश्वर तत्व और जोड़ कर छब्बीस तत्व स्वीकार करता है। योग और सांख्य के प्रमाण शास्त्र भी एक ही है। दोनों ही विकासवादी सिद्धान्त को मानते हैं। ये समस्त विश्व को अचेतन प्रकृति से निर्मित मानते हैं। दोनों ही सत्कार्यवाद की महत्ता स्वीकार करते हैं। अन्तर है कि सांख्य ईश्वर की चर्चा नहीं करता पर योग ईश्वर को योग का एक विषय मानकर चर्चा करता है। दोनों अविवेक को बंधन का कारण मानते हैं तथा मोक्ष का कारण विवेक को। पर योगदर्शन मुक्ति के लिए विवेक के साथ योगसाधना पर भी बल देता है।

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

१. चित्त वृत्तियाँ

पातञ्जलि ने योग की परिभाषित करते हुए कहा है– **'योगश्चित्तवृत्ति निरोध:'**। अर्थात् योग चित्त वृत्तियों का निरोध है। इसमें विरोध का अर्थ स्पष्ट है रोकना। पर दो शब्द हैं 'चित्त' और 'वृत्तियाँ'। इनमें चित्त का अर्थ है अन्त:करण। अन्त:करण नाम में बुद्धि, अहंकार और मन तीनों मिला होता है। इसमें बुद्धि के अन्तर्गत ही अहंकार और मन होता है। इसकी जननी प्रकृति है जिससे यही प्रथम उत्पन्न है। यह आत्मा से अलग है। इससे आत्मा जहाँ चेतन है वहीं यह अचेतन है और अत्यन्त सूक्ष्म है। जड़ होकर भी यह आत्मा से प्रकाशित होकर उसके प्रकाश में अपना प्रतिबिम्ब देखकर उसी को वास्तविक मान स्वयं को भी वास्तवि मान वैठता है। अपने को चेतन मान लेता है। इस प्रकार निराकार आत्मा जो सर्वव्यापी है उसमें प्रतिबिम्बित जीव रूप में सीमित चैतन्य लगने लगता है। यही पुरुष का वंधन है। अत: चैतन्य की प्रतीत से ही चैतन्य है। जव चैतन्य आत्मा ज्ञान द्वारा अपना प्रकाश और प्रतिबिम्ब चेतन से हटा लेता है अथवा चैतन्य के प्रकाश का निरोध हो जाता है तो चित्त अपनी जननी प्रकृति में समाहित हो जाती है। यह निरोध समाधि में होता है। तब पुरुष अपनी पूर्वावस्था को प्राप्त कर विशुद्ध चैतन्य की स्थिति में प्रकाशित होता है। यही मोक्ष है। उसका उदाहरण अग्नि में तप्त लौह पिण्ड से दे सकते हैं जिसको तपाने पर पिण्ड अग्नि का पुंज प्रतीत होता है और अग्नि के ठंढा होने पर वह पुन: लौह पिण्ड दीखने लगता है।

वृत्ति का अर्थ है विषय का आकार ग्रहण करना। चित्त जब इन्द्रियों द्वारा बाहरी या भीतरी विषयों के सम्पर्क में उस वस्तु का आकार ग्रहण कर लेता है तो इसका ज्ञान आत्मा के ज्ञान से प्रकाशित होने पर होता है। इस प्रकार विषयों के ज्ञान का होने वाला क्रम वृत्ति कहलाती है। वृत्तियाँ क्षीण होकर संस्कार में गर्भस्त होती है। उनका क्षय नहीं होता पर संस्कार के पुष्ट होने पर वे पुन: अपना रूप धारण कर लेती हैं। इस प्रकार संस्कार और वृत्तियों की परस्पर उत्पत्ति अनवरत क्रम से चलती है।

संस्कार– वृत्तियां क्षीण होने पर सूक्ष्म रूप, संस्कार रूप में, रही है। इस प्रकार वृत्तियों से संस्कार बनते हैं। उचित अवसर पर स्थूल रूप में वे संस्कार पुन: वृत्तियों का रूप धारण कर लेते हैं। इस प्रकार वृत्तियों से संस्कार और संस्का से वृत्तियों का क्रम चलता रहता है। इसको समझाने के लिए वृक्ष और जड़ की उपमा दी गई है। जैसे वृक्ष के काट देने पर पृथ्वी के नीचे अदृश्य रूप में विद्यमान उस वृक्ष की जड़ पड़ी होती है। यह अनुकूल परिस्थिति में वर्षा का पानी पाकर पुन: वृक्ष बन जाता है। इसमें वृक्ष स्थूल और जड़ सूक्ष्म है। इसके सम्बन्ध चित्तवृत्ति निरोध से यह है कि वृक्ष के साथ जब जड़ का भी अन्त हो जायगा तो वृक्ष नहीं निकलेगा स्थूल और जड़ सूक्ष्म है। यही पूर्णयोगसिद्धि है कि वृत्तियों का बाह्य आकार आन्तरिक स्रोत के साथ समाप्त हो जाय। तब न संस्कार रहेगा न वृत्तियां ही रहेंगी।

चित्त वृत्तियों के प्रकार– इनके भिन्न पाँच प्रकार हैं : १. प्रमाण– सत्य का ज्ञान है। यह तीन प्रकार से प्राप्त होता है– प्रत्यक्ष, अनुमान, और शब्द। २. विपर्यय– मिथ्या ज्ञान को कहते हैं जिससे सही वस्तु की जगह गलत का ज्ञान होता है जैसे रस्सी को रात में दूर से देखकर सर्प का ज्ञान करना। पर समीप आने पर रस्सी देखना। इसमें संशय और भ्रम भी समाहित है।

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

३. विकल्प– शब्द से ज्ञान उत्पन्न होना किन्तु किस सत्य वस्तु से यह शून्य ज्ञान होता है जैसे घोड़े की सींग होना। इसे सुनकर लगता है कि घोड़े की सींग होती है। पर यह असत्य है। ४. निद्रा– इसमें जाग्रत और स्वप्न वृत्तियों का अभाव रहता है। इसमें तमस् की अधिकता होती है। जैसे सोकर उठने पर कहना कि बड़ा भयंकर स्वप्न था। यहाँ सोने में देखे गए स्वप्न का भान होता है। ५. स्मृति– अनुभव से प्राप्त वस्तुओं को ठीक-ठीक याद रखना स्मृति है। यह संस्कार-जन्य ज्ञान है। इन्हीं पाँच में चित्त के समस्त क्रिया-व्यापारों को समाहित किया जा सकता है।

क्लेश– बुद्धि जब आत्मा के प्रकाश से प्रकाशित होने पर अपने प्रतिबिम्बि को देख उसे सही मान बैठता है तो वह जीव रूप में प्रतीत होने से दुःखों के जाल में फंस कर जन्म-मरण के चक्र में प्रवर्तित होने लगता है। इसे क्लेश कहते हैं। ये पाँच प्रकार के हैं– १. अविद्या– मरना, अपवित्रता, दुःख तथा सुख, पवित्रता। २. अस्मिता– नितान्त भिन्न पुरुष और चित्त को एक मानना यद्यपि यह मिथ्या ज्ञान है। ३. राग– अपने पर अभिमान करना अपने को कर्ता मानना, भोक्ता मानना आदि। ४. द्वेष– क्रोध और हिंसा का भाव, ईर्ष्या, विरोध आदि। ५. अभिनिवेश– जीवन के प्रति लगाव और मृत्यु का भय। इनसे छुटकारा पाने का एक ही मार्ग है चित्तवृत्तियों का विरोध जो भोग से ही सम्भव है।

चित्त की भूमियाँ (अवस्थाएँ)– चित्त की निम्न अवस्थाएँ बताई गई हैं : १. क्षिप्त- इसमें चित्त रजोगुण के प्रभाव में अधिक सक्रिय तथा चंचल होने से एक वस्तु पर केन्द्रित नहीं रहता। इन्द्रिय और मन संयमित नहीं रहते। २. मूढ़- तमोगुण के प्रभाव में निद्रा, आलस्य से चित्त निष्क्रिय रहता है। ३. विक्षिप्तावस्था- रजोगुण से कुछ प्रभावित होने से चित्त अस्थिर रहता है। ४. एकाग्रता- सतोगुण की प्रधानता से चित्त देर तक एक विषय पर लगा रहता है। ५. निररुद्धावस्था- सम्पूर्ण वृत्तियों का निरोध होकर स्थायी रूप से ध्यान एक विषय पर केन्द्रित हो जाता है। यह धीरे-धीरे होता है। यह मोक्ष की अवस्था है। इसमें संस्कार अविद्या में समा जाते हैं।

२. अष्टांग योग

योग साधना में एकाग्रता के लिए शरीर, इन्द्रिय और चित्त की शुद्धि आवश्यक है। इसके लिए आठ मार्ग बताए गए हैं जो निम्न हैं–

(१) **यम**– इसका अर्थ संयम है। पाँच प्रकार के संयम होते हैं– संयम में मन, वचन और कर्म से ही कोई काम किया जाता है। पाँचों प्रकार में ये समाहित रहते हैं। (क) अहिंसा- प्राणि हिंसा न करना, (ख) सत्य- कर्म और वचन से सत्य का पालन, (ग) अस्तेय- चोरी न करना, (घ) ब्रह्मचर्य- यौन पर संयम रखना, (ङ) अपरिग्रह- भोगवाले पदार्थों का संग्रह न करना।

(२) **नियम**– इसके भी पाँच प्रकार होते हैं– (क) शौच- बाहरी और आन्तरिक अशुद्धता को दूर करना, (ख) सन्तोष- आवश्यकता से अधिक वस्तु की इच्छा न करना, (ग) तप- भूख, प्यास, सर्दी-गर्मी, सुख-दुःख तथा कठिन व्रतों को सहन करना (घ) स्वाध्याय- मोक्ष शास्त्रों का अध्ययन और ॐकार का जप (ङ) ईश्वर प्रणिधान- इश्वर का ध्यान और स्मरण।

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

(३) आसन– चित्त को स्थिरता और शरीर को सुख देने वाला बैठने का यह प्रकार है। कमलासन, शीर्षासन, सिद्धासन आदि अनेक आसन हैं। इनसे एकाग्रता आती है।

(४) प्राणायाम– प्राण वायु तथा श्वास-प्रश्वास का संयम। श्वास-निश्वास की क्रिया से मन चंचल रहता है। जब श्वसन की क्रिया रोकी जाती है तब प्राणायाम करते हैं तो यह एकाग्रता होती है।

(५) प्रत्याहार– प्रति-उल्टा + आहार = वृत्ति अर्थात् इन्द्रियों की वृत्ति उल्टी हो जाती है अर्थात् बाहर से हटकर अन्तर्मुखी हो जाती है। इससे इन्द्रियाँ पूर्ण नियंन्त्रण में हो जाती हैं।

(६) धारणा– 'देशबन्धश्चित्तस्य धारणा।' किसी एक स्थान (देश केन्द्र) में चित्त को एकाग्र करके वहाँ इष्टदेव का ध्यान करना।

(७) ध्यान– 'तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्।' ध्येय वस्तु का ज्ञान एकाकार रूप में एक विशेष केन्द पर निरन्तर प्रवाहित करना ही ध्यान है।

(८) समाधि– 'सम्यगाधीयते एकाग्रीक्रियते विक्षेपान् परिहत्य मनो यत्र स समाधिः।' इसमें ध्यानकर्ता ध्येय वस्तु के साथ एकाकार हो जाता है।

अन्तिम तीन धारण, ध्यान और समाधि जो अन्तरङ्ग साधन हैं ये ही वास्तव में सामूहिक रूप से संयम हैं। पहले के पाँच तो बहिरंग सांधन हैं वे इन अन्तरंग साधनों के सहायक हैं।

३. समाधि

समाधि योग का प्राणाधार है। इसकी व्याख्या ऊपर की जा चुकी है। समाधि दो प्रकार की होती है–

(१) सम्प्रज्ञात समाधि– इसमें चित्त को समाहित करने के लिए ध्येय वस्तु का ज्ञान बना रहता है। यहाँ ध्याता और ध्येय होते हैं पर दोनों का अस्तित्व बना रहता है।

(२) असम्प्रज्ञात समाधि– इसमें ध्येय का अलग ज्ञान नहीं रहता। ध्याता और ध्येय का एकाकार हो जाता है। यह स्थिति चित्त निरोध की है जहाँ चित्त सर्वथा निरुद्ध हो जाता है। यही दशा 'कैवल्य' की है। इसमें चित्तवृत्तियों के संस्कार का भी विरोध होता है। इससे क्लेशों का अन्त होता है।

सम्प्रज्ञात समाधि के चार भेद हैं– १. सवितर्क- इसमें स्थूल वस्तु पर ध्यान लगाया जाता है जैसे मूर्तिपर। सविचार- इसमें सूक्ष्म विषय पर ध्यान लगाया जाता है जैसे तन्मात्रा। ३. सानन्द- इसमें इन्द्रियों की आनन्दायक अनुभूति के कारण यह सानन्द है। यहाँ ध्यान की विषय इन्द्रियाँ हैं। ४. सस्मित- अहंकार को अस्मिता कहते हैं। इसमें अहंकार की भावना की जाती है।

असम्प्रज्ञात समाधि के दो प्रकार है– १. भवप्रत्यय- यदि वृत्ति का निरोध हो जाय पर चित्त अज्ञानतावश अविद्या में लीन हो जाय तो यहाँ चित्त का लय प्रकृति में होना अज्ञानावस्था के कारण जड़-समाधि का भवप्रत्यय कहलाता है। यह वास्तव में समाधि न होकर अज्ञानावस्था है। २. उपाय प्रत्यय- शुद्ध ज्ञान को 'उपाय' कहते हैं। ज्ञान के साधक हैं श्रद्धा, शक्ति, स्मृति और समाधि। इसमें शुद्ध ज्ञान का उदय होता है। इससे अविद्या का नाश होने से संस्कार और वृत्तियों का निरोध हो जाता है। इसमें द्रष्टा विशुद्ध चैतन्य में स्वयं समाहित हो जाता है जैसे अग्नि सब

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

को जलाकर स्वयं शान्त हो जाती है। यही योग का चरम लक्ष है तथा कैवल्य हैं क्योंकि तव मात्र 'केवल' ही रह जाता है।

सिद्धियाँ– ये योग को अन्तिम लक्ष आत्मदर्शन (मोक्ष) में बाधक होती हैं। जब योगी समाधिस्थ होता है तो उसके साधना के कारण उसे सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। ये आठ हैं। ये योग के लक्ष प्राप्ति में बाधा उत्पन्न करती है क्योंकि योगी को लुभाकर उसको विचलित करती हैं। ये हैं – १. अणिमा (अणु की तरह छोटा एवं अदृष्य हो जाना), २. लघिमा (हल्का होकर धरती से ऊपर उठ जाना), ३. महिमा (ऊँचा और भारी होना), ४. प्राप्ति (किसी इच्छा पूर्ति करना), ५. प्राकाम्य (इच्छा शक्ति का बढ़ना), ६. वशित्व (वशीकरण), ७. ईशीत्व (अधिकार प्राप्त की सिद्धि), ८. यथाकामवसायिता (जो भी संकल्प योगी का हो उसका पूर्ण होना)।

४. ईश्वर

योग से ईश्वर सांख्य कहा जाता है क्योंकि सांख्य के पच्चीस तत्वों में जिनमें ईश्वर की गणना नहीं की गई है इसने ईश्वर को भी अलग से जोड़ दिया है। इसमें ईश्वर जीव से भिन्न है क्योंकि जीव जहाँ जन्म मरण के बंधन में बंधा है, कर्मफल के द्वारा उसे सुख दुःख भोगना पड़ता है वहाँ ईश्वर बंधन रहित, पूर्ण मुक्त है। यह आत्मा से अलग है क्योंकि आत्मा शरीर में बंध जाती है। शरीर के नाश होने पर आत्मा मुक्त तो होता है किन्तु फिर दूसरे शरीर में जाकर बंधता है। अतः इसे मुक्त शाश्वत नहीं कहा जा सकता, जबकि ईश्वर परम मुक्त है। वह मन से भी भिन्न है क्योंकि सदा बंधन में रहता है। अतः वह दुःखों से दूर कर्म एवं फल से रहित, संस्कार से अप्रभावित, नित्य मुक्त है। वह अखण्ड ज्ञानवान, ऐश्वर्ययुक्त है। पातञ्जलि ने इसीसे इसे विशिष्ट पुरुष कहा है। यही अनादि, अनन्त और पूर्ण ब्रह्म है। यह गुणातीत, सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान और सर्वज्ञ है। यह एक है। इसी मान्यता के कारण योग को एकेश्वरवादी दर्शन कहा जाता है। यह सृष्टिकर्ता या सृष्टिहर्ता नहीं माना गया है क्योंकि यह सांख्य की तरह सृष्टि को प्रकृति का विकास मानता है। पर पुरुष और प्रकृति के संयोग से हुए इस विकास के लिए एक तीसरा व्यक्ति योग में ईश्वर है। इसे दयालु, कृपालु, वेद का रचनाकार, धर्मधुरी, अन्तर्यामी, ऋषियों का गुरु है। ओऽम् उसका प्रतीक माना गया है। ईश्वर के प्रति चित्त को दृढ़ता से भक्तिपूर्वक लगाने से ईश्वर की सिद्धि को माना गया है– ईश्वर प्रणिधानाद् वा। प्रणिधान का अर्थ है भक्तिपूर्वक दृढ़ता से चित्त लगाना।

ईश्वर के अस्तित्व को मानने के लिए निम्न तर्क योगसूत्र में दिए गए हैं –

(१) ईश्वर का वर्णन आप्त ग्रंथों-वेद, उपनिषद्, स्मृतियों तथा पुराणों में हुआ है। इससे ईश्वर की स्थिति सिद्ध है।

(२) परिमाण में बड़ी और छोटी मात्राओं में भेद किया जाता है। उसी सिद्धान्त में ईश्वर सृष्टि में सबसे महान है। इसमें अनन्त ज्ञान है।

(३) पुरुष और प्रकृति के संयोग से सृष्टि के उद्‌भव में संयोग का प्रेरक ईश्वर को ही माना जा सकता है जो इन सबसे बड़ा है।

(४) योगी प्रणिधान समाधि ईश्वर पर ही लगाता है। इसीसे ईश्वर इस मार्ग में आने वाले सभी आपदाओं और निरोधों को दूर करता है।

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

समीक्षा

सांख्य की अधिकांश मान्यताओं को योग में यथावत स्वीकार किया गया है। पर कुछ में परिवर्तन भी करता है जैसे सांख्य जहाँ निरीश्वर है वहीं यह सेश्वर है। इसमें सांख्य के प्रकृति पुरुष के संयोग को स्वीकार करने के साथ ही संयोगकर्ता ईश्वर की बात की गई है जिसका उल्लेख सांख्य में नहीं किया गया है।

योग भारतीय दर्शनों में ईश्वर प्राप्ति का एक विशेष और सफल साधन है। यहाँ योगाभ्यास मोक्ष की प्राप्ति के लिए किए जाने का उल्लेख है। साथ ही वैज्ञानिक आधार पर योगाभ्यास में अष्टांगिक मार्गों का उल्लेख कर इसे अत्यन्त सरल बना दिया है। इसीसे अष्टांगिक मार्ग को इसकी अनमोल देन माना जाता है।

योग में शक्तियों की प्राप्ति का होना तथा उनकी ओर योगी का आकृष्ट न होना उसके संयम पर बल देता है। योग का फल है इन्द्रिय संयम। यदि संयम है तो साधना सफल है और ईश्वर या मोक्ष प्राप्त होगा ही। पर यहाँ ईश्वर को केवल समाधि योग तक सीमित रखा गया है कर्म या कर्म विपाक से दूर रखकर उसके अधिकार को परिछिन्न (कम) किया गया है। वह न किसी को दण्ड दे सकता है न पुरस्कार।

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

अध्याय २२

मीमांसा दर्शन

'मीमांसा' शब्द का अर्थ है 'पूजित विचार' या 'पूजित जिज्ञासा।' इससे स्पष्ट है कि 'यह किसी वस्तु के स्वरूप का यथार्थ वर्णन है।' यह माना जाता है कि श्रुतियों में भिन्नता है, स्मृतियों में भिन्नता है। कोई भी ऐसा शास्त्र नहीं है जिसमें भन्नता न हो। श्रुतियों के परस्पर भिन्न मतों की व्याख्या.कर उनको एकात्मक बनाने के लिए क्रिया जाने वाला विचार मीमांसा कहलाता है। पहले इसका प्रयोग वैदिक कर्मकाण्डों के व्याख्या के संदर्भ में होता था। पर पीछे जब जिज्ञासा, मीमांसा और समीक्षा पर्यायवाची शब्द के रूप में प्रयोग किए जाने लगे तो इसका अभिप्राय हुआ समीक्षात्मक विवेचन। यहाँ दर्शन के क्षेत्र में इसका अभिप्राय है वैदिक कर्मकाण्डों (धर्म) की व्याख्या। इसीलिए मीमांसा सूत्र का प्रथम सूत्र है– **'अथातो धर्म जिज्ञासा'** अर्थात् इसीलिए धर्म की जिज्ञासा करनी चाहिए। यह वाक्य वेदान्त सूत्र के प्रथम सूत्र – **'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा'** अर्थात् हसीलिए ब्रह्म की जिज्ञास करनी चाहिए का पूरक है। इससे स्पष्ट है वेद के दो पक्ष हैं कर्मकाण्ड, जिनका उल्लेख ब्राह्मण ग्रंथों में है तथा ज्ञानकाण्ड जिनका उल्लेख उपनिषदों में है। मीमांसा कर्मकाण्ड से सम्बन्धित है और वेदान्त ज्ञानकाण्ड से। इसीसे इसका नाम 'कर्ममीमांसा' तथा वेदान्त के पूर्व होने से 'पूर्व मीमांसा' आदि भी दिया गया है। इसका प्राचीन नाम 'न्याय' भी है क्योंकि मीमांसक वे प्रथम नैयायिक हैं जिन्होंने तर्क के द्वारा संदिग्ध विषयों पर निर्णय दिया है।

मीमांसा के उद्‌भव का कारण था जनता में कर्म के प्रति उत्पन्न संदेह। इससे यज्ञ, बलि से लोग विरत होने लगे थे। यद्यपि इसको ब्राह्मणों ने प्रतिपादित किया था और श्रौत सूत्रों ने आगे बढ़ाया था। इसीकी संगत व्याख्या मीमांसा ने करना प्रारम्भ किया। पर मीमांसा ने केवल कर्मकाण्ड व्याख्या ही नहीं की अपितु इस को दर्शनिक धरातल पर स्थापित किया। इसीलिए मीमांसा कर्म का दर्शन कहा जाता है।

मीमांसा दर्शन के सूत्रकार महर्षि जैमिनी हैं। अपने पहले भी कई मीमांसक आचार्यों कर स्थिति को उन्होंने स्वीकार किया है जिनकी कृतियाँ अब अनुपलब्ध हैं। जैमिनी के मीमांसा सूत्र पर शबर स्वामी का भाष्य है। इस पर प्रभाकर मिश्र की 'बृहती' टीका है। शबर भाष्य पर कुमारिल भट्ट के तीन विशाल वृत्तिग्रन्थं हैं। प्रभाकर मिश्र कुमारिल भट्ट के दृष्टिकोण से कतिपय बिन्दुओं पर भिन्न हैं यद्यपि प्रभाकर कुमारिल के शिष्य थे। कुमारिल ने प्रभाकर की कुशाग्र बुद्धि के कारण उनका नाम गुरु (विद्वान) रखा था। इन दोनों के मतों के कारण दो भिन्न सम्प्रदाय मीमांसा दर्शन में चल पड़े। कुमारिल भट्ट के अनुयायी 'भाट्ट मत' के कहलाते हैं और प्रभाकर मिश्र के अनुयायी 'गुरु मत' के। गुरुमत भाट्टमत से प्राचीन माना जाता है।

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

१. प्रमाण्यवाद

मीमांसा में अन्य दर्शनों की तरह प्रमाण्यवाद पर विचार हुआ है। ज्ञान है। ज्ञान अज्ञात तथा सत्य पदार्थ का ज्ञान है– **प्रमा चाऽज्ञाततत्त्वार्थ ज्ञानम्**। यहाँ अज्ञात और सत्य दो गुणों की बात की गई है। अज्ञात से अभिप्राय है जो स्मृति में पहले से न हो तथा सत्य से अभिप्राय है जिसमें भ्रम या संशय का अभाव हो। इसके लिए चार शर्तें वताई गई हैं। **'कारणदोष-बाधकज्ञान-रह्नितमगृहीताग्राह्नि ज्ञानं प्रमाणम'**। अर्थात् १. कारण सामग्री दोष रहित हो २. अन्य ज्ञान द्वारा उसके ज्ञान में बाधा न उत्पन्न हो ३. जिस ज्ञान में पूर्व ज्ञान की अनुभूति हो तथा ४. वह वस्तु सत्य हो और उसका ज्ञान भी सत्य, यथार्थ हो। इन्हीं शर्तों में मीमांसकों का ज्ञान प्रमा है और इस ज्ञान का कारण प्रमाण है। इसी से मीमांसक्र मानते है कि वस्तु ज़ान सदा सही होता है, वह स्वत: प्रमाण होता है। इससे ज्ञान स्वत: प्रकाश होता है।

यह सर्वमान्य नियम है कि जिस विषय का हमें ज्ञान हो रहा है यदि वह कारण विषय दोषरहित है तो उससे प्राप्त होने वाला ज्ञान भी दोष मुक्त होगा। यही ज्ञान यथार्थ ज्ञान होता है। उदाहरण स्वरूप हम सामने रखा सफेद शीशे का चश्मा देखते हैं। कोई दृष्टि दोष की वाधा नहीं है कि हम उसका रंग साफ-साफ नहीं देख पा रहे हैं या न वहाँ अंधेरा है कि हमें स्पष्ट रूप से उसका रंग नहीं दिखाई पड़ रहा है। इससे प्रत्यक्ष रूप से उसका यथार्थ ज्ञान हम प्राप्त कर रहे हैं। इसकी सिद्धि के लिए हम चश्मा को उठाकर पहनते हैं तो सभी चीजे साफ-साफ दिखाई देती हैं जैसी हैं। इस क्रिया द्वारा भी ज्ञान की प्रमाणिकता सिद्ध हो जाती है। अत: ज्ञान और क्रिया में विरोध नहीं है। पर यदि कारण सामग्री दोषयुक्त होगी तो सही ज्ञान नहीं हो सकता जैसे पीलिया का रोगी जिसे हर वस्तु पीला ही दिखता है उसे सफेद सीपी या शंख भी पीली दिखाई पड़ेगा। यहाँ उसके नेत्र विकार के दोष के कारण उसका ज्ञान यथार्थ नहीं माना जा सकता।

इस विवेचन के आधार पर मीमांसकों का मानना है कि– १. **'प्रमाणं स्वत: उत्पद्यते'** अर्थात् प्रमाण स्वत: उत्पन्न होता है। वह कहीं बाहर से नहीं आता। वह ज्ञानजनक सामग्री से ही स्वत: उत्पन्न होता है। ज्ञान जनक सामग्री स्वत: प्रमाण होता है। २. **प्रमाणं स्वत: जायते** अर्थात् प्रमाण स्वत: जाना जाता है। ज्ञान के साथ ही प्रमाण का भी ज्ञान हो जाता है। उसे बाहर से ढूँढ़ना नहीं पड़ता। ज्ञान स्वत: प्रमाण होता है। यही मीमांसकों का प्रमाण्यवाद है। इसको स्वत: प्रमाणवाद का नाम देते हैं।

पर जब साधक वस्तु में दोष हो तथा साधक प्रणाली दोषयुक्त हो तो यह स्पष्ट मानना होगा कि ज्ञान सही नहीं हो रहा है। वह यथार्थ ज्ञान नहीं है। यह ज्ञान की प्रमाणिकता है। पर इसकी सिद्धि दूसरे प्रमाणों द्वारा की जा सकती है स्वत: नहीं। ज्ञान की सिद्धि न होना ही अप्रमाण कहा जाता है। यहाँ स्पष्ट है कि प्रमाण्य स्वत: होता है जबकि अप्रमाण्य परत: होता है।

पर न्याय दर्शन मीमांसकों से यहाँ भिन्न हैं। उनके अनुसार ज्ञान स्वत: नहीं परत: होता है। यह बाहर से होता है। यह तब तक सिद्ध नहीं माना जाता जव तक बाहरी प्रमाणों द्वारा इसे सिद्ध न कर दिया जाय। इससे वे मानते हैं कि ज्ञान को दूसरे प्रमाणों से भी सिद्ध करना होता है। उदाहरण के लिए कलम का ज्ञान तभी सिद्ध माना जा सकता है जब उससे लिखा जा सके।

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

किन्तु नैय्यायिकों के इस मत को मीमांसक नहीं मानते। इसके पीछे कारण देते हैं कि किसी ज्ञान को बाहरी प्रमाणों से सिद्ध करने में अनवस्था दोष हो जायगा अर्थात् इस प्रकार एक प्रमाण को दूसरे से, दूसरे को तीसरे से, तीसरे को चौथे आदि से सिद्ध करने की क्रमशः यह क्रिया चलती रहेगी। इसका कोई अन्त ही नहीं होगा।

भ्रम

चूँकि प्रमाण्यवाद का विचार कर रहे हैं अतः भ्रम के सम्बन्ध में भी यहीं विचार करना आवश्यक है। भ्रम के विषय में प्रभाकर और कुमारिल के अलग-अलग मत हैं। प्रभाकर ने भ्रम का कारण ज्ञान में गड़बड़ी होना बताया है। यह गड़बड़ी विवेक को ग्रहण न करने के कारण होती है। पूर्व स्मृति और प्रत्यक्ष में भेद के अविवेक ज्ञान के कारण ही ऐसा होता है। उदाहरण स्वरूप हम सीपी (शुक्त) देखते हैं। इसका रंग श्वेत होने से पूर्व स्मृति में रजत के श्वेत होने का ज्ञान उभर आता है और उसके कारण सीपी को रजत कह बैठते हैं। 'इदं रजतं' में 'इदं' रजत की सूचना देकर उसे विवेक पूर्वक पहचानने की कोशिश नहीं करते। इसी से यह भ्रम होता है। यहाँ शुक्ति से निकले चमक का ही अनुभव करते हैं और चमक को देख रजत का स्मरण कर उससे सुमेलित कर इसे रजत कह देते हैं। इसे 'विवेकाग्रह' या 'ख्यातिवाद' कहते है।

कुमारिल का मत है कि कभी-कभी दो समान प्रकार के धर्म वाली वस्तुओं के समान गुण का सम्बन्ध जोड़ दिया जाता है जैसे शुक्ति की सफेदी और रजत की सफेदी को एक दूसरे में जोड़ने के कारण शुक्त को रजत की सफेदी कह बैठना या शुक्ति में रजत प्रकार का ज्ञान कर लेना। यहाँ शुक्तित और रजत्व दो अलग किन्तु समान धर्म होने के कारण शुक्ति को देखकर रजत का भान हो जाता है। न्याय में इसे 'प्रकारता' का नाम देते हैं क्योंकि ज्ञान होता है शुक्ति का पर प्रकारता होती है रजत्व की। मीमांसा में इसे 'अन्यख्याति' या 'विपरीत ख्याति' कहते है।

इससे स्पष्ट है कि प्रभाकर भ्रम की सत्ता को स्वीकार नहीं करते। इसका कारण स्मरण शक्ति में दोष के कारण भेद ज्ञान का अभाव मानते हैं। पर कुमारिल भ्रम की सत्ता को स्वीकार करते हैं। इसका विषय कारण नहीं होता बल्कि विषयों के बीच उनके धर्म का संसर्ग कारण होता है।

प्रमाण

मीमांसा में छः प्रकार के प्रमाण माने गये हैं : प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि। इनको प्रत्यक्ष प्रमाण कहा जाता है। अन्य प्रमाणों को परोक्ष प्रमाण कहा गया है। किन्तु प्रभाकर ने प्रथम पाँच ही प्रकारों को ही केवल प्रमाण माना है। इनकी दृष्टि में अनुपलब्धि का कोई अलग स्थान नहीं है। यद्यपि जैमिनी ने तीन ही प्रमाण बताया है : प्रत्यक्ष अनुमान और शब्द। इसी में प्रभाकर ने उपमान और अर्थापत्ति जोड़ा तथा कुमारिल ने अनुपलब्धि जोड़ा। इस प्रकार इसकी संख्या क्रमशः बढ़ती गई।

१. प्रत्यक्ष-प्रत्यक्ष ज्ञान की परिभाषा दी गई है- **साक्षात् प्रतीतिः प्रत्यक्षम्** अर्थात जिस विषय का साक्षात् ज्ञान हो वही प्रत्यक्ष है। इसकी दो अवस्थाओं-निर्विकल्प और सविल्प को दोनों ने माना है। निर्विकल्प प्रत्यक्ष वह है जिसमें 'वस्तु है' इतना ही ज्ञान होता है जैसे- 'इदं' (यह है) उसके स्वरूप का बोध नहीं होता। इसके बाद की अवस्था आती है कि हम वस्तु के

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

स्वरूप, गुण, धर्म से परिचित होकर उसका पहचान करते हैं जैसे 'इदं रज्जू' (यह रस्सी है)। यही सविकल्प प्रत्यक्ष है। इन दोनों प्रत्यक्षों के लिए मीमांसा में तीन प्रकार की समीपता बनती है– इन्द्रिय पदार्थ को देखती है, इन्द्रिय के प्रत्यक्ष को मन ग्रहण करता है, मन की भावना आत्मा को बोधित होती है। इस प्रकार पहला सम्बन्ध इन्द्रिय पदार्थ का, दूसरा इन्द्रिय और मन का तीसरा मन और आत्मा का है। इसमें तीनों विषय, ज्ञान और आत्मा, का सम्बन्ध आवश्यक है।

२. अनुमान– यह न्याय से मिलता-जुलता है। दोनों में मात्र अन्तर यह है कि न्याय अनुमान के लिए जहाँ पाँच वाक्यों को-प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टान्त, उपनय और निगमन को मानता है वहाँ मीमांसा या तो पहले तीन या बाद के तीन को ही मानता है।

३. उपमान– यह सभी प्रमाणों से अलग स्वतंत्र प्रमाण है। जब हम जंगल में नीलगाय देखते हैं, तव पहले देखे हुए गाय की स्मृति जाग्रत हो जाती है कि यह गाय के समान है। तभी हमें ज्ञात होता है कि यह नीलगाय है। यह ज्ञान उपमति कहलाता है। इसको 'संज्ञा-संज्ञि-सम्बन्धज्ञान' कहते हैं जो उपमान से नहीं बल्कि नीलगाय के प्रत्यक्ष से ज्ञान होता है। उसके बाद पूर्व कथन या आप्तवाक्य की स्मृति होती है कि गाय के समान ही गवय (नीलगाय) होता है। इस प्रकार पहले प्रत्यक्ष और फिर सादृश्य ज्ञान होता है। यहाँ किसी को बताने की जरूरत नहीं है कि यह नीलगाय है। देखने के बाद उसे स्वत: स्मृति में पड़े गाय का ज्ञान हो आता है।

यह प्रत्यक्ष नहीं है क्योंकि सदृश्य वाली वस्तु गाय का यहाँ प्रत्यक्ष नहीं होता। यंह स्मृति से भी भिन्न है क्योंकि नीलगाय का ज्ञान यहाँ नहीं आता। वह प्रत्यक्ष देखता है। यह शब्द प्रमाण भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि यहाँ व्याप्ति वाक्य का अभाव है। यह अनुमान के अन्तर्गत भी नहीं आता। इसलिए यह स्वतंत्र प्रमाण है।

यह नैय्यायिकों के मत से भिन्न हैं क्योंकि नैय्यायिक जब नीलगाय के आकार का एक जंगली जानवर देखने के पहले से यह सुनी हुई बात उसके मन में है कि नीलगाय गाय के समान होती है तब वह नीलगाय को देखकर उसका गाय से मिलान करता है। मिलान में सादृश्य होने पर वह इसे पहचानता है। इसमें प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द तीनों का सम्बन्ध है। पर ऐसा मीमांसकों को नहीं मान्य है। इसलिए वे इसे स्वतंत्र प्रमाण मानते हैं।

४. शब्द– किसी विश्वस्त व्यक्ति द्वारा ज्ञानयुक्त कथन प्रमाण है। इसके दो भेद हैं : १. पौरुषेय-श्रेष्ठ व्यक्तियों का कथन २. अपौरुषेय-ईश्वरवाक्य जो वेद के वचन हैं। ये स्वतः प्रमाण हैं। इनमें कोई अन्तर्विरोध नहीं हैं और न ये किसी ज्ञान से बाधित हो सकते हैं। अपौरुषेय को भी दो भागों में विभक्त किया गया है। प्रभाकर के अनुसार ये हैं-सिद्धार्थवाक्य, जो सत्य पदार्थ का ज्ञान कराते हैं तथा विधायक वाक्य, जो किसी कर्म के करने या न करने की आज्ञा देते हैं। कुमारिल ने वेद को केवल विधि वाक्य माना है।

मीमांसा में शब्द को नित्य माना गया है। यही अर्थ और शब्दार्थ के विषय में है। शब्दों दो वर्णों के योग से बनता है जैसे पानी = पा+नी। पर किसी वर्ण का जितनी बार उच्चारण करें उतनी ध्वनियाँ होंगी, जितनी बार लिखे लिखावट उतने प्रकार की होगी पर वर्ण वही रहेगा। अतः वर्ण नित्य है। इनका समूह शब्द भी नित्य है। इसके अर्थ भी नित्य है। अतः शब्द और

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

अर्थ का सम्वन्ध भी नित्य होता है। फिर अन्य ग्रन्थों और वेद में अन्तर है कि ग्रन्थों में शब्दों का प्रयोग क्रम, भाव की भिन्नता के साथ अन्य दोषों के होने की संभावना रहती है और जो वेद में नहीं होती। इसी से वेद वाक्य अपौरुषेय और नित्य हैं।

५. अर्थापत्ति– **'अर्थापत्तिरपि दृष्टः श्रुतो वाऽर्थोऽन्यथा नोपपद्यते इत्यर्थकल्पना'** दृष्ट या सुने हुए विषय की पुष्टि, जिसके अभाव में, न हो सके उस तथ्य की कल्पना अर्थापत्ति है। अर्थापत्ति में दो शब्द हैं- अर्थ (विषय) + आपत्ति (कल्पना)। प्रायः किसी विषय के विरोधाभास से उत्पन्न कठिनाई को दूर करने के लिए जिससे उसके हेतु की व्याख्या की गई हो कल्पना है। इससे विरोध के कारण समझने की कठिनाई दूर होती है। उदाहरण के लिए हम ले सकते हैं कि, देवदत्त घर में नहीं है। इसके दो विरोधाभासी अर्थ निकलते हैं वह घर के बाहर है या वह मृतक है। पर कल्पना द्वारा जब यह अर्थ लेते हैं कि वह घर के बाहर है इसलिए वह घर में नही है तो यही अर्थापत्ति है। इस प्रकार जब दो देखे या सुने गए तथ्यों की सत्यता में संदेह (प्रभाकर के अनुसार) अथवा विरोधाभास (कुमारिल के अनुसार) होता है तो इसका निराकरण कल्पना द्वारा किया जाना अर्थापत्ति है। इसमें तथ्य अकेला नहीं होता पर दो होते हैं और विसंगत होते है। इसलिए यह स्वतंत्र प्रमाण माना गया है। इसमें व्याप्ति का अभाव होने से यह अनुमान से भिन्न है। आप्तवचन नहीं होने से शब्द प्रमाण से भिन्न है तथा सादृश्य ज्ञान के अभाव में उपमान से भी भिन्न है। अतः यह स्वतन्त्र प्रमाण है।

इसके द्वारा किसी विशेष घटना की व्याख्या होती है। जहां शाब्दिक अर्थ विरोधी होते हैं वहा लाक्षणिक अर्थ से इसका समाधान होता है। इससे छूटे हुए शब्दों की कड़ी को कल्पना से जोड़ लेते हैं। इसलिए यह अत्यन्त उपादेय प्रमाण है। उपर के उदाहरण से स्पष्ट है कि देवदत्त जो घर में पहले विद्यमान देखा गया था उसका न होना इसी कल्पना के सहारे स्पष्ट किया जा सकता है कि वह कहीं बाहर अभी चला गया है। ऐसी समस्याएं हमारे दैनिक जीवन की हैं इसी के सहारे सुलझाया जा सकता है। अतः यह अत्यन्त उपयोगी है। दैनिक जीवन में इसका उपयोग सर्वाधिक है।

यह दो प्रकार का होता है (अ) दृष्टार्थापत्ति तथा (ब) श्रुत्यार्थापत्ति। दृष्टार्थापत्ति में देखी हुई किसी वस्तु के विसंगति या अभाव की व्याख्या के लिए की गई कल्पना होती है। ऊपर देवत्त के सम्बन्ध में की गई कल्पना इसीका उदाहरण है। दूसरे श्रुतार्थापत्ति में सुनी हुई किसी बात को जिससे उसके अर्थ का पूर्ण स्पष्टीकरण न हो रहा हो कल्पना द्वारा उसको पूरा करना कि अर्थ स्पष्ट हो जाय। उदाहरण के लिए कमरे में नृत्य शुरू हो रहा हो और कहा जाय 'बन्द करो'। क्या बन्द किया जाय स्पष्ट नहीं है। कल्पना द्वारा यह अर्थ निकालना कि दरवाजा बन्द करो इसका अभिप्राय हो सकता है।

६. अनुपलब्धि– हम किसी मकान में जाते हैं जहां सब कुछ है पर वहां घड़ा नहीं है। तो हमें ज्ञान प्राप्त होता है कि यहां सब है पर घड़ा नहीं है। यह घड़े के अभाव का ज्ञान ही घड़े की अनुपलब्धि का बोधक है। इसके अभाव का ज्ञान भी साक्षात होता है जैसे अन्य उपस्थित वस्तुओं का साक्षात ज्ञान होता है।

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

चूंकि अनुपलब्धि अन्य प्रमाणों की तरह है इससे इसे भी स्वतंत्र प्रमाण माना गया है। इसे किसी दूसरे प्रमाण के अन्तर्गत नहीं जोड़ा गया है। यह प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं माना जा सकता क्योंकि प्रत्यक्ष इन्द्रियों से सम्बद्ध होता है। पर जो है ही नहीं वहां उसका प्रत्यक्षीकरण भला इन्द्रियां कैसे कर सकती हैं। यह अनुमान से भी अलग है क्योंकि अनुमान के लिए उचित व्याप्ति की सत्ता होनी चाहिए। पर घड़े के अदर्शन और अभाव के बीच कोई व्याप्ति सम्बन्ध नहीं है। आप्त वचन के द्वारा न जानने योग्य होने के कारण यह शब्द प्रमाण से भिन्न है। सादृश्य ज्ञान के अभाव होने से यह उपमान प्रमाण से भी अलग है। इसीसे अन्य प्रमाणों से अभिन्न उन्हीं की तरह इसे भी एक स्वतंत्र प्रमाण भट्ट मीमांसक (कुमारिल भट्ट के अनुयायी) तथा अद्वैत वेदान्ती मानते है। पर प्रभाकर इस मत से असहमत हैं। यही विचार सांख्य और न्याय दर्शन का भी है। वे इसे प्रत्यक्ष के अन्तरगत ही मानते हैं। उनके अनुसार अभाव जिस स्थान पर होता है वह स्थानरूप में ही होता है। अत: वह स्थानरूप में ही होगा। उसका कोई अलग स्थान नहीं माना जा सकता। पर प्रत्यक्ष में विषय और इन्द्रियों का सम्पर्क आवश्यक है। जब विषय (घड़ा) है ही नहीं तो उसका इन्द्रियों से भला सम्पर्क कैसे होगा। इससे इसे प्रत्यक्ष के साथ जोड़ना अनुचित है।

मीमांसा का तत्त्व ज्ञान

मीमांसा में संसार और इसके सभी विषयों की यथार्थता को स्वीकार किया गया है। इससे इनकी दृष्टि में बौद्धों क्षणिकवाद, अद्वैतों के भाषावाद का कोई स्थान नहीं है। ये संसार और संसारी विषयों की सत्यता को मानते हैं। ये इनके अतिरिक्त अदृष्य को भी सत्य मानते हैं। इसीसे आत्मा, स्वर्ग, नरक, देवताओं की स्थिति को भी स्वीकार करते है। ये परमाणुओं की सत्ता को भी मानते हैं। पर वैशेषिकों की तरह यह नहीं स्वीकार करते कि ईश्वर परमाणुओं को संचालित करता है। इसके स्थान उनके विचार में कर्म के आधार पर परमाणुओं का संचालन होता है जिससे इस संससार को कर्मफल के भोग के लिए स्थान मानते हैं। पदार्थों की संख्या के विषय में प्रभाकर, कुमारिल और मुरारी के बीच मतभेद है। प्रभाकर ने जहां आठ पदार्थों की सत्ता माना है वहां कुमारील ने केवल पांच और मुरारी मिश्र ने ब्रह्म को ही एक परमार्थभूत पदार्थ कहा है। पर लौकिक व्यवहार में अन्य चार पदार्थ स्वीकार किया है।

प्रभाकर ने जिन आठ पदार्थों की सत्ता माना है वे हैं- द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, परतन्त्रता, शक्ति, सादृश्य और संख्या। इनमें प्रथम पांच वैशेषिक के द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य तथा समवाय से मिलते हैं। जो परतंत्रता यहां है वही वैशेषिक का समवाय है। शक्ति नामक नया पदार्थ यहां कल्पित है जिससे द्रव्य, गुण, कर्म जिनमे क्रियाशीलता का अभाव होता है वे शक्ति के कारण ही कार्यशली होते है। पर शक्ति अदृश्य होती है। समान गुणों को देखकर ही सादृश्य का ज्ञान होता है। संख्या गुण के अन्तर्गत है।

कुमारिल ने दो पदार्थों को दो कोटियों में रखा है- १. भाव पदार्थ और अभाव पदार्थ। द्रव्य, गुण, कर्म और सामान्य को भाव पदार्थ माना है। अभाव पदार्थ चार प्रकार के माने गए हैं- १. प्रागभाव २. प्रध्वंसभाव ३. अत्यन्ताभाव ४. अन्योन्याभाव।

मुरारी मिश्र ने पदार्थ के विषय में इससे भिन्न मत दिया है। उनके अनुसार मूल पदार्थ एकमात्र ब्रह्म ही है पर लौकिक जीवन में उन्होंने अन्य चार पदार्थों की कल्पना की है- १. धर्म

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

विशेष-निर्धारित आश्रय का होना जैसे घड़े का आश्रय घड़ा है। २. धर्म विशेष-निर्धारित धर्म का होना जैसे घट में घटत्व का होना। ३. आधार विशेष- अनिश्चित समय द्वारा काल बोध का होना जैसे इस समय का घट, उस समय का घट। इसमें काल का आधार तो बनता है पर इस समय, उस समय के संकेत के कारण काल में अनिश्चितता रहती है एवं ४. स्थान विशेष- यह पदार्थ को दैशिक आधार प्रदान करता है जैसे घर का घड़ा, भूतल का घड़ा।

जगत विचार

इन्द्रियों द्वारा हम वाह्य वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त करते हैं। संसार भी वाह्य वस्तु है। जिस रूप में हम उसे देखते हैं वही उसकी सत्यता है। इस संसार को तीन तत्वों से बना माना जाता है- **१. शरीर**- इसे ही भोगायतन कहते हैं। इस शरीर द्वारा ही जीवात्मा अपने पूर्वार्जित कर्म-फल का भोग करती है। **२. इन्द्रियाँ**- इनमें कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय दोनों समाहित हैं। इन्हीं के द्वारा आत्मा कर्म-फल के अनुसार, सुख-दुःख को भोगता है। **३. भोग विषय की वाह्य वस्तुएँ**- वे पदार्थ जिनका भोग आत्मा करता है। नाना रूपी यह संसार इन्हीं तीन तत्वों से युक्त अनादि और अनन्त है। मीमांसकों की दृष्टि में कर्मफल भोग की क्रिया अनादि काल से अनवरत चलते रहने के कारण न संसार का अन्त होता है और न उदय होता है। संसार के पदार्थ अणुओं से उत्पन्न है। इसमें कर्मफल भोगने के लिए अणुओं के संयोग से व्यक्ति उत्पन्न होता है। फल भोग लेने पर उसका अन्त होता है। पर संसार सदा बना रहता है क्योंकि फल भोगकी क्रिया सदा चलती रहती है। यहां वैशेषिकों की तरह मीमांसक परमाणुवाद को स्वीकार करते दीखते हैं। पर अन्तर यह कि वैशेषिक जहां परमाणुओं का संचालक ईश्वर को मानता है वहा मीमांसक इसे स्वीकार नहीं करते। वे मानते हैं कि कर्म के सामान्य नियम के अनुसार अणुओं से बनी सृष्टि इसलिए परिवर्तित होती रहती है कि जीव अपना कर्मफल यहां भोगता रहे। इस दृष्टि से मीमांसा दर्शन केवल वस्तुवादी ही नहीं है बल्कि अनेक वस्तुवादी है। अतः वह वेद प्रतिपादित इन्द्रियों के प्रत्यक्ष से भी बाहर के विषय स्वर्ग, नरक आदि को भी सत्य मानता है।

शक्ति और अपूर्व

मीमांसक कार्य-कारण सम्बन्ध को स्वीकार करते हैं पर उस पर नई दृष्टि से विचार करते हुए कार्य की उत्पत्ति के लिए कारण के साथ शक्ति का भी होना बताते है जिसके बिना कारण में क्रियाशीलता नहीं होती। यदि अंकुरण के कार्य को देखें तो उसके पीछे कारण बीज होता है। पर बीज तब तक अंकुरित नहीं होता जब तक उसमें निहित शक्ति न हो। यदि बीज को भून कर उसकी शक्ति नष्ट कर दी जाय या कीड़ा लगने से उसकी शक्ति समाप्त हो जाय तो बीज के रहते भी अंकुरण नहीं होगा। इससे स्पष्ट है कि जब तक शक्ति रहेगी तभी तक अंकुरण होगा या कार्य सम्पादित होता रहेगा। अतः कारण में शक्ति एक विशिष्ट पदार्थ है जो उसके क्रियान्वयन में सहायक होती है।

न्याय दर्शन भी इस मत से असहमत है। उनकी दृष्टि में कारण की क्रियाशीलता तभी तक बनी रहती है जब तक उसमें बाधक कारण नहीं होता। बाधक कारण के होने पर उसकी क्रियाशीलता नष्ट हो जाती है। इस प्रकार ये मानते हैं कि उपादान कारण ही क्रियात्मकता का केवल कारण नहीं होता बल्कि बाधक कारण का अभाव भी कारण होता है, जिसे नैय्यायिक

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

'प्रतिवंधकाभाव' की संज्ञा देते हैं। इस विवेचन में प्रतिवंध का भाव वही है जो मीमांसकों की दृष्टि में कारण की शक्ति है। इसीसे मीमांसक दृष्टि से सहमत हैं कि कोई न कोई तत्व कारण के साथ क्रियाशीलता के लिए अवश्य रहता है। उसे ये अभाव न मानकर भाव पदार्थ के रूप में 'शक्ति' की संज्ञा देना अधिक उचित मानते हैं।

पर कर्म का फल तत्काल नहीं मिलता है। प्रत्येक क्रिया का फल अच्छा या बुरा मिलता है। पर उसकी प्राप्ति बाद में होती है। जैसे जो यज्ञ इस जीवन में किया जाता है जो उसका फल स्वर्ग की प्राप्ति अलगे जन्म में मिलती है। वह शक्ति जिससे पूर्व कर्म का फल बाद में मिलता है उसे मीमांसक 'अपूर्व' की संज्ञा देता है। अपूर्व का अर्थ है अतिविशिष्ट रूप से। यहां अभिप्रेत है अति विशिष्ट शक्ति जिससे पूर्व कर्मों का फल बाद में मिलता है। अपूर्व का शब्दिक अर्थ है जो पहले नहीं था। जिस कर्म का फल दूसरे लोक या जन्म में हम भोगते हैं वह पहले इस जन्म या लोक में नहीं था पर अदृष्ट शक्ति या विशिष्ट शक्ति के कारण वह पहले के कृत कर्मों का फल भोगता है। इस प्रकार अपूर्व कर्म के सिद्धान्त का दूसरा नाम माना जा सकता है। यह कर्ता और फल के बीच की कड़ी है। यह पहले कर्ता में रहता है पर समय पाकर कर्म का फल उत्पन्न करता है। कुमारिल ने माना है कि यह आत्मा के भीतर उदय होने वाली अदृश्य शक्ति होती है। यह क्रम कि पूर्व कर्म का फल अवश्य प्राप्त होगा एक सार्वभौम सिद्धान्त है। यह स्वयं परिणामी है। इसके लिए किसी दूसरी सत्ता की आवश्यकता नहीं होती जिसे हम ईश्वर माने। यह एक सहज स्वयंचालित क्रिया है जो एक के बाद एक होता है जैसे कर्म → फल → कर्म → फल। इस प्रकार मीमांसक इस शक्ति को अनवरत मानते हैं। यह कर्म और फल दोनो के बीच विराजमान होता है। तभी पूर्व के कर्म का फल कालान्तर में मिलता है। इसीसे कर्मकाण्ड में इसका विशेष महत्व है। इसका ज्ञान वेद से प्राप्त होता है और अर्थापत्ति से भी। पर शंकराचार्य ने इसकी आलोचना की है। उनके अनुसार अपूर्व चूंकि अचेतन है इसलिए क्रियाशील बनाने के लिए आध्यात्मिक सत्ता आवश्यक है। अतः अपूर्व की व्याख्या को समीचीन नहीं मानते।

आत्मा और आत्मज्ञान

मीमांसकार मानते हैं कि आत्मा वाह्य पदार्थों और मनोभावों का भोक्ता है। ये इसके योग्य विषय हैं। शरीर भोग का स्थान अर्थात भोगायतन है और इन्द्रियां वे साधन हैं जिनके द्वारा भोग किया जाता है। प्रत्येक शरीर में आत्मा है। इसलिए आत्मा अनेक हैं। यह नित्य, व्यापक और सर्वगत है। इसलिए मरने बाद भी आत्मा स्वर्ग में सुख-दुःख भोगने के लिए रहती है। शरीर के मरणधर्मा होने पर भी अमर है। अतः इसकी न उत्पत्ति होती है और न विनाश होता है। यह बुद्धि और इन्द्रियों से भिन्न है क्योंकि ये अनित्य हैं। यह शरीर से भी भिन्न है क्योंकि शरीर ज्ञान से रहित और मरणधर्मा है जो आत्मा का गुण नहीं है। ज्ञान या चेतना आत्मा का गुण नहीं है पर ये आत्मा से अलग भी नहीं होते। सुषुप्तावस्था एवं मोक्षावस्था में आत्मा चेतना और ज्ञान से शून्य होती है। पर ज्ञान का आश्रय आत्मा ही है। इसका स्वरस जड़ है। चैतन्य इसका गुण नहीं है पर यह आगन्तुक गुण है। इस प्रकार आत्मा स्वयं प्रकाशमान होने से विषयों का कर्ता, भोक्ता और ज्ञाता माना गया है। पर कुमारिल ने आत्मा को चैतन्य विशिष्ट माना है। विशेष स्थिति में शरीर तथा विषय के संयोग होने पर आत्मा में चैतन्यता आती है अन्यथा वह जड़ रहता है।

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

उन्होंने आत्मा में दो अंशोंका होना स्वीकार किया है- चित् और चित्। चितांश से वह ज्ञान का अनुभव करता है और अचितांश से वह परिणाम का भोग करता है। इस प्रकार आत्मा जड़ और चेतन दोनो से युक्त होता।

अब प्रश्न है कि आत्मा का ज्ञान किस प्रकार होता है। इस विषय में प्रभारक और कुमारिल के मत अलग-अलग हैं। प्रभाकर तथा उनके अनुयायी मानते हैं कि ज्ञान के प्रकाश के लिए किसी दूसरे ज्ञान की आवश्यकता नहीं होती क्योंकि यह स्वप्रकाश है। पर यह नित्य नहीं है। प्रत्येक विषय के साथ आत्म ज्ञान जुड़ा होता है। इससे यह आत्मा का आगन्तुक गुण होने से उत्पत्ति और विकाशशील है। जब विषय का ज्ञान उस विषय ज्ञेय को प्रकाशित करता है तब उस समय वह स्वयं प्रकाशित होकर आत्मा को भी प्रकाशित करता है। इस प्रकार ज्ञान के समय विषय या ज्ञेय, ज्ञान तथा ज्ञाता तीनो प्रत्यक्ष रहते हैं। यही त्रिपुटी प्रत्यक्षवाद है। इसमें विषय का ज्ञान इन्द्रियों के समक्ष उपस्थित विषय को ज्ञेय रूप में, अपने को ज्ञान के रूप में और ज्ञान के आश्रय आत्मा को ज्ञाता के रूप में प्रकाशित करता है। यहां यह समझना चाहिए कि भले ही सभी ज्ञान स्वप्रकाश है पर आत्मा जो जाता है जड़ होने कारण स्वप्रकाश न होकर अपने प्रकाश के लिए ज्ञान का आश्रित होता है। इस प्रकार ज्ञेय या विषय और आत्मा या ज्ञाता प्रकाशनार्थ ज्ञान पर ही निर्भर रहते हैं। अतः स्पष्ट है कि प्रत्येक विषय के ज्ञान के साथ 'आत्मा ज्ञाता के रूप में, पदार्थ ज्ञेय विषय के रूप में और ज्ञान स्वप्रकाश ज्ञान के रूप में प्रकाशित होता है।' इसीसे जब कोई भी ज्ञान होता है तो हम कहते है कि 'हमने अमुक वस्तु देखी' या 'देख रहा हूं।' यहां हम ज्ञाता के रूप में होते हैं तभी हम स्पष्ट करते हैं हमने देखा।

पर कुमारिल और उसके अनुयायी इस विचार से सहमत नहीं है। ये मानते है कि ज्ञेय विषय का ज्ञान होता है। इसलिए ज्ञान के द्वारा ज्ञेय विषय ही प्रकाशित होती है न ज्ञाता प्रकाशित होता है और न ज्ञान प्रकाशित होता है। इस प्रकार ज्ञान का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता केवल उसका अनुमान होता है। यहां ज्ञाता भी ज्ञेय बनकर ही ज्ञान से प्रकाशित होता है। आत्मा भी अपना ज्ञेय उसी प्रकार बनता है जैसे अन्य वस्तु इसलिए ज्ञेय होते हैं। जब केवल ज्ञान का अनुमान मात्र होता है तो वह अनुमान उस विषय के ज्ञान के समय उत्पन्न ज्ञातता के आधार पर होता है जो ज्ञान के समय ज्ञात को प्रतीति होती है। यह ज्ञातता आत्मा में आकर विषय के ज्ञान के समय विद्यमान हो जाती है। यह आत्मा का स्थायी धर्म न होकर ज्ञान के क्रिया के समय आता है। यही भट्ट मत में कुमारिल के 'ज्ञातता का सिद्धान्त' है। प्रभाकर का इस आधार पर खण्डन करते हुए कुमारिल का विचार है कि लोक व्यवहार में तथा शास्त्रीय व्यवस्था में आत्मा जहां ज्ञान का कर्ता है वही ज्ञान का विषय भी है तभी वेद कहता है- **आत्मानं विद्धि** अर्थात् अपने को जानो तथा व्यवहार में हम प्रयोग करते हैं- 'मैं अपने को जानता हूं'।

मीमांसा का आचार तत्व

धर्म

मीमांसा के आचार्य जैमिनी ने मीमांसूत्र के प्रथम सूत्र में ही धर्म की जिज्ञासा की है- **'अथातो धर्म जिज्ञासा'**। इसके आगे द्वितीय सूत्र में धर्म की व्याख्या करते हुए कहा कि-

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

'चोदना लक्षणोऽर्थो धर्मः' अर्थात् चोदना या वेद के विधिवाक्य द्वारा बताई गयी क्रिया ही धर्म है। इस प्रकार वैदिक क्रियाएं (कर्मकाण्ड) ही धर्म की मूल हैं और यही वेद का मुख्य तात्पर्य है। अतः वेद का ज्ञान प्रतिपादक वाक्य जो क्रियाओं की व्यवस्था या निषेध करता है वही अर्थवाद है। इसीसे किसी प्रयोजन हेतु वेदविहित यज्ञादि अर्थ या क्रियाएं ही धर्म हैं। इस प्रकार ईश्वर के स्थान वैदिक विधिवाक्य को ही मीमांसक धर्म मानते हैं। इसी के द्वारा दुःखों से निवृत्त होकर जीव निःश्रेयस, स्वर्ग की प्राप्ति करता है। अतः कहा गया है कि- **'स्वर्गकामो यजेत'** अर्थात् स्वर्ग की कामना करने वाला यज्ञ करे। इस कर्म के द्वारा अवसर आने पर फल की प्राप्ति होती है।

कर्म मुख्यतः तीन बताए गए हैं- **१. कर्तव्यकर्म,** जिनका करना जीव का कर्तव्य है। इनके दो भेद हैं- **(अ) नित्यकर्म,** जो नित्य किए जाते हैं जैसे ध्यान, पूजा आदि तथा **(ब) नैमित्तिक- कर्म,** जो किसी विशेष अवसर के निमित्त किया जाता है जैसे एकादशीव्रत, श्राद्धादि। प्रभाकर इन्हें निष्काम भाव से करने की सलाह देते हैं। जबकि इनसे पाप या पुण्य फल नहीं मिलता केवल ये कर्तव्य मात्र हैं। पर कुमारिल की दृष्टि में इनके न करने से पाप मिलता है और करने से पूर्व पाप का नाश होता है। **२. काम्यकर्म,** जिसको किसी कामना की सिद्धि के लिए किया जाता है जैसे अश्वमेध यज्ञ करने से राज्य विस्तृत होगा पर न करने से कोई हानि नहीं होगी। **३. प्रातिषिद्धकर्म,** जिनको करना विवर्जित किया गया है क्योंकि अशुभकारक होने से इनको करने से पापार्जन होता है। एक और कर्म बताया गया है **४. प्रायश्चितकर्म,** जो पाप कर्म करने से बुराई आई है उनको रोकने के लिए प्रायश्चित कर्म किया जाता है।

पर जब कर्म पहले ही समाप्त हो चुके होते हैं तब भविष्य में कर्म के न करने पर भी वे फलदायक होते हैं यह कैसे? इसका उत्तर है 'अपूर्व' का बने रहना। जिसकी चर्चा शक्ति के साथ की जा चुकी है। वह कर्म के बाद फलोत्पादन के बीच बना रहता है। उसीके द्वारा कृत कर्म की फलोत्पादकता बाद में होती है। इस प्रकार यह शंकराचार्य के अनुसार कर्म की उत्तरावस्था और फल की पूर्वावस्था होती है। यह मीमांसकों की कल्पना उनकी मौलिक देन है।

कर्म

कर्म-फल के विषय में मीमांसकों की दो दृष्टियाँ हैं। यह सर्वविदित है कि मनुष्य दुखों से छुटकारा पाने तथा इच्छापूर्ति के द्वारा सुख प्राप्ति के लिए कर्म करता है। यही मत कुमारिल का है। इसे वह 'इष्टसाधनताज्ञान' की संज्ञा देते हैं अर्थात् अभीष्ट की सिद्धि हेतु कर्म किये जाते हैं। इसमें हितसाधन, इच्छापूर्ति की प्रधानता होती है। पर प्रभाकर की दृष्टि में वेद में निर्दिष्ट कर्तव्य का ज्ञान कर्तव्य मानकर करना चाहिए। उसके पीछे कोई हेतु नहीं रखना चाहिये। यहाँ कर्म करने के लिए मानते हैं लाभ के लिए के नहीं। इसीसे इनका सिद्धान्त 'अर्थताज्ञान' अर्थात् वेद अनुसार कार्य के लिए किया जाता है। अतः काम्यकर्म (इच्छा के लिए होने वाला कर्म) को भी प्रभाकर ने, कुमारिल के कामना हेतु कृतकर्म के विपरीत माना है कि यह कर्म के अधिकारी की परीक्षा के लिए है। नित्य और नैमित्तिक कर्म को भी प्रभाकर, वेद का आदेश अनुलंघनीय मानने के कारण, करने की स्वीकृति देते हैं। इस प्रकार प्रभाकर निष्काम कर्म की

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

भावना से कार्य का सम्पादन करना मानते हैं। इस दृष्टि से यह गीता के 'निष्काम कर्मयोग' से प्रभावित लगते हैं। इस प्रकार मीमांसा कामनाविहीन होकर कर्म करने की सलाह देता है भले ही कर्म फल के प्रदान की क्षमता रखते हैं।

देवता

वैदिक क्रियाओं-यज्ञों-के दो भाग हैं: क्रिया भाग जैसे दही चढ़ना, घी चढ़ना आदि और दूसरा मंत्र भाग जिससे विशिष्ट देवता का आह्वान करते हैं। इसे द्रव्य तथा देवता भी कह सकते हैं। देवता तीन रूपों में माने जाते हैं- अर्थ देवता, शब्द विशिष्ट अर्थ देवता और शब्द देवता। इनमें अर्थ शब्द का अनुगामी होता है। शब्द विशिष्ट अर्थ में शब्द ही प्रमुख है अत: शब्द देवता ही वैदिक देवता का मूल रूप है। इसको मंत्रों द्वारा प्रकट मानकर उन देवता को मंत्रों से आहुति देते हैं जैसे 'अग्नये स्वाहा', 'रुद्राय स्वाहा' आदि। पर शब्दमयी देवता का विग्रह या स्वरूप भी मीमांसा द्वारा ग्रहण किय जाता है कि इन देवों का स्वरूप है जिससे ये दिये गये हविष्य का भोग करते हैं। उनका जीवन सुख-सुविधाओं, ऐश्वर्य से युक्त होता है। वे प्रसन्न होते हैं जिससे कर्म करने वाले को उसके कर्म का फल प्रदान करते हैं। ये उनकी पांच विशेषताएं हैं- **विग्रहो हविषां भोग एश्वर्यं च प्रसन्नता फलदातृत्वमित्येतत् पञ्चकं विग्रहादिकम्।**

पर देवता के विग्रह का खण्डन अधिकांश मीमांसकों शबरस्वामी, खण्डदेव, पार्थसारथी, कुमारिलभट्ट आदि ने किया है। ये कर्म का अंग ही देवता को मानकर कर्म को ही फलदाता मानते हैं।

ईश्वर

आचार्य वादरायण के अनुसार कोई चेतन पुरुष अवश्य है जो कृतकर्मों का फलदाता है वही चेतन ईश्वर है। पर जैमिनी ने ईश्वर की सत्ता के स्थान बताया कि यज्ञ (कर्म) स्वत: कर्मानुसार करने वाले को फल देता है। इस प्रकार फलदाता के रूप में ईश्वर की सत्ता को नकारना प्राचीन मीमांसकों का विषय था। इसी से पीछे ईश्वर की सत्ता को यज्ञपति के रूप में स्वीकार कर मीमांसकारों ने कहा- **'ईश्वरार्पणबुद्धया क्रियमाणस्तु नि:श्रेयसहेतु ....'** अर्थात् किए हुए कर्म को ईश्वर को नि:श्रेयस के हेतु, समर्पित कर देना चाहिए। इसी को प्रतिपादित करने के लिए 'सेश्वर मीमांसा ग्रंथ' की रचना की गई। प्रभाकर इसी मत के पक्षधर हैं तथा अनुमान द्वारा नहीं बल्कि श्रुति वाक्यों द्वारा उन्होंने ईश्वर की सत्ता को प्रमाणित किया इसे ही कर्मफलप्रदाता माना गया।

स्वर्ग एवं मोक्ष

'स्वर्गकामोयजेत'- अर्थात् स्वर्ग की इच्छा रखने वाले को यज्ञ करना चाहिए। यही स्वर्ग की प्राप्ति ही प्राचीनकाल में पूर्वमीमांसकों का परम लक्ष था। यही जीवन का अत्यान्तिक उद्देश्य था। पर धीरे-धीरे जग मीमांसा दर्शन विकसित हुआ तो स्वर्ग के स्थान पर मोक्ष को जीवन का परम लक्ष माना गया। जैसा अन्य दार्शनिक मानते हैं।

मोक्ष की व्याख्या इस प्रकार की गई है- **'प्रपञ्चसम्बन्धविलयो मोक्ष:'** अर्थात् सांसारिक संबन्धों का आत्मा के साथ समाप्त होना ही मोक्ष है। सांसारिक बंधन में आत्मा तीन प्रकार से बंधती है- शरीर, इन्द्रिय और भोगविषय पदार्थ। शरीर के द्वारा हम संसार में रहते हैं।

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

इन्द्रियों के द्वारा संसार की वस्तुओं का साक्षात्कार कर सम्बन्ध जोड़ते हैं तथा सांसारिक भोग विषयों में लिप्त रहते हैं। भोग विषय के द्वारा आत्मा संसारिकता में बंध जाती है। जब इन तीनों का अत्यान्तिक-पूर्वोत्पन्न का, नाश हो जाता है तो जीव बंधन मुक्त होने से मोक्ष प्राप्त कर लेता है। इस स्थिति में आत्मा चेतना विहीन हो जाती है और तव आत्मा को धर्म अधर्म का ज्ञान सदा के लिए समाप्त हो जाता है। इसी का परिणाम है पुनर्जन्म का न होना।

मोक्ष की स्थिति में आत्मा के अचेतनता के कारण अनुभूति का अभाव रहता है। उसमें दुःख, सुख, इच्छा, तृष्णा आदि कोई अनुभूति नहीं होती। जो देहेन्द्रिय के संयोग में होते हैं। मोक्षावस्था में आत्मा सुषुप्त स्थिति की तरह ज्ञान ओर आनन्द से विहीन रहती है भले ही उसमें ज्ञानशक्ति बना रहता है, ऐसा कुमारिल का मत है। पर नारायण भट्ट के अनुसार कुमारिल की दृष्टि में मोक्ष की स्थिति में केवल विषय सुख का अभाव रहता है। किन्तु प्रभाकर मानते हैं कि- **'नियोगसिद्धिमोक्षः'** अर्थात् बिना कामना के नित्यकर्मों का अनुष्टान ही मोक्ष है। इसमें फल की कामना या आसक्ति का अभाव रहता है केवल क्रिया होती रहती है।

इस प्रकार मोक्ष की अवस्था में आत्मा जड़वत् रहती है क्योंकि वह शरीर, इन्द्रिय और विषय से अलग हो जाती है। इसमें न केवल दुःखों का नाश होता है अपितु आनन्द का भी आभास नहीं होता। तब वह अपने विशुद्ध रूप में होती है। यही आत्मा की मुक्त स्थिति है। इस स्थिति की प्राप्ति तभी सम्भव है जब काम्य और निषिद्ध कर्मों से जीव अलग रहे पर नित्य कर्मों का पालन करता रहे। इस प्रकार मोक्ष के लिए मीमांसा ज्ञानकर्मसमुच्चय को मानता है।

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

अध्याय - २३

वेदान्त दर्शन

अर्थ

वेदान्त शब्द दो शब्दों के योग से बना है वेद + अन्त जिसका अर्थ है वेदों का अन्त।

वेदान्त का प्रयोग पहले उपनिषदों के लिए किया जाता था क्योंकि ये वैदिक साहित्य के अन्तिम भाग हैं। जब उपनिषदों में वर्णित दार्शनिक विचारों का अवलोकन हुआ तो उपनिषदों के दार्शनिक विचारों के लिए वेदान्त का प्रयोग प्रारम्भ हुआ। अत: अब वेदान्त से अभिप्राय है औपनिषदिक दर्शन की धाराएं। यों तो प्राय: उपनिषदों के मूल विचार सादृष्य होने पर भी उनमें अन्तर होना स्वाभाविक था। इसीसे उनमें भिन्नता दीखती है। इस दर्शन की महत्ता इतनी थी जितनी वेद की। इनमें वेद के गूढ़ रहस्यों को मानने के कारण इनको वेदोपनिषद भी कहा जाता था। ये विभिन्न कालों में विभिन्न स्थानों में तथा विभिन्न वैदिक शाखाओं से संबन्धित तथा रचित होने के कारण अनेक हैं।

इनकी महत्ता इस बात से भी स्पष्ट होती है कि विदेशी विद्वान् वेदान्त दर्शन को ही भारतीय दर्शन मानते हैं। उपनिषद स्वयं महत्ता उजागर करते हुए कहते हैं कि वेद-वेदांग के अध्ययन करने पर भी ज्ञान की पूर्णता तब तक नहीं होती जब तक उपनिषदों की शिक्षा प्राप्त नहीं हो जाती। इसकी गूढ़ता के कारण ही उसे उपनिषद = उप + नि + सद् (गुरु के + समीप + बैठकर ज्ञान प्राप्त करना) कहा गया है।

वेद भाग होने से वेदान्त को श्रुति समझना चाहिए। वेदान्त, श्रुति और उपनिषद एकार्थक हैं। उपनिषदों में प्राय: वेदान्त शब्द का प्रयोग इसी प्रयोजन से किया गया है। श्वेताश्वर, मुण्डक आदि उपनिषदों और शंकराचार्य के अनुसार वेदान्त का प्रयोग इसी अर्थ में हुआ है। अन्त शब्द का अर्थ क्रमश: 'तात्पर्य', 'सिद्धान्त' तथा 'आन्तरिक अभिप्राय' अथवा 'मन्तव्य' भी किया गया है। उपनिश्दों के ऋषियों ने भी अन्त शब्द का इसी अर्थ में प्रयोग किया है। वेद या ज्ञान का अन्त ब्रह्मज्ञान से लेते हैं। जो भी विश्व में दृष्टिगोचर है तथा यह सम्पूर्ण विश्व की सत्ता ब्रह्म से भिन्न नहीं है। मनुष्य का एकमात्र कर्तव्य ब्रह्मज्ञान प्राप्ति, ब्रह्ममयता या ब्रह्मस्वरूपता प्राप्ति है। यही वेद का मौलिक, अन्तिम तथा सर्वोच्च सर्वमान्य सिद्धान्त है जो वेदान्त शब्द का मूलाधार है। इसमें वेद के परिपक्व विचार है। इसी से वैदिक साहित्य में पहले 'मंत्र' या 'संहिता' भाग आता है जिसमें देवताओं की स्तुतियां की गई हैं। फिर गृहस्थोचित कर्मों का निरूपण 'ब्राह्मण'

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

भाग में हुआ है और अन्त में वनमें एकान्तवास करते हुए ऋषियों द्वारा जगत के रहस्य को समझने के लिए 'अरण्यको' की रचना हुई जिसका अगला चरण उपनिषद है।

स्रोत्त

ऊपर कहा गया है कि उपनिषदों की रचना में काल, स्थान, शाखाओं के विभेद के कारण विभिन्नता है। इसी विभेद को व्याख्या द्वारा दूर करने के लिए वादरायण ने 'ब्रह्मसूत्र' नामक ग्रंथ की रचना की। इस ब्रह्म विषयक विभेद को मिटाने के लिए व्याख्या द्वारा प्रयास किया जाने से इसे ब्रह्मसूत्र नाम दिया गया है। यह ग्रंथ सूत्र में लिखा है। इसको कई नामों से जाना जाता है- 'वेदान्तसूत्र', 'शरीरिकसूत्र', 'शारीरिक मीमांसा' एवं 'उत्तरमीमांसा'। पर सूत्र रूप में लिखे होने के कारण जनसाधारण को यह सरलता से बोधगम्य नहीं रहा। इसी से इस पर अनेक व्याख्याएं, भाष्य लिखी गईं। सभी भाष्यकारों ने इस पर अपनी-अपनी दृष्टि से भाष्य किया। इसका परिणाम यह हुआ कि प्रत्येक भाष्यकार के अनुयायी या समर्थक उसी व्याख्या को प्रधान मानकर प्रधानता देने लगे क्योंकि यही वेदान्द का मुख्य विषय है। वैचारिक अन्तर के कारण कई समुदाय बने जिनका अनुसरण जन समुदायों ने किया।

सम्प्रदाय– इन भाष्यकारों में प्रमुख हैं : शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य, निम्बार्काचार्य आदि। शंकराचार्य के अनुसार जीव और ब्रह्म दो (द्वैत) नहीं हैं वरन् दोनो एक हैं। इसी से इसे अद्वैतवाद कहते हैं। रामानुजाचार्य ने भी एक ब्रह्म की ही सत्ता को माना है। ये जीव की सत्ता को ब्रह्म से अलग नहीं मानते। पर यह भी मानते हैं कि जीव और प्रकृति अलग रहने पर भी विशेषण विशिष्ट रूप में ब्रह्म में ही समाहित रहते हैं। इस प्रकार विशेषण विशिष्ट रूप से जीव और जगत का ब्रह्म में समाहित रहने के कारण ब्रह्म की सत्ता के इस वाद को विष्टाद्वैतवाद कहा जाता है। मध्वाचार्य ब्रह्म को एक नही दो अलग सत्ता मानते हैं। इससे इनके सिद्धान्त को द्वैतवाद कहा जाता है। निम्बार्कचार्य ने ब्रह्म और जीव को परस्पर अभिन्न माना है और भिन्न भी माना है। इससे इनके सिद्धान्त को द्वैताद्वैत (द्वैत और अद्वैत) कहा गया है। ये ही वेदान्त के चार प्रमुख सम्प्रदाय हैं। इस प्रकार जीव और ब्रह्म में भेदाभेद की बात अपनी दृष्टि से सोचने के कारण भिन्न-भिन्न मतों की स्थापना हुई। पर इन चारों में आज भी दो विशेष प्रचलित हैं शंकर का अद्वैतवाद तथा रामानुज का विशिष्टाद्वैतवाद।

इन्हें निम्न प्रकार से रख सकते हैं
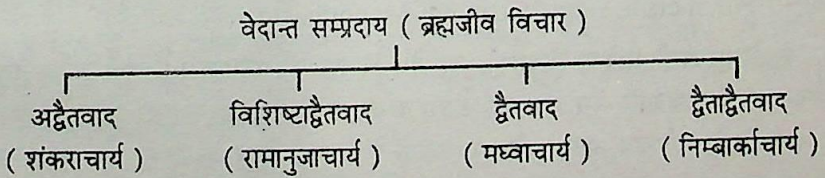
विकास क्रम

वेदान्त का विकास क्रमशः तीन सोपानों में देखा जा सकता है : १. वैदिक साहित्य उपनिषदों में जहाँ ऋषियों ने अपने विचारों को व्यक्त किया है। २. इन विचारों में उत्पन्न विभेदों के निवारण के लिए 'ब्रह्मसूत्र' नामक ग्रन्थ में युक्तियों के द्वारा भेदों को दूर करने का प्रयास किया

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

गया है। पर सूत्र के रूप में होने से इनकी व्याख्या यहाँ नहीं दी गई है और व्याख्या व्याख्याकार की रुचि के अनुरूप होना स्वाभाविक है जैसे वे सूत्रों का अर्थ निकालें। ३. व्याख्याकारों या भाष्यकारों द्वारा प्रस्तुत अपने पक्ष के प्रतिपादन के तर्क जैसा उन्होंने सूत्रों का अर्थ निकाला है। यह उनकी व्यक्तिगत बात हुई।

वैदिक साहित्य में

वैदिक साहित्य में अनेक देवताओं का वर्णन है। मनुष्य जिसमें शक्ति, लाम एवं विचित्रता देखकर डरता था उसमें देवत्व की कल्पना कर उनका प्रशंसा मंत्रों द्वारा करता था। इसी प्रकार उसने इन्द्र, वरुण, मित्र, अग्नि आदि तत्वों को देवता माना। इन देवताओं में एक समय एक की ही प्रधानता होती थी। कभी इन्द्र की, कभी वरुण की, कभी मित्र की आदि। उस समय अन्य देवता गौण रहते थे। इन देवताओं की प्रसन्नता के लिए ऋचाएँ लिखी गईं तथा यज्ञों द्वारा उनको प्रसन्न करने का उपक्रम किया गया। यही कारण है कि अनेक यज्ञों का आयोजन इस समय के साहित्य में मिलता है। उनके स्वरूप की कल्पना भी की गई। पर यह भी स्वीकार किया गया कि एक शक्ति है जो इनको अपनी स्थिति में रखती है। वही इनको क्रिया व्यापार के लिए प्रेरित करती है। उस शक्ति को इन्होंने ऋत कहा। ऋत के द्वारा ही सभी जीव अपने कर्मों का फल प्राप्त करते हैं।

यहाँ कई देवताओं के उल्लेख किये जाने से वैदिक काल अनेकेश्वरवादी कहा जाता है। पर इसमें एक देवता विशेष की प्रधानता का होते रहना अनेकेश्वरवाद (Polytheism) से कुछ हटकर लगता है। वह प्रधान देवता अन्य देवताओं से श्रेष्ठ, कर्ता-हर्ता-विधाता के रूप में लिया जाता है। वह उस मण्डल में ईश्वर की कोटि में रखा गया है तथा सर्वशक्तिमान माना गया है। पर इसके होने से यह स्थिति एकेश्वरवाद (Monotheism) की भी नहीं बनती क्योंकि अन्य देवता भी साथ पूज्य होते हैं। मैक्समूलर ने इसके लिए 'हेनोथीज्म' (Henotheism) नामक नये शब्द का प्रयोग किया है। यहाँ ऋग्वेद की यह ऋचा कि- 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' (१/१६) से ज्ञात होता है कि कई नामधारी देवताओं की एक ही सत्ता का भिन्न-भिन्न रूप माना गया है या उसी सत्ता के ये भिन्न-भिन्न नाम हैं। इससे स्पष्ट है कि एकेश्वरवाद की मान्यता थी। पर ऐसे कई स्थलों पर अलग-अलग देवता की महत्ता का पोषण यह सिद्ध करता है कि अनेक देववाद से चलकर ये हेनोथिज्म को स्वीकार किए और वहाँ से आगे एकेश्वरवाद पर पहुँचे। इसे अंग्रेजी में क्रमशः Polytheism, Henotheism और Monotheism कहा जाता है।

एकेश्वरवादी वैदिक विचार– यह देव चिन्तन की पराकाष्टा है जहाँ अनेक देवताओं को एक का रूप मानकर उस एक की उपासना की जाती है। यह सनातन विश्वास आज भी हिन्दू धर्म के शैव, वैष्णव आदि अनेक सम्प्रदायों में है जहाँ शिव या विष्णु को प्रधान मानकर दूसरों को भी इसी का रूप मानते हैं। यही अद्वैत है जो वेदों में सर्वप्रथम देखने को मिलता है। वह एक परमपुरुष है जिसका विस्तृत उल्लेख ऋग्वेद के पुरुषसूक्त में मिलता है। वही परमपुरुष सबका स्वामी है और उसकी सत्ता जिसका अस्तित्व जगत के बाहर भी बनी रहती है उसे निमित्तोपादानेश्वरत्वाद कहते हैं। यह सर्वेश्वरवाद से भी आगे है क्योंकि सर्वेश्वरवाद में ईश्वर को उपादान और निमित्त दोनों ही कारण माना जाता है। यह ईश्वर एक ओर निर्गुण ब्रह्म कहा गया

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

है तो दूसरी ओर सगुण ईश्वर। पर दोनों एक ही हैं केवल उनका स्वरूप का होना या बिना रूप का होना मात्र यही विभेद है। दूसरे दोनों ही को अनन्त माना गया है। इस प्रकार सगुण और निर्गुण ब्रह्म के भेद में भी एक ही सत्ता का दर्शन होने से एकेश्वरवाद की पुष्टि होती है।

उपनिषदों, जो भारतीय वाङ्मय में दर्शन के प्रथम ग्रन्थ माने जाते हैं, में भी एक ही सत्ता के लिए सारी शंकाएँ उत्पन्न कर उसका उत्तर खोजने का प्रयास किया गया है जैसे किससे सब उत्पन्न हुआ है ? किसमें सबका विलय होगा ? किसके जान लेने से मुक्ति मिल जायगी ? वह सत्य क्या है ? ब्रह्म क्या है ? आत्मा क्या है ? आदि। यहाँ उस एक को ही ब्रह्म, आत्मा, सत् आदि कहा जाना एकेश्वरवाद की खोज का बोधक है। इसके उत्तर में यह बताना कि पहले केवल आत्मा ही थी,[१] वही सब कुछ है,[२] आत्मा को जान लेने के बाद सब कुछ ज्ञात हो जाता है,[३] आत्मा ही ब्रह्म है– **अयम् आत्मा ब्रह्म**[४] और इसलिए मैं भी ब्रह्म हूँ- **अहं ब्रह्मास्मि'**।[५]

आत्मा के सम्बन्ध में उपनिषदों का विचार-आत्मा सभी भूतों, प्राणियों में एक ही है। इस प्रकार आत्मा और परमात्मा एक ही हैं।[६] यह परमात्मा की तरह सत् और अनन्त है। यही शुद्ध चैतन्य है। यह सर्वव्यापी और बंधन रहित हैं। इसलिए इसका ज्ञान सूक्ष्म बुद्धि से ही हो सकता है।[७] शरीर, बुद्धि, प्राण और मन अस्थिर हैं। ये सदा बदलते रहते हैं। इसलिए ये आत्मा के मूक तत्व न होकर बाहरी आवरण हैं। इस आत्मा का साक्षात्कार तभी सम्भव है जब काम, क्रोध आदि दुर्वृत्तियों का दमन हो जाता है एवं तत्व ज्ञान के द्वारा संस्कारों की समाप्ति हो जाती है। तब सुख का परित्याग करना होता है। इसी से आत्मज्ञान को श्रेष्ठ ज्ञान या परा विद्या कहा जाता है जबकि दूसरे ज्ञान को अपरा विद्या। आत्मज्ञान से बढ़कर दूसरा ज्ञान है ही नहीं। इसकी प्राप्ति के बाद जीव और परमात्मा का भेद समाप्त होकर जीव का ब्रह्ममय हो जाना ही अमरत्व है। अन्य जो भी यज्ञादि क्रियाएँ ब्रह्म प्राप्ति के लिए की जाती हैं वे वाह्याडम्बर हैं। भले ही पुण्य प्राप्त कर जीव कुछ काल तक स्वर्ग सुख का भोग करता है पर पुनः सांसारिक बंधनों में बंध जाता है। इसे जानकर जो इस आडम्बर को छोड़कर आत्मा या ब्रह्म का साक्षात्कार कर लेता है वह आनन्दमय हो जाता है क्योंकि ब्रह्म सत, चित के साथ आनन्द (सच्चिदानन्द) है। इसका प्रमाण याज़वल्क ने यह दिया कि आत्मा आनन्द का मूल है इससे आत्मा का प्रिय समझकर ही हम किसी वस्तु से आनन्द हेतु प्रेम करते हैं जैसे पति के प्रति पत्नी का, पुत्र के प्रति माता का प्रेम आदि। पर सांसारिक वस्तुओं के प्रति जो अल्पकालिक प्रेम होता है वह विषयानन्द है जो क्षणभंगुर होने के साथ ही बंधन भी बनता है। यही बंधन सांसारिक चक्र-जीवन मृत्यु के बीच में जकड़े रहता है। पर विषय परित्याग के बाद ही आत्मज्ञान होता है जो परमानन्द प्राप्ति की स्थिति है। यही ब्रह्मानन्द की अवस्था है। तब मानव हृदय इच्छा और वासना रहित इसी जीवन में अमरत्व को प्राप्त कर लेता है।

---

१. आत्मा एवं इदम् अग्रे आसीत्-वृहारण्यक उप., १/४/१
२. आत्मा एवं इदम् सर्वम-छांदो. उप., ७/२५/२
३. वृह. उप., ४/५/६ वही, २/५/१९
५. वृह. उप., १/४/१०
६. व ७. एषु सर्वे भूतेषु गूढोऽउत्मा न प्रकाशते। दृश्यते त्वग्रयया बुद्धया सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः।। कठोपनिषद् ३/१२

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

जगत या सृष्टि सम्बन्धी विचार– उपनिषदों में ये भिन्न-भिन्न मिलते हैं। अधिकांश उपनिषद मानते हैं कि ब्रह्म से ही सृष्टि की उत्पत्ति होती है। इसी से प्राय: उपनिषदों में वर्णित है कि पहले केवल ब्रह्म था। जब उसने एक से अनेक होने को सोचा तो सृष्टि की रचना की। इसमें पहले आकाश भूत तत्त्व उत्पन्न हुआ फिर दूसरे तत्त्व, भूत उत्पन्न हुए। ये दूसरे तत्त्व भले ही भिन्न प्रतीत होते हैं पर नाम रूप का भेद होने पर भी उनका मूल तत्त्व एक है जिसे कहीं ब्रह्म, कहीं अवर्णनीय तथा मन से मात्र गोचर होनें वाला कहा गया है। इसलिए वह जिससे वाक उत्पन्न हुआ वह शब्दों से अवर्णनीय उपासना तथा ज्ञान से अज्ञात है क्योंकि वह वर्णनातीत है। इस अवर्णनीय के विषय में अनेक प्रश्न उठे जैसे क्या सृष्टिकर्ता स्वरूपी है जिसकी यह सृष्टि सत्य है? या यह सृष्टि न होकर यह संसार उसकी माया या मिथ्याभास है? ईश्वर क्या निर्गुण ब्रह्म का सगुण रूप है जिसका ज्ञान किया जा सकता है या उससे भिन्न है? आदि। इनका समाधान ब्रह्मसूत्र में श्रुतियों के आधार पर किया गया है पर सूत्र अव्यक्त होने के कारण भाष्यकारों द्वारा अपनी-अपनी दृष्टि से स्पष्ट किये गये है जिनमें शंकर और रामानुज का विशेष महत्व है। जिनके मतों की व्याख्या आगे करेंगे।

ईश्वर सम्बन्धी विचार– वैदिक साहित्य और वेदान्त का यह एक गहन विषय है। वैदिक साहित्य में जहाँ ईश्वर को जगत का उपादन कारण मानकर उसे संसार में सर्वत्र व्याप्त माना गया है वहीं उसकी सत्ता को संसार से परे भी कहा गया है। जब उसे सभी सांसारिक वस्तुओं में व्याप्त माना जाता है तो उसका स्वरूप सर्वेश्वर होने से इस विचार को सर्वेश्वरवाद (Pantheism = Pan = all + theism = God.) या केवलोपादनेश्वरवाद अर्थात् जगत का केवल उपादन कारण ईश्वर मानने वाला कहते हैं। किन्तु जब उसे संसार से परे मानते हैं तो संसार का निमित्त कारण होने से इस विचार को निमित्तोपादनेश्वरवाद (Pantheism) संसार का निमित्त कारण कहते हैं। इस प्रकार दोनों रूप विश्व और विश्वातीत उसके होने से उसे निमित्तोपादनेश्वरवाद कहना ही उचित है। पर यहाँ सृष्टिकर्ता के रूप में वह ईश्वर होता है जो उससे परे होकर ब्रह्म कहलाता है। इस प्रकार ये दोनों एक ही है। ब्रह्म को ही सृष्टिकर्ता के रूप में ईश्वर कहा गया है।

युक्ति से नहीं बल्कि श्रुतिवाक्यों से ईश्वर का ज्ञान होता है। इसीसे वेदान्त ईश्वर की सत्ता को स्थापित करने के लिए तर्क का सहारा नहीं लेते जैसे अन्य दर्शन। प्रारम्भ में शास्त्रीय वचनों द्वारा ईश्वर का परोक्ष ज्ञान होता है। पर चित्त की शुद्धता होने पर इसका प्रत्यक्ष दर्शन होता है। ईश्वर की ओर भावना के लिए विश्वास के ही मार्ग से आगे बढ़ सकते हैं। इसका कारण है कि अंधकार में भटकता जीव शास्त्रीय ज्ञान के प्रकाश में ही ईश्वर प्राप्ति के लिए बढ़ता है। इसीसे श्रुति को प्रत्यक्ष ज्ञान- **'प्रत्यक्षं श्रुति:'** शंकर ने कहा है क्योंकि ऋषियों के प्रत्यक्ष ज्ञान का वहाँ संकलन है। इसके तत्त्वार्थज्ञान के लिए भले ही तर्क का सहारा लें। उपनिषद् भी ईश्वर को सत्, चैतन्य, सृष्टि की उत्पत्ति और लय का कारण, सर्वव्यापी, अनन्त आदि मान है। पर उसके ज्ञान का अधिकारी केवल शरीरधारी जीव मनुष्य है। चूँकि ब्रह्म का ज्ञान देने के कारण बादरायण का ग्रंथ ब्रह्मसूत्र है उसी जीवधारी शरीरी मनुष्य को जानने का अधिकार होने के कारण ब्रह्मसूत्र का दूसरा नाम 'शरीरसूत्र' भी है। पर जीव और ब्रह्म के सम्बन्ध को लेकर दार्शनिकों में विभेद के कारण वेदान्त के भिन्न सम्प्रदाय बने। जिनमें शंकर और रामानुज के सम्प्रदाय प्रमुख

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

हैं। इसीलिए वेदान्त दर्शन का उद्देश्य कहा गया है कि मनुष्य के ज्ञान और मुक्ति के लिए ही वेदान्त दर्शन की रचना हुई है।

(अ)
शंकर का अद्वैतवाद

शंकराचार्य-परिचय

नम्बूदरि ब्राह्मण परिवार में सन् ७८८ ई. में केरल के कालड़ी गाँव में शिवगरु के घर इनका जन्म हुआ था। इनके सम्बन्ध में प्रचलित है–

अष्टवर्षे चतुर्वेदी द्वादशे सर्व शास्त्रवित्।
षोडशे कृतवान् भाष्यं द्वात्रिंशेमुनिरम्यगात्।।

उन्होंने सात वर्ष की आयु में ही चारों वेदों का अध्ययन कर आठवें वर्ष में संन्यास ग्रहण कर लिया था। इनके गुरु प्रमुख अद्वैतवादी गौड़पाद के शिष्य गोविन्दपाद थे। बारह वर्षों में इन्होंने शास्त्रों पर भाष्य किया जिनमें मुख्य हैं– गीताभाष्य, उपनिषद् भाष्य, ब्राह्मणभाष्य तथा सौंदर्यलहरी, उपदेशसहस्त्री आदि। इसके बाद वेदान्त का प्रचार करने के लिए घूम-घूम कर शास्त्रार्थ किए एवं अपने शास्त्रार्थ विजय के परिणामस्वरूप गुजरात में द्वारिका, तुंगभद्रा तट पर शृंगेरी, उत्तर भारत में ज्योतिर्मठ बद्रिकाश्रम भारत के चारों कोनों पर चार मठों को स्थापित किया। इस प्रकार वेदान्त को प्रचारित करते ३२ वर्ष की आयु ८२० ई. में इनका निर्वाण हो गया। वेदान्त के आधार पर इनके दर्शन का मूल था **'अद्वैतवाद'**। इसीका प्रणयन इनके ग्रंथों में हुआ है। इनके बाद इनके वेदान्त के विचारों से प्रभावित अनेक शिष्य बने फिर इनका एक सम्प्रदाय ही चल पड़ा। इनके बाद इनके भाष्यों पर व्याख्याएँ लिखी गईं जिनमें विवरण और भामती दो प्रसिद्ध हैं। साथ ही शांकर वेदान्त पर पीछे अनेक ग्रंथ भी लिखे गए।

अद्वैतवाद

अद्वैत में दो शब्दों का मेल है अ=नहीं है + द्वैत=दूसरा। शंकर ने ब्रह्म के अतिरिक्त किसी दूसरी सत्ता को सत्य नहीं माना है। उन्होंने जीव, जगत, ईश्वर आदि सभी को ब्रह्म का ही प्रपंच माना है। किसी दूसरे की अपनी कोई सत्ता ब्रह्म के अतिरिक्त नहीं है। ये सभी ब्रह्म के विवर्त, रूपान्तरण या माया हैं। यहाँ ब्रह्म को एक मात्र सत्य मानकर दूसरी सभी वस्तुओं की अलग सत्ता को नकारना ही अद्वैत है। दूसरी सभी अनुभूति या व्यवहार में आने वाली वस्तुएँ सत्य नहीं है। शंकर ने अद्वैतवादी विचार को मुख्य रूप से व्यक्त करते हुए कहा है– **'ब्रह्म सत्यं जगत् मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नायरः।'** अर्थात् ब्रह्म ही एक मात्र सत्य है। संसार मिथ्या है। ब्रह्म से अलग कोई सत्ता नहीं है, वह जो भी है ब्रह्म का ही रूप है। इसी पर आधारित उनका दर्शन है जिसके पक्ष में सभी पहलुओं पर उन्होंने विचार किया है।

(अ) जगत

शकर ने कहा है **'ब्रह्म सत्यं जगत् मिथ्या.....।'** यहाँ यह बात उठती है कि निर्गुण ब्रह्म मानने पर उसके द्वारा सृष्टि ही हो नहीं सकती। यदि सगुण ब्रह्म है तो वह सृष्टि करेगा।

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

पर जो ब्रह्म द्वारा की गई सृष्टि है उसका लय कैसे होगा ? वह तो अपने कर्ता ब्रह्म के साथ-साथ बनी रहेगी। पर शास्त्रों का यह विचार भी इसके अनुसार बेमेल लगता है कि ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त होने पर सृष्टि का मिथ्या ज्ञान नष्ट हो जाता है। तब ब्रह्म की सृष्टि को असत् ज्ञान क्यों माना जाय ? इस विषय पर शंकर ने कहा कि यदि सृष्टि की तुलना भ्रम या स्वप्न से करें तो यह समस्या ही नहीं होगा। ब्रह्मज्ञानी या तत्वज्ञाता को भ्रम होगा ही नहीं इससे भ्रम वाली सृष्टि या जगत का कोई अस्तित्व रहेगा ही नहीं। इसकी उपमा शंकर ने रस्सी को देख कर उसके सांप होने के भ्रम से दी है। किन्तु दूर से रस्सी को देख कर मन में सांप का भ्रम होने वाले को सांप का भ्रम उसी क्षण समाप्त हो जायगा जब उधर से अचानक कोई दीपक लेकर निकले और रस्सी की सत्यता प्रकाश में उसे स्पष्ट हो जाय। तब रस्सी का सत् ज्ञान होने पर सांप का भ्रम जिस प्रकार स्वतः नष्ट हो जायगा उसी प्रकार ब्रह्मज्ञान होते ही भ्रमस्वरूप संसार का ज्ञान समाप्त हो जायगा। इसी बात को ऋग्वेद में भी कहा गया है कि एक ही इन्द्रिय माया के प्रभाव से नाना रूपों में प्रकट होती है।[१] ब्रह्म की माया ही सृष्टि है। यही बात उपनिषदों में भी की गई है कि मायापति ब्रह्म है और उसी सृष्टि की माया है।[२]

जैसा शंकर ने कहा है "ब्रह्म सत्यं जगत् मिथ्या जीवो ब्रह्मवै नायर:।" अर्थात् ब्रह्म सत्य है, जगत् मिथ्या है और ब्रह्म एवं जीव में कोई अन्तर नहीं है। यहाँ ब्रह्म के साथ जगत् की बात कह कर दोनों का भेद करते हैं। स्पष्ट है दोनों की सत्ता भिन्न है। सत्ता तीन प्रकार की होती है– प्रतिभाषित, व्यावहारिक और परमार्थिक। यहाँ स्पष्ट है जगत् की परमार्थिक सत्ता नहीं है। पारमार्थिक सत्ता वह होती है जो शुद्ध एवं त्रिकाल बाध रहित हो। त्रिकाल बाधा से अभिप्राय है वर्तमान, भूत और भविष्य तीनों कालों में तथा स्वप्न, जाग्रत और सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं में वह सत्ता एक रूप रहे। उसे युक्ति से भी काटा न जा सके। बाधि का अर्थ है विरोध। सत् वही है जो– **त्रिकालाऽबाध्यत्वं सत्त्वम्** हो इसकी प्रतिभाषित सत्ता भी नहीं है जो क्षण भर के लिए भ्रम या स्वप्न में उपस्थित हो। इसे हम देखते हैं, इसमें रहकर ब्रह्म प्राप्ति का प्रयास करते हैं। मोक्ष प्राप्त होने पर भी संसार में ही रहते हैं जिसे जीवन मुक्त की स्थिति कहते हैं अर्थात् जीवित रहते मुक्त होना। पर ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति पर इसकी असत् सत्ता ज्ञात होती है। असत् वह है जिसकी न कोई त्रिकाल में सत्ता हो और न सत् के रूप में प्रतीत होने का उसमें सामर्थ्य हो- **'क्वचिदप्युपाधौ सत्त्वेन प्रतीत्यनर्हत्वम् अत्यन्ताऽसत्त्वम्।'** इस प्रकार इसकी व्यवहारिक सत्ता है, वह स्थिति जिसमें वस्तुएँ विद्यमान रहती हैं। हम उन्हें सत्य मानते हैं। वे स्वप्न की तरह असत् नहीं है और न त्रिकाल सत्य है। इस प्रकार जगत् न पूर्ण सत् है न पूर्ण असत् और न दोनों है क्योंकि दोनों मानने से विचार में विरोधाभास होगा। इसीसे शंकर ने जगत को अनिर्वचनीय कहा है। अनिर्वचनीय वह है जिसको सत्य मानना भी गलत है और असत्य मानना भी गलत है क्योंकि जिसका आधार असत्य नहीं है उसका आधार कैसे असत्य होगा। शंकर उस कर्म में विश्वास करते हैं जो संसार में ही रहकर किया जाता है जिससे मोक्ष प्राप्त होता है। फिर भी संसार रहता है। पर अब वह ब्रह्म की अपेक्षा कम सत्य लगता है क्योंकि इसे हम नश्वर मानने

१. ऋग्वेद, ६/४७/१९

२. माया तु प्रकृति विद्यात् मायिनं तु महेश्वरम्। श्वेताश्वतरोपनिषद् ४/१०

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

लगते हैं। पर इसे सत्य मानना भी गलत है क्योंकि ब्रह्मज्ञान होते ही जगत् की सत्यता समाप्त हो जाती है। इस प्रकार सत् और सत् से विलक्षण होने से शंकर ने जगत् को मिथ्या कहा है। मिथ्या का अभिप्राय अद्वैत में असत् न होकर भ्रमयुक्त है। यही अनिर्वचनीय कहा गया है। इसलिए 'जगत् मिथ्या' का अर्थ संसार को असत् मानना अनुचित है।

शंकर ने संसार को पारमार्थिक सत्य इसलिए नहीं माना है कि संसार की उत्पत्ति और लय होता है। यह परिवर्तनशील है। जिन वस्तुओं को यहाँ देखते हैं वे कल्पित हैं। यह ब्रह्म को आवरित कर उसका प्रपञ्च है। यह अपरा विद्या का विषय है। अपरा विद्या से जो ज्ञात होता है वह सत्य नहीं होता। यह उतना ही सत्य है जितनी भ्रम या स्वप्न की वस्तुएँ सत्य होती है।

पर लोग 'मिथ्या' का अर्थ असत् लेते हैं। कुछ मानते हैं कि दर्शन जगत् की व्याख्या करता है। पर शंकर ने जगत् का असत्य मानकर इस समस्या को ही समाप्त कर दिया है। केयर्ड के अनुसार विश्व को असत्य मान लेने से अविश्वासवाद का विकास होता है। पर वे भ्रमित हैं क्योंकि भले ही शंकर ने संसार को पानी का बुलबुला, फेन, स्वप्न, माया, जादू का खेल आदि कहा है पर वह कभी इसे स्वप्नवत, मायावत, जादूवत आदि नहीं कहते। केवल इनसे उसकी उपमा दी है। उपमा के संदर्भ में वह स्वयं कहते हैं कि वे केवल सादृश्यता बताती है उन्हीं को नहीं बताती। पुन: असत्य वह है जिसकी कोई सत्ता न हो। पर संसार की सत्ता है भले ही त्रिकाल सत्य नहीं है। शंकर ने बौद्ध दर्शन के विज्ञानवाद की आलोचना इसीलिए की है कि वह जगत् को असत् मानता है। जब बुलबुला, स्वप्न आदि में कुछ सत्य है फिर विश्व तो अपेक्षाकृत अधिक सत्य है। इसकी सत्यता मोक्ष प्राप्ति के पूर्व रहती है। यहीं रहकर मोक्ष प्राप्त किया जाता है और मोक्ष प्राप्ति के बाद भी जीवनमुक्त यहीं रहता है। कर्म की मान्यता शंकर के संसार की सत्यता को मानती है, भले ही यह ब्रह्म से कम सत्य है। ब्रह्म ही संसार का आधार है जो पूर्ण सत्य है। यदि जगत् असत्य है तो उसका आधार सत्य कैसे हो सकता है? आदि प्रश्नों के संदर्भ में 'जगत् मिथ्या' का अर्थ संसार को असत्य मानना नितान्त भ्रामक है।

(ब) माया

शंकर ने विश्व को ब्रह्म का प्रपंच कहा है। इसे माया की प्रतीति बताया है। अत: माया क्या है? कहाँ रहती है? माया की शक्तियाँ क्या हैं? आदि। हम यह देखते हैं कि ब्रह्मज्ञान होने पर जगत् प्रपंच का विरोध हो जाता है। इसलिए ब्रह्मज्ञानी को माया या जगत प्रपंच से कुछ लेना देना नहीं। अत: माया को ब्रह्म की तरह सत् नहीं कह सकते। शंकर ने माया और अविद्या को एक ही माना है जबकि बाद के वेदान्ती इनको भिन्न मानते हैं।

शंकराचार्य के अनुसार माया या अविद्या की कुछ मूल विशेषताएँ हैं– १. यह न सत् है न स्वतंत्र है बल्कि जड़ और भौतिक है। २. यह ब्रह्म की शक्ति है और ब्रह्म में निवास करती है पर इसका ब्रह्म से कोई सम्बन्ध नहीं है। इसीसे यह ब्रह्म की अनन्या कहलाती है। इसे उसका केवल तादात्म्य कहा जा सकता है। ३. ब्रह्म के साथ सदा लगी रहने के कारण यह भी अनादि है। ४. यह अनिर्वचनीय है। यह ब्रह्म को आवृत कर, पर्दा डालकर, उस पर संसार का विक्षेप, आरोप, करती है। आवृत करना इसका अभाव रूप है और विक्षेप करना भाव रूप है। असलिए यह भावाभाव से विलक्षण होने के कारण अनिर्वचनीय है। ५. यह अध्यास है, भ्रम है। इसके

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

लिए दो प्रमाण शंकर ने प्रयोग किया है रज्जु का सर्प तथा शुक्ति (सींपी) का रजत (चाँदी) प्रतीत होना। पहले यह सत् रज्जू या शुक्ति पर आवरण डालती है फिर उन पर सर्प या रजत का विक्षेप करती है। जो मिथ्या ज्ञान है। यही भ्रम या अध्यास है। ६. यह सत् के ज्ञान में इस प्रकार बाधक है कि रस्सी सर्प और शुक्ति रजत प्रतीत होने लगता है। ज्ञान में बाधा के इस लक्षण को ज्ञाननिरस्या कहते हैं। ७. मायाविवर्त है, इसके द्वारा ब्रह्म का रूप परिवर्तित नहीं होता बल्कि दूसरे जगत रूप में उसकी प्रतीति होती है जैसे रस्सी को देखकर सर्प की प्रतीति होती है न कि सर्प में रस्सी परिवर्तित हो जाती है। ८. जैसे जादूगर पर उसके जादू का प्रभाव नहीं पड़ता भले ही वह जादू देखता है उसी प्रकार ब्रह्म में आश्रय पाती हुई माया से ब्रह्म निर्लिप्त रहता है।

माया के स्वरूप के सम्बन्ध में आचार्य ने कहा है कि परमेश्वर की बीजशक्ति का नाम माया है। इसी शक्ति के कारण परमेश्वर क्रियमाण होकर सृष्टि करता है। पर इससे रहित ब्रह्म में क्रियात्मकता नहीं होती। जो इस माया के स्वरूप को नहीं जानते वे माया में बंधकर ब्रह्म को नहीं जान पाते। पर ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त कर लेने के बाद माया का भ्रम टूट जाता है। इसमें त्रिगुणात्मक शक्ति है तथा भगवान की अव्यक्त शक्ति है। इसकी क्रियाशीलता का ज्ञान इसके सृष्टि उत्पन्न करने से होता है। यह न सत् है न असत् और न दोनों ही है, इसीसे इसका स्वरूप शंकराचार्य ने अनिर्वचनीय बताया है।

शंकर ने माया को ईश्वर की शक्ति मानते हुए भी उसका नित्य स्वरूप नहीं माना है। वह ब्रह्म से अभिन्न होने पर भी उसकी इच्छा पर निर्भर होती है। वह कभी रहती है कभी नहीं रहती। वह ब्रह्म की अन्तिम इच्छा है। उसे जब चाहे छोड़ सकते हैं। यद्यपि ब्रह्म में माया उसी प्रकार संलिप्त है जैसे अग्नि में दाहकता। पर माया से सृजन की क्रिया ब्रह्म की इच्छानुसार ही होती है। यह उसकी नित्य क्रिया नहीं है।

ऊपर के विवेचन से ज्ञात होता है कि माया दो कार्य करती है एक तो यह ब्रह्म को ढक देती है और दूसरी ओर उसके अवास्तविक रूप जगत् प्रकृति का सृजन करती है। यह सत्य है कि सत्य को ढक कर ही उस पर दूसरे रूप को फैलाया जा सकता है। इस प्रकार माया एक ओर आवरण, ढकने या पर्दा डालने का कार्य करती है। यह उसका निषेधात्मक तो दूसरी ओर वह भावात्मक कार्य करते हुए विक्षेप, सत्य पर दूसरी वस्तु का आरोप करती है। यह ठीक उसी प्रकार है जैसे जादूगर या बाजीगर किसी चीज को ढक देता है और उसको दूसरे रूप में दिखाता है। पर ढकने से वास्तविक वस्तु की स्थिति में कोई अंतर नहीं होता यद्यपि जादू की शक्ति के कारण दूसरी वस्तुएँ हमारे सामने आती हैं। यह वैसे ही है जैसे माया के द्वारा रस्सी या शुक्ति का वास्तविक स्वरूप ढक जाता है और उसके स्थान अवास्तविक ज्ञान सर्प या रजत का होने लगता है।

जादूगर की शक्ति जिस प्रकार जादूगर को प्रभावित नहीं करती उसी प्रकार ब्रह्म माया से निर्लिप्त रहता है। इस प्रकार माया की दो शक्तियाँ होती हैं– आवरण और विक्षेप। यहाँ माया अज्ञानाच्छादित आत्मा में इस शक्ति के द्वारा जगत् प्रपंच को उत्पन्न करती है। पर अज्ञानता के नाश होने पर शुद्ध आत्मा में माया की शक्ति का प्रभाव नहीं होता। इससे इसके द्वारा ब्रह्म में कोई विकार नहीं होता केवल यह विवर्तमात्र है।

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

माया के ही आधार पर संसार के अनेक रूपता को समझा जाता है। यह नाना रूपात्मक जगत् को उत्पन्न करती है। इसका निर्माण तीनों गुणों– सत्, रज और तम से होने के कारण यह त्रिगुणात्मक है। शंकर ने माया को जड़, भौतिक, अचेतन आदि कहा है। यह मोक्ष प्राप्ति में वाधक है क्योंकि सत्य पर परदा डालती है जिससे ब्रह्मज्ञान सरलता से नहीं हो सकता। हम उसके जगत प्रपंच में ही उलझ जाते हैं। जब तक अविद्या या माया का अन्त नहीं होता मोक्ष नहीं प्राप्त हो सकता। शंकर ने केवल ब्रह्म को ही सत्य माना है इसलिए माया को यर्थार्थ नहीं माना जा सकता।

(स) ब्रह्म

संसार में जो भी हम देखते, सोचते या जानते हैं उनमें कुछ तो ऐसी हैं जो क्षणिक होते हैं। उसका अस्तित्व कुछ ही क्षण तक सत्य बना रहता है। फिर वे स्वयं समाप्त हो जाता है। उनका मात्र आभास होता है। इससे उनकी सत्ता प्रतिभासित सत्ता कही जाती है जैसे स्वप्न, कल्पना आदि। पर कुछ ऐसा है जो जगत व्यवहार में बना रहता है। उनके समाप्त होने में लम्बा समय लगता है। वे देखने में सत्य लगते हैं। इसीको ऐसा मानकर उनके साथ व्यवहार में जुड़ने पर वह भी एक लम्बे समय बाद टूट जाती है और हम भी उससे टूट जाते हैं। हमारा या जगत् का उससे सम्बन्ध व्यवहार होने तक बना रहता है। इसीसे ऐसी सत्ता को व्यवहारिक सत्ता कहते हैं। पर एक ऐसी सत्ता भी है जो शाश्वत है। वह सदा बनी रहती है। भले ही उससे सम्बन्ध स्थापित करने वाली बस्तुएँ समाप्त हो जाय, जगत् का लय हो जाय। पर उसका लय नहीं होता। वही शुद्ध सत्ता है। उसे न बाधित किया जा सकता है न वह बाधक हो सकती है। वही शुद्ध सत्ता परमार्थिक सत्ता कही जाती है।

यही पारमार्थिक सत्ता ही सत्य होने से अनश्वर, अनादि, अनन्त और अविकारी है। वह सभी सीमा से परे, काल, नियम, व्यवस्था से ऊपर तथा किसी भी कारण से रहित है। तो क्या यही ईश्वर है ? पर ऐसा भी नहीं कह सकते क्योंकि ईश्वर का एक स्वरूप लक्षण है जिसकी हम कल्पना करते हैं। उस स्वरूप से हम उसे जानते हैं। उसका विग्रह (मूर्ति) बनाकर उसकी अर्चना करते हैं। उससे हम क्रिया की अपेक्षा रखते हैं। इस संसार का कर्ता उसे मानते हैं। कारणवश उसका संसार से सम्बन्ध जोड़ते हैं या हम स्वयं उससे जुटते हैं। यद्यपि वह भी सत्य है, ज्ञानवान है पर स्वरूपवान लगता है जैसे एक भिखारी को राजा के सिंहासन पर कुछ देर तक बैठा दिया जाय तो वह राजा ही लगेगा, राजा का ही कार्य करेगा पर हटते ही वह पुनः अपने वास्तविक स्थिति में आ जायगा। यह राजत्व गुण का आधार था कि वह राजा था। उसी प्रकार सगुण रूप वाले जिस ईश्वर की हम उपासना करते हैं वह वास्तविक गुणवान तो नहीं है पर गुण ऊपर से जुड़ने के कारण वह गुणवान दीखता है। यदि उसका धारित गुण हट जाय तो अपनी वास्तविक निर्गुणी सत्ता में वह मिल जायगा। यही निर्गुणी सत्ता ही इस प्रकार सत्य, ज्ञान, अनन्त, स्वप्रकाश, बंधनमुक्त और सीमा रहित है। यद्यपि यही सभी गुणों से युक्त और गुणों का आधार है। पर यह निर्गुण है। इसलिए यह अलिप्त है। यही ब्रह्म है।

इस प्रकार ईश्वर भी ब्रह्म का ही रूप है पर सगुण होने से वह तटस्थ नहीं रह सकता। पर ब्रह्म तटस्थ होने से सभी सम्बन्धों, बंधनों, सीमाओं से परे है। इसमें कोई आगन्तुक गुण नहीं

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

होता। यह अपने ही सत् (सत्य) चित् (ज्ञान) और आनन्द का केन्द्र होने से सच्चिदानन्द है। यह निराकार होने से निर्गुण है। पर निर्गुण होकर भी सभी गुणों का आधार है क्योंकि यही एकमात्र पूर्ण है। इसीसे यह भेदोभेद रहित है। न इसमें कोई इसकी तरह की किसी सत्ता से अन्तर कर सकता है जिसे विजातीय भेद कहते और न इसके अपने में ही कोई भेद देखा जा सकता है जिसे स्वगत भेद कहते हैं। इसीसे यह एक मात्र पूर्ण है। अतः जो स्वयं पूर्ण है उसमें फिर भेद कैसा?

अविद्या के कारण जीव इससे अलग अपूर्ण रहता है। वह पूर्णता की प्राप्ति का प्रयास ज्ञान की किरण मिलने पर करता है। पर वहाँ तक पहुँचने के लिए वह एक आकार--सगुण रूप, की कल्पना करता है और उसके प्रति समर्पण, ध्यान, पूजा, दान आदि के द्वारा उस पूर्ण की ओर बढ़ने का प्रयास करता है। यही कारण है कि निर्गुण ब्रह्म की प्राप्ति के लिए सगुण रूपों की ओर मनुष्य झुकता है। इसीसे निर्गुण ब्रह्म के लिए ही सगुण की कल्पना की गई है। यहाँ वह माया से युक्त रहता है तभी ईश्वर के रूप में होता है। इस प्रकार सगुण-निर्गुण में कोई भेद नहीं है। केवल दृष्टि का भेद है। निर्गुण तक पहुँचने के लिए ही यह रूप माना गया है।

पर वास्तविक ब्रह्म किसी भी आगन्तुक गुणों से रहित है। यह सभी विषयों से मुक्त है। इसीलिए वह वर्णनातीत, गुणातीत होने के कारण उपनिषदों द्वारा विज्ञान, आनन्द, ब्रह्म– **'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'** कहा गया है। इसकी सत्ता असीम, क्षेत्र सर्वव्यापक, भेदरहित, अपरिवर्तनशील, अनिर्वचनीय है। यही कारण है कि वर्णनातीत होने से उपनिषद् ब्रह्म की कोई व्याख्या न दे सकने के कारण इसे नेति, नेति कहा है। अर्थात् जो भी विवरण इसके विषय में दिया जाता है जब उसके आगे इसे बताने के लिए यहाँ कहा जाता है तो वह कहता है कि यह ऐसा नहीं है। पर कहीं यह नहीं कहा गया है कि यह कैसा है ? इसका कारण है इसके स्वरूप और गुणों की कोई सीमा है ही नहीं तो कैसे कहा जाय कि यह कैसा है ?

इसीसे ईश्वर ब्रह्म है पर यह नहीं कहा जा सकता कि वह कैसा है ? क्योंकि वह निराकार है। वह एक है। उसका गुण कौन है ? ऐसा कहना सम्भव नहीं है। केवल यही कह सकते हैं कि वह ऐसा नहीं है– 'नेति' अर्थात् जो भी कहा जाय वह उससे और भी अधिक है। उसे 'ब्रह्म' कहा गया है कि वह 'वृह' धातु से बना है जिसका अर्थ है वृद्धि अर्थात् वह सम्पूर्ण जगत की उत्पत्ति का कारण है। वही जगत को व्यवस्थित रखता है। इस व्यवस्था की अनुभूति आत्मा से होती है। आत्मा की अनुभूति सभी करते हैं। इसीलिए उपनिषद् कहता है– **'आत्मा वै ब्रह्म'**। इसको अनुभूति द्वारा जानने से इसके विषय में कोई द्वैत नहीं रह जाता। इसकी पुष्टि गीता, वेद, उपनिषद् आदि सभी आर्ष ग्रंथ करते हैं। अतः ब्रह्म का अस्तित्व प्रमाणयुक्त है।

(द) ईश्वर

ऊपर के विवेचन में ब्रह्म के दो रूपों की चर्चा की गई है– निर्गुण और सगुण। जो सगुण है उसका रूप है, उसका आकार है उसकी क्रियाएँ हैं। पर यह विचित्र है कि एक ही साथ वह सगुण और निर्गुण दोनों कैसे हो सकता है। इसका उत्तर यह है कि ब्रह्म जब माया से युक्त होता है तो वह सगुण रूप में, विग्रह रूप में होकर संसार की सृष्टि करता है। यहाँ युक्त होने से अभिप्राय है माया पर उसका प्रतिबिम्ब पड़ना। इसीसे तब उसे मायापोहित ब्रह्म कहा जाता है।

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

यही मायापोहित ब्रह्म ही ईश्वर है। इसीको सविशेष ब्रह्म कहत हैं क्योंकि तब निर्विशेष ब्रह्म माया द्वारा आवृत होता है। इसी स्थिति में ब्रह्म सृष्टि का प्रजननकर्ता है। इसीसे स्मृतियों में सृष्टि का सृजनकर्ता ईश्वर को कहा गया है। अब यह प्रश्न उठता है कि जव ईश्वर सर्वशक्तिमान है सर्वश्रष्टा है, सर्वज्ञ है, पूर्ण है तो उसको सृष्टि रचना की क्या आवश्यकता पड़ी। निष्प्रयोजन तो सृष्टि रचना करेगा नहीं। यहाँ यह कहा जा सकता है कि जिस प्रकार कोई व्यक्ति सर्व समर्थ होने पर भी अपने विनोद के लिए वहुत सी क्रियाएँ करता रहता है उसी प्रकार ब्रह्म भी लीला के लिए मायावृत होकर सृष्टि की रचना करता है- **'लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्।'**

इस प्रकार ईश्वर संसार की रचना का निमित्त कारण है क्योंकि वही संसार की रचना करता है। पर वह अपनी लीला विकास के लिए इसकी रचना करता है। इससे वह इसका उपादान कारण भी है। जिस प्रकार घट, कुम्भ आदि मिट्टी की बनने वाली सभी वस्तुओं का ज्ञान मिट्टी के जान लेने पर होता है उसी प्रकार ब्रह्म को जान लेने पर उसकी निर्मित सभी वस्तुओं का ज्ञान हो जता है। अत: वह उपादान कारण हुआ। पर इसकी सृष्टि अपनी इच्छा के कारण ब्रह्म करता है अत: वही इसका निमित्त कारण होता है। इस प्रकार जगत की योनि ब्रह्म ही है ऐसा मुण्डकोपनिषत् भी कहता है। श्रुतियाँ भी ईश्वर को विश्व का प्रथम कारण मानती हैं। यह वैसे ही है जैसे कुम्हार मिट्टी से बर्तन तैयार करता है। इस प्रकार ब्रह्म ही सृष्टि का नैमित्तिक और उपाधि कारण दोनों ही होता है। पर इसके विषय में दो शंकाएँ यहाँ की गई हैं कि अचेतन ब्रह्म से चेतन सृष्टि कैसे उत्पन्न होगी? इसका उत्तर है कि यह उसी प्रकार है जैसे अचेतन मिट्टी के सड़ने पर उससे कीड़े उत्पन्न हो जाते हैं तथा चेतन मनुष्य के शरीर में अचेतन केश होते हैं। दसरे यह शंका है कि ब्रह्म ही आत्मा है। आत्मा संसार का उपभोग करती है। ब्रह्म जब उपादान कारण है सृष्टि का और आत्मा जो ब्रह्म ही है तथा इस सृष्टि का भोक्ता है तो दोनों ही भोक्ता और भोग्य एक होकर अलग-अलग क्यों प्रतीत होते हैं? इस के उत्तर में कहा जा सता है कि दोनों अभेद हैं फिर भी दोनों में व्यवहारिक उत्तर है।

ब्रह्म और ईश्वर में इसी अन्तर के स्थापनार्थ ब्रह्म उपाधियुक्त होकर ईश्वर के रूप में अलग-अलग प्रतीकों, स्थानों में विद्यमान माना जाता है जैसे सूर्य, आकाश आदि सभी में ईश्वर की स्थिति मानते हैं और उसकी उपासना का अलग-अलग फल देखते है। जबकि ब्रह्म की उपासना का फल मोक्ष मानते हैं। यही ब्रह्म और ईश्वर में व्यवहारिक जगत में आने पर होता है। इसका कारण यह है कि जगत और ईश्वर दोनों ब्रह्म के मायावृत्त होने के कारण हैं।

ईश्वर स्वयं पूर्ण है पर वह उपासना का विषय है क्योंकि उसका एक स्वरूप होता है। वही कर्म करने को प्रेरित भी करता है और उसका फलदाता भी है। शुभ अशुभ कर्म उसी की प्रेरणा से होता है और उसका फल भी भोगने के लिए वही बाध्य करता है। पर ईश्वर इससे परे होने के कारण नैतिक है, एक है, धर्म-अधर्म से रहित है। इसी से ईश्वर स्रष्टा है क्योंकि सृष्टि उसका स्वभाव है और यही उसकी लीला या खेल है। वह निष्क्रिय ब्रह्म यह लीला माया से आवृत्त होकर सक्रिय बनने पर करता है। पर स्वयं संसार में व्याप्त होकर भी इसकी बुराईयों से दूर रहने के कारण वह विश्वातीत है। वह सृष्टि करके इससे अलग हो जाता है। इसमें रहने वाले जीवों के कर्म से उसका कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं होता बल्कि वह अलग रहकर उसके फल को देता है। इसीसे शंकर ने ईश्वर को ब्रह्म का विवर्त, रूपान्तरण, माना है।

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

ईश्वर जगत से श्रेष्ठ है क्योंकि जगत अगमापाई (ओन जाने वाला) होने से अभाव रूप है पर ईश्वर भाव रूप है। वह सदा वना रहने वाला आवागमन के वंधन से अलग है। ईश्वर संसार की उत्पत्ति का कारण होकर भी अपने अकारण हैं। संसार की उत्पत्ति का कारण उसका स्वभाव है पर ईश्वर के पीछे कोई कारण नहीं है। ईश्वर इसीसे संसार में व्यवस्था और सामंजस्य के स्थापना का कारण है जिससे सांसारिक क्रिया एक निर्धारित क्रम में चलती रहती है। शंकर ने ईश्वर की सत्ता को प्रमाणित करने के लिए कोई अन्य आधार श्रुति के अतिरिक्त माना ही नहीं है। अपने पूर्व के सभी दार्शनिक मतों का खण्डन करते हुए केवल वे श्रुतिपरक तर्क को ही मानते हैं। उनका मानना है कि श्रुति में ईश्वर की चर्चा है इसलिए ईश्वर है।

शंकर ने यह कहा है कि मायापोहित या मायावृत्त ब्रह्म ही ईश्वर है पर उन्होंने ब्रह्म और ईश्वर में भेद भी स्थापित किया है। ब्रह्म को निर्गुण, निराकार, निर्विशेष मानते हुए ईश्वर को सगुण, साकार और सविशेष माना है। इसी कारण ईश्वर ब्रह्म से अलग संसार का स्रष्टा, पालक तथा संहारक है। यही उपासना का विषय है न कि ब्रह्म। ईश्वर विग्रहवान (स्वरूपवान) है पर ब्रह्म नहीं। ब्रह्म शाश्वत सत्य है पर ईश्वर मायावरित जीव के लिए सत्य है। मायारहित जीव को ब्रह्म का साक्षात्कार होता है। ईश्वर ब्रह्म का रूपान्तरण है। ब्रह्म तो स्वयं पूर्ण सत्य, ज्ञानवान और अनन्त होने से स्थावर है। यही कारण है कि ब्रह्म को 'परब्रह्म' कहते हैं। पर ईश्वर ब्रह्म से अलग होकर माया से आवृत्त तीन असत्य रूपों में दीखते हैं- एक ब्रह्म से अलग होकर सक्रिय, सगुण रूप में ईश्वर दूसरे, माया जब ईश्वर की आड़ में सूक्ष्म पदार्थों का सृजन करती है तब इसको 'हिरण्यगर्भ' रूप में देखते हैं और तीसरे, जब माया स्थूल पदार्थों का निर्माण कर पूर्ण सृष्टि को तैयार करती है तब इनका विराट या 'वैश्वानर' रूप होता है। पर यदि माया का आवरण ईश्वर से हट ज़ाय तो वह अचेतन निष्क्रिय, निराकार ब्रह्म ही है। उसी प्रकार जीव भी मूलतः ब्रह्म ही है पर माया का चोला चढ़ते ही वह ईश्वर की तरह ब्रह्म से अलग सत्ता ग्रहण कर लेता है और माया का अज्ञान उतरते ही वह ब्रह्म में समाहित हो जाता है। इसीसे पंचदशी नामक ग्रंथ में विद्याचरण स्वामी ने कहा है कि- **'मायाख्यायाः कामधेनोर्वत्सा जीवेश्वरावुभौ।....... तत्त्वमद्वैतमेव हि।।'** अर्थात् मायारूपी कामधेनु के दो बछड़े हैं ईश्वर और जीव.........पर दोनों का तत्व एक ही है ब्रह्म।

(य) जीव

'अस्ति आत्मा जीवाख्यः शरीरेन्द्रियपञ्जराध्यक्षः कर्मफलसम्बन्धी'

आत्मा और जीव- आत्मा ही जीव है। वह इन्द्रिय रूपी घोसले अर्थात् शरीर का अध्यक्ष है और कर्मफल से सम्बन्धित होता है। अतः आत्मा के स्वरूप पर विचार करके ही हम जीव की ओर बढ़ सकते हैं। ब्रह्म और आत्मा या जीव में एक ही अन्तर है कि ब्रह्म पूर्ण है और आत्मा या चेतन उसका अंश ब्रह्म जब मायामोहित होता है तो ईश्वर होता है और जब अविद्यापोहित होता है तो आत्मा होता है जो जीव कहलाता है। आत्मा और जीव दोनों चैतन्य हैं यद्यपि चैतन्य आत्मा का गुण न होकर शंकर ने उसका स्वभाव माना है। इसीलिए अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य को जीव कहते है। यही अच्छे बुरे कर्मों का फल भोगता है। आत्मा सभी अवस्थाओं में विद्यमान रहता है। यह न भोक्ता होता है न कर्ता। इसलिए यह पाप-पुण्य से अलग होता है। इसमें कोई

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

सुख-दुःख की अनुभूति नहीं होती। अनुभूति तथा कर्मफल का भोक्त जीव होता है। जीव समय, कारण, नियम के बंधन में बंधा होता है पर आत्मा इन सभी से स्वतंत्र होती है। आत्मा का स्वरूप ज्ञानात्मक है। यह एक है पर यह जीव में अनेक लगती है। इसकी छाया अलग-अलग जीवों में प्रतिभासित होता है। इसलिए शंकर ने आत्मा और ब्रह्म की एकता को स्वीकार किया है। इसी से कुछ लोग जो आत्मा के स्वरूप को अणु कहते हैं। पर उसको शंकर नहीं मानते। अणु परमाणु का नहीं बल्कि सूक्ष्मता का परिचायक है। पर जीव की परिणामी संज्ञा है। वह अपने तेजस, अभिमानी संज्ञाओं से भारी हो जाता है। इसकी वृत्ति उभयमुखी है। यह बहिर्मुख होने पर अहंकार, प्रज्ञा आदि को बढ़ावा देता है पर अन्तर्मुखी होने पर अपने को समझाने का प्रयास करता है। जीव का स्वरूप शान्त होता है पर चंचल बुद्धि के कारण जीव चंचल बना रहता है। आत्मा की सत्ता परमार्थिक होती है पर जीवन की सत्ता व्यवहारिक होती है। इस प्रकार 'आत्मा जीवख्या:.....' आत्मा ही जीव है, यह बात सत्य लगती हे। जब स्वतंत्र आत्मा किसी के मन, बुद्धि, शरीर, इन्द्रियों आदि में बंध जाती हैं तो वही जीव कहलाती है।

जीव अनेक हैं। यहाँ आत्मा अविद्या में प्रतिबिम्बित होकर जीव कहलाता है। तब जीव की क्रियाएँ परस्पर भिन्न होती हैं भले ही यह आत्मा का आभास मात्र है। जीव का धर्म है संसार में बंधना। इस बंधन का आधार है कर्म जिसे कर्म बंधन कहते हैं। इन कर्मों के अनुसार वह पाप-पुण्य का भागी बन जाता है और सुख-दुःख का भोग करता है। यह मरण धर्म है। मरने पर यह शरीर के बंधनों से मुक्त हो जाता है। पर जब तक कर्मों का फल उसके साथ जुटा होता है उसके बंधन टूटते नहीं। जब तक उसके कर्मफल शेष रहते हैं उसीके भोग के लिए बंधन से मुक्ति हेतु जीव बार-बार कर्ममय संसार में आता है। इसकी समाप्ति पर वह मुक्त होकर आत्मा में मिल जाता है। यही जीव का मोक्ष कहलाता है। जीव सोपाधिक आत्मा है। कुत्ता, बिल्ली आदि उपाधि वाले शरीर में पहुँचकर यह भी कुत्ता, बिल्ली का रूप ले लेता है। फिर शरीर के समाप्ति होने पर उपाधि विहीन होकर आत्मा में मिल जाता है। इस प्रकार आत्मा ही अविद्या से आवरित होकर जीव के रूप में दीखती है और फिर अविद्या के नाश होने पर वह आत्मा में विलीन हो जाती है।

ब्रह्म और जीव

जीव आत्मा ही है और आत्मा ब्रह्म है। इस प्रकार जीव और ब्रह्म का सीधा सम्बन्ध हैं। यह ब्रह्म ही है जो अज्ञानता से आवृत होकर कर्मों के जंजाल में आकर उपाधिक बंधन में बंधकर (बकरी, मुर्गा, आदमी संज्ञक) जीव कहलाता है। इस प्रकार यह भेद तो ब्रह्म और जीव के बीच दीखता है पर यह भेद सत्य नहीं है। यह उपाधि के कारण है। भेद यद्यपि प्रकट होता हे जबकि सत्य यह है कि दोनों जीव और ब्रह्म एक है। भेद तो मात्र व्यवहारिक जगत की बात है। यहाँ हम कह सकते हैं कि जो ब्रह्म है वही जीव हैं और जो जीव है वही ब्रह्म है। इसीको उपनिषदों में 'तत्वमसि' के द्वारा समझाया गया है। इसके बीच सम्बन्ध के लिए शंकर ने दो उपमाओं का सहारा लिया है- १. प्रतिबिम्बवाद तथा २. अवच्छेदवाद। प्रतिबिम्बवाद में वह कहते हैं कि जैसे जल के विभिन्न स्तरों पर चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब साथ पड़ने से वह अलग-अलग प्रतिभासित होता है उसी प्रार ब्रह्म का प्रतिबिम्ब अविद्या के विविध स्तरों पर पड़ने से अविद्या के प्रकृति की

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

भिन्नता के कारण जीव के विभिन्न प्रकार दीखते हैं। पर इसके मानने में दो कठिनाइयां आईं– एक ऐसा मानने में जीव और ब्रह्म दोनों के आकृति विहीन होने से प्रतिबिम्ब पड़ने की बात बैठती नहीं क्योंकि बिना किसी आकृति के प्रतिबिम्ब बनेगा कैसे? दूसरे यह माना जाय एक प्रतिबिम्ब दसरे पर पड़ता है तो ब्रह्म और आत्मा को एक नहीं मानकर अलग-अलग मानना पड़ेगा। इस कठिनाई के कारण उन्होंने दूसरी उपमा का सहारा लिया कि जिस प्रकार आकाश एक ही है पर स्थान भेद के कारण कोई घड़े का आकाश, कोई मन्दिर का आकाश कहा जाता है उसी प्रकार एक व्यापक ब्रह्म उपाधि भेद के कारण अनेक जीवों के रूप में प्रतिभासित होता है।

ईश्वर और जीव

ऊपर देखा गया है कि ईश्वर भी ब्रह्म ही है। दूसरी ओर जीव भी ब्रह्म ही है। फिर दोनों में अन्तर क्या है? अन्तर है दोनों के आवरण के संबंध में, ब्रह्म जब माया से आवरित होता है तो ईश्वर होता है और जब अविद्या से आवरित होता है तो जीव कहलाता है। ब्रह्म के प्रति व्यवहारिक दृष्टिकोण से यह दोनों सत्य लगते हैं पर पारमार्थिक दृष्टि से दोनों ही असत्य हैं। इस दृष्टि से सत्य है केवल ब्रह्म।

ईश्वर जीव से ऊपर है। जीव उपासक है और ईश्वर उपास्य है। जीव ईश्वर के न्याय को स्वीकार करता है। ईश्वर निर्णय और कर्मफल के अनुसार भोग देता है और जीव अपने पाप-पुण्य कर्मों का फल ईश्वर के निर्णय के अनुसार भोगता है।

ईश्वर स्वतंत्र है। जीव बंधन में रहता है। ईश्वर काल, दिशा आदि से मुक्त है पर जीव उनसे बंधा है। ईश्वर पूर्ण है और जीव उसका अंश है। ईश्वर सर्वज्ञ सर्वात्मा, सर्वव्याप्त है पर जीव अल्पज्ञ और सीमित क्षेत्रीय है। ईश्वर अकर्ता है पर जीव कर्ता है। अकर्ता ईश्वर कर्ता जीव के कर्मों का द्रष्टा है। जैसा मुण्डकोपनिषद् में कहा गया है कि ये एक ही डाल पर बैठे साथी पाक्षी की तरह हैं जिसमें जीव रूपी पक्षी उस डाल का फल खाता है अर्थात् संसार को भोगता है पर दसरा ईश्वर रूपी उसका साथी पक्षी केवल उसके कार्य को देखता है। उसका भागीदार नहीं बनता। इसका कारण यह है कि जीव अविद्या आवरित होने से कर्मों में बंधाता जाता है जबकि ईश्वर ऐसे आवरण से ऊपर है। इससे ईश्वर अनुरागियों से ऊपर है, निष्पक्ष है पर जीव, दुःख सुख भोक्ता होने से लालची और पक्षधर होता है। इस प्रकार ईश्वर और जीव दोनों ही ब्रह्म के अंश होने पर भी एक दूसरे से भिन्न हैं।

विवर्तवाद

सत्कार्यवाद के दो रूप हैं– विवर्तवाद और परिणामवाद। शंकर ने विवर्तवाद की ही वकालत की है। किसी सत्य वस्तु में असत्य का आभास होना विवर्त कहलाता है, जैसे रस्सी को देखकर सांप का आभास होना विवर्त है। विवर्त से उपादान कारण में कोई परिवर्तन नहीं होता जैसे रस्सी अपरिवर्तित रहती है। पर आभास में उसमें भिन्नता आ जाती है जैसे रस्सी को देखकर सांप समझना जबकि वह वास्तव में रस्सी है। यहाँ विकार (सर्प) का द्रव्य (रस्सी) में आभास होता है पर दूसरी स्थिति वह है कि हम दूध लेते हैं और दही तैयार कर देते हैं। यह दही या विकार (रूपान्तरण) वास्तव में हो गया। यह दही वास्तविक विकार है। इसको परिणाम कहते

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

हैं क्योंकि यहाँ उपादान कारण या मूल प्रकृति का कार्य रूप में अभिव्यक्ति या परिणाम हो गया। ये दोनों अवस्थाएँ सत्कार्यवाद के अंग है क्योंकि सत् दोनों में है। यहाँ आभास की जगह अभिव्यक्ति होती है। यह मानना कि दही अलग द्रव्य है और दूध अलग भ्रम है क्योंकि कार्य की सत्ता कारण से अलग नहीं होती। यह उसी प्रकार है जैसे घड़ा, मिट्टी के बर्तन, खिलौने आदि की सत्ता मिट्टी के अभाव में नहीं होती। इन दोनों अवस्थाओं को शंकर ने विवर्तवाद माना है।

इसमें कार्य उत्पत्ति के पूर्व अपने उपादान कारण में मौजूद रहता है किन्तु अन्तरभूत होकर जैसे दही दूध से अलग कुछ नहीं है, वह दूध में पहले से ही विद्यमान होता है, उसी अन्तरभूत या निहित की अभिव्यक्ति दही के रूप में दूध के स्थान होती है। यह कोई आगन्तुक विशेषता नहीं है या नई बात नहीं होती। यही 'सत्य' है क्योंकि सत्य त्रिकाल सत्य होता है। कभी इसकी सत्यता को बाधित (रोका, बदला) नहीं किया जा सकता। अगर रस्सी है तो अंधकार में भ्रमवश हम भले उसे सर्प मानले पर वहाँ प्रकाश के आते ही सूर्प के भ्रम का निवारण होकर रस्सी की सत्यता स्पष्ट हो जाती है। यही सत्कार्यवाद है। इसमें उत्पत्ति का अर्थ है जो उपस्थित अव्यक्त था उसका व्यक्त हो जाना। यहाँ अभाव पदार्थ के उत्पन्न होने की बात हम सोच भी नहीं सकते क्योंकि जो असत है, नहीं है वह भला कैसे होगा। अत: यह मात्र रूपान्तरण है। किसी नये द्रव्य की उत्पत्ति नहीं है। ऐसा न होने पर बालू से भी तेल निकाला जा सकता है। इसकी पुष्टि के लिए शंकर का तर्क है कि–

१. उपादान कारण और कार्य में एकता रहती है अन्तर नहीं।
२. यह मानना होगा कि कारण में कार्य पूर्व से ही निहित होता है।
३. कारण और कार्य एक हैं भले ही अव्यक्त हैं।
४. किसी कारण से कोई नया द्रव्य उत्पन्न नहीं किया जा सकता। अगर ऐसा होता तो असंभव शब्द ही नहीं रहता।
५. कारण में कार्य की शक्ति छिपी होने के कारण कार्य प्रस्फुटित हो जाता है जिसे हम उत्पन्न होना मानते हैं।

यहाँ हम देखते हैं कि यथार्थ सत्ता का रूपान्तरण अयथार्थ विश्व में होता है। यह भला कैसे सम्भव है कि यथार्थ अयथार्थ में अपने को बदल सकता है। इसका उत्तर शंकर देते हैं कि ब्रह्म का रूपान्तरण संसार में नहीं होता, उसका आभास होता है। यही आभास होना ही विवर्त है। यही ब्रह्म या सत्ता है। वही सत्ता आधार है। जो आभास मात्र से भिन्न-भिन्न दीखता है। यह सत्ता सत्य है जो त्रिकाल बाधित और प्रत्येक अवस्थाओं में उपादान कारण रहता है। वही निराकार, निरावयव, निर्विशेष शुद्ध सत्ता नाना रूपों में संसार में दीखती है। यह सत्ता स्वयं प्रकाश है। यही सत्ता अपने प्रकाश द्वारा सत और असत में अन्तर करती है। जो असत होता है उसे प्रकट होने से यह रोकती है। दूसरे यह भी पाते हैं जिस रूप में सत्ता का अस्तित्व होता है वहाँ वैसी बुद्धि के रूप में वह प्रकाशित होती है जैसे मिट्टी में मिट्टी की बुद्धि के रूप में तथा घड़े में घड़े के बुद्धि के रूप में। किन्तु जो सत् है उसकी सत्ता बाधित होती। पर जब सर्प का अध्यास (भ्रम) रस्सी में करते हैं तो वहाँ रस्सी का ज्ञान होने पर सर्प की सत्ता बाधित होती है। क्या यह सत्ता का बाध नहीं है ? इसके विषय में शंकर मानते हैं कि यहां सत्ता का बाध नहीं होता बल्कि आभासित सर्पकार सत्ता का बाध होता है। सत्ता किसी न किसी रूप में रहती है क्योंकि

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

वह सत् है, चैतन्य है, जिससे उसके शुद्ध रूप का बाध कहीं नहीं होता। इसीसे सत्ता को शंकर ने पारमार्थिक सत्ता कहा है। अतः अनावृत्ति सत् का लक्षण है और व्यभिचार (अशुद्धता) असत् का। किन्तु वहाँ कोई वस्तु न शुद्ध सत् है न शुद्ध असत् है जैसे बंध्यापुत्र। वह सत् या असत् दोनों में से कोई एक न कहे जाने की स्थिति में उसे अनिवर्चनीय कहा जाता है। पर वहाँ भी सब् किसी न किसी रूप में विद्यमान रहता है।

भ्रम

संसार को शंकर ने भ्रम माना है। इसके लिए वह कहते हैं कि सत्यता ब्रह्म है। पर जब ब्रह्म को छिपाया जाता है तो उसके स्थान पर संसार को आरोपित किया जाता है। यह बात वैसी ही हुई जैसे शुक्ति के छिप जाने पर रजत का बोध होना। यहाँ शुक्ति (सीप) सफेद है और रजत भी। पर बुद्धि शुक्ति को वहाँ न मानकर भ्रमवश उसे रजत मान लेती है। इसमें दो क्रियाएँ साथ-साथ होती है एक शुक्ति या रज्जू पर आवरण का पड़ना और उसके स्थान पर रजत या सर्प का विक्षेप होना। यहाँ आवरण और विक्षेप दोनों क्रियाएँ साथ होने से भ्रम पैदा हो जाता है। आवरण में वस्तु का यथार्थ रूप आवरित या ढक जाता है और विक्षेप में उसका स्थान दूसरा ले लेता है। इस प्रकार सत् के स्थान पर असत् के सत् मान लेते हैं। यही भ्रम है। संसार के साथ भी यही बात है। ब्रह्म के आवरित होने पर उसके स्थान संसार की स्थिति की प्रतीति होने लगती है। वास्तव में वहाँ संसार की स्थिति तो है नहीं पर उसका आरोप होता है। यही आरोपण ही 'अध्यास' कहा जाता है। यही भ्रम का आधार होता है। अध्यास को शंकर ने पूर्ववर्ती अनुभव का परवर्ती आधार में रूपान्तरण होना बताया है। इसका कारण है अज्ञान।

यहाँ प्रतीति के पीछे कारण है अनादि प्रवाह का सिद्धान्त मान लेना कि ऐसा बहुत पहले समय से होता आ रहा है जिसकी छाया स्मृति में आज भी अवशिष्ट है। इसमें जो बातें बनी रहती हैं वे हैं विषय का रूपान्तरण अर्थात् यथार्थ का सत् रूप में प्रकट होना। भ्रम प्रतयक्ष में होता है असलिए उस न सत् कहा जा सकता है न असत् क्योंकि वस्तु तो सामने होती है उसके ज्ञान में भ्रम होता है। इस प्रकार भ्रम सत् और असत् के बीच की स्थिति होती है जिसको न न पूर्ण सत मान सकते हैं न उसे पूर्ण असत् ही कह सकते हैं। इसीसे भ्रम में शंकर ने 'अनिर्वचनीय ख्यातिवाद' को प्रतिस्थापित किया है। शंकर के अनिर्वचनीय ख्यातिवाद के विषय में दो शंकाएँ उठाई गई है कि व्यवहार में या तो कोई वस्तु सत् हो सकती या कोई असत्। यह बीच की स्थिति क्या है ? अतः अनिर्वचनीय का इसके लिए प्रयोग भ्रामक है। दूसरी शंका यह की गई है कि शंकर ने भ्रम को अनिर्वचनीय कहा है पर वहीं उसकी व्याख्या भी की है। यह एक ही साथ दो विरोधी बीते कैसे सम्भव है।

भ्रम दो प्रकार का बताया गया है : एक व्यक्तिगत तथा दूसरा सर्वमान्य। रस्सी और सांप का भ्रम व्यक्तिगत होता है। पर जगत सम्बन्धी भ्रम सभी को आकृष्ट करता है। इसलिए इसको सर्वमान्य भ्रम कहा जाता है।

इस प्रकार संक्षेप में कह सकते हैं कि अद्वैतवादी सब मिलाकर मानते हैं कि अज्ञान के कारण वास्तविक विषय को स्वरूप आवरित होता है तथा वहाँ दूसरे विषय का उस पर आरोपण या रूपान्तरण होता है। यही स्थिति भ्रम है।

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

बंधन और मोक्ष

अविद्या से घिरा हुआ संसारी जीवन बंधन है। वंधन का अर्थ ही है एक घेरे में बंध जाना। कर्म को बंधन कहते हैं। इसी कर्म के घेरे में जीव घूमता रहता है। यही पुनर्जन्म का आधार है। कर्म के तीन भेद बताए गए हैं- **१. संचित कर्म**- पूर्व जन्म में किए गए कर्मों का फल इस जन्म में भी बना रहता है, **२. प्रारब्द्ध कर्म**- पूर्व जन्मों के फलाफल का भोग पहले से हुआ अभी भी शेष इस जन्म में करता है तथा **३. संचीयमान कर्म**- वह कर्मफल जो इस जन्म के कर्मों से इकट्ठा हो रहा है। कर्मफल तो भोगना पड़ता ही है। इसके बिना मनुष्य मुक्त नहीं हो सकता- **'अवश्यमेव भोक्तव्यं यथाकर्मशुभाशुभम्'**। भोग लेने के बाद वे समाप्त होते हैं चाहे उसे कितने भी जन्मों में भोगना पड़े- **'विना भोगेन क्षीयन्ते जन्मकोटिश्तैरऽपि'**। तब तक फिर दूसरे कर्म आ जुटते हैं। इस प्रकार एक के बाद दूसरा बंधन कसता जाता है। इनमें संचित कर्म और संचीयमानकर्म तत्व ज्ञान के कारण निष्प्रभावी हो जाते है। तत्वज्ञानी का संचित कर्म समाप्त हो जाता है और संचीयमान कर्म रूक जाता है। तब प्रारब्द्ध कर्म के भोग लेने पर जीव जीवन मुक्त हो जाता है। जीवन मुक्त की अवस्था में मनुष्य कर्मफल से अलग होकर उसी प्रकार जीवित रहता है जैसे कुम्हार के चाक से दण्ड के हटने के बाद भी चाक कुछ समय तक अपने ही घूमता हुआ रुक जाता है। जब जीवन की गति रुक जाती है तो ऐसे तत्वज्ञानी को स्थूल और सूक्ष्म शरीर से मुक्ति मिल जाती है।

इस स्थिति में वह पुनर्जन्म के बंधन से छूटकर ब्रह्म में समाहित हो जाता है जिसका वह अंश था और अविद्या से आवरित होने के कारण वंधनों में जकड़ा था। इसकी उपमा मुण्डकोपनिषद में नदियों से दी गई है जो समुद्र में मिलते ही जैसे नाम, रूप से रहित हो जाती है उसी प्रकार ब्रह्म में जीव के मिलते ही उसका ब्रह्म से भेद समाप्त हो जाता है- **'विद्वान्नामरुपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यं'**। यह उसका भटकाव अज्ञानता के कारण हुआ था जो आत्मज्ञान की प्राप्ति से ही सही स्थान पर पहुँच जाता है- **'अविद्या कल्पित भेदनिवृत्तिमात्रमेव आत्मज्ञानस्य फलम्'**। इस प्रकार मोक्ष को **'आत्मज्ञानस्य फलम्'** कहा गया है। इसी से ज्ञान कार्य को ही मोक्ष कहते है- **'मोक्षज्ञान कार्यमित्युच्यते'**।

अज्ञानता या अविद्या के वशीभूत जीव विवेक हींन, सत ज्ञान से रहित तथा भोगी होकर क्षणिक सुख को ही सुख मान बैठता है। इसी के कुफल में जकड़ा वह आवागमन के बंधन में बंधा रहता है। इससे छुटकारा पाना परमानन्द की प्राप्ति के लिए आवश्यक है। यही छुटकारा ही मोक्ष है। ब्रह्म ही एक परमानन्द है उसी का प्राप्त होना ही मोक्ष है। इसी से शंकर ने कहा है- **'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति'** जो मिथ्या ज्ञान की निवृत्ति होने से होती है- **'मिथ्याज्ञान निवृत्ति मात्रं मोक्षः'**।

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि शंकर का मोक्ष से अभिप्राय है आत्मा का अपने स्वरूप में अवस्थित होना **'स्वात्मन्यवस्थां मोक्षः'**। इसके पूर्व स्वतंत्र आत्मा शरीर से अपना सम्बन्ध जोड़ लेने के कारण उसके सुख-दुःख को अपना मानने लगती है। तभी हम, हमारा, मेरा का भाव आता है-यह मेरा है, यह मैं हूँ। जबकि वह मुक्त और चेतन है। किन्तु जैसे ही ज्ञान का उदय होता है वह अपना अस्तित्व समझकर अपने को ब्रह्म मानने लगती है- **'आत्मनि एवाविद्यानिवृत्तिः'**।

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

यहाँ वह नित्य, कूटस्थ, निरवयत, स्वयं प्रकाश, शून्य आदि रूपों में मापन लगती है। अतः मोक्ष सुख की नहीं ब्रह्म की प्राप्ति है।

इस स्थिति की प्राप्ति के दो साधन बताए गए हैं– ज्ञान और कर्म। पर शंकर ने कर्म को नहीं ज्ञान को मोक्ष का साधन माना है। कर्म अच्छा हो चाहे बुरा दोनों बंधन में डालता है। पर ज्ञान बंधन को काटता है। ज्ञान के लिए साधन चतुष्टय सुझाया गया है-

(i) नित्यानित्य वस्तु विवेक– साधक विवेक द्वारा आत्म और अनात्म के भेद को करे।

(ii) इहमुत्रार्थभोग विरागः– यहाँ (इहं) और पारलौकिक (उत्रार्थ) भोगों से वैराग प्राप्त करना।

(iii) शमदमादिसाधन् सम्पत्– साधक शम (शमन), दम (इन्द्रिय दमन) श्रद्धा (शास्त्रों में श्रद्धा), समाधान (चित्त को ज्ञान प्राप्ति में लगाना), उपरति (विक्षेपकारी कार्यों के विरत रहना) तथा तितिक्षा (शीतोष्ण सहन करने की शक्ति) को धारण करना।

(iv) मुमुक्षकत्व– मोक्ष प्राप्ति के लिए संकल्पित होना चाहिए। इससे जो स्थिति प्राप्त होती है वही ब्रह्म के साथ जीव का एकीकरण है। तब जीव अपने को ब्रह्म से अभिन्न मान लेता है। इसी से अपने को ब्रह्म मानकर ब्रह्म से एकाकार कर लेता है। इसकी पुष्टि श्रुति वाक्यों से होती है। ये वाक्य 'महावाक्य' कहे जाते हैं जैसे- **'अयमात्मा ब्रह्म'** (वृह. उप., २/५/१९), **'अहं ब्रह्मास्मि'** (वृह. उप. १/४/१०) तथा **'तत्त्वमसि'** (छन्दो उप. ६/८/७)। इन महावाक्यों का अर्थ लक्षणा से लेने से ये स्वयं सिद्ध होते हैं। 'तत्त्वमसि' का अभिप्राय है 'तत'=अल्पज्ञ चेतन जीव तथा 'त्वम'=सर्वज्ञ चेतन। इस प्रकार चेतन जीव और चेतन ब्रह्म एक ही है। इनके विरुद्ध धर्मों को छोड़ देने पर दोनों अभेद हैं। तभी शंकर का मत है **'जीवो ब्रह्मैवनापरः'** अर्थात् जीव ब्रह्म से अलग नहीं है। ये दोनों परमार्थिक दृष्टि में एक हैं। इसी से शंकर मोक्ष को जीव की नई उपलब्धि नहीं मानते इसे **'प्राप्तस्य प्राप्ति'** कहते हैं। इसका अभिप्राय है जो प्राप्त था और किसी कारण से छूट गया था उसी को पुनः प्राप्त करना पहले ब्रह्म और जीव एक थे। अविद्या के कारण ये अलग हुए थे जो फिर ज्ञान के कारण एक हो गए। इस एकाकार में परमानन्द की प्राप्ति होती है सुख की नहीं। इसका उदाहरण दिया गया है कि जैसे किसी युवती के गले में पड़ी मणि माला के साड़ी छिप जाने से वह उसको बेचैनी से खोजती है पर किसी के बताने पर कि वह उसके गले में ही है, उसे पाकर अतिशय आनन्द की प्राप्ति करती है, वही स्थिति जीव और ब्रह्म के मिलन की है जो अज्ञान से छिपा था और ज्ञान से पुनः प्राप्त हो गया।

शंकर की आलोचना– शंकर की प्रमुख आलोचना है कि यह **'प्रच्छन्न बौद्ध हैं'** इसका कारण ये है कि बौद्ध धर्म में निर्वाण और बंधन तथा मोक्ष की धारणा शंकर से कुछ मिलती-जुलती है। इसी से ऐसा माना जाता है कि उन्होंने लुक-छिपकर हिन्दू दर्शन में बौद्ध दर्शन की ही वकालत की है। पर शंकर का मोक्ष बौद्ध धर्म के निर्वाण से पूर्णतया अलग है। शंकर ने मोक्ष को केवल निषेधात्मक नहीं माना है बल्कि भावनात्मक भी माना है। यदि अद्वैत में बौद्ध मत का किंचित भी अंश होता तो बौद्ध दार्शनिक शान्तिरक्षित और कमलशील इसका उल्लेख

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

किए होते। बौद्धों का विज्ञान अनित्य और अनेक हैं पर शंकर मत में विज्ञान नित्य और एक है। शंकर संसार को स्वप्नाभास नहीं मानते पर बौद्ध मत मानता है। इसलिए बौद्ध मत और शांकर मत में कोई एकता नहीं है।

(ब)

रामानुज का विशिष्टाद्वैतवाद

जीवन परिचय– रामानुज मद्रास के एक गाँव के निवासी थे। बाल्यकाल में ही इनके पिता का स्वर्गवास हो गया। अवस्था प्राप्त होने पर उन्होंने प्रसिद्ध वेदान्ती यामुनाचार्य के शिष्य यादव प्रकाश को अपना गुरु बनाया। पढ़ने के बाद यामुनाचार्य से मतभेद हुआ। पर रामानुज के ज्ञान से प्रभावित होकर यामुनाचार्य ने इनको भक्ति प्रचार का कार्य सौंपा। कुछ ही दिनों बाद यामुनाचार्य का स्वर्गवास हो गया। पर उनकी इच्छा थी कि वे ब्रह्म-सूत्र पर भाष्य लिखें। उन्होंने उनकी इच्छा पूर्ण की और अन्य कई ग्रन्थों– गीता आदि पर भी भाष्य लिखा और स्वतंत्र ग्रन्थों का भी प्रणयन किया।

विशिष्ट ब्रह्म

इन्होंने जिस मत को प्रसारित किया वह विशिष्टाद्वैत मत कहा जाता है। इसका कारण है कि वह अद्वैतों की तरह एक मात्र ब्रह्म की सत्ता को मानते तो थे पर उस ब्रह्म के तीन अंगों की मान्यता को बल देते थे- ईश्वर, चित (चेतन) और अचित (जड़)। चूँकि अद्वैत को एक विशिष्ट रूप सगुण अद्वैत के रूप में इन्होंने प्रतिस्थापित किया इसीसे इनके अद्वैतवाद को विशिष्टाद्वैत कहा जाता है। इनका ब्रह्म एक होकर भी ईश्वर के अतिरिक्त जड़ प्रकृति और चेतन जीव को साथ जुड़ा मानने से वह अद्वैतवादियों के निर्गुण और निर्विशेष ब्रह्म से भिन्न हो जाता है। इसी विशिष्टता के कारण इनका अद्वैतवाद इस नये नाम से जाना जाता है। यद्यपि अद्वैत में ब्रह्म के अतिरिक्त दूसरा नहीं होता फिर यहाँ दो और कैसे इन्होंने स्वीकार किया? इसका उत्तर उन्होंने दिया है कि ईश्वर एक है पर उसके अधीन दो चेतन और अचेतन तत्वों का अस्तित्व विशिष्ट होता है। ये दोनों ईश्वर की तरह स्वतंत्र सत्ताधारी नहीं हैं। अतः इनका ईश्वर चित और अचित से युक्त होने के कारण चिदाचिद विशिष्ट कहलाने से इनका मत विशिष्टाद्वैत कहा जाता है। इस मत में अवयवी ईश्वर के ये दोनों अवयव माने जाते हैं। इसको सिद्ध करने के लिए उन्होंने कहा कि सृष्टि के लिए ये दोनों ईश्वर की सहायता करते हैं। यद्यपि यह सृष्टिकर्ता हैं पर इसमें इन दोनों की आवश्यकता होती है। अतः ईश्वर इसमें विशिष्ट होता है और ये दोनों उसके विशेषण होते हैं।

ब्रह्म

रामानुज ने ब्रह्म की दो स्थितियाँ माना है। एक ब्रह्म की सूक्ष्म अव्यक्त, निर्विकार, अविकृत स्थिति। इसे कारणावस्था कहा है। पर दूसरे जब वह ईश्वर के रूप में शरीरधारी होकर संसार के स्रष्टा के रूप में होता है, यह उसकी व्यक्तावस्था है। यहाँ वह क्रियमाण रहता है। अतः इसे उसकी कार्यावस्था कहा है। इस स्थिति में ईश्वर जीव और जड़ संसार की रचना करने से तीन अलग-अलग स्थितियों में व्यक्त होता है। यहाँ ईश्वर रूप में वह जड़ जगत की रचना करता है

CC0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

जिसमें कर्मानुसार ईश्वर द्वारा प्रदत्त सुख-दुःख का भोक्ता होता है। ये दो रूप सूक्ष्म और क्रियमाण को ही उपनिषद् क्रमशः निर्गुण और सगुण रूप कहता है।

ईश्वर ब्रह्म का सगुण रूप है जबकि ब्रह्म स्वयं निर्गुण है। जीव भी सगुण है। पर ईश्वर में जीव के गुणों का अभाव रहता है इससे ईश्वर और जीव में भेद हो जाता है। इन दोनों से ब्रह्म की सत्ता को अलग करने के लिए उसे निर्गुण कहा गया है। जो सगुण है वही शब्दबद्ध वर्णनीय है। श्रुति ब्रह्म का वर्णन करते हैं। अतः ब्रह्म सगुण है। पर उसे निर्गुण इसलिए कहते है कि वह मानवीय गुणों से रहित है, न कि वह गुणों से शून्य है।

ब्रह्म ही सगुण रूप में ईश्वर है। ईश्वर ही भगवान कहलाता है, जिसे वैष्णव षडगुणों का धाम मानते हैं- ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान और गुणों को जोड़कर भगवान की पहचान में गुणाष्टक की बात करते हैं। साथ ही सृष्टिकर्ता, पालक और संहारक रूप भी उन्हीं का है। वही पाप-पुण्य फलदाता, करुणानिधान, दुःखहर्ता, दीनहितकारी, भक्तवत्सल आदि भी हैं। वही सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापक और सर्वज्ञ हैं। इनके दो भेद हैं : चित्त और अचित, जो उनके शरीर हैं और ईश्वर इनकी आत्मा। इसीसे ईश्वर अपरिवर्तनशील है जबकि चित्त (जीव) और अचित (जड़ जगत) परिवर्तनशील है। यही मोक्षदाता है। इस प्रकार ब्रह्म और ईश्वर की एकता रामानुज ने सिद्ध किया है।

भक्तों के हितार्थ ईश्वर अपने को निम्न पाँच रूपों में व्यक्त करते हैं ऐसी रामानुज की मान्यता है-

१. **नारायण वासुदेव**- इसी रूप में देवता उन्हें बैकुण्ठ में देखते हैं।
२. **व्यूह**- ईश्वर स्रष्टा पालक और संहारक रूप में लीला हेतु स्वरूप धारण करते हैं।
३. **अवतार**- ईश्वर का यह रूप विभव कहलाता है, जिसमें वह पशु या मनुष्य रूप में पृथ्वी पर अवतरित होते हैं।
४. **अन्तर्यामी**- प्राणियों के अन्दर प्रवेश करके उनमें कर्म प्रेरक, फलदाता और नियन्ता रूप में रहते हैं।
५. **अर्चावतार**- मूर्तियों में भक्तों का पूजा ग्रहण करने हेतु विराजमान होते हैं।

शंकर और रामानुज के ब्रह्म में अन्तर

१. शंकर के ब्रह्म निर्गुण हैं, पर रामानुज के सगुण।
२. शंकर ब्रह्म में भेद नहीं मानते पर रामानुज ईश्वर में स्वगत भेद मानते हैं क्योंकि चेतन और अचेतन भेद ईश्वर के ही हैं।
३. शंकर में ब्रह्म और आत्मा अभेद हैं पर रामानुज में ईश्वर और आत्मा में अंशी अंश का सर्वज्ञ अल्पज्ञ आदि का भेद हो।
४. शंकर के ब्रह्म अमूर्त हैं पर रामानुज के मूर्त देवता हैं।
५. शंकर का ब्रह्म मायामोहित होकर ही सृष्टि करता है पर रामानुज का ब्रह्म सृष्टि स्वयं करता है।
६. शंकर का ब्रह्म केवल ज्ञान से जाना जा सकता है पर रामानुज का ब्रह्म ईश्वर रूप में अर्चारूप से उपास्यदेव है। यह अवतार लेकर कल्याण करता है।

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

७. शंकर का ब्रह्म व्यक्तित्व रहित है किन्तु रामानुज का व्यक्तित्व युक्त है।
८. शंकर में ब्रह्म सत्य है जबकि ईश्वर माया द्वारा आवृत होता है किन्तु रामानुज में ईश्वर और ब्रह्म एक ही हैं।
९. शंकर का ब्रह्म आदर्श है पर रामानुज का ब्रह्म यथार्थ है।
१०. शंकर में ब्रह्म का ज्ञान पाने वाला ब्रह्म हो जाता है पर रामानुज में वह ब्रह्म सदृश्य होता है, ब्रह्म नहीं होता।

जीवात्मा

ब्रह्म के तीन अंगों-ईश्वर, चित और अचित में से चित तत्व ही जीवात्मा है। चित का अर्थ है चेतन। अत: जीवात्मा ज्ञाता होने के कारण स्वयं प्रकाशित होने से अचित या जड़ से भिन्न है। ज्ञान ही इसका धर्म है। चैतन्य और आत्मा में गुण-गुणी का सम्बन्ध है। यह मन आदि इन्द्रियों से भिन्न है। संसार के विषय में ज्ञान रखने के कारण यह ज्ञाता है, भिन्न-भिन्न क्रियाओं में भाग लेने से कर्ता है तथा उसके फलाफल को भोगने से भोक्ता है। पर इसका स्वाभाविक गुण है ज्ञाता होना **'ज्ञातृत्वमेव जीवात्म स्वरूपम्'**। शरीर से जुड़ जाने के कारण इसमें कर्तापन या भोक्तापन के गुण आ जाते हैं। इसी से शरीर तथा संसार से जब यह छूट जाता है तो ज्ञान स्वरूप में ही स्थित हो जाता है। इसका वाच्यार्थ है 'मैं' या 'अहं'। इसी के द्वारा वह अपने को व्यक्त करता है जैसे मैंने अमुक कार्य किया। इसके कर्तृत्व और भोक्तृत्व का साधन है शरीर, इन्द्रियाँ और मन। इससे आत्मा का अस्तित्व शरीर, मन तथा इन्द्रियों से भिन्न है। यह स्वतंत्र और आनन्दमय है। पर पूर्ण स्वतंत्र नहीं है। ईश्वर के द्वारा यह नियमित होता है तथा कर्मफल इसे भोगना पड़ता है। इसी गुण को 'शेषत्व' कहा जाता है। इसका निवास स्थान हृदय है। अत: इसका स्वरूप अणु बताया गया है। इसका शरीरों में निवास होने से यह अनेक है। अलग-अलग शरीर में अलग-अलग जीवात्माएँ होने के कारण इसमें भेद होता है। यह आनन्दरूप है। पर इसका कोई आकार नहीं है। यह निरवयव है। इन सभी गुणों को आचार्य बलदेव उपाध्याय ने एक वाक्य में कहा है-'यह देह, इन्द्रिय, मन, प्राण और बुद्धि से विलक्षण, अनन्त, आनन्दरूप, नित्य, अणु, अव्यक्त, अचिन्त्य, निरवयव, निर्विकार तथा ज्ञानाश्रय है।'

जीव के तीन प्रकार होते हैं- **१. बद्ध**- सांसारिक जीव जो शरीर में निवास करता है। **२. मुक्त**- जो मोक्ष के लिए प्रयत्नशील रहता है तथा **३. नित्य**- जो संसार में कभी नहीं आते न उनका ज्ञान नष्ट होता है। वे भगवान के साथ रहने के कारण उनके 'परिकर' कहे जाते हैं जैसे गरुड़ आदि।

ईश्वर और जीव में भिन्नता है। ईश्वर स्वतंत्र है और जीव उसका आश्रित, ईश्वर पूर्ण है जीव अपूर्ण है, ईश्वर शासक है जीव शासित है, ईश्वर स्वतंत्र है जीव परतंत्र है, ईश्वर आत्मा है और जीव शरीर है। फिर भी जीव और ईश्वर में कुछ बिन्दुओं में समता है जैसे दोनों अज स्वयं प्रकाश, नित्य और करता हैं।

ईश्वर और जीव के बीच का सम्बन्ध भेद और अभेद सहित है। दोनों चेतन हैं पर दोनों की चेतना समान नहीं है। जीव अल्पज्ञ है और ईश्वर सर्वज्ञ है। जीव का ज्ञान माया से सीमित

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

है यद्यपि दोनों ज्ञानी हैं। जीवात्मा परमात्मा का शरीर है और परमात्मा शरीरी है। इसीसे रामानुज ने ईश्वर और परमात्मा के बीच भेद, अभेद और भेदाभेद तीनों सम्बन्धों का निषेध किया है। उनका मत है कि भेद और अभेद साथ रहने वाले हैं। इसलिए पृथक होते हुए भी ये अपृथक हैं, जैसे जीव और ईश्वर पृथक होकर भी साथ ही रहते हैं।

जड़तत्व-जगत

ब्रह्म का तीसरा रूप अचित या अचेतन अथवा जड़ बताया गया है। यह चेतनहीन तत्व प्रकृति है। यह विकारयुक्त (उत्पादन शक्ति वाला) है। इसलिए यह परिणामी है। पर इसका परिणाम चेतन ईश्वर की इच्छा पर निर्भर है। यह स्वयं न तो प्रकाशित है न दूसरे को प्रकाशित करता है। इसी से संसार की उत्पत्ति होती है। पर ईश्वर की इच्छा से इस त्रिगुणात्मक संसार में यह तीन प्रकार का है- **१. शुद्ध तत्व**- इसमें केवल सत्व गुण रहने से यह शुद्ध सत्ताधारी होता है। यह नित्य ज्ञान और आनन्दमय है। **२. मिश्रित तत्व**- इसमें तीनों गुण साथ मिले होते हैं। इससे यह माया और अविद्या भी कहलाता है। इसी से सृष्टि होती है। **३. सतशून्य**- इसे काल भी कहते हैं। यह त्रिगुणों से रहित तथा प्राकृतिक वस्तुओं के परिणाम का कारण होता है।

अचित तत्व प्रकृति है, जिसका परिणाम संसार के सभी पदार्थ हैं। यह परिणाम सृष्टि तभी होती है जब माया की शक्ति से ईश्वर सृष्टि करता है। इससे रामानुज के दर्शन में अचित तत्व से उत्पन्न सृष्टि ईश्वर की लीला है।

जगत कार्य-कारण सम्बन्ध पर आधारित है। कार्य-कारण का रूपान्तरण होने से जगत भी ब्रह्म का रूपान्तरण है- **'कारणभूत द्रव्यस्यावस्थान्तरापतिरेवहि कार्यता'**। इसी कार्यावस्था में चित और अचित दो रूप बनाते हैं, जो प्रलय काल में ब्रह्म में ही बीज रूप में समाहित हो जाते हैं। चूँकि ये बीजावस्था (कारण रूप) में ब्रह्म में रहते हैं और वहीं से कार्यावस्था में प्रकट होते हैं। अत: सृष्टि का स्थूल और सूक्ष्म रूप ब्रह्म से अलग नहीं है।

यहाँ हम देखते हैं कि कारण (ब्रह्म) और कार्य (ब्रह्मकार्य) दोनों सत्य है तो परिणाम (सृष्टि) भी सत्य ही होगी। इससे संसार सत्य है। श्वेताश्वर उपनिषद में ईश्वर को मायावी और जड़ प्रकृति को उनकी माया कहा गया है- **'मायां तु प्रकृति विद्यान्मायिन तु महेश्वरं'**। अत: जगत ब्रह्म का परिणाम है। तभी यह उत्पत्ति के पूर्व ब्रह्म में बीज रूप में रहता है और प्रलय के बाद फिर उसी में बीजरूप में समाहित होता है। इससे जगत की सत्यता प्रमाणित होती है जैसे सोना सत्य है तो सोने का गहना भी सत्य होगा। पर गहने में लगी वस्तुएँ भी सत्य हैं ऐसा नहीं कहा जा सकता। उसी प्रकार संसार की वस्तुएँ भी सत्य और नित्य हैं नहीं कहा जा सकता।

सूक्ष्म प्रकृति बीज रूप में अविभक्त जो प्रलय काल में ईश्वर में रहती है। उसी से उनको कर्मानुसार तीन तत्वों में विभाजित कर सृष्टि रचना काल में ईश्वर संसार की रचना करता है। इन तीनों तत्वों-अग्नि, जल और वायु के सम्मिलन का ही परिणाम यह स्थूल भौतिक संसार है। वही इसका संचालन भी करता है। यहाँ रामानुज प्रकृति को शाश्वत मानते हैं किन्तु उसे स्वतंत्र बताते हैं।

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

रामानुज ने संसार का उपादान कारण ईश्वर को माना है क्योंकि ईश्वर इसको अपने अंश से उत्पन्न करता है और उसी को निमित्त कारण भी बताया है क्योंकि इसे उसने लीला निमित्त बनाया है।

संसार की सत्यता को प्रमाणित करने के लिए रामानुज का तर्क है कि-१. श्रुति सांसारिक ग्रन्थ है। श्रुति सत्य तभी है जब संसार सत्य है। २. जीव विशेष है और ब्रह्म विशेष्य। जिस प्रकार विशेषण विशेष्य एक में नहीं मिलते वैसे संसार का विनाश नहीं होता। ३. कारणावस्था ही प्रलयावस्था है। इसमें नाम और रूप नहीं रहता। जब जगत सत्य है तभी उसका विनाश होता है।

माया

शंकर के अद्वैतवाद में माया से आवृत ब्रह्म से सृष्टि की उत्पत्ति बताई गई है। इसीलिए 'ब्रह्मसत्य जगन्मिथ्या' कहा गया है। ब्रह्म आवरण और विक्षेप से सृष्टिकर्ता है। इससे माया की सत्ता व्यवहारिक बताई गई है। अतः इसे पूर्ण सत् और असत् से परे होने के कारण अनिर्वचनीय कहा गया है। पर रामानुज इसे स्वीकार नहीं करते। उन्होंने ईश्वर की शक्ति को माया माना है जिसके सहारे ईश्वर सृष्टिकर्ता है। चूँकि ईश्वर सत्य है इसलिए उसकी रचना भी सत्य है। अतः माया या अविद्या के विरोध में उन्होंने निम्न सात तर्क दिए हैं–

१. **माया का आश्रय स्थान नहीं है**– माया द्वारा सृष्टि की उत्पत्ति अद्वैतवादी मानते हैं। पर जीव को इसका आश्रय मानने पर कार्य पहले और कारण को बाद में कैसे रख सकते हैं। यदि ब्रह्म को इसका आश्रय माने तो ब्रह्म चेतन और माया अचेतन है। फिर चेतन अचेतन का आश्रय कैसे हो सकता है। जिसका आश्रय ही कोई नहीं है उसका आधार कैसे माना जाय।

२. **माया ब्रह्म का आवरण नहीं है**– शंकर ने मायामोहित या माया से आवतरित ब्रह्म द्वारा सृष्टि की बात की है। पर ब्रह्म ज्ञानपुंज, स्वयं प्रकाश है। फिर उसको माया जो अज्ञान है वह कैसे अच्छादित कर सकती है। ज्ञान पर अज्ञान का आवरण कैसे पड़ सकता है।

३. **माया का स्वरूप संगत नहीं है**– अद्वैतवादी मानते हैं कि केवल ब्रह्म सत्य है। इसलिए माया सत् नहीं हो सकती। यह असत् भी नहीं हो सकती क्योंकि अद्वैतवाद असत् को बंध्यापुत्र या शशश्रृंग के समान मानता है। यह इस प्रकार का माना नहीं जा सकता क्योंकि यह ब्रह्म को आवृत करती है। यदि भावात्मक माना जाय तो इसका अन्त नहीं होगा। यदि निषेधात्मक माना जाय तो ब्रह्म से जगत को कैसे जोड़ सकते हैं।

४. **अनिर्वचनीय कोई कोटि नहीं है**– शंकर ने माया को न सत् कहा न असत्। इसे अनिर्वचनीय कहा है। यह कोई कोटि नहीं होती।

५. **प्रमाण रहित है**– अविद्या को प्रत्यक्ष, शब्द, भाव, अनुमान से जानना असम्भव है क्योंकि इसमें ज्ञान का अभाव होता है।

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

६. **ज्ञान से इसका अन्त नहीं हो सकता**- ज्ञान के लिए भेद आवश्यक है। पर अद्वैत ब्रह्म निर्गुण, निर्विशेष, अभेद है। अभेद का ज्ञान मिथ्या होने से उसके द्वारा अविद्या का अन्त कैसे किया जा सकता है?

७. **ईश्वर की भक्ति से अविद्या का अन्त हो सकता है**-- शंकर अविद्या को भाव रूप मानते हैं, अतः उनके अनुसार इसका नाश नहीं होता। पर रामानुज मानते हैं कि आत्मा के ज्ञान तथा ईश्वर की भक्ति से अविद्या का नाश होता है।

बंधन और मोक्ष

आत्मा का शरीर से संयोग होने से कर्म प्रारम्भ होता है। एक छोटा दीपक जैसे कमरे को प्रकाशित करता है उसी प्रकार चेतन अणु रूप आत्मा शरीर के संसर्ग में आते ही इन्द्रियों को चेतन करके कर्म के लिए प्रेरित करती है। कर्म का कारण अविद्या है क्योंकि जीव आत्मा के शुद्ध चेतन रूप को भूलकर शरीर को ही चेतन मानने लगता है। इससे ममत्व तथा अहम् बुद्धि का भाव जीव में आ जाता है। वह अपने को कर्त्ता और भोक्ता मानने लगता है। इसका जो फलाफल होता है उसे भोगने के लिए उसे जन्म-मरण के चक्र में बंधना पड़ता है। अब वह पुनर्जन्म और मृत्यु इनके अनवरत चक्र में घूमता रहता है। यहाँ वह दुःख, पीड़ा, सुख आदि को भोगता रहता है। यही जीव का बंधन है। वह इसी को अच्छा मानता है। इससे छुटकारा पाना ही मोक्ष है।

मोक्ष को रामानुज ने परिभाषित किया है कि जीव से कर्त्तापन और भोक्तापन के भाव के समाप्त होते ही जन्म-मरण के बंधन का टूटना ही मोक्ष है- **'अथ कर्मणा सम्बन्धस्य परं ज्योतिरूप संपद्यं बन्धनिधत्तिरूपा मुक्तिः'**। इस प्रकार अभाव ही मोक्ष है। इस स्थिति में शारीरिक सम्बन्ध का अभाव, अहमत्व एवं ममत्व का अभाव, कर्त्तापन और भोक्तापन का अभाव, अज्ञानता का अभाव बना रहता है। अब उसका शरीर आनन्दमय हो जाता है।

अब आत्मा और ब्रह्म की पृथकता समाप्त होकर उनमें सादृश्यता हो जाती है। अब ब्रह्म की साम्यता आत्मा प्राप्त कर लेती है, रामानुज के अनुसार वह ब्रह्म में लीन नहीं होती जैसा शंकर का मत है। इसका कारण रामानुज ने दिया है कि सीमित असीमित में एकाकार भला कैसे हो सकता है। आत्मा सीमित है ब्रह्म असीमित तो दोनों एक में कैसे मिल सकते हैं। इसी से समकक्षता की बात दोनों के बीच रामानुज ने किया है। इसके द्वारा मुक्त आत्मा ब्रह्म की तरह परमानन्द और अनन्त चेतन बन जाती है।

मुक्ति कब होती है? इस प्रश्न का उत्तर रामानुज ने दिया है कि शरीर के रहते मुक्ति नहीं मिल सकती। मुक्ति मरणोपरान्त प्राप्त होती है। इसीसे शंकर की तरह रामानुज ने जीवन मुक्ति की बात को माना ही नहीं। केवल विदेहमुक्ति को ही मानते हैं।

मुक्ति प्राप्त के दो साधन रामानुज ने बतलाया है-कर्म और ज्ञान। कर्म द्वारा मुक्ति प्राप्ति के लिए उनका दृष्टिकोण है कि शास्त्र सम्मत रीति से वर्णाश्रम धर्म के पालन द्वारा मोक्ष मिल सकता है। जो ज्ञान से मुक्ति की प्राप्ति का प्रयास करते हैं उन्हें निष्काम भाव से कर्म करना चाहिए। सकाम कर्म आत्मा को बंधन में डालते हैं। निष्काम कर्म द्वारा इस जन्म के कर्म के

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

फलाफल से जीव वच जाता है तथा पूर्वजन्मों का कर्मफल निष्फल हो जाता है। इसके लिए ईश्वर में बुद्धि लगानी होती है। यह मीमांसा और वेदान्त के अध्ययन से सम्भव है। इसके द्वारा ईश्वर में भक्ति का भाव उत्पन्न होता है। यदि विद्वत्ता ही मुक्ति की कसौटी होती तो प्रत्येक विद्वान मोक्ष प्राप्त कर लेता। पर ऐसा नहीं है। भक्ति के भाव को जाग्रत करने में ज्ञान साधक होता है। इन दोनों ज्ञान और कर्म से ईश्वर की भक्ति में जीव प्रवृत्त होता है। वह ईश्वर से प्रेम रखने लगता है। जब हम किसी से प्रेम करेंगे तो उसके प्रति समर्पित होंगे। यही समर्पण शरणागति है। तब भक्तवत्सल भगवान शरणागत को अपने चरणों में स्थान दे देंगे। इसका परिणाम होगा कि शरणागत के दु:खों का अन्त हो जायगा। वह आवागमन के चक्र से छूट जायगा और वह ईश्वर का सान्निध्य ग्रहण कर लेगा। यही अवस्था भक्ति की है। यहाँ शंकर ने प्राप्तस्य प्राप्ति की बात की है। पर रामानुज बिना भगवत कृपा के मोक्ष प्राप्ति को सम्भव नहीं मानते।

ऊपर शरणागति की चर्चा की गई है। इसके लिए छ: मार्ग बताए गए हैं-

अनुकूलस्य संकल्प: प्रतिकूलस्य वर्जनम्।
रक्षिस्यतीति विश्वासो गोप्तृत्वे वरणं तथा।
आत्मविक्षेपकार्यण्ये षडविधा शरणागति:।

१. भगवान के अनुकूल कर्म, विचार और संकल्प करना
२. भगवान के विपरीत ऐसा न करना
३. भगवान रक्षा करेंगे यह भरोसा करना
४. भगवान से रक्षा के लिए प्रार्थना करना
५. भगवान के प्रति समर्पण भाव रखना
६. भगवान से दीनता प्रदर्शित करते अनुनय करना

इस प्रकार करता हुआ जीव ब्रह्मभाव को प्राप्त हो जाता है। यही प्राप्त करना मुक्ति है- **'ब्रह्मणो भाव: न तु स्वरूपैक्रयम्'**।

मुक्ति के चार प्रकार रामानुज ने बताया है-

१. **सानिध्य**- इसमें आत्मा का परमात्मा के सानिध्य में रहना
२. **सालोक्य**- जीवात्मा का परमात्मा के विष्णु लोक में निवास करना
३. **सायुज्य**- जीवात्मा का परमात्मा का सायुज्य संबन्ध होना
४. **सारुण्य**- जीवात्मा का परमात्मा के प्रकार का हो जाना ये चारों प्रकार भावात्मक होने से रामानुज शरीर की समाप्ति पर ही मुक्ति मानते हैं जिसमें केवल जन्म-मरण से मुक्ति ही नहीं मिलती अपितु परमानन्द की प्राप्ति और ईश्वर साक्षात्कार भी होता है।

●

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

संदर्भ ग्रन्थ सूची

आचार्य परशुराम चतुर्वेदी	वैष्णव धर्म
आर. जी. भण्डारकर	वैष्णव, शैव और अन्य धार्मिक सम्प्रदाय
आचार्य बलदेव उपाध्याय	भागवत सम्प्रदाय
वी. रंगाचार्य	हेरिटेज आफ इण्डियन कल्चर
नर्मदाशंकर मेहत	शाक्त सम्प्रदाय
गोपीनाथ कविराज	भारतीय संस्कृति और साधना
यदुवंशी	शैव मत
उडरफ	शक्ति और शाक्त
एच. सी. राय चौधरी	अर्ली हिस्ट्री आफ वैष्णव सेक्ट
सचरदर	इन्ट्रोडक्शन टु पंचतंत्र
लोकमान्य बालगंगाधर तिलक	गीता रहस्य
शारदानन्द	रिलिजन एण्ड फिलासफी आफ गीता
रीज डेविस	बुद्धिज्म
नलिनाक्ष दत्त	स्प्रेड आफ बुद्धिज्म
जी. एन. कविराज	थीइज्म इन ऐन्शिएण्ट इण्डिया
जे. एल. जैनी	जैनिज्म
सी. एल. शाह	जैनिज्म इन नार्दर्न इण्डिया
चन्द्रधर शर्मा	भारतीय दर्शन
राधाकृष्णन	भारतीय दर्शन
हिरयन्ना	भारतीय दर्शन की रूप-रेखा
दास गुप्त	आउटलाइन्स आफ इण्डियन फिलासफी
चटर्जी और दत्त	भारतीय दर्शन
ए. बार्थ	रिलिजन्स आफ इण्डिया
जे. डब्लू. हापकिन्स	दि रिलिजन्स आफ इण्डिया
ह्वाइट हेड	विलेज गाड्स आफ साउथ इण्डिया
एल. डी. बार्नेट	हार्ट आफ इण्डिया
आचार्य बलदेव उपाध्याय	वैदिक धर्म और संस्कृति
आचार्य बलदेव उपाध्याय	भारतीय दर्शन
हरेन्द्र नाथ सिन्हा	भारतीय दर्शन
ए. पी. करमाकर	रिलिजन्स आफ इण्डिया

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

ए. बी. कीथ	रिलिजन एण्ड फिलासफी आव दी वेद एण्ड दि उपनिषद
पहाडिया	बुद्धिज्म इन मालवा
जे. एम. फार्कुहर	आउटलाइन आफ दि रिलिजस लिट्रेचर आफ इण्डिया
मजुमदार एण्ड पुसालकर	दि हिस्ट्री एण्ड कल्चर आफ दि इण्डियन पीपुल जिल्द १-५
भरत सिंह	बौद्ध तथा अन्य भारतीय दर्शन
कल्याण कल्पतरु (गीता प्रेस, गोरखपुर)	शैवइज्म; वैष्णवइज्म, गणेश, शाक्तइज्म (आदि विशेष खण्ड)

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

Our Important Books on History

पाण्डेय, धनपति	: मध्यकालीन यूरोप
पाण्डेय, धनपति	: आधुनिक भारत का आर्थिक इतिहास
पाण्डेय, धनपति	: प्राचीन मेसोपोटामिया
पाण्डेय, धनपति	: आधुनिक भारत का इतिहास खण्ड-1 (1740-18[illegible]6)
पाण्डेय, धनपति	: आधुनिक भारत का इतिहास खण्ड-2 (1857-19[illegible])
पाण्डेय, धनपति	: ग्रेट ब्रिटेन का राजनीतिक और संवैधानिक इतिहास
पाण्डेय, धनपति एवं सी.पी.एन. सिन्हा	: प्राचीन मिस्त्र
पाण्डेय, धनपति	: प्राचीन चीन
पाण्डेय, धनपति	: आधुनिक एशिया का इतिहास
त्रिपाठी, आर० एस०	: प्राचीन भारत का इतिहास
मजुमदार, आर० सी०	: प्राचीन भारत
Sircar, D.C.	: Studies in Indian Coins
Sinha, Rajiv Kumar	: Geographical Factors in Early Indian Economy
Tripathi, R.S.	: History of Ancient India
Majumdar, R.C.	: Ancient India
Mookerji, R.K.	: Ashoka
मुखर्जी, आर० के०	: अशोक
शास्त्री, नीलकण्ठ	: नंदमौर्य युगीन भारत
मजुमदार, आर० सी०	: श्रेण्ययुग (Hindi Tr. of Classical Age Ed. by R.C. Majumdar)
प्रसाद, ओम प्रसाद	: प्राचीन भारतीय सामाज एवं अर्थशास्त्र
प्रसाद, ओम प्रसाद	: प्राचीन मेसोपोटामिया की सभ्यता
प्रसाद, ओम प्रसाद	: प्राचीन मिस्त्र का इतिहास
सहाय, शिव स्वरूप	: भारतीय पुरालेखों का अध्ययन
सहाय, शिव स्वरूप	: संग्रहालय की ओर
सहाय, शिव स्वरूप	: पर्यटकों का देश भारत
सहाय, शिव स्वरूप	: प्राचीन भारतीय धर्म एवं दर्शन
उपाध्याय, वासुदेव	: प्राचीन भारतीय मुद्राएँ
राव, राजवंत एवं राव, प्रदीप कुमार	: प्राचीन भारतीय मुद्राएँ
मू० ले० ब्यूलर, अनु० मंगलनाथसिंह	: भारतीय पुरालिपि शास्त्र
सिंह—पांथरी	: आधुनिक अमेरिका का इतिहास

मोतीलाल बनारसीदास

दिल्ली, मुम्बई, चेन्नई, कोलकाता, बंगलौर,
वाराणसी, पुणे, पटना

मूल्य : रु० 230 (सजिल्द); रु० 130 (अजिल्द)

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri